पूज्य पिता

श्री मथुरादत्तजी जोशी

को

सादर समर्पित

द्वितीय भाग

नैतिक सिद्धान्त

द्वारा पुष्टि ज्ञानिक प्रमाण—स्वार्थसे परमार्थ : आन्त-
रिक आ जातीय भावना : उपयोगितावाद—उच्च
आदर्शक : सुखकी क्रमिक व्यवस्था—गुणात्मक भेद :
असफलता की सफलता और असफलता।

तिक सुखवादकी आलोचना

मनोवैज्ञा सुखवादसे अधिक व्यापक—दोहरी कठिनाई :
नैतिकता द्रमकी खोज : स्वार्थ और परार्थका विरोधपूर्ण
सामञ्जस्य तिक कर्त्तव्य तथा सद्गुणके लिए स्थान नहीं है :
सुखवा गना असम्भव : नैतिक मापदण्डकी कठिनाई।

अध्याय : सुखवाद (परिशेष) पृष्ठ २२५-२५४

सहजज्ञानवादी उपयोगितावाद

सिजवि सिजविकके पूर्व उपयोगितावादकी स्थिति : नैतिक
सिद्धान्त लक्ष्य : आलोचनात्मक पक्ष—सहजज्ञानवाद और
सुखवाद समन्वय : बौद्धिक उपयोगितावाद—दर्शनिक
सहजज्ञावाद : सुख ही परम शुभ है : सुख वितरणकी समस्या—
न्याय, आत्मप्रेम, परोपकारिता : व्यावहारिक बुद्धि।

सहजज्ञानवादी उपयोगितावादके साथ सुखवादकी आलोचना

सिजविकके सिद्धान्तका मूल्य : स्वार्थ परमार्थका अनमेल मिलाप :
चेतनाका स्वरूप : ध्येय बौद्धिक है, न कि भावनात्मक :
शुभके वस्तुगत और गुणात्मक भेदको नहीं समझा पाये : चरित्र-
की अपूर्ण व्याख्या : सुख और आनन्द।

सुखवादकी विकासवादी सुखवादमें परिणति

विकासवादी सुखवाद : प्रकृतिवाद

क्लार्क

वुलेस्टन

बुद्धिवादी सहजज्ञानवादका आलोचनात्मक मूल्याङ्कन

नैतिक बोधवाद

शैफ्ट्सबरी

प्राचीन काल—प्लेटो

अरस्तू

आलोचना

अर्वाचीन पूर्णतावाद्

हीगल

ग्रीन

प्रथम भाग

सामान्य परिचय

अध्याय-१

नैतिक समस्या

विषयप्रवेश

मनुष्य अन्य जीवधारियोंसे अधिक श्रेष्ठ-स्थितिमें है। वह बौद्धिक और विवेकशील है। उसके कर्म स्वतन्त्र और स्वेच्छाकृत होते हैं। कर्म अथवा क्रियाकलाप ही उसका जीवन है। वह यह जाननेका प्रयत्न करता है कि मानवगौरवके अनुरूप कर्म कौनसे हैं। इस जिज्ञासाने उसका ध्यान आवश्यक और कल्याणप्रद नियमोंकी ओर आकृष्ट किया। नैतिक प्राणी होनेके कारण उचित-अनुचितकी भावनाएँ उसके स्वाभाविक गुण हैं। उसमें कर्मोंका समर्थन और विरोध करनेकी एक अबाध प्रवृत्ति है। वह स्वभाव एवं प्रकृतिवश ही कर्मोंका मूल्यांकन करता है। उनके औचित्य-अनौचित्यके बारेमें निर्णय देता है। अपने दैनिक जीवनके चिन्तन और वार्तालापमें वह अनेक प्रकारके निर्णय करता है। 'वह दुष्ट है या भला है? मुझे क्या करना चाहिये? क्या मेरा कर्म अनुचित था? कर्त्तव्य और अधिकारके क्या अर्थ हैं? शुभ और अशुभका क्या अभिप्राय है? जीवनका ध्येय क्या है?'—आदि, अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प वह किया करता है। यही नहीं, उसके मानसमें उसके व्यक्तित्वके अनुरूप गुणों और अवगुणोंकी एक अनजानी परिभाषा रहती है। इस परिभाषाके अनुरूप ही उसका चिन्तनशील मानस उसके सम्मुख कुछ मान्यताएँ एवं आदर्श रखता है। वह इस आदर्शके अनुसार अपने प्रश्नोंको हल करता है। अपने वातावरण, शिक्षा और वंशानुगत गुणों तथा जीवन सम्बन्धी अनुभवोंके कारण वह अनायास ही मानने लगता है कि झूठ बोलना, चोरी करना, शराब पीना, गाली देना आदि अनुचित कर्म हैं। वह अपने उन्नत स्वभावके कारण

स्वार्थ और असत्यका विरोध करता है। उसकी नैतिक चेतना यह जानना चाहती है कि उसकी धारणाएँ और विचार कहाँतक ठीक हैं; वह इनका परीक्षण और स्पष्टीकरण करना चाहती है; बौद्धिक विश्लेषण द्वारा श्रेयस्कर कर्मोंको अपनाना चाहती है। वह निःश्रेयसको समझनेका प्रयास करती है और परमश्रेयके स्वरूपको समझना चाहती है।

यदि इतिहासकी ओर दृष्टि करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्यके मनमें जब गम्भीर विचारों तथा विवेचनाओंका उदय हुआ तो सर्वप्रथम

नीतिशास्त्रकी उत्पत्ति

उसका ध्यान बाह्य जगतकी गुत्थियोंको सुलझानेकी ओर गया। कुछ काल पश्चात् उसने जीवनकी व्यावहारिक आवश्यकताओंको सुलझानेका प्रयास किया। उसने सम्पूर्ण व्यक्तिको समझना चाहा। जीवनके विभिन्न अंगोंका मनन करनेपर वह इस परिणामपर पहुँचा कि बुद्धिजीवी केवल पेट भर-कर—शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्त्तिसे ही—सुखी नहीं रह सकता। उसकी सामाजिक चेतना और बौद्धिक आत्माने उसे कर्त्तव्य और अधिकारका पाठ पढ़ाया। उसकी पाशविक प्रवृत्तियोंको संयमित करके उनका उन्नयन किया। उसको जीवनका ध्येय जाननेके लिए प्रेरित किया। यही प्रेरणा नीतिशास्त्रकी जड़ [illegible] है। इसी प्रेरणाके कारण वह परम्परागत भावनाओं, प्रचलनों और अभ्यासोंको समझना चाहता है। प्रचलित मान्यताएँ और आस्थाएं जीवनकी प्रगतिमें तथा मनुष्यको आत्म-सन्तोष देनेमें कहाँतक सहायक होती हैं, उसकी बौद्धिक जिज्ञासा एवं नैतिक चेतना इस सत्यको निरन्तर खोजती है। नीतिशास्त्र, इस दृष्टिसे, वह बौद्धिक प्रणाली है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्तिके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका निर्णय किया जाता है। मनुष्यके लिए क्या उचित है, उसे प्रचलनों और अभ्यासोंका कहाँतक अनुकरण करना चाहिये; उसे अपने स्वतन्त्र इच्छित कर्म द्वारा किस ध्येयकी प्राप्ति करनी चाहिये, आदि सब बातें नीतिशास्त्रके ही अन्तर्गत आती हैं।

मनुष्यकी बुद्धिने सर्वोच्च ध्येय (निःश्रेयस) को जाननेका तथा उसकी

नैतिक प्रवृत्तिने समाजमें प्रचलित रीति-रिवाजों और अभ्यासोंको समझनेका प्रयास किया। अभ्यासों एवं रूढ़िरीतियोंका उद्भव आकस्मिक घटनाके रूपमें नहीं होता। वे मनुष्यकी आन्तरिक आवश्यकताओं और स्वभावको व्यक्त करते हैं। वे देश, समाज और व्यक्तिके आन्तरिक जीवनके सूचक हैं। नीतिशास्त्र उनपर न्यायसम्मत निर्णय देनेका प्रयास करता है। यह मनुष्यकी आदतों और रीति-रिवाजोंका विज्ञान है। शब्द-विज्ञानके अनुसार एथिक्स (Ethics) अर्थात् नीतिशास्त्र ग्रीक शब्द एथौस (Ethos) से लिया गया है। एथौसका अभिप्राय चरित्र (Character) से है। यह चरित्रका विज्ञान है। एथिक्सका ही पर्यायवाची शब्द 'मॉरल फिलॉसफी' (Moral philosophy) है। मॉरल शब्द लैटिनके 'मॉरेस' (Mores) से लिया गया है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग रीति-रिवाज और अभ्यासके अर्थमें हुआ। इस प्रकार मॉरल फिलॉसफीका अर्थ हुआ : रीति-रिवाज, प्रचलन और अभ्यासका दर्शन। यह मनुष्यके चरित्रका विवेचन कर उन तत्वोंको जानना चाहता है जिनके आधारपर वे स्वभावतः—अभ्यासवश—कर्म करते हैं। यही नहीं, यह उन तत्वोंके औचित्य-अनौचित्यको भी समझना चाहता है। यह मनुष्यके शुभ या उचित आचार (Conduct) का अध्ययन करता है। यह चरम ध्येयको समझनेका प्रयास करता है और उसके अनुरूप ही आचारको शुभ और अशुभ कहता है। इसके अनुसार वही कर्म श्रेयस्कर हैं जो चरमध्येय अथवा निःश्रेयसकी प्राप्तिमें सहायक होते हैं। इस दृष्टिसे यह साधारण बुद्धिगम्य विश्वासोंको समझना चाहता है। यह सामाजिक प्रथाओं, धार्मिक आस्थाओं, राजनीतिक नियमों और व्यक्तिगत एवं सामूहिक अभ्यासोंका विवेकसम्मत विश्लेषण करता है और यह बतानेका प्रयास करता है कि व्यक्ति अपने दैनन्दिनके जीवनमें इन आस्थाओं, विचारों और विश्वासोंको अपनाकर अपने ध्येयको कहाँतक प्राप्त कर सका है। उसके कर्म ध्येयकी प्राप्तिके लिए कहाँतक सफल साधन कहे जा सकते हैं। साधनकी सफलता और

शब्द-विज्ञानके अनुसार नीतिशास्त्रकी परिभाषा

असफलताका समझानेके लिए यह शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित शब्दोंका प्रयोग करता है। कर्त्तव्य, अधिकार, बाध्यता, सद्‌गुण, उत्तरदायित्व[1] आदि भी इन्हींके अनुगामी शब्द हैं।

यह बतलाया जा चुका है कि नीतिशास्त्र जीवनके परमलक्ष्यकी खोज करता है। इस लक्ष्यकी प्राप्तिमें सार्थक कर्मोंको वह शुभ या उचित कहता है और जो कर्म उपयोगी नहीं होते उन्हें अनुचित या अशुभ कहता है। अतः ये शब्द अधिकतर विशेषणोंके रूपमें प्रयुक्त होते हैं। वैसे (Right) उचित शब्द लैटिन शब्द रैक्टस (Rectus) से बनता है जिसका अर्थ है सीधा अथवा नियमके अनुसार। किसीके चरित्रको उचित कहनेका तात्पर्य यह होता है कि वह विशिष्ट नैतिक नियमोंके अनुसार कर्म करता है। किन्तु नियमका सम्बन्ध ध्येयसे होता है। वे लक्ष्यको सम्मुख रखकर बनाये जाते हैं अतः नियम, लक्ष्य या ध्येयकी पूर्त्तिके लिए, साधनमात्र हैं। यदि जीवनका ध्येय सुखी रहना है तो सुखी रहनेके लिए आवश्यक नियमोंके अनुसार कर्म करना उचित कहलायेगा और इसके विपरीत अनुचित। कोई भी विशिष्ट कर्म या तो उचित ही होता है और या अनुचित। उचित और शुभ (good) आपसमें विरोधी लगते हैं। किन्तु इनमें मौलिक सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध शुभके अर्थको समझनेपर स्पष्ट होगा। 'गुड' (good) का सम्बन्ध जर्मन शब्द 'गुट' (gut) से है जिसका अर्थ शुभ होता है। शुभसे अभिप्राय है जो परमशुभके लिए उपयोगी है, जो उसकी प्राप्तिके लिए साधन है। अधिकतर शुभ शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है—साधन और साध्य; शुभ और परमशुभ। परमशुभ (Ultimate good, अर्थात् Summum bonum) से अभिप्राय उस परमध्येय (Ultimate end) से है जो कि अपने आपमें परिपूर्ण है। पूर्णता जिसका अन्तर्जात गुण है। नैतिक दृष्टिसे साध्य और साधनमें कोई विशेष भेद नहीं

मूलगत नैतिक प्रश्रय : उचित-अनुचित, शुभ-अशुभका स्पष्टीकरण

---

१. देखिये भाग—१ अध्याय—६

है। जो एक दृष्टिसे साधन है वही दूसरी दृष्टिसे परिणामतः साध्य हो सकता है। शुभ और उचितमें भी कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है। दोनोंका अधिकतर एक ही अर्थमें प्रयोग होता है। उसी ध्येय और कर्मको शुभ और उचित कहेंगे जो कि परमध्येयकी प्राप्तिमें सहायक होता है।

परमशुभ वह है जो अपने आपमें मूल्यवान है, जिसके लिए और सब कर्म साधनमात्र हैं। शुभकी सर्वोच्च स्थिति ही परमशुभकी स्थिति है। शुभके, मात्राओंके अनुसार, अनेक भेद होते हैं। शुभ, अधिकशुभ, परमशुभ आदि। अथवा शुभकी एक क्रमिक श्रेणी होती है और इसकी सर्वोत्तम स्थिति ही परम शुभकी स्थिति है। परमशुभको निर्धारित करना ही नीतिशास्त्रका ध्येय है। परमशुभके अनुरूप ही यह कर्मोंको शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित कहता है।

परमशुभका अभिप्राय

परमशुभ या परमलक्ष्यसे क्या अभिप्राय है? निःश्रेयसका क्या रूप है? जीवनका क्या ध्येय है? नैतिक आदर्श किसे कहते हैं? उपर्युक्त सभी प्रश्न पर्यायवाची हैं। वे एक ही साध्यके सूचक हैं? नीतिशास्त्र इसी साध्यके जाननेका प्रयास है। यह साध्य वह संगतिपूर्ण इकाई है जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवनसे है। मनुष्योंके स्वभावका विवेचन करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि वे अपने कर्मोंको अनेक प्रकारकी प्रेरणाओं द्वारा संचालित करते हैं। व्यक्ति-व्यक्तिमें जीवनके ध्येयके बारेमें मतभेद होता है। कोई यशका अभिलाषी है, कोई धनका और कोई जीवनमें आनन्द और उल्लासका। कुछ विश्व-भ्रमण करना चाहते हैं। कुछ समाज-सुधारक और कुछ राजनीतिक नेता बनना चाहते हैं। यही नहीं, एक ओर भभूत लगाकर, कौपीन पहनकर घूमनेवाले बैरागी, संन्यासी हैं और दूसरी ओर आमोद-प्रमोद भोग-विलासमें रत रहनेवाले इन्द्रियभोगी। प्रश्न यह है कि नैतिक दृष्टिसे जीवनका ध्येय एक है अथवा अनेक, यदि एक है तो इन विभिन्न ध्येयोंके बीच कैसे सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। नीतिशास्त्र मनुष्यके अनुभव या आचारके किसी विशिष्ट क्षेत्रतक अपनेको सीमित नहीं रखता है। वह समस्त आचारों अथवा

सम्पूर्ण अनुभवोंका अध्ययन करता है। और इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि इच्छित कर्म और वस्तुएँ दो प्रकारकी होती हैं : वह जो स्वतः मूल्यवान हैं और वह जो उपयोगी हैं। प्रथम प्रकारके कर्मोंके गुण मौलिक, आभ्यंतरिक और निरपेक्ष हैं। दूसरे प्रकारके कर्मोंके गुण गौण, बाह्य और सापेक्ष हैं। एक साध्य है, दूसरा साधन है।

स्थूल दृष्टिसे यह भासित होता है कि ध्येय अनेक हैं जो वैयक्तिक तथा आत्मगत हैं। किन्तु वास्तवमें विभिन्न ध्येय अपने आपमें परम नहीं हैं। वह परमध्येयके लिए साधनमात्र हैं। मनुष्य ~~धन या अन्य इच्छित वस्तु~~, धन या अन्य इच्छित वस्तुके लिए नहीं चाहता वरन् किसी विशिष्ट आदर्शकी पूर्त्तिके लिए। साधारणतः जिनको हम साध्य समझते हैं वे अपने मूल रूपमें साधनमात्र हैं। उनका सापेक्ष महत्व है। अतः विभिन्न ध्येयोंका परमध्येय एक ही है। यह निरपेक्ष ध्येय अनन्त सापेक्ष ध्येयोंकी संगतिपूर्ण इकाई है। यह वह ध्येय है जिसकी प्राप्तिके लिए मानव सदैवसे प्रयत्नशील रहा है, जो एक बौद्धिक प्राणीके लिए परमवांछनीय है तथा जो ध्येय अन्ततः एक है। नैतिक ज्ञानके अनुसार शुभ अपने सर्वोत्तम रूपमें एक ही है, जीवनका परमआदर्श भी एक ही है और यह अद्वितीय आदर्श ही नैतिक निर्णयकी कसौटी या मापदण्ड है।

यदि यह मान लें कि सर्वोत्तम शुभ एक है तो इसका क्या स्वरूप है? शुभके स्वरूपके बारेमें नीतिज्ञोंके विभिन्न मत हैं, जो विभिन्न सिद्धान्तोंके

परमशुभका स्वरूप

अध्ययनसे ही स्पष्ट होंगे। संक्षेपमें, कुछ विचारकोंके अनुसार, जीवनका सर्वोत्तम शुभ इन्द्रियसुख है, कुछके अनुसार शुद्ध बौद्धिक जीवन और कुछके अनुसार आत्म-सन्तोष है। नैतिक सिद्धान्तोंके अध्ययनसे यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि परमशुभको समझनेमें कहाँतक सफलता मिली है, उसको कहाँतक समझा जा सका है, उसके आदेशको व्यक्ति क्यों मानता है, और यह आदेश आन्तरिक है या बाह्य। नीतिशास्त्र इस आदेशको अन्तःप्रेरित अन्तरुद्भूत और अन्तरारोपित मानता है। उसका कहना है कि विवेकशील आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति

नैतिक आदर्शको, उसके अन्तर्गत गुणोंके कारण स्वयं स्वीकार करते हैं। क्योंकि वह उनकी नैतिक चेतना और बौद्धिक आत्माका आदेश है। वह आन्तरिक और परम है। परमआदेश ही परमवांछनीय शुभ है। नैतिक रूपसे जागरूक प्राणी इसका अनिवार्यतः पालन करते हैं। अरस्तू (Aristotle) के अनुसार नीतिशास्त्र उस विचार या धारणाको खोजता है जो कि मनुष्यके लिए परमशुभ या वाछनीय है। जिसे वह स्वयं उसकी पूर्णताके कारण स्वीकार करता है। विवेकसम्मत और स्वतःवांछनीय आदर्श आन्तरिक आदेश होता है। अतएव मानव-जीवनमें जो आदर्श स्वतः-निहित है, नीतिशास्त्र सामान्यतः उसीका अध्ययन है।

नीतिशास्त्रका विषय और क्षेत्र

नीतिशास्त्रका विषय और क्षेत्र क्या है? वह मनुष्यके किस सत्यको महत्व देता है?

नीतिशास्त्र मानवताके उच्चतम आदर्शोंका पोषक है। वह मनुष्यको बताता है कि वह श्रेष्ठ प्राणी है, उसे मानव-गौरवके बोधसे प्रेरित होकर कर्म करने चाहिये। इसी उद्देश्यसे वह परम शुभकी खोज करता है। उसके अनुरूप कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको समझानेका व्यवस्थित प्रयास करता है। उसके क्षेत्रकी परिभाषा देना, उसको सीमित या केन्द्रित करना, अत्यन्त कठिन है। उसका विषय व्यापक है। समस्त नैतिक चेतना ही इसका क्षेत्र है, जो मनुष्यके आचरण एवं उसके सम्पूर्ण जीवनको आच्छादित करती है। वह मनुष्यके क्रियाकलापों और कर्मोंका मूल्यांकन करता है, जो इस सत्यपर आधारित है कि मनुष्य आत्म-प्रबुद्ध प्राणी है, स्वतन्त्र है, उसके जीवनकी गति अर्थहीन या सारहीन नहीं है। उसकी गति नैतिक और प्रयोजनीय है। वह उच्चतम आदर्शको प्राप्त कर सकता है। इस आधारपर नीतिशास्त्र मनुष्यके आचरणपर गुणात्मक निर्णय देता है। कर्मोंका नैतिक मूल्यांकन करनेके लिए वह गुण-अवगुण, कर्त्तव्य-अधिकार, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित आदिका बौद्धिक विश्लेषण करता है। उनके पीछे जो सत्य है उसे जाननेका भी प्रयास करता है। सम्पूर्ण मानवजीवनका

व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करना एवं मानवता और सभ्यताके आदर्शको स्पष्ट रूपसे समझना, यही उसका चिरन्तन विषय है। उसे मनुष्य-जीवनकी बाहरी सामाजिक झाँकीसे सन्तोष नहीं होता है। वह उसके आभ्यंतरिक जीवनमें प्रवेश करता है; तत्वदर्शनको अपनाता है। यही नहीं, उसके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह कर्मके उचित और अनुचितके बारेमें तार्किक समाधान करे। यहाँपर वह तर्कशास्त्र और वैज्ञानिक प्रणालीको अपनाता है। व्यक्तिके आचरणको न्याय-संगत बनानेके लिए, उसे मानवीय और नैतिक स्तरपर उठानेके लिए, वह लोक-प्रचलित धारणाओं, जनप्रिय विश्वासों, भ्रांत विचारों, धार्मिक आस्थाओं-का आलोचनात्मक परीक्षण करता है। जीवनके गूढ़ सत्यको जीवनके लिए सामाजिक प्रचलनों, राजनीतिक नियमों और व्यक्तिगत निष्ठाओंका बौद्धिक विश्लेषण करता है। मनुष्यके कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित करनेके लिए उन सभी विद्याओं—मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, जीवशास्त्र, राजनीति, ईश्वरज्ञान, तत्वदर्शन आदिका अध्ययन नीतिशास्त्र-के क्षेत्रके अन्तर्गत आ जाता है जो मनुष्यके स्वभाव और स्वरूपपर प्रकाश डालती हैं। उन सभी विज्ञानों और कलाओंको वह अपने क्षेत्रके अन्दर ले लेता है जिनका कि मानवतासे सम्बन्ध है। मनुष्यके चरम-शुभको समझनेके लिए, उसके जीवनके विभिन्न अंगोंका उन्नयन करनेके लिए वह उसके व्यक्तित्वका सम्पूर्ण अध्ययन करता है। मनुष्यका अस्तित्व सामाजिक है। बिना सामाजिक पृष्ठभूमिके न तो उसे समझा ही जा सकता है और न उसका अस्तित्व साभिप्राय तथा सोद्देश्य ही रहता है। मानवताकी एकता और पूर्णता किसी एक व्यक्तिपर अव-लम्बित नहीं है; वह मानवजातिके सम्मिलित जीवन एवं व्यक्तित्वपर निर्भर है। अतः नीतिशास्त्र समस्त मानव अनुभवोंका अनुशीलन करता है। वह मानवताकी गतिविधिका सिंहावलोकन करता है। दूसरे शब्दों-में मानवजीवनका समस्त क्रियात्मक पक्ष तथा सम्पूर्ण मानवजीवन ही नीतिशास्त्रका क्षेत्र और विषय है।

नैतिक समस्या

नीतिशास्त्रकी क्या उपयोगिता है? नैतिक ध्येय और लक्ष्यको क्यों प्राप्त करना चाहिये? इसका जीवनमें क्या मूल्य है? इसकी क्या उपयोगिता है? क्या इसका आदर्श वास्तविक है? इन सब प्रश्नोंके समाधानके लिए आवश्यक है कि इसके विरुद्ध अपवादोंकी गम्भीरतापूर्वक समीक्षा की जाय। नीतिशास्त्रके आलोचकोंके अनुसार वह अपने मूलरूपमें ध्वंसात्मक है। वह वैयक्तिक विज्ञान है। व्यक्तिका कल्याण ही उसका ध्येय है। वह अधार्मिक और अवास्तविक है। किन्तु इन अपवादोंमें सत्य नहीं है।

नीतिशास्त्रकी उपयोगिता : इसके पक्षका समर्थन तथा उसके विरुद्ध अपवादोंका खंडन

नीतिशास्त्र इस आशा और विश्वासपर चलता है कि मनुष्य अपने कर्मोंको विवेकसे संचालित कर सकता है। इस आधारपर वह मनुष्यके आचार-विचार, सामूहिक एवं राष्ट्रीय चरित्रका विश्लेषण करता है। कोई भी विशिष्ट आचरण, धर्म, संस्कृति और नियम कहाँतक उचित है वह इसपर प्रकाश डालता है। उसके अनुसार औचित्य और अनौचित्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आलोचनात्मक होना आवश्यक है। किन्तु यह नीतिशास्त्रका बाह्य और अस्थायी पक्ष है। अपने मूलरूपमें वह भावात्मक और निर्माणात्मक है।

वह निर्माणात्मक है

वास्तवमें नीतिशास्त्रके दो रूप हैं : धनात्मक या निर्माणात्मक और ऋणात्मक या आलोचनात्मक। आलोचनाके द्वारा वह निर्माण करता है। मनुष्यको असत्यसे सत्यकी ओर ले जाता है। उसको सत्यकी ओर आकृष्ट करनेके अभिप्रायसे प्रमुख-अप्रमुख, नित्य-अनित्य तथा भाव और रूपके भेदको समझाता है। बौद्धिक विश्लेषण द्वारा व्यक्तिको उसकी तात्विक स्थितिका बोध कराता है। अन्धविश्वासों, कुरीतियों और धार्मिक कट्टरपंथीके चक्करमें फँसनेसे सचेत करता है। उसे सावधान करता है कि कठपुतलेका-सा जीवन मनुष्यके लिए हास्यास्पद है। केकीरका

नीतिशास्त्रके दो रूप—निर्माणात्मक तथा आलोचनात्मक

फकीर होना पाप है। ये मनुष्यत्वके ह्रासके चिह्न हैं। किसी भी नियमको वेद-पुराणकी या दिव्य आदेशकी दुहाई देकर मान लेना मूर्खता है। मनुष्य बुद्धिजीवी है। उसे प्रचलित नैतिकता और धार्मिकताको, विभिन्न सामाजिक प्रचलनों एवं नियमोंको बौद्धिक विवेचनाके पश्चात् ही स्वीकार करना चाहिये। नीतिशास्त्रके अनुसार देश, काल और परिस्थितिके अनुरूप नियमोंमें परिवर्तन होना आवश्यक है और विवेकसम्मत, कल्याण-प्रद नियम ही पालन करने योग्य हैं।

नियमोंकी सत्यता और असत्यताको सिद्ध करनेके लिए नीतिशास्त्र वैज्ञानिक और बौद्धिक प्रणाली स्वीकार करता है। बौद्धिक आलोचना, सन्देह और अविश्वास द्वारा वह सार्वभौम नैतिक मान्यताओंका सृजन करता है। मनुष्यको नैतिक जगतका नागरिक बनानेके लिए उसमें भले-बुरेका ज्ञान उत्पन्न करता है। गले-पचे, मरणोन्मुख नियमोंका बहिष्कार करते समय वह अपने आलोचनात्मक एवं ध्वंसात्मक पक्षको सम्मुख रखता है, क्योंकि नियमों और विचारोंकी संकीर्णताके कारण जो वैमनस्य और मानसिक संघर्ष उत्पन्न हो जाता है उसके लिए आलोचनात्मक पक्ष उतना ही आवश्यक है जितना कि कैंसर (नासूर) के रोगीके लिए शल्य-चिकित्सा। व्यक्ति, समाज एवं मानवताको अवनतिके पथसे विमुख करनेके लिए ही नीतिशास्त्र अपने नकारात्मक रूप द्वारा पथप्रदर्शनका काम करता है एवं आलोचनाके द्वारा सुधार करता है, आवश्यकताओंकी पूर्त्ति करता है। अन्यायसे न्यायकी ओर, अनुचितसे उचितकी ओर ले जाकर पवित्र और उपादेय नियमोंका सृजन करता है। इस प्रकार वह अपने ध्वंसात्मक रूपमें भी सृजनात्मक और पुनर्निर्माणात्मक है। यही नीतिशास्त्रकी विशेषता है। जीवनको सुन्दरम् और शिवम्का रूप देना ही उसका ध्येय है। अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिए—मंगलमय जगतके निर्माणके लिए—वह आलोचनात्मक रूपको अपनाता है। अतः निर्माणकी प्रतिक्रिया ही प्रारम्भमें उसके ध्वंसात्मक रूपमें प्रकट होती है। अपने मूल रूपमें वह निर्माण करता है। सृजन ही उसका आभ्यान्तरिक गुण है।

आधुनिक नीतिज्ञ यह मानते हैं कि व्यक्ति और समाजका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। बिना समाजके व्यक्तिका अस्तित्व असम्भव है और बिना व्यक्तिके समाज-अस्तित्व शून्य है। यही नहीं, बिना सामाजिक पृष्ठभूमिके व्यक्तिके आचरणपर निर्णय देना भी निरुद्देश्य तथा मूल्यरहित है। नीतिशास्त्र मनुष्यके कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यका स्पष्टीकरण उसके सामाजिक प्राणी होनेके कारण ही करता है। यदि सार्वजनिक जीवन सत्यसे परे एक ऐसे वैयक्तिक जीवनकी कल्पना कर भी लें जिसका कि समाजसे कोई सम्बन्ध न हो तो ऐसे व्यक्तिके आचरणपर नैतिक निर्णय देना कोई अर्थ नहीं रखेगा। व्यक्ति और समाजके अनन्य सम्बन्धके कारण ही नीतिज्ञोंने यह सिद्ध कर दिया है कि सामाजिक सुखसे विच्छिन्न व्यक्तिगत सुख और व्यक्तिगत सुखसे विच्छिन्न सामाजिक सुखकी धारणा भ्रमात्मक है। वैयक्तिक शुभ और सामाजिक शुभका भेद काल्पनिक है। अतः जीवनका ध्येय केवल व्यक्ति अथवा केवल समाजका ही कल्याण नहीं है; यह सर्वकल्याणकारी है।

उसका ध्येय वैयक्तिक नहीं, सर्वकल्याणकारी है

धर्म और अधर्म, इन दो शब्दोंको, किसी न किसी रूपमें, बच्चा बोध होनेके साथ ही सुनता है। धर्म साधारणतः किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या रूढ़ि-रीति और औचित्यका सूचक है। एक ओर धर्मका विवेकसम्मत रूप मिलता है और दूसरी ओर रूढ़ि-जर्जर प्रचलित रूप। अपने विवेकसम्मत रूपमें वह विश्व-प्रेम, ऐक्य और देवत्वका सन्देश देता है और अपने प्रचलित रूपमें अन्धविश्वासों एवं संकीर्ण रूढ़ि-रीति-जनित कर्मोंका। उदाहरणार्थ भारतमें जो छुआछूत, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, वैधव्य आदि तथाकथित धार्मिक नियम मिलते हैं वे मनुष्यकी विवेक-कुंठित प्रवृत्तिके सूचक हैं। वे उस अविकसित ह्रासोन्मुखी बौद्धिक स्थितिपर प्रकाश डालते हैं जो मध्ययुगीन पूर्वग्रहों और अन्धविश्वासोंसे ग्रसित हैं। जनसाधारण चमत्कारवाद, जादू-टोना आदि इन्हीं अन्ध-रूढ़ि-रीतियोंमें विश्वास करता है क्योंकि उसकी मानसिक

विवेक-सम्मत धर्म

स्थिति विकसित नहीं है। तर्कहीन और विवेकहीन धर्म केवल प्रचलित मान्यताओं, सामाजिक तथा धार्मिक कहे जानेवाले प्रचलनोंका सूचक है। अथवा सामान्यतः धर्मको जिस रूपमें लोग ग्रहण करते हैं वह केवल बाह्याडम्बर तथा संकीर्णता भरे नियमोंका ढाँचामात्र है। वे प्राचीन युगोंके मनुष्योंकी आवश्यकताओं और अभ्यासोंको सूचित करते हैं। किन्तु विकास और परिवर्तनके कारण उन नियमोंका मूल्य भी बदलता जाता है। वे वर्तमान आवश्यकताओंकी पूर्त्ति नहीं कर पाते हैं। वे लाभप्रद होनेके बदले हानिकारक हो जाते हैं। अविवेकी व्यक्ति इन प्रचलनों और अभ्यासोंका पालन धर्मके नामपर करते हैं। अथवा पूर्वजों और ऋषि-मुनियोंके ज्ञानकी दुहाई देते हैं। वे भूल जाते हैं कि मानवीय नियम परिवर्तनशील हैं। विकास और मनुष्यकी सर्वांगीण उन्नतिने उसके जीवन-आदर्शको नया रूप दे दिया है। आजकी उन्नत, भौतिक तथा मानसिक स्थिति इन प्राचीन प्रथाओंको अनैतिक सिद्ध कर सकती है। प्राचीन परिपाटियोंका मूल्य उस समयके लिए है जिस समयकी आवश्यकताकी पूर्त्तिके लिए उनका निर्माण हुआ। वे वर्तमान आवश्यकताओंकी पूर्त्ति नहीं कर पाते हैं। वे बौद्धिक जिज्ञासाको सन्तोष नहीं दे सकते हैं। सन्तोष देना तो दूर रहा, उनके आधारपर बुद्धि और विश्वास, व्यक्तिगत निर्णय और दैवी आदेश तथा धर्म और विज्ञानमें समन्वय स्थापित नहीं किया जा सकता। यही नहीं, धार्मिक आदेशोंके बीच विरोध भी मिलता है। अतएव नीतिशास्त्र तथाकथित धर्मको उसी रूपमें मान्यता नहीं देता। वह शुद्ध आचरणके मापदण्डकी खोज करता है; परम सत्यको समझना चाहता है। वह सत्यके मार्गको ही धार्मिक (उचित, तर्कसम्मत और विवेकसम्मत) मार्ग कहता है और धर्मको भी सत्यकी कसौटीपर कसता है। बौद्धिक विश्लेषण एवं प्रश्नसूचक दृष्टिकोण द्वारा धर्म-सम्बन्धी बाह्य विरोधोंके भीतर आन्तरिक एकताको खोजता है।

यदि धर्मसे अभिप्राय उस ईश्वरज्ञानसे है जो समष्टिके कल्याणको महत्व देता है तो नीतिशास्त्र निसन्देह धार्मिक है। वह उदार-चित्त-वृत्ति,

सहिष्णुता, एकता और न्यायका पाठ पढ़ाता है ; जनसाधारणके अव्यक्त नैतिक विश्वासोंको बौद्धिक अन्तर्दृष्टि देता है ; सदाचरणवाले व्यक्तियोंको आत्मबलका अमोघ अस्त्र देता है और अधर्म, अनीति, अन्याय, अशुभ और अनौचित्यके विरुद्ध लड़नेको कहता है। वह समस्त मानव-जीवनका अध्ययन करके एकांगी तथा भ्रमपूर्ण विचारोंसे ऊपर मानवताकी स्थापना करता है और इस परिणामपर पहुँचता है कि प्रेम, स्नेह, एकता और समानताका बहिष्कार करनेवाला धर्म, धर्म नहीं है। वह भाग्य और थोथे धर्मकी दुहाई देनेवाले पण्डितोंको अधार्मिक कहता है। मंगलमय जीवनके हत्यारोंको वह नैतिकता अथवा विवेकसम्मत कर्त्तव्यकी चुनौती देता है। उनको चेतावनी देता है कि उनके अधिकारकी सीमाएँ हैं।

फिर भी नीतिशास्त्रके आलोचक उसे अधार्मिक कहते हैं। इसका एकमात्र कारण यह है कि कर्मोंके महत्वके बारेमें चिन्तन एवं विश्लेषण करना प्राचीन परम्पराकी स्वाभाविक एवं सामान्य प्रवृत्ति नहीं थी। दार्शनिक जिज्ञासासे शून्य चिन्तनहीन प्रवृत्तिके लोग यह देखकर घबड़ा उठते हैं कि नीतिशास्त्र कर्मोंके औचित्य और अनौचित्यकी प्रामाणिकताकी खोज करता है। वे अपनी सुप्त और आलसी प्रवृत्तिको जगानेके बदले नीतिशास्त्रके आलोचक बन जाते हैं और उसे अधार्मिक कहकर सन्तोष करते हैं। पर वास्तवमें नीतिशास्त्र विवेकसम्मत धर्म है।

आलोचकोंका यह भी कहना है कि नीतिशास्त्र अवास्तविक है। जीवन सत्यसे परे होनेके कारण वह तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक

वास्तविक और उपयोगी

गुत्थियोंको नहीं सुलझा सकता है। वह वास्तविक तथ्योंकी खोज नहीं करता है। वर्तमान कर्त्तव्योंकी रूपरेखा नहीं बनाता है। वह तात्कालिकको महत्व देने और उसकी चिन्ता करनेके बदले उन नियमोंकी खोज करता है जो कि उसके अनुसार भविष्यमें आनेवाली आदर्श सामाजिक व्यवस्थाके लिए आवश्यक हैं। उनके अनुसार उसकी नींव काल्पनिक होनेके कारण उसकी उपयोगिता सन्दिग्ध है। ऐसी आलोचनाके द्वारा ये आलोचक-

गण उसके मूल सिद्धान्तसे अपनी अनभिज्ञता ही प्रकट करते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि नीतिशास्त्र आदर्शविधायक विज्ञान है। किन्तु इसके यह अर्थ कदापि नहीं होते कि वह बच्चेके दिवास्वप्नकी भाँति है अथवा वह केवल नीतिज्ञोंके बौद्धिक आनन्दका सूचक है। नीतिज्ञ कल्पनाकी उड़ान नहीं भरता, वह उस नैतिक आदर्शकी खोज करता है जो जीवनके ठोस वास्तविक सत्यपर आधारित है। मानव-जीवनको सुखी और सुसंस्कृत बनानेके अभिप्रायसे वह विभिन्न विज्ञानों और कलाओंका अध्ययन करता है; दर्शनके क्षेत्रमें प्रवेश करता है और मनुष्य तथा विश्वके बारेमें सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् ही वह मानवीय गौरवसे युक्त नियम अथवा नैतिक नियम बनाता है। इन नियमोंका आवश्यकताओं एवं देश, काल, परिस्थितिके साथ परिवर्तन होना अनिवार्य है। नैतिक नियम परिवर्तनशील हैं। भौतिक और मानसिक परिस्थितियोंके साथ वे रूपान्तरित होते रहते हैं। अतः परम्परानुगत नियमोंका पालन करना मनुष्यके विकास एवं उन्नतिके लिए हानिप्रद है। नीतिशास्त्र एक ऐसे मापदण्डको प्राप्त करनेका प्रयास करता है जिसके आधारपर जीवनके विरोध एवं विषमताएँ सुलझायी जा सकें। जीवनमें सर्वत्र वैषम्य दीखता है। रूढ़िग्रस्त नियमोंमें विरोध मिलता है। इच्छाओंमें संघर्ष मिलता है। मनुष्य मानसिक द्वन्द्वसे ग्रस्त रहता है। वह उस इच्छा अथवा सहजप्रवृत्तिके अनुसार कर्म करना चाहता है जो उसके लिए श्रेयस्कर और कल्याणकर हो। सहजप्रवृत्तियोंका संघर्ष ही उसमें उचित-अनुचितके विवेकको जाग्रत करता है। उसके मानसमें 'क्या करना उचित है' का प्रश्न उठता है। इसके उत्तरस्वरूप ही वह परम-आदर्श अथवा मापदण्डके स्वरूपका निर्धारित करता है और इस मापदण्डके आधारपर उचित-अनुचितके नियमोंका प्रतिपादन करता है।

नीतिशास्त्र मनुष्यकी बौद्धिक माँग—'शुभ क्या है'—का विज्ञान है। वह बतलाता है कि मानव-जीवन विभिन्न विरोधी इच्छाओं, भावनाओं, आवेगों, रागात्मक प्रवृत्तियोंका कोलाहलपूर्ण विप्लवमात्र नहीं है। वह नियमबद्ध और

संगतिपूर्ण है एवं उसकी अपनी सार्थकता है। 'जीवन रहने योग्य है', इस विश्वासपर वह आगे बढ़ता है और जीवनके प्रयोजनको समझना चाहता है। जब विभिन्न कर्त्तव्योंके बीच संघर्ष होता है, अनेक इच्छाओंके कारण मानसिक द्वन्द्व पैदा होता है तब यह मनुष्यका मार्गदर्शक बनता है। जब मनुष्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है और नहीं समझ पाता कि वह किस मार्गका अनुसरण करे, उसका अपने प्रति और समाजके प्रति क्या कर्त्तव्य है, इन कर्त्तव्योंके बीच कैसे सामंजस्य स्थापित किया जाय, तब उसे नैतिक अन्तर्दृष्टिकी आवश्यकता होती है। नैतिक ज्ञान ऐसे व्यक्तिके लिए एक दृढ़ अवलम्बनके समान है। वह उसे आत्मबल देता है। इस बलके सहारे ही वह प्रचलित मान्यताओंसे ऊपर उठकर महान कर्म करता है। यदि महापुरुषोंकी जीवनियोंका अध्ययन किया जाय अथवा बुद्ध, ईसा और गान्धीके कार्य-क्षेत्रको समझनेका प्रयास किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उनका एकमात्र सम्बल उनका नैतिक-बल अथवा आत्म-बल ही था। उसीके सहारे उन्होंने जीवनमें अनिवर्चनीय सफलता प्राप्त की। साधारणतः व्यक्ति धर्मभीरु और समाजभीरु होता है। नरकके अथवा पड़ोसीके भयसे वह जघन्य कर्म सहर्ष कर लेता है। उसका विवेक कुण्ठित हो जाता है। उसमें पूर्ण रूपसे बौद्धिक आलस्य छा जाता है। वह यन्त्रवत् नियमोंका पालन करने लगता है। नियमोंके औचित्यकी ओरसे वह उदासीन रहता है। वह चिन्तनहीन पशुजीवन बिताता है। उसकी अन्ध-नैतिक निष्ठा उससे अनेक अनैतिक कर्म करवाती है। वह न तो जीवनके मूल्यको समझनेका प्रयास करता है और न नियमोंका बौद्धिक रूपसे विवेचन करता है। मनुष्यको ऐसी दयनीय और हीन स्थितिसे उबारनेका प्रयास करना ही नीतिशास्त्रका ध्येय है। यह मनुष्यको समझाता है कि वह स्वतन्त्र बौद्धिक प्राणी है। अतः वह शिवत्वको प्राप्त कर सकता है। मनुष्यके अन्दर सोयी हुई मानवताको जगाना, उसके बारेमें उसे सचेत करना ही नैतिक ज्ञानका लक्ष्य है। ज्ञान सद्गुण है। यदि मनुष्य सत्यको समझ लेगा तो उसके सम्पूर्ण कर्म इसकी प्राप्तिके लिए साधन बन

जावेंगे। विवेकके जाग्रत होनेपर मनुष्य विवेकसम्मत कर्म करता है; बौद्धिक-मार्ग एवं सत्य-मार्गको अपनाता है। बौद्धिक प्रकाशको प्राप्त कर लेनेपर वह अन्धकारपूर्ण अन्धविश्वासों, जर्जर, मरणोन्मुख रूढ़ि-रीतियों, संकीर्ण स्वार्थ-भावनाओंका त्याग कर देता है। नीति-शास्त्र प्रत्येक व्यक्तिके आचरणको विवेकसम्मत बनाना चाहता है, जनमतको बौद्धिक स्तरपर उठाना चाहता है ताकि प्रत्येक मानव-शिशु स्वच्छ और स्वस्थ वातावरणमें साँस ले सके; व्यष्टि और समष्टि सुदृढ़, स्वावलम्बी और सुसंस्कृत बन सके; राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोहसे ऊपर उठकर विश्वका नागरिक बन सके।

कई आलोचकोंका कहना है कि वह सब उस पवित्र और पुण्य आशाके समान है जो मनुष्यकी महत्वाकांक्षा रूपी आकाशमें विराजमान है। अथवा नीतिशास्त्र कोरा सिद्धान्त है। वह उपयोगितारहित और वास्तविकताशून्य है। उसका व्यावहारिक मूल्य नगण्य है। इस तथ्यको समझनेके लिए मानव-इतिहाससे उदाहरण लेना आवश्यक है। आदिमकालमें मनुष्य-जीवन सरल था। उसकी आवश्यकताएँ थोड़ी थीं। वह अपनी भौतिक और शारीरिक आवश्यकताओं—नींद, भूख, प्यास—के लिए ही सचेत था। किन्तु, आधुनिक विज्ञानके युगमें पहुँचनेतक उसका जीवन अत्यन्त जटिल और व्यापक हो गया है। उसकी आवश्यकताएँ केवल उसके समुदाय, झुण्ड, परिवारतक ही सीमित नहीं हैं। उसे अब राष्ट्र और विश्वके रूपमें भी सोचना पड़ता है। वह आज सम्पूर्ण विश्वपर अपनी भौतिक, मानसिक आवश्यकताओंके लिए निर्भर है। वह बौद्धिकरूपसे अधिक सचेत और जागरूक हो गया है। वह सामूहिक तथा वैश्व मानवी वृत्तिको समझना चाहता है। उसकी बौद्धिक जिज्ञासा किसी भी प्रथा, संस्कृति अथवा धर्मको बिना समझे स्वीकार नहीं करती है। उसे वैयक्तिक, सामाजिक अभ्यासोंमें जो असंगति मिलती है उसे वह दूर करना चाहता है। नये विचार तथा नयी आवश्यकताओंके प्रादुर्भावसे उसकी व्यावहारिक समस्याएँ बढ़ गयी हैं। इन समस्याओंका रूप अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। व्यक्तिका जीवन और अस्तित्व केवल उसके जातिवर्गतक ही सीमित

नहीं रह गया है, वह विश्वजनीन हो गया है। उसके सम्मुख एक ओर तो व्यक्तिगत सुख-दुःख है और दूसरी ओर सम्पूर्ण मानवताका शुभ है, जिसके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने कर्त्तव्योंकी स्पष्ट रूपरेखा बनाये, व्यष्टि और समष्टिके सम्बन्धको समझे। कर्त्तव्य और अधिकारकी क्या सीमाएँ हैं? उनके क्या अर्थ हैं? वह कौनसे कर्म हैं जिनका मनुष्यके ऊपर सामाजिक ऋण है? जिनकी उससे अपेक्षा की जाती है। जिन्हें उसे करना ही है, आदि। ये आजके बौद्धिकरूपसे सजग प्रत्येक व्यक्तिकी समस्याएँ हैं, जिनका उसे स्वयं समाधान खोजना है और जिनके लिए वह आज भाग्य और धर्मकी दुहाई देनेवाले पण्डितोंके पास जाना व्यर्थ समझता है। वह आज जनसाधारण द्वारा स्वीकृत दैवी आदेश और ईश्वरीय नियमोंके मूलकी खोज करना चाहता है। चमत्कारवाद और जादू-टोनेके भयसे ऊपर उठ जानेके कारण वह नैतिक मान्यताओंकी प्रामाणिकता जानना चाहता है। विकास और प्रगतिसे प्रेरणा ग्रहण कर वह आजके दैनंदिनके जीवनकी व्यावहारिक कठिनाइयोंके कारण विगत युगोंकी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, व्यावसायिक संस्थाओंकी उपयोगितापर सन्देह करने लगता है। आजके मानवकी चिन्तनधारा प्राचीन मानवकी विचारधारासे नितान्त भिन्न है। उसके जीवनमें विश्वव्यापी परिवर्तन आ गया है। उसके दार्शनिक, साहित्यिक, कलात्मक तथा व्यावसायिक विचारोंमें आमूल क्रान्ति आ गयी है। उसका जीवन विश्वजीवनका अंग बन गया है। उसका सुख व्यक्तितक अथवा किसी विशिष्ट समुदायतक सीमित नहीं रह गया है। वह सम्पूर्ण मानवताके शुभ तथा सुखका आकांक्षी है। ज्ञात-अज्ञात रूपसे उसके जीवनका ध्येय सर्वकल्याणकारी हो गया है। वह शरीरधारी मानवताका अनिवार्य अंश बन गया है। इस सत्यके आधारपर उसके कर्त्तव्य और अधिकारका बोध साथ-साथ चलता है। न एक पहिले आता है, न दूसरा बादमें। उसका कर्त्तव्य अधिकारकी अपेक्षा करता है और अधिकार कर्त्तव्यकी। अतः सोलहवीं शताब्दीके जड़वादी नैतिक सुखवादके प्रचारक हौब्सके विरुद्ध आज कहा जा सकता

है कि नैतिक दृष्टिसे कर्त्तव्यका बाह्य भय अथवा बाध्यताके कारण, पालन करना अनैतिक है। कांटका कथन कि 'कर्तव्यका आदेश अन्तः-आरोपित आदेश है', आजके व्यक्तिके मनके अधिक निकट है।

नीतिशास्त्र कर्तव्यका पथ दिखाता है। कठिनाइयोंको हल करके जीवनको सरल और सुन्दर बनाता है; कर्मोंके वास्तविक मूल्यके सम्बन्धमें प्रकाश डालकर उनका पुनर्मूल्यीकरण करता है। वह प्रचलित नैतिकताके उन नियमोंको समझनेका प्रयास करता है जिनके कारण हमारे सामाजिक जीवनकी प्रगति कुंठित हो गयी है; उदाहरणार्थ, बाल-विवाह, बाल-वैधव्य, सती-प्रथा, अस्पृश्यता आदि। व्यक्तिमें अपनी भी अनेक दुर्बलताएँ हैं। उसकी अधिकांश इच्छाएँ आत्म-विनाशक और आत्म-घातक होती हैं; जिन्हें यथार्थ-रूपसे समझकर उनका संयमन तथा उन्नयन करना उसके लिए आवश्यक है।

नीतिशास्त्र मनुष्यको बताता है कि नैतिक प्रगतिमें ही जीवनकी सार्थकता है। जीवनके अर्थ एवं मूल्यको समझानेके कारण ही वह निर्देश करता है कि सुख और आनन्दमें क्या भेद है। सुख और सद्गुणमें क्या अन्तर है। आनन्दको आचरणका परमलक्ष्य क्यों मानना चाहिये। नैतिक बाध्यताके क्या अर्थ हैं। वैयक्तिक और सामाजिक कर्त्तव्यकी क्या सीमाएँ हैं। स्वेच्छाकृत कर्म अथवा संकल्पकी स्वतंत्रताका मानव-जीवनमें क्या महत्त्व है। कर्मोंकी संचालिका भावना है अथवा बुद्धि। सत्य बोलना, वचन-बद्ध होना, शपथ खाना—शुभ, उचित, अन्तर्बोध, कर्तव्य और अधिकार आदि शब्दोंका, जिनका कि प्रतिदिनके जीवनमें प्रयोग किया जाता है, क्या मूल्य है।

इन कठिनाइयोंको हल करनेके लिए नीतिशास्त्र उस मापदण्डकी खोज करता है जिसके आधारपर इन सबका सापेक्ष मूल्य निर्धारित किया जा सके। अतः नैतिक आदर्शकी नींव वास्तविक जगत है। व्यावहारिक कठिनाइयाँ ही इसके मूलमें हैं। नैतिक आदर्श वह आदर्श है जो कि मानवीय प्रयास और पुरुषार्थसे पृथ्वीपर स्थापित किया जा सकता है। वह आदर्श, जिसका सम्बन्ध इसी विश्वसे है और जिसपर मानवताका

अस्तित्व, जीवन और गति निर्भर है। नैतिक आदर्श यथार्थसे भिन्न नहीं है। वह लौकिक और ऐहिक आदर्श है। मनुष्यके जीवनका व्यावहारिक और क्रियात्मक पक्ष ही उसका जन्मदाता है। जीवनकी प्रगति और सर्वांगीण उन्नति ही उसका ध्येय है। वह मानव-विकासका अभिन्न अंग है। वह उन नियमोंका खण्डन करता है जो उस पारस्परिक व्यवस्थाकी उन्नतिके प्रतिकूल हैं जिसे सामाजिक जीवन कहते हैं। अनुकूल नियमोंको समझने और कल्याणप्रद नियमोंका सृजन करनेमें वह अमूर्त और दुरूह विज्ञान बन जाता है। किन्तु उसकी दुरूहता यह सिद्ध नहीं करती कि नीतिशास्त्र काल्पनिक सिद्धान्तमात्र अथवा बौद्धिक व्यायाम या शतरंजके खेलकी भाँति है। वह दुरूह इसलिए है कि वह सम्पूर्ण मानवताका आलिंगन करता है। अपने क्षेत्रको अत्यन्त व्यापक बना देता है। वह इस अर्थमें भी दुरूह है कि उसे वैज्ञानिक सत्यकी भाँति प्रयोग द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता और न उसे काली-पाटी (ब्लैक-बोर्ड) पर लिखकर समझाया ही जा सकता है। साधारण बुद्धिवाले व्यक्ति वैज्ञानिक सत्यको समझ सकते हैं, किन्तु नैतिक सत्यको समझनेके लिए सूक्ष्म अन्तर्दृष्टिकी आवश्यकता है। दुरूह होनेपर भी नीतिशास्त्र मानव-जीवनके लिए अनिवार्य और आवश्यक है। आधुनिक कालमें इसका महत्व विशेषरूपसे बढ़ गया है। आजके युगमें जीवन इतना व्यापक और विविधांगी हो गया है कि मनुष्यको पग-पगपर आचरणके मापदण्डकी आवश्यकता पड़ती है। वह आज वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा उस परमसत्यकी खोज करना चाहता है जिसके आधारपर वह अपने कर्मोंको संचालित कर सके। समुचित नैतिक ज्ञानके बिना मनुष्यका जीवन अत्यन्त दुःखद हो जाता है। वह कर्त्तव्योंके झंझावातमें खो जाता है। त्रिशंकुकी भाँति वह न तो पृथ्वीपर ही रह पाता है और न स्वर्गमें ही। नीतिशास्त्र पृथ्वी और स्वर्ग, वास्तविक जीवन और आदर्श जीवनमें सामंजस्य स्थापित करके मनुष्यको अशोभनसे शोभनकी ओर, अशिवसे शिवकी ओर एवं अमानुषिकतासे मानुषिकता अथवा मनुष्यत्वकी ओर ले जाता है।

अध्याय २

नीतिशास्त्र और विज्ञान

नीतिशास्त्र : एक विज्ञान :

विज्ञानके अर्थ

नीतिशास्त्रकी परिभाषा देते समय उसे चरित्र और आचारका विज्ञान कहा था। यहाँपर प्रश्न उठता है कि क्या नीतिशास्त्रको विज्ञान कह सकते हैं? विज्ञानसे क्या अभिप्राय है, इसके क्या अर्थ हैं?

किसी भी विशिष्ट विषयको सुसम्बद्ध बौद्धिक प्रणाली द्वारा समझना, उसके बारेमें व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करना, विज्ञानका काम है। निर्णयोंको विवेककी कसौटीपर कसकर एक सुसंघटित विचार-प्रणालीमें बद्ध करना, सामान्यतः, समस्त विज्ञानोंका ध्येय है। अधिकतर सामान्य निर्णयोंमें असंगति और विरोध रहता है। विज्ञान इस विरोध और असंगतिको दूर करके एक विशिष्ट विचारपद्धति देता है। उसका सम्बन्ध अधिकतर अनुभवोंकी अभिन्न-रूपता एवं समानतासे रहता है। वह वस्तुविशेषका ज्ञान देता है और बताता है कि बाह्य-जगतकी घटनाएँ कैसे घटित होती हैं; वस्तुओंका अस्तित्व कैसे सम्भव है। उसके वस्तु-विषय कुछ [illegible] निर्विवाद सत्य हैं। वह वस्तुओं तथा घटनाओंके कार्य-कारण-सम्बन्धको समझनेका प्रयास करता है और उसके आधारपर सामान्य नियमोंका प्रतिपादन करता है। कार्य-कारणके नियमोंको समझकर अथवा वस्तुओंके परस्पर अनिवार्य सम्बन्धको समझनेके पश्चात् वह नये परिणामोंका निगमन करता है। विज्ञानकी पूर्णता इसीपर निर्भर है कि वह ज्ञात कारणोंके नियमोंके आधारपर विशेष परिणामोंके बारेमें निश्चयपूर्वक कह सके।

वैज्ञानिक विषयोंको दो श्रेणियों या वर्गोंमें विभाजित किया जा सकता

है। एक ओर वे विषय हैं जो वर्णनात्मक या प्राकृतिक (Descriptive or Natural science) के अन्तर्गत आते हैं और दूसरी ओर वे विषय, जो आदर्शविधायक या नियामक विज्ञान (Normative or Regulative science) के अन्तर्गत आते हैं। दोनों प्रकारके विज्ञान व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयास करते हैं। किन्तु दोनोंके लक्ष्य और निर्णयोंमें भेद है। यथार्थ विज्ञान (पदार्थ-विज्ञान), मनोविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र और जीवशास्त्र आदि, वस्तुविषयक ज्ञान देते हैं। इसके अन्तर्गत वे सभी विज्ञान आते हैं जो प्रकृतिके बारेमें बताते हैं तथा मनुष्यको एक प्राणीके रूपमें मानते हैं। पदार्थविज्ञानका सम्बन्ध अनुभवके एक विशिष्ट अंगसे है। उसके विषय यथार्थ और तथ्यात्मक होते हैं। वह यथार्थ और दृश्यमान जगतके नियमोंका अनुसन्धान करता है; अपरिवर्तनशील प्राकृतिक नियमोंको समझाता है। सामान्य नियमोंका ज्ञान प्राप्त कर इन नियमोंके आधारपर भावी परिणामोंके बारेमें निश्चयात्मक रूपसे कह सकता है; घटनाओंके फलके बारेमें पहिलेसे ही बता सकता है। वैज्ञानिक गणित-ज्योतिषके आधारपर भविष्यवाणी कर सकता है कि सूर्य और चन्द्रग्रहण कब पड़ेंगे। पदार्थ एवं असन्दिग्ध विज्ञानका ध्येय किसी आदर्शको निर्धारित करना नहीं है। वह घटनाओं और वस्तुओंका मूल्यांकन नहीं करता वरन् उन नियमोंकी खोज करता है जिनके आधारपर वस्तुओंके अस्तित्वपर अथवा घटनाओंके घटित होनेपर प्रकाश डाला जा सके, उन्हें समझाया जा सके।

विज्ञान : दो वर्ग

इसके विपरीत आदर्शविधायक विज्ञान उस मापदण्ड अथवा आदर्शकी खोज करता है जिसके आधारपर विचार, भावना तथा कर्मके गुणका मूल्यांकन किया जा सके। वह मूल्यके मापदण्डकी खोज करता है; मानव-जीवनके मूल्यका निर्धारण करता है। यहाँपर यह जान लेना उचित होगा कि मानव-अनुभूतिकी तीन सर्वोच्च मान्यताएँ हैं : सत्य, शिव और सुन्दर। यह कुछ अंशोंतक मनश्चेतनाके तीन स्वरूपों—ज्ञानात्मक, क्रियात्मक तथा रागात्मकसे सादृश्य रखते हैं। अतः आदर्श-

विधायक विज्ञानके अन्तर्गत तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र आते हैं। ये तीनों एक ही परिवारके हैं। तीनों ही उन मापदण्डोंकी खोज करते हैं जिनके आधारपर विचार, आचार और सौन्दर्यका मूल्यांकन किया जाता है। तर्कशास्त्र सत्य और असत्यके निर्णयका विज्ञान है। वह बताता है कि सत्य क्या है। उसका विषय विचारात्मक है। वह सत्य-विचारके मापदण्डको निर्धारित करता है; तर्कके सिद्धान्तोंका निरूपण करता है। सत्यकी खोजके लिए कौनसे सामान्य नियम आवश्यक हैं, उनको बताता है। नीतिशास्त्र आचरणका विश्लेषण करके उसके शुभाशुभके बारेमें निर्णय देता है। परमध्येयके स्वरूपको निर्धारित करनेके पश्चात् वह सिद्ध करता है कि कौनसे कर्म परमध्येयकी प्राप्तिमें सहायक हैं। वह उस मापदण्डकी खोज करता है जिसके आधारपर उचित-अनुचित, शुभ-अशुभके निर्णयोंका समाधान कर सकते हैं। नीतिशास्त्र मानव-शुभका विज्ञान है। इसी प्रकार सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य और असौन्दर्यके निर्णयका विज्ञान है। यह सौन्दर्यकी कसौटी प्रस्तुत कर सौन्दर्यका निर्माण और मूल्यांकन करनेके लिए मापदण्ड देता है। अतः आदर्श-विधायक विज्ञानोंका सम्बन्ध आदर्शके मापदण्डसे है, तथ्यात्मक जगत एवं वस्तुविशेषसे इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है।

नीतिशास्त्र एवं नीतिविज्ञान

विज्ञान सूक्ष्म निरीक्षण, विश्लेषण, वर्गीकरण, अनुमान और प्रयोग द्वारा वस्तुओंका व्यापक ज्ञान प्राप्त करता है और तदनुसार सामान्य नियमोंका प्रतिपादन करता है। वह सामान्य नियमोंके आधारपर घटनाओं और वस्तुओंकी व्याख्या तथा स्पष्टीकरण करता है। विज्ञानके अनुसार किन्हीं विशेष कारणोंसे किन्हीं विशेष घटनाओंका जन्म अवश्य होता है। उसकी दृष्टिमें विश्वमें सभी वस्तुएँ और घटनाएँ कार्य-कारण-भावसे परस्पर सम्बद्ध तथा अवलम्बित हैं। किसी वस्तुके बारेमें पूर्ण रूपसे तभी समझा जा सकता है जब कि उसके परिवेशसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्योन्याश्रित भावको अथवा परिस्थितियोंसे सम्बद्ध कार्य-कारण-भावको पूर्णतया ग्रहण कर लिया जाय।

तब यह स्पष्ट हो जाता है कि अमुक घटनाओं या कारणोंके क्रमसे अमुक वस्तु संघटित होती है। अपने व्यापक अर्थमें विज्ञान वह बौद्धिक प्रणाली है जिसके द्वारा बाह्य-जगतका व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त होता है। इस अर्थमें नीतिशास्त्रको चरित्र और आचरणका विज्ञान अथवा नीतिविज्ञान कह सकते हैं। नीतिशास्त्र परमशुभको समझनेका एक क्रमबद्ध प्रयास है। उसके क्षेत्रमें मनुष्यकी बौद्धिक जिज्ञासा आचरणके औचित्य-अनौचित्यके बारेमें तार्किक विश्लेषण द्वारा न्यायसम्मत निर्णय देती है। वह वैज्ञानिक दृष्टिबिंदुसे वैयक्तिक, राष्ट्रीय अभ्यासों, सामाजिक, धार्मिक नियमों तथा चारित्रिक नैतिक सिद्धान्तोंका निरीक्षण और विश्लेषण द्वारा अध्ययन करता है। वह नैतिक नियमोंका समसामयिक अध्ययन करता है। वह नैतिक नियमोंको समसामयिक परिस्थितियों अथवा देशकालकी आवश्यकताके आधारपर समझाता है। मनुष्यकी वैयक्तिक सामाजिक प्रवृत्तियों तथा परिस्थितियोंके संघर्षसे आविर्भूत हुए सदाचार सम्बन्धी प्रश्नों एवं नैतिक मान्यताओंपर प्रकाश डालता है। नीतिशास्त्र नैतिक नियमोंके सापेक्ष महत्वको स्वीकार करता है। वह नैतिक नियमोंको, समय-विशेषके सामाजिक ऐक्यका अनिवार्य परिणाम मानता है। विज्ञानकी भाँति वह नैतिक नियमोंको अपने अस्तित्वके लिए परिस्थिति और परिवेशपर अन्योन्याश्रित भावसे अवलम्बित मानता है। विशिष्ट कारणोंसे ही नैतिक नियमोंका प्रादुर्भाव होता है। अतः उन्हें सामाजिक परिस्थितियोंसे विछिन्न, एक दूसरेसे असम्बद्ध सत्यके रूपमें नहीं देखा जा सकता। वास्तवमें उनका मानव-समाजके संघटनसे सजीव सम्बन्ध होता है और इस सम्बन्धके कारण ही वह परस्पर सम्बद्ध हैं। इनका विरोध बाह्य है, केवल विचारहीन व्यक्तियोंकी दृष्टिमें है। उनका संगतिपूर्ण अनुशीलन सामाजिक पृष्ठभूमिमें ही सम्भव है।

नीतिशास्त्रको विज्ञानकी परिभाषा द्वारा वहींतक सीमित कर सकते हैं जहाँतक कि दोनों वैज्ञानिक प्रणालीका आश्रय लेकर अपने निर्णयोंको सत्य अथवा यथार्थकी कसौटीपर कसनेका प्रयास करते हैं। इसके आगे

दोनोंके लक्ष्य और क्षेत्रमें भिन्नता है। यही नहीं, नीतिशास्त्रकी प्रणाली वैज्ञानिक होते हुए भी दार्शनिक तथ्योंपर[1] आधारित है। यथार्थ अथवा असन्दिग्ध विज्ञान बाह्य जगतकी घटनाओंका सम्यक् पर्यवेक्षण करता है। उसका ध्येय वस्तुओं और घटनाओं—मानसिक तथा भौतिककी तथ्यात्मक व्याख्या करना है। नीतिशात्र मान्यतामूलक है। उसके निर्णयका लक्ष्य मनुष्यका आचरण है। उसका सम्बन्ध मूलतः मानसिक एवं चेतन-जगतसे है अथवा आत्म-चेतन प्राणीसे है।

नीतिशास्त्र और यथार्थ विज्ञानमें स्पष्ट भेद

यथार्थ विज्ञानका सम्बन्ध जड़-जगतसे है अथवा उन मानसिक घटनाओंसे जिनकी कि प्राकृतिक रूपसे व्याख्या की जा सकती है। वह मनुष्य और जड़-जगतके व्यापारोंका उनके स्वाभाविक रूपमें वर्णन करता है। जड़-जगतकी घटनाएँ चेतनाशून्य होती हैं, उनकी यान्त्रिक गति होती है। वे स्थिर प्राकृतिक नियमों द्वारा संचालित होती हैं। अतः यथार्थ विज्ञान जड़-जगतके व्यापारोंके अस्तित्व, उत्पत्ति और विकासके बारेमें निश्चित रूपसे सामान्य नियमोंका प्रतिपादन कर सकता है। नीतिशास्त्र मनुष्यके कर्मों और उनकी मूल प्रवृत्तियोंकी खोज करता है। संकल्प और आचरणकी मूल प्रेरक शक्तियोंकी उन्नति, गति एवं व्यवहारकी प्रगतिको समझनेका प्रयास करता है और समयानुकूल आचरणको नियमित करनेके लिए सापेक्ष नियमोंका प्रतिपादन करता है। किन्तु यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि मानव-व्यवहारकी उत्पत्ति और विकास तक ही यह अपनेको सीमित नहीं रखता है। वह नियामक विज्ञान है। उसका परमलक्ष्य निःश्रेयसको समझना है। मानवीय मान्यताओं और सद्गुणोंका निरूपण करना है। वह गौण रूपसे ही कालक्रममें घटित होनेवाले आचरणको नियन्त्रित करनेके लिए नियमोंका प्रतिपादन करता है अथवा आचरणके उत्पत्ति-विषयक शास्त्रका अध्ययन करता है।[2] यथार्थ

---

१. देखिये—भाग १, अध्याय ३.

२. नीतिशास्त्र आचरण और नैतिक चेतनाका उत्पत्ति-विषयक अध्य-

विज्ञान आसन्न घटनाओंके बारेमें निश्चयपूर्वक[1] कह सकता है। भौतिक घटनाएँ विशिष्ट परिस्थितियोंके संयोगका अनिवार्य परिणाम हैं। किन्तु नीतिशास्त्र आचरणके बारेमें निश्चयात्मक रूपसे कुछ नहीं कह सकता। वह प्रत्यक्ष और ज्ञेय शक्तियोंका परिणाम नहीं है। उसका मूल घटनाओंसे अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। वह कार्य-कारणके नियम द्वारा नहीं समझाया जा सकता। उसके बारेमें पूर्वविचार करना अत्यन्त कठिन है।

यन अवश्य करता है किन्तु इसके आधारपर वह निश्चित सामान्य नियमोंका प्रतिपादन नहीं करता है। वह जीवनके अर्थ और मूल्य-की बौद्धिक व्याख्या करनेके अभिप्रायसे ही नैतिक चेतनाकी उत्पत्ति और विकासका अध्ययन करता है। यह सभी स्वीकार करेंगे कि नैतिक सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिए आचरणका उत्पत्ति-विषयक अध्ययन अनिवार्य पूर्वविषय है। पर इसके अर्थ यह नहीं हैं कि नीतिशास्त्र यथार्थ विज्ञानकी भाँति आचरण सम्बन्धी सामान्य नियमोंको निर्धारित करता है; अथवा विशिष्ट परिस्थितिमें व्यक्ति कैसे कर्म करेगा इसे निश्चित करता है। यह भूल विकासात्मक सुखवादियोंने की है। उन्होंने मनुष्यके आचरणका अध्ययन प्राकृतिक घटनाओंके स्तरपर किया। नैतिक आचरणको उसी भाँति समझाना चाहा जिस प्रकार जीवशास्त्र जातियोंका विकास समझाता है। यथार्थ विज्ञान और आदर्श-विधायक विज्ञानका अन्तर यह स्पष्ट रूपसे बतला देता है कि राष्ट्र और व्यक्तियोंके आचरणकी विधिको निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है। नीतिशास्त्रको यथार्थ विज्ञान मान लेनेपर नीतिशास्त्रके आधारभूत सत्य—संकल्पकी स्वतन्त्रताका भी खण्डन हो जाता है और ऐसा आचरणका विज्ञान नीतिशास्त्रको समूल नष्ट कर देता है।

यदि कोई कहे कि मनुष्यका ज्ञान सीमित है और इस कारण विज्ञान-के अनुसन्धान शत-प्रतिशत सत्य नहीं हो सकते हैं तो यह भी कहा जा सकता है कि यदि विज्ञान निन्यानबे प्रतिशत घटनाओंके

संकल्पकी स्वतन्त्रता नीतिशास्त्रकी एक आवश्यक मान्यता है। यह इस सत्यपर आधारित है कि मनुष्यका आचरण—उसके द्वारा किसी कर्मका होना, न होना—उसकी स्वतन्त्र प्रेरणाशक्तिपर निर्भर है। मनोविज्ञान सिद्ध कर चुका है कि मनुष्यका स्वभाव चचल और दोलायमान है। प्रबलसे प्रबल व्यक्तित्वके आचरणके बारेमें भी निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता है। यथार्थ विज्ञान मनुष्यको प्रकृतिका अंग मानता है, जिनका सम्बन्ध आंगिक है। नीतिशास्त्रके अनुसार मनुष्य आत्म-चेतन प्राणी है। वह इस सम्बन्धमें विशेषरूपसे सचेत है[१] क्योंकि मनुष्यकी अनेक सम्भावित शक्तियाँ हैं। प्राकृतिक नियमोंका यन्त्रवत् पालन करना तो दूर रहा, वह अपनी इन विशेष शक्तियोंके बलपर प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेकी आकांक्षा रखता है। अतः एक ओर तो प्राकृतिक घटनाएँ अनिवार्य प्राकृतिक नियमों द्वारा संचालित होती हैं और दूसरी ओर मनुष्यके आत्मप्रबुद्ध प्राणी होनेके कारण वे उससे नियन्त्रित भी होती हैं। मनुष्यका आचरण उसके आदर्श मनःस्थिति एवं सम्पूर्ण व्यक्तित्वपर निर्भर है। वह अपने

बारेमें निश्चयात्मक रूपसे कह सकता है तो नीतिशास्त्र मानव आचरणके बारेमें केवल एक प्रतिशत कह सकता है और वह भी अनिश्चित रूपसे।

१. मनुष्य और वातावरणका सजीव सम्बन्ध यह भी बताता है कि नीतिशास्त्र भौतिक विज्ञानोंके नियमों और आवश्यक मान्यताके आधारपर अपने तथ्योंका स्पष्टीकरण नहीं कर सकता है। 'गतिका नियम' और 'शक्तिकी अविनाशिता' के सिद्धान्त भौतिक जगतसे सम्बन्ध रखते हैं। किन्तु ये नैतिक जगतके लिए मूल्य-रहित हैं क्योंकि मनःशक्ति एवं संकल्पकी क्षमताएँ और सम्भावनाएँ उन्नति और विकासके पथपर हैं। इसी प्रकार अचेतन निम्नप्राणियोंके जैव सिद्धान्त—प्राकृतिक संकलन—का नीतिशास्त्रमें आरोप करना मूर्खता है। विकासात्मक सुखवादी अपने इस प्रयासके कारण ही नैतिक क्षेत्रसे दूर हट गये।

कर्मोंके लिए स्वयं उत्तरदायी है। उसके आचारके औचित्य-अनौचित्य-पर विचार किया जा सकता है। यथार्थ विज्ञान वास्तविक तथ्योंका अनुशीलन कर उनपर वर्णनात्मक निर्णय देकर चुप रह जाते हैं। यथार्थ विज्ञानका सम्बन्ध देशकालमें घटित होनेवाली घटनाओंसे है फलतः उसकी प्रस्तावनाएँ व्याख्यात्मक होती हैं। 'पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा करती है', यह स्थापना एक विशिष्ट घटनाके बारेमें बताती है। नीतिशास्त्र इससे एक पग आगे बढ़ता है। उसकी स्थापनाएँ न्यायसम्मत होती हैं। उसका सम्बन्ध उन घटनाओंसे नहीं है जो देश-काल या भूत-वर्तमानमें घटित होती हैं अथवा जिनका सम्बन्ध पूर्वापर कार्य-कारण भावसे है। दूसरे शब्दोंमें नीतिशास्त्रका सम्बन्ध चरित्रके उस पक्षसे नहीं है जो कि काल-क्रममें होनेवाला एक व्यापार है। वह चेतन व्यापारोंके औचित्य-अनौचित्यका अध्ययन करता है। यथार्थ विज्ञानका सम्बन्ध केवल वस्तुओंके अस्तित्व और उनके बोधसे है। यथार्थमें 'क्या है', वह इसका निर्णय करता है। नीतिशास्त्रका सम्बन्ध आदर्शसे है, 'क्या होना चाहिये' से है[1]। उसके निर्णय नियामक एवं मान्यतामूलक हैं। वे वर्णनात्मक नहीं,

१. 'क्या है' और 'क्या होना चाहिये' में परम भिन्नता देखना भी भूल है। यह भिन्न सत्य नहीं हैं और न इस भेददृष्टिको सम्मुख रखकर इन दो विज्ञानोंको पृथक् ही कर सकते हैं। यथार्थ विज्ञान किसी वियुक्त सत्यकी केवल चर्चा ही नहीं करता है बल्कि वह उस सर्वांगीण सत्यकी ओर भी संकेत करता है जिसका कि वह अंग है। उदाहरणार्थ, जीवशास्त्र केवल जीवोंकी विभिन्न श्रेणियोंके सम्बन्धमें ही नहीं बताता है किन्तु वह सामंजस्यके प्रामाणिक आदर्शका भी प्रतिपादन करता है। जहाँतक इस आदर्शका स्वरूप है, दोनोंमें अवश्य भेद है। यथार्थ विज्ञानका आदर्श प्राकृतिक व्यवस्थाका सूचक है। वह जड़-जगतका अनिवार्य आदर्श है। नीतिशास्त्रका आदर्श आत्म-प्रबुद्ध प्राणियोंका आदर्श है। वह आत्म-आरोपित और आत्म-स्वीकृत है।

आलोचनात्मक हैं। इसको यह कहकर और भी स्पष्ट कर सकते हैं कि नीतिशास्त्र बुद्धिकी सहायतासे उस सार्वभौम मापदण्डकी खोज करता है जिसके आधारपर तथ्योंका मूल्यांकन किया जाता है और इसके विपरीत बौद्धिक रूपसे उस सार्वभौम नियम या विश्व-व्यवस्थाका अनुसन्धान करता है जिसके आधारपर विश्वके तथ्यों और घटनाओंकी संगतिपूर्ण व्याख्या एवं स्पष्टीकरण किया जा सकता है। भौतिक विज्ञान उस वास्तविक विधान या बौद्धिक नियमोंका अन्वेषण करता है जिसके द्वारा घटनाएँ संचालित होती हैं, जो उन्हें संगति और एकता देते हैं। नीतिशास्त्र इस ज्ञेय-व्यवस्थासे परे उस परमआदर्शको खोजता है जिसके द्वारा विश्व-विधान तथा विश्व-व्यापारोंका मूल्यांकन किया जा सकता है। यथार्थ विज्ञानका घटनाओंसे वहींतक सम्बन्ध है जहाँतक वह उनके घटित होनेको समझा सकता है, उनकी गणना कर सकता है अथवा उनकी नाप-तोल कर सकता है। नीतिशास्त्र इस भौतिक व्यवस्थासे परे उस नैतिक व्यवस्थाकी खोज करता है जो मानव-जीवनको महान बना सकती है और यहाँपर वह मानव-कल्याणका विज्ञान बन जाता है। उसका निःश्रेयससे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। मानव-जीवनकी प्रगति और उसका अधिकाधिक कल्याण उसका चरमध्येय है। वह विज्ञानकी शक्तिसे ध्वंसात्मक और स्वभावतः लोभी मानवको कल्याणके पथपर अग्रसर कर उसे लोक-मंगलका विधायक बननेके लिए प्रेरित करता है।

मानवके परमकल्याणकी खोज करनेके कारण नीतिशास्त्र तत्वदर्शनके अत्यधिक निकट आ जाता है। वह अपने आदर्शके लिए विज्ञानपर इतना अधिक निर्भर नहीं है। उसे हम केवल विज्ञानके व्यापक अर्थमें ही विज्ञान कह सकते हैं। विज्ञानका सम्बन्ध अनुभवके विशिष्ट अंगसे है। यह सापेक्ष ज्ञानकी खोज कर विशेष दृष्टिकोणसे अनुभवका अध्ययन करता है। नक्षत्रविद्या और पदार्थविद्याका महत्व उन्हींके लिए है जो इन विद्याओंके बारेमें अपनी जिज्ञासाका समाधान अथवा किसी विशिष्ट तथ्यका प्रतिपादन करना

तत्वदर्शनसे सामीप्य

चाहते हैं। यही नहीं, विज्ञान कुछ आवश्यक मान्यताओंके आधारपर ही अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन कर सकता है। अतः प्राकृतिक विज्ञान अधिकतर तत्वदर्शनसे स्वतंत्र रहते हैं। किन्तु नीतिशास्त्रका इससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह अपनी उच्चतर एवं आवश्यक मान्यताओं—ईश्वरका अस्तित्व, आत्माकी अमरता और संकल्पकी स्वतंत्रता—के लिए तत्वदर्शनपर निर्भर है। वह अपने आदर्शका स्वरूप भी तत्वदर्शनके अनुरूप निर्धारित करता है। नीतिशास्त्रका सम्बन्ध जीवनके क्रियात्मक पक्षसे है। उसके लिए जीवनका प्रत्येक क्षण महत्वपूर्ण और अर्थगर्भित है। वह जीवनका सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। निरपेक्ष सत्यकी खोज कर वह उस परमसत्यके स्वरूपको निर्धारित करना चाहता है जिसका सार्वभौम और निरपेक्ष गुण सर्वमान्य हो अथवा जिसका सब देशों और सब कालोंमें एक ही स्वरूप हो। ऐसे निरपेक्ष आदर्शकी स्थापना वह तत्वदर्शनकी सहायतासे ही कर सकता है। नीतिशास्त्र यह भी मानता है कि मनुष्यका अपने भौतिक और सामाजिक वातावरणसे चेतन सम्बन्ध है। इसलिए वह जानना चाहता है कि मनुष्यकी विश्वमें क्या स्थिति और स्थान है। उसका दूसरोंसे क्या सम्बन्ध है और वह किस प्रकार अपने स्थिति-ज्ञानके अनुरूप कर्म करता है। यहाँपर पुनः नीतिशास्त्रका तत्वदर्शनसे अनन्य सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। तत्वदर्शन उसे बताता है कि मनुष्य केवल अपने सीमित परिवार या राष्ट्रका ही नागरिक नहीं है, वह समस्त मानव-समाज—'वसुधैव कुटुम्बकम्'—का भी अविच्छिन्न अंग है। उसका विश्वसे आत्मीय सम्बन्ध है, और इस सत्यके आधारपर नीतिशास्त्र मनुष्यके जीवनका ध्येय सार्वभौम तथा सर्वकल्याणकारी बताता है। तत्वदर्शनके निष्कर्ष नीतिशास्त्रको जिस रूपमें प्रभावित करते हैं उस रूपमें वैज्ञानिक जगतमें अनिवार्य रूपसे ऊहापोह नहीं मचा सकते हैं। नीतिशास्त्रके विभिन्न सिद्धान्तोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जायगा कि किसी भी नीतिज्ञका नैतिक ज्ञान उसके तत्वदर्शनके उस पक्षसे पूर्ण गम्भीररूपसे प्रभावित होता है जो कि उसके दृष्टिकोणको शासित करता है। नीतिज्ञोंने नैतिक प्रश्नोंका उत्तर अपनी

विश्व-विधानकी धारणाके अनुरूप ही दिया है। भौतिकवादियोंने केवल वैयक्तिक ऐहिक सुखको ही जीवनका ध्येय बताया है किन्तु अध्यात्म-वादियोंने समस्त विश्वके कल्याणको महत्व दिया है। इस प्रकार नीतिशास्त्र कर्मोंका मूल्यीकरण करनेके लिए, आचारके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित करनेके लिए तत्वदर्शनके अत्यधिक समीप आता है। इसीलिए अनेक विचारकोंने इसे नैतिक दर्शन या आचार-व्यवहारका दर्शन भी कहा है।

आचरण-कला-की सम्भावना

कुछ विचारक नीतिशास्त्रको आचरण-कला कहते हैं, किन्तु उसे आचारविज्ञान ही कहना उचित है। यथार्थ विज्ञानसे अन्तर होनेपर भी उसकी प्रणालीके कारण उसे विज्ञान ही कहना चाहिये। जहाँतक कला-निबन्धोंका प्रश्न है उनका प्रयोग उस सुव्यवस्थित व्यक्त ज्ञानके लिए होता है जो ज्ञान सत्यको व्यवहारमें लाता है। कलाका उद्देश्य उस विशिष्ट फलकी उपलब्धिसे है जिसे वह व्यक्त करती है। वह अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए उचित साधनोंकी ओर ध्यान आकृष्ट करती है। नीति इस अर्थमें कला नहीं है। किसी प्रयोजनकी सिद्धि इसका ध्येय नहीं है। नैतिकताके पीछे कोई ऐसा महान् उद्देश्य छिपा हुआ नहीं है जो मनुष्योंके आचरणको अप्रत्यक्ष रूपमें नियन्त्रित करता है। नीतिज्ञ नैतिक आचरणको अपनेमें ही पूर्ण मानते हैं। कर्म अपने आपमें साध्य हैं। कर्म, कर्मके लिए हैं। वह स्वतः वांछनीय है, किसी महत् उद्देश्यकी योजनाका अंग नहीं है। नैतिक कर्मोंको उनके आभ्यन्तरिक गुणोंके कारण स्वीकार करते हैं। उनका उद्देश्य किसी निश्चित फलका उत्पादन करना नहीं है। वह कलाका उद्देश्य है। यदि कला लक्ष्यकी पूर्त्तिकी अपेक्षा रखती है तो नैतिकता आन्तरिक ध्येयकी। कलाकी सफलता परिणामपर एवं लक्ष्य-की पूर्त्तिपर निर्भर है, चित्रकारके भावोंकी सुन्दर अभिव्यक्तिपर। उसके लिए अपने भावोंको व्यक्त करना आवश्यक है। किन्तु नैतिक कर्मकी सफलता परिणामपर निर्भर नहीं है, वह उसके आन्तरिक गुणपर निर्भर है।

अतः नीतिज्ञ कहते हैं—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' सदाचारीका एकमात्र कर्तव्य शुभ कर्म करना है, उसे फलकी आकांक्षा नहीं करनी चाहिये। असफलता पानेपर अथवा बुरी परिस्थितिमें पड़ जानेपर भी वह सदैव अपने शुभाचरण द्वारा मणि-दीपके समान ज्योतित् रहेगा।

कला अनेक प्रकारकी होती है। लेखन-कला, चित्र-कला, शिल्प-कला, नृत्य-कला आदि। कलाकार प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति है, उसे अपने क्षेत्रमें विशिष्ट प्रवीणता प्राप्त है, वह अपने चिन्तनको कला द्वारा व्यक्त करता है। श्रेष्ठ कलाकार स्वान्तःसुखाय सृजन करता है। अपनी कल्पनाको अभिव्यक्ति देनेपर ही उसे सुख मिलता है। नैतिक कर्म सदैव स्वान्तः-सुखाय ही नहीं किये जाते हैं। वे प्रत्येक अवस्थामें स्वयं साध्य हैं। यही नहीं, नीतिशास्त्र प्रेरणाकी पवित्रता अथवा शुभेच्छाके सम्मुख अभिव्यक्तिको महत्व नहीं देता है। वह सृजनात्मक प्रवीणताके बदले उस अभ्यास या सदाचारको महत्व देता है जो मनुष्यका स्वभाव बन चुका है। पुनः कलाप्रेमी यदि अनिवार्य कारणोंवश अथवा अनुकूल परिस्थिति न मिलनेपर कुछ कालके लिए सृजन कार्य छोड़ दे तो कोई उसे दोषी नहीं ठहरायेगा। कई कलाकार विशिष्ट समयतक ही श्रेष्ठ सृजन कर सकते हैं और उनके लिए यही उचित है कि सृजन-शक्तिके ह्रास होनेके साथ ही वे सृजन करना छोड़ दें। किन्तु नैतिक क्षेत्रमें इस प्रकारका विभाजन सम्भव नहीं है। कर्म या तो उचित ही होता है या अनुचित ही। शुभाचरणवाला व्यक्ति निरन्तर उचित कर्म करता है। वह एक क्षणके लिए भी नैतिक क्रियासे छुटकारा नहीं पा सकता। उसके जीवनमें विश्रामका प्रश्न ही नहीं उठता है। वह विभिन्न स्थितियों, विपरीत परिस्थिति, अस्वस्थता, वृद्धावस्था आदि—में भी सदाचारी है। उसके नैतिक जीवनके सक्रिय मार्गमें रोड़ा नहीं अटकाया जा सकता। उसका जीवन ही सद्गुण है। उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध कर्म एवं शुभसंकल्पसे है। वास्तवमें आचारका मूल संकल्पकी वृत्ति—शुभवृत्ति—है। यहाँपर कला और नीतिशास्त्रका अन्तर अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। कलाकार वह है जो विशेष अवस्थामें सृजन

करता है। किन्तु सदाचारी वह है जो सदैव सदाचार करता है, जिसका संकल्प शुभ और पवित्र है।

कई विचारक सिद्धान्त और व्यवहारके बीच स्पष्ट भेद मानते हैं। इसी कारण एक ओर वे नीतिज्ञ मिलते हैं जो नीतिशास्त्रको व्यावहारिक विज्ञान मानते हैं और दूसरी ओर वे, जो उसे सैद्धान्तिक विज्ञान मानते हैं। किन्तु नीतिशास्त्र न मात्र व्यावहारिक है और न मात्र सैद्धान्तिक ही। वह व्यावहारिक होनेके नाते ही सैद्धान्तिक है। इस तथ्यको समझनेके लिए विज्ञानसे उदाहरण लेना उचित होगा। प्रचलित धारणाके अनुसार विज्ञान केवल सैद्धान्तिक है। इस भ्रान्त धारणाके मूलमें यह अभ्यास है कि लोग प्राकृतिक विज्ञानोंको सत्यकी उन बँधी हुई पद्धतियोंके रूपमें देखते हैं जो केवल पुस्तकोंमें पढ़नेको मिलती हैं, और जो बौद्धिक अभ्यासोंके लिए साधनस्वरूप तथा लाभप्रद हैं। इतिहास बताता है कि विज्ञानके प्रारम्भकालमें उसके लिए केवल सैद्धान्तिक ही जिज्ञासा नहीं थी। मनुष्यकी प्राकृतिक नियमोंमें स्वाभाविक रुचि होनेके कारण वह अपने प्रयोजनकी पूर्तिके लिए ही प्राकृतिक घटनाओंका कारण जानना चाहता था। उसकी भौतिक आवश्यकताओंने उसे अनजानेमें ही वैज्ञानिक बना दिया। बाह्य-जगतके नियमोंको समझनेके लिए उसने उनका अनुशीलन किया। वैज्ञानिक चिन्तन तथा सिद्धान्त उसके प्रयोजनके ही प्रतिबिम्ब हैं। दीर्घकालके पश्चात् उसमें उस 'तटस्थ जिज्ञासा' का प्रादुर्भाव हुआ जो महान् वैज्ञानिक आविष्कारोंकी जननी है। इसी प्रकार नीतिशास्त्रके क्षेत्रमें भी व्यावहारिक आवश्यकताएँ ही नैतिक सिद्धान्तके प्रादुर्भावका कारण हैं। आवश्यकताओं द्वारा प्रेरित होनेके कारण मनुष्य अपने जीवन और विचारोंपर मनन करता है। वह सहज प्रेरणावश प्रचलित नियमों, संस्थाओं आदिका या तो अनुमोदन करता है, और या तो विरोध। धीरे-धीरे उसकी बुद्धिके विकासके साथ ही औचित्य-अनौचित्यके नैतिक नियम बौद्धिक, तर्कसंगत तथा सार्वभौमिक रूप धारण कर लेते हैं। इस रूपमें वे अधिक लोगोंको आक-

व्यावहारिक दर्शन

र्षित करते हैं और नियमबद्ध होनेके कारण मानवकी बौद्धिक माँग नियम-प्रियताको सन्तुष्ट करते हैं। साथ ही दैनंदिनके जीवनसे सम्बन्धित होनेके कारण नैतिक निष्कर्ष तात्कालिक और सार्वभौमिक अभिरुचिके होते हैं।

नैतिकताका इतिहास यह भली-भाँति सिद्ध कर देता है कि व्यवहार और सिद्धान्त एक ही सत्यके दो रूप हैं। नैतिक सिद्धान्त मूर्त सत्य (व्यावहारिक आवश्यकताओं) के ही अमूर्त रूप हैं। नैतिकता अपनी प्रथम स्थितिमें सहजप्रवृत्ति, रूढ़ि और आदेशके रूपमें प्रस्फुटित हुई, और बादमें इसके प्रति व्यक्ति अधिकाधिक सचेत होता गया। जीवनकी बढ़ती हुई अव्यवस्थाने उसे संगति और विधान खोजनेको प्रेरित किया। अतः प्रवृत्तियोंके विरोधने तथा बाह्य शक्तियोंकी क्रान्तिने मनुष्यके नैतिक ज्ञानको चेतावनी देते हुए जाग्रत किया। वह प्रबुद्ध एवं प्रौढ़ चिन्तन करने लगा। नैतिक ज्ञानीने आत्मानं विद्धि—आत्माको जाननेका उद्घोष किया। आत्माके सत्यस्वरूपका ज्ञान ही वास्तवमें आचरण-पथका निर्देशन करता है। नैतिक संहिताओंमें जो परस्पर विरोध, द्वेष, क्रोध, वैमनस्यता आदि मिलते हैं आत्म-सत्य उन सबको समन्वित कर मानव बुद्धिको शुद्ध तथा मुक्त करता है। वह जीवनको केवल इच्छाओं, सहजप्रवृत्तियों, आवेगों, वासनाओं तथा परिस्थितिजन्य संघर्षोंके बीच नहीं बहने देता है। मानसिक विप्लवकी स्थितिमें नैतिक-ज्ञान शक्ति बनकर मनुष्यकी रक्षा करता है।

नीतिशास्त्र निःसन्देह व्यवहारका दर्शन है और नैतिक सिद्धान्त मूलतः व्यावहारिक है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि मनुष्यने किस विशिष्ट कालमें अपनी सहज प्राकृत्, सुप्त नैतिक स्थिति और अस्पष्ट चिन्तनसे ऊपर उठकर उच्च, प्रबुद्ध चिन्तनकी स्थितिमें प्रवेश किया। यह कहना अधिक संगत होगा कि मनुष्यका व्यवहार, उसके बौद्धिक प्राणी होनेके कारण, स्वतः ही सिद्धान्तकी अपेक्षा रखता है। उसके जीवनके सभी कर्म—चाहे अस्पष्ट रूपमें ही सही—एक विशिष्ट विधानके सूचक हैं। मानव-जीवन अर्थगर्भित जीवन है। वह पशु-जीवनकी भाँति क्षणिक आवेग या यान्त्रिक नियमोंका जीवन नहीं है। मनुष्यके कर्म साभिप्राय

कर्म हैं। वे उसके चेतन अथवा निश्चेतन मानसिक स्तरके सम्पूर्ण जीवनसे सम्बन्धित हैं। स्थूल भोगवादीतक अपने आगे-पीछेकी सोचता है। उसके स्वेच्छाकृत कर्म भी अबाधरूपसे भूत, वर्तमान और भविष्यको शृंखलाबद्ध करते हैं। यही कारण है किसी भी मनुष्यके कर्मोंको उसके जीवन-सिद्धान्तोंकी पृष्ठभूमिमें ही समझा जा सकता है। उसके जीवन-सिद्धान्त कितने ही अप्रत्यक्ष रूपमें क्यों न कार्य करते हों वे उसके कर्म और आचरणको समझनेके लिए आवश्यक हैं। मनुष्य अपने दैनंदिनके जीवनमें सदैव किसी-न-किसी रूपमें चिन्तन करता है। वह अपने कर्मोंको नियमित करना चाहता है। ये सब बातें यह सिद्ध करती हैं कि मानव-जीवन तथा मानव-व्यवहार, सामंजस्यपूर्ण समग्रताको प्राप्त करनेके लिए, सिद्धान्तको जन्म देते हैं। जीवनकी ठोस व्यावहारिक आवश्यकताएँ नैतिक मापदण्डको खोजती हैं। वे उस मापदण्डको निर्धारित करना चाहती हैं जो वास्तवमें शुभ तथा सार्वभौमिक है। यह व्यावहारिकसे सैद्धान्तिक स्थितिपरिवर्तनका लक्षण है। मनुष्य जानना चाहता है कि जीवन किस सत्यपर आधृत है—वह सत्य व्यवस्थित तथा सन्तुलित है, अथवा अव्यवस्थित तथा संगतिहीन। जीवनका मूलतः क्या अर्थ है, और वह क्यों रहने योग्य है। यहाँपर यह स्वीकार करना उचित होगा कि प्रत्येक व्यक्ति स्वभावतः कर्मशील है और उसीके अनिवार्य परिणाम-स्वरूप वह नैतिक है। जनसाधारणका चिन्तन अधिकतर अव्यवस्थित, अस्पष्ट और विरल होता है। स्पष्ट और पूर्ण आचरणका सिद्धान्त दीर्घ-प्रयासका फल है। गूढ़ नैतिक सिद्धान्तको तटस्थ जिज्ञासु ही जन्म दे सकता है—अथवा वह व्यक्ति जो आवश्यकताओं और विरोधोंसे ऊपर उठकर जीवनको उसकी पूर्णतामें देखनेका प्रयास करता है। नैतिक ज्ञान द्वारा वह सत्यको केवल बौद्धिक रूपसे ग्रहण ही नहीं करता, वह उससे अपने आचरणका भी उन्नयन कर सत्यको भी आत्मसात् करता है। इस तथ्यको लक्षित करते हुए एक महान् विचारकने कहा है कि नीतिज्ञका चिरस्थायी अनुराग सैद्धान्तिक और व्यावहारिक है। यूनानी

नीतिज्ञ, सुकरातकी भाषामें 'ज्ञान सद्गुण है', सत्यका ज्ञाता अनिवार्य रूपसे सत्यका मार्ग ग्रहण करेगा। परिपक्व नैतिकता व्यक्ति तथा राष्ट्रकी बौद्धिक अन्तर्दृष्टिको जाग्रत करती है; सामाजिक संगठनों और विभिन्न संस्थाओंको सामूहिक रूपसे वांछनीय ध्येयकी प्राप्तिके लिए प्रेरणा देती है; वह व्यक्तिको प्रवृत्तिमार्गकी ओर अग्रसर कर उसे कर्मयोगका सन्देश देती है।

बुद्ध और गांधीका युग बौद्धिक और नैतिक जागरणका युग था। दोनोंने ही मनुष्यको सदाचारी बनाना चाहा। नैतिक तथा बौद्धिक जिज्ञासा द्वारा उस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जो कि उनके समयके लोगोंकी व्यावहारिक माँगकी पूर्ति कर सके। यहाँपर इस बातको महत्व देना आवश्यक है कि नैतिक सिद्धान्त आदर्शविधायक होनेके कारण व्यक्तिको उचित कर्म करनेके लिए बाधित न कर उसे प्रेरित करता है। वह सजग, प्रबुद्ध प्राणीको उन पथ-प्रदर्शक नियमोंका ज्ञान देता है जिसके द्वारा वह अपने कर्मोंको सुनियन्त्रित कर सकता है। नैतिक जीवन कोरा नियमों अथवा सिद्धान्तोंका जीवन नहीं है। वह शुष्क बुद्धिवाद भी नहीं है। वह आचरणके लिए कठोर नियमों, निश्चित साधनोंका प्रतिपादन नहीं करता, वह व्यक्तिकी बौद्धिक अन्तर्दृष्टिको जाग्रत कर नैतिक जीवनके हृदय-स्पन्दनको उसके भीतर सजीव रूप दे देता है। नैतिक सिद्धान्तका सार स्थिर नियमोंके प्रतिपादनमें नहीं, नैतिकताकी सहज स्वाभाविक उन्नतिमें है। मानव जीवनके अभ्युदयको सम्मुख रखते हुए नीतिशास्त्र प्रत्येक देश, कालके सिद्धान्तको उस युगकी आवश्यकताओं, सभ्यता और संस्कृतिका प्रतीक मानता है। अतः, गूढ़ नैतिक सिद्धान्त उस परम मापदण्डकी खोज करता है जो विभिन्न सिद्धान्तोंको संगठित कर उनके मूल कारणोंको विशिष्ट समयानुसार प्रकाशमें ला सके। नैतिकताकी उपपत्तिकी माँग उस सिद्धान्त या मापदण्डकी माँग है जो जीवनके ध्येय और मूल्यको सम्यक् ज्ञान द्वारा प्रदर्शित कर सके। परम मापदण्डकी खोजके लिए नीतिशास्त्र अपनी व्यावहारिक अन्तर्दृष्टिका उपयोग करता है जो उसके लिए अनिवार्य है क्योंकि वह मानव आचरणकी आवश्यकताका सिद्धान्त है। मानव-जीवनकी घट-

नाओंका सर्वांगीण अध्ययन करके, उनके सम्यक् ज्ञानके आधारपर ही वह पथ-प्रदर्शक नियमोंका निर्माण तथा उचित नैतिक नियमोंका अन्वेषण कर आचार सम्बन्धी बौद्धिक नियम निर्धारित करता है। आचरण सम्बन्धी नियमोंको जानना और उनपर चलना दो भिन्न बाते हैं। ज्ञान सद्गुण उन्हींके लिए है जो कि बौद्धिक चमत्कारवाद द्वारा अपने अहंका प्रकाशन नहीं करते, किन्तु ज्ञान एवं सत्यको मनन तथा अभ्यास द्वारा आत्मसात् करते हैं। नैतिकताका जिज्ञासु सिद्धान्तोंके अध्ययनसे अधिक साधु-सन्तोंकी सत्संगतिसे सीखता है। उसपर उनका प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, यदि उसका मानस शुभ-प्रभावको ग्रहण करनेके लिए विस्तृत एवं तत्पर हो। नैतिक सिद्धान्त मनुष्यको केवल औचित्य अनौचित्यका ज्ञान देता है, उसका पथ-निर्देशन करता है। यह मनुष्यकी स्वेच्छा, संस्कार तथा आन्तरिक स्वभावपर निर्भर है कि वह नीतिके कल्याणप्रद मार्गको ग्रहण करे अथवा प्रवृत्तियोंके झंझावातमें बह जाय। जहाँतक नीतिशास्त्रके व्यवहारका प्रश्न है यह मनुष्यके व्यक्तित्वपर निर्भर है कि वह उसे अपने आचरणमें कहाँतक स्वीकार करता है। यह सम्भव हो सकता है कि वह नीतिशास्त्रका अध्ययन केवल परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लिए अथवा अपने सामान्य ज्ञानकी अभिवृद्धि अथवा विद्वत्ताके प्रदर्शनके लिए ही करे। नीतिशास्त्र उसे केवल यह बता सकता है कि वास्तविक सुखोपभोगके लिए, जीवनकी सार्थक प्राप्तिके लिए कल्याणप्रद नियम कौनसे हैं। वह आत्म-प्रबुद्ध व्यक्तिकी चेतनाको जगाता है, उसे आत्मसत्यकी ओर प्रेरित करता है। आत्म-चेतन व्यक्तिको शुभप्रद नियमोंके पालनके हेतु बाध्य करना वह हेय समझता है। यह सच है कि नैतिक सिद्धान्तका जनक जीवन है किन्तु अपनी नियामक शक्तिके कारण वह जीवनका निर्माता तथा पोषक बन जाता है। फिर भी यह प्रत्येक व्यक्तिपर निर्भर है कि वह अपने उचित ज्ञानके अनुरूप अपने आचरणको कितना संयमित करता है, पशु-जीवनसे कितना ऊपर उठाता है और उसमें आत्म-पूर्णताको प्राप्त करनेकी प्रेरणा कितनी तीव्र है।

अध्याय ३

नीतिशास्त्रकी प्रणालियाँ

नीतिशास्त्रकी प्रणालियाँ

नीतिशास्त्रका आदर्शविधायक स्वरूप यह स्पष्ट कर देता है कि धरतीपर पैर होनेपर भी यह मात्र धरतीका नहीं है। मानव-जीवनके आदर्शसे सम्बन्धित होनेके कारण एक ओर तो वह यथार्थ विज्ञानोंसे सम्बन्धित है और दूसरी ओर तत्वदर्शनसे। अतः यह न तो मात्र वह विज्ञान है जो अनुभवपर आधारित है और न मात्र वह आदर्श है जो अनुभवसे स्वतन्त्र एवं अनुभवातीत है। नैतिक सिद्धान्तोंका अध्ययन बतलाता है कि नीतिज्ञ इस सत्यकी ओरसे तटस्थ-सा रहे। प्रत्येक नीतिज्ञने एक विशिष्ट प्रणालीको महत्व दिया और उसी प्रणालीको उसने स्वयं स्वीकार किया। इस भाँति हमें अनेक प्रणालियाँ मिलती हैं। सुकरातकी प्रश्नोत्तर एवं शंका-समाधानकी प्रणाली[1], स्पेंसरकी विशुद्ध वैज्ञानिक प्रणाली, हीगल और ग्रीनकी दार्शनिक प्रणाली, उपयोगितावादियोंकी मनोवैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक प्रणाली, ग्रीनकी मिश्रित प्रणाली आदिका अध्ययन यह बतलाता है कि नीतिज्ञोंने किसी एक प्रणालीको नहीं अपनाया है बल्कि विभिन्न प्रणालियोंका आश्रय लिया है। स्थूल दृष्टिसे जिन विभिन्न प्रणालियोंको उन्होंने स्वीकार किया है उन्हें दो विधियों[2]के अन्तर्गत समझा सकते हैं : दार्शनिक और

१—वह आलोचनात्मक प्रणाली जो कि अपने प्रतिद्वन्द्वीके मतका खण्डन करके अपने मतका प्रतिपादन करती है।

२—सिजविकने सिद्धान्तको ही विधि मानकर नीतिशास्त्रकी सभी विधियोंको तीन मुख्य विधियों (स्वार्थवादी सुखवाद, सार्वभौम

वैज्ञानिक। वैज्ञानिकके अन्तर्गत भौतिक, जैव, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक और उत्पत्ति-विषयक विधियाँ आ जाती हैं तथा दार्शनिकके अन्तर्गत वह विधि है जो परमसत्यके आधारपर नैतिक आदर्शके स्वरूपको निर्धारित करती है। वैज्ञानिक विधिको अपनानेवालोंने अनुभव और प्रत्यक्षके आधारपर प्रदत्तोंको इकट्ठा किया और उनके अध्ययन और वर्गीकरण द्वारा सामान्य नियमोंकी स्थापना कर नैतिक नियमोंका तथ्यात्मक वर्णन किया। दार्शनिक विधिवालोंने प्रदत्तोंके अर्थ समझनेकी चेष्टा की। अपने ज्ञानको सांसारिक घटनाओं एवं बाह्य सत्यों और इन्द्रियजन्य ज्ञानतक सीमित न रखकर गम्भीर चिन्तन, विश्लेषण और बौद्धिक अन्तर्दृष्टिकी सहायता ली। उन्होंने व्यक्तियोंके सत्यस्वरूपको समझनेका प्रयास किया और उस स्वरूपको नैतिक आदर्शका आधार माना। वैज्ञानिक विधि तथ्यात्मक और वर्णनात्मक है और दार्शनिक विधि आलोचनात्मक और चिन्तन-प्रधान है। वैज्ञानिक विश्लेषणकी सहायतासे प्रत्येक घटनाको अलग-अलग समझना चाहता है तो दार्शनिक समग्रताके सम्बन्धमें समझनेका प्रयास करता है।

दार्शनिक और वैज्ञानिक विधिमें भेद

वैज्ञानिक विधिको दो भागोंमें विभाजित कर सकते हैं : मनोवैज्ञानिक और अमनोवैज्ञानिक। मनोवैज्ञानिक विधिवाले विचारक वे हैं जिन्होंने नैतिक तथ्यको मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकी सहायतासे समझाया और अमनोवैज्ञानिक विधिवाले वे हैं जिन्होंने मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकी सहायता नहीं ली। इन्होंने भौतिक और जैव तथ्योंसे नैतिक तथ्योंका निगमन किया। इस भेदको यह कहकर भी समझाया जा सकता है कि अमनोवैज्ञानिक विधिवालोंने निगमनात्मक प्रणालीको स्वीकार किया और मनोवैज्ञानिक विधिवालोंने विश्लेषणात्मक

वैज्ञानिक विधि

सुखवाद और सहजज्ञानवाद) के अन्तर्गत माना है। विधियोंका इस प्रकारका वर्गीकरण अनुचित है क्योंकि सिद्धान्त और विधिमें भेद है। विधियोंका वर्गीकरण उन्हींकी विशेषताओंके आधारपर कर सकते हैं। वास्तवमें सिजविकने सिद्धान्तोंका वर्गीकरण किया है।

एवं आगमनात्मक प्रणालीको । वह अमनोवैज्ञानिक प्रणाली जिसका प्रयोग विशेष रूपसे स्पैंसर और जड़वादियोंने किया है प्राकृतिक या भौतिक निगमनात्मक प्रणाली कहलाती है । इसका कारण यह है कि अमनोवैज्ञानिक या निगमनात्मक प्रणालीका प्रयोग दार्शनिक विधिवालोंने भी किया है । अतः उनकी प्रणाली दार्शनिक निगमनात्मक प्रणाली है ।

अमनोवैज्ञानिक विधि

विकासवादी सुखवादियोंने अपने सिद्धान्त द्वारा भौतिक और जैव प्रणालीको महत्व दिया । स्पैंसरका कहना है कि जैव नियमोंसे नैतिक नियमोंका निगमन करना चाहिये । नैतिक नियमोंको समझनेके लिए भौतिकविज्ञान, जीवशास्त्र और समाजशास्त्रकी सहायता लेनी चाहिये । विकासवादी सुखवादियों (स्पैंसर, लैज्ली स्टीफेन और एलेकजैण्डर) ने ही, वास्तवमें, ऐतिहासिक और उत्पत्ति-विषयक प्रणालीको महत्व दिया । नैतिकताकी उत्पत्तिका इतिहास बतलाता है कि निर्नैतिकतासे नैतिकताकी उत्पत्ति हुई । जीवनसंघर्षके क्रममें नैतिक नियम उत्पन्न हुए । नैतिक नियमके उद्गमको तथा विकासके क्रमको समझाना समाजशास्त्रका काम है न कि नीतिशास्त्रका । विकासवादियोंने जिस ऐतिहासिक और उत्पत्ति-विषयक एवं समाजशास्त्रीय प्रणालीको मान्यता दी वह समाजशास्त्रकी है । नैतिक नियमोंके उद्गमका इतिहास उनकी प्रामाणिकताको सिद्ध नहीं कर सकता । नीतिशास्त्रका काम नियमोंका मूल्यांकन करना है न कि उनका ऐतिहासिक और तथ्यात्मक वर्णन करना ।

कार्ल मार्क्सने ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय प्रणालीकी शरण लेकर समाजकी अर्थशास्त्रीय व्याख्याकी ओर इसके आधारपर समझाया कि नैतिक नियम समाजकी भूतकालीन और वर्तमान आर्थिक रचनाका प्रतिबिम्ब हैं । इस भाँति उसने सामाजिक मान्यताओं और नैतिक नियमोंका आर्थिक स्पष्टीकरण किया ।

मनोवैज्ञानिक विधिवालोंने नैतिक तथ्योंको चेतनाके विश्लेषण द्वारा समझाया । नैतिक समस्या मानव-स्वभावकी समस्या है । मनोवैज्ञानिक

मनोवैज्ञानिक विधि

विश्लेषण द्वारा इसको सुलझा सकते हैं। ह्यूम, बैथम और मिलने मनुष्यके स्वभाव, कर्म और प्रवृत्तियोंका विश्लेषण करके शुभके स्वरूपको निर्धारित किया। मनुष्य स्वभाववश सुखकी खोज करता है और दुःखका परित्याग करता है। सुख जीवनका ध्येय है। मिलने मनुष्य-स्वभावके आधारपर सुखको वांछनीय माना और उसीके द्वारा कर्मके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित किया।

कडवर्थ, क्लार्क, शेफ्ट्सबरी आदि सहजज्ञानवादियोंने भी मनोवैज्ञानिक प्रणालीको अपनाया। चेतनाका विश्लेषण बतलाता है कि मानसमें कर्मके औचित्य-अनौचित्यको समझनेके लिए एक सहजात शक्ति एवं अन्तर्बोध है। सुखवादियोंकी भाँति मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक प्रणालीको अपनानेपर भी सहजज्ञानवादी भिन्न निष्कर्ष[1] पर पहुँचे। कांटने भी इसी पद्धतिको अपनाकर कर्त्तव्यके निरपेक्ष आदेशको महत्व दिया। कांट और सहजज्ञानवादी मनोवैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक पद्धतिके साथ दार्शनिक पद्धतिको अपनाते हैं। वास्तविकतासे अधिक महत्व आदर्शको देते हैं।

प्लेटो, अरस्तू, हीगल, ग्रीन तथा उसके अनुयायियोंने दार्शनिक निगमनात्मक प्रणालीको अपनाया। इन आदर्शवादी नीतिज्ञोंने नैतिक

दार्शनिक विधि

आदर्शको समझनेके पूर्व परमसत्यको समझना आवश्यक समझा। सत्ताके स्वरूपसे नैतिकताके अन्तर्तथ्यका निगमन किया। नीतिशास्त्र अपने आदर्शके लिए तत्वदर्शनपर निर्भर है। तत्वदर्शन ही उसे ध्येयकी धारणा देता है। तत्वदर्शनके आधारपर प्लेटोने समझाया कि कालजगत शाश्वतकी छायामात्र है। हीगलका कहना है कि अनेकता परमसत्यकी ही अभिव्यक्ति है और ग्रीनने परमसत्यको शाश्वत चैतन्यके रूपमें स्वीकार किया। मनुष्यके स्वभावको ऐसे दर्शनपर आधारित करके इन विचारकोंने कहा कि मनुष्यको अपनी सीमाओंसे ऊपर

१. देखिये—भाग २।

उठकर शाश्वतको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये। शाश्वत ही मनुष्य-का वास्तविक स्वरूप एवं आन्तरिक सत्य है। शाश्वतको प्राप्त करना पूर्णताको प्राप्त करना है, यही परमध्येय है।

ऐसे सिद्धान्तको, जो कि ज्ञेयका आधार अज्ञेयको मानता है, जन-सामान्यके लिए स्वीकार करना कठिन है। जनसामान्य उस सत्यको सर-लतासे ग्रहण कर सकता है जिसका कि वह अनुभव कर सके। वह यह जानना चाहता है कि अनुभवात्मक आत्माका आचरण कैसा होना चाहिये। नीतिशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है। वह वास्तविक तथ्योंसे विरक्त होकर आदर्शकी ओर नहीं जा सकता। प्लेटोने तो शाश्वत और नश्वर जीवनके द्वैतको स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया है। ऐसे परमतात्विक दृष्टिकोण उस विज्ञानके लिए अनुचित हैं जिसका सम्बन्ध व्यावहारिक जीवनसे है।

आलोचना : नैतिक विधिकी ओर

भौतिक घटनाओं, जैव और सामाजिक तथ्यों, मनोवैज्ञानिक विश्ले-षण तथा भूत और वर्तमानसे सम्बन्ध रखनेवाली विधि चाहे और कुछ भी हो, नैतिक विधि नहीं है। नैतिक विधि भविष्यसे असम्बद्ध नहीं रह सकती। वह उस मानवोचित आदर्शको समझना चाहती है जो व्यक्तिको पूर्णता प्रदान करके गौरवान्वित करता है। आदर्शका जिज्ञासु व्यक्ति भूत, वर्तमान और भविष्यसे अविच्छिन्न रूपसे सम्बन्धित है। वह अपने ज्ञानको प्राकृतिक विज्ञान, कार्य-कारणका नियम, अचेतन तथा चेतन तथ्यतक सीमित नहीं रख सकता। नैतिकता इस सत्यपर आधारित है कि आत्मप्रबुद्ध प्राणी केवल देह-मनकी सामान्य आवश्य-कताओंका प्राणी नहीं है। वह आध्यात्मिक और नैतिक है। यथार्थसे सम्बन्धित होनेपर भी नीतिशास्त्र उसीमें सीमित नहीं रह जाता है बल्कि उससे ऊपर उठनेकी चेष्टा करता है। नैतिक आदर्श वह सत्य है जो अनु-भवात्मक होनेपर भी अनुभवातीत है। वह 'क्या है' को स्वीकार अवश्य करता है पर वह केवल 'क्या है' नहीं है। वह उन समस्त सम्भावनाओंका सूचक है जो भविष्यमें पूर्णता प्राप्त करेंगी। यही कारण है कि नीतिशास्त्र

उस पूर्णता (अन्तिम स्थिति) और निश्चयात्मकताको भी प्राप्त नहीं कर सकता जो गणित और भौतिक विज्ञानोंका विशेष गुण है।

नीतिशास्त्रको भूत और भविष्यतक सीमित कर देना अथवा उसे वर्णनात्मक विज्ञानोंकी श्रेणीमें रख देना भ्रान्तिपूर्ण है। नैतिक रुचिका केन्द्र अपने आपमें ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं किन्तु उन घटनाओंका परम-स्पष्टीकरण और शाश्वत अर्थ है। नीतिशास्त्र नैतिक आदर्श एवं मानदण्डकी खोज करता है और प्रचलित या भावात्मक नैतिकताका इस आदर्शके सम्बन्धमें समर्थन अथवा असमर्थन करता है। अतः नीतिशास्त्र-के लिए कर्म और घटनाओंके कारणोंकी खोज उतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि स्वयं कर्म, उसका परिणाम और वह आदर्श जिसको कि वह व्यक्त करता है। नीतिशास्त्रका प्रत्यक्ष सम्बन्ध अभ्यास, रीति-रिवाज और नियमोंके उद्गमके इतिहाससे नहीं है वरन् उनके वर्तमान मूल्यसे। वह नियमोंका मूल्य उन लोगोंके सम्बन्धमें आँकता है जिनके जीवनमें वे व्यवहृत होते हैं।

आदर्शसे सम्बन्धित होनेके कारण ही मनुष्यके स्वभावका मनोवैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक एवं तथ्यात्मक वर्णनमात्र नैतिक समस्याओंको हल नहीं कर सकता है। अथवा नैतिक तथ्योंका मनोवैज्ञानिक वर्णन नैतिक आदर्शके स्वरूपको निर्धारित नहीं कर सकता। निःसन्देह मनोविज्ञान नैतिक चेतनाके दृष्टिगत विषयोंको प्रस्तुत करनेमें पूर्णतः समर्थ है किन्तु नीतिशास्त्र ऐसे ज्ञानसे पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उसके निर्णय मूल्यपरक होते हैं। घटनाओंके अर्थका स्पष्टीकरण करनेवाले आदर्श-विधायक विज्ञानके लिए शुद्ध वैज्ञानिक विश्लेषण अपर्याप्त हैं। नी[illegible] उचित अनुचितके मानदण्डको जानना चाहता है और उस मानदण्डके आधारपर कर्मका मूल्यांकन करता है। अच्छे कर्मका शुभत्व कर्मकी समग्रतापर निर्भर है किन्तु मनोवैज्ञानिक पद्धति विश्लेषणात्मक है।

वैज्ञानिक पद्धतिकी सीमाओंको देखते हुए क्या हम यह कह सकते हैं कि नैतिक आदर्शका क्षेत्र दर्शनका क्षेत्र है और इसलिए दार्शनिक

पद्धति उचित पद्धति है ? जिस आदर्शकी प्राप्तिके लिए नीतिशास्त्र प्रयास करता है वह मात्र काल्पनिक और चिन्तनप्रधान नहीं है। उस आदर्शका सम्बन्ध वास्तविक अनुभवात्मक जगतसे है अथवा प्रतिदिन और प्रतिक्षणके कार्य-कलापोंसे है। अनुभवात्मक आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाले आदर्शके लिए उसका ज्ञान अनिवार्य है एवं मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, जीवशास्त्र आदि विज्ञानोंकी सहायता लेना आवश्यक है। दार्शनिक प्रणालीको महत्व देनेवाले भूल गये कि नैतिक आचरणका एकमात्र उद्देश्य शाश्वत जीवन नहीं है। सद्गुण, कर्त्तव्य, त्याग, बाध्यता आदि अनुभवात्मक आत्माके सम्बन्धसे ही अर्थगर्भित होते हैं।

नीतिशास्त्र नैतिक निर्णयोंको विधानकी एकतामें बाँधनेका प्रयास करता है। वह नैतिक तथ्योंका उस नैतिक आदर्शके सम्बन्धमें व्याख्या और स्पष्टीकरण करता है जो कि सत्ताके विधानसे अनन्य रूपसे सम्बन्धित है। इस दृष्टिसे नीतिशास्त्रके क्षेत्रमें वैज्ञानिक और दार्शनिक प्रणाली परस्पर निर्भर हैं। वैज्ञानिक प्रणालीको अपनाकर नीतिशास्त्र नियम, कर्म, चरित्र, अभ्यास आदिका विज्ञानकी भाँति निरीक्षण और स्पष्टीकरण करता है। सामान्यबोधके निर्णयोंको, चाहे वे तथ्यात्मक हों या मूल्यपरक, विधानकी एकतामें बाँधकर व्यवस्थित रूप देनेका प्रयास करता है। इसके आगे नीतिशास्त्र और विज्ञानमें भेद है। नैतिक निर्णय मूल्यपरक और वैज्ञानिक तथ्यात्मक हैं। विज्ञानका क्षेत्र सीमित है। नीतिशास्त्र विज्ञानसे युक्त होनेपर भी व्यापक क्षेत्रको अपनाता है। वह तबतक पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकता जबतक कि नैतिक दर्शन या तत्वदर्शनको नहीं अपना लेता है। उसके मूल्यपरक निर्णय चिन्तनप्रधान या दार्शनिक होते हैं। अतः नीतिशास्त्र वैज्ञानिक प्रणालीको अपनाकर दर्शनके क्षेत्रमें प्रवेश करता है। नैतिक निर्णय अपनी परमप्रामाणिकताके लिए एवं नैतिक विचार अपने अर्थ, मूल्य और सार्थकताके लिए तत्वदर्शन पर निर्भर है। नीतिशास्त्र अपने भीतर अनुभवात्मक और अनुभवातीत तथ्योंका समावेश करता है।

नीतिशास्त्रमें दोनों प्रणालियाँ परस्पर निर्भर

जीवनमें निहित आदर्शको समझनेवाला विज्ञान शुद्ध विज्ञानसे भिन्न है। वह किसी घटनाको पूर्वकालीन घटना एवं कार्य-कारणके नियम द्वारा नहीं समझाता वरन् उसे समस्त विश्वकी आवयविक व्यवस्थाका अभिन्न अंग मानता है। ऐसी स्थितिमें विषयोंका केवल बाह्य निरीक्षण पर्याप्त नहीं है। प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान या सहजज्ञान एवं समग्रताका ज्ञान भी आवश्यक है। अतः नीतिशास्त्रने मिश्रित प्रणाली एवं समन्वयात्मक प्रणालीको स्वीकार किया। ब्रेडलेने मनुष्यके सामाजिक और बौद्धिक स्वरूपको महत्व देनेके कारण इस प्रणालीको अपनाया है। नीतिशास्त्र अपने लक्ष्य और उद्देश्यमें दार्शनिक है किन्तु अपनी प्रणालीमें उन सत्योंकी पुष्टि वैज्ञानिक रीतिसे करता है। जिस भाँति हम आदर्श विधायक विज्ञानसे दो भिन्न विषयोंको नहीं समझते हैं उसी भाँति नीतिशास्त्रके क्षेत्रमें वैज्ञानिक और दार्शनिक दो भिन्न प्रणालियाँ नहीं हैं। दोनों प्रणालियोंको नैतिक दृष्टिसे समझनेपर ज्ञात होगा कि नैतिक प्रणाली समन्वयात्मक है। वह तथ्योंके निरीक्षण और वर्गीकरणके साथ ही आलोचनात्मक, विश्लेषणात्मक, मूल्यपरक तथा चिन्तनप्रधान है। संक्षेपमें नैतिकप्रणाली वैज्ञानिक और दार्शनिक, आगमनात्मक और निगमनात्मक, निरीक्षणात्मक और चिन्तनप्रधान एवं अनुभवात्मक और अनुभवातीत है।

नैतिक प्रणाली: समन्वयात्मक

अध्याय ४

नीतिशास्त्र और अन्य विज्ञान

नीतिशास्त्र आदर्श विधायक विज्ञान है। इस आदर्शकी भित्ति वास्तविक व्यावहारिक जगत है। इस अर्थमें वह आदर्शवादी यथार्थ विज्ञान है। नीतिशास्त्रके क्षेत्रमें यथार्थ और आदर्शको संपृक्त मानना उचित होगा। नीतिशास्त्रका यथार्थवादी विज्ञानोंसे अनिवार्य सम्बन्ध है, उन सभी विज्ञानोंसे है जो मनुष्यके जीवन, स्वभाव और स्थितिपर प्रकाश डालते हैं एवं जो मनुष्यके सम्पूर्ण आचरणको समझानेमें सहायक होते हैं। नैतिक सिद्धान्तोंका अध्ययन करनेपर यह और अधिक स्पष्ट हो जायगा कि उसके सिद्धान्तोंका पुष्टीकरण करनेके लिए जीवशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति, ईश्वरज्ञान तथा तत्वदर्शनका ज्ञान[1] विशेषरूपसे आवश्यक है। अतः इन्हीं विज्ञानोंके साथ, संक्षेपमें, हम नीतिशास्त्रका सम्बन्ध समझनेका प्रयास करेंगे।

नीतिशास्त्रका अन्य शास्त्रोंसे सम्बन्ध

यह सभी मानते हैं कि व्यक्ति शरीर और मनका योग है। यही नहीं दोनों परस्पर आश्रित भी हैं। शारीरिक स्थितिका मनपर और मानसिक स्थितिका शरीरपर प्रभाव पड़ता है। नीतिशास्त्रका मौलिक सम्बन्ध मनुष्यके मानसिक धरातलसे है। किन्तु मानसिक सन्तुलन रखनेके हेतु व्यक्तिके लिए यह आवश्यक है कि वह शारीरिक रक्षण सम्बन्धी नियमोंको समझे। यम-नियम आदि वे नैतिक नियम हैं जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध शरीरके रक्षणसे है। मानवीय

जीवशास्त्र

[1] —नीतिशास्त्रका मनोविज्ञानसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस सम्बन्धको सभी नीतिज्ञ मानते हैं। इसके लिए देखिये अध्याय—४।

कर्तव्योंकी रूपरेखा जैविक मंगलको सम्मुख रखकर बनायी जाती है। स्थूल इन्द्रियसुख आत्मघाती तथा मानसिक अवनतिका कारण है। मनुष्य जीवनमें अवयवीय क्रियाओंका महत्व है, इस तथ्यको नीतिशास्त्र भलीभाँति समझता है। अपने नियमोंका प्रतिपादन करनेके लिए वह जीवशास्त्रका अध्ययन करता है। जीवशास्त्र जीव-विकास तथा जीवन-रक्षण सम्बन्धी नियमोंका ज्ञान देता है। कुछ विचारकोंने यह समझानेकी चेष्टा की है। जैव नियमोंसे ही नैतिक नियमोंका निगमन करना चाहिये। उनके मतानुसार जीवन विकासमें सहायक नियम ही नैतिक नियम है, नैतिक मान्यताओंकी आधारशिला शारीरिक स्वास्थ्य है और जीवनवृद्धि ही नैतिक ध्येय है। अतः नीतिशास्त्र पूर्णरूपसे जीवशास्त्रपर निर्भर है। किन्तु यह भ्रान्तिपूर्ण कथन है। नैतिकताका एकमात्र ध्येय शारीरिक संरक्षण नहीं है। वह मनुष्यको केवल शारीरिक और भौतिक आवश्यकताओंका ही प्राणी नहीं, उसे आत्मप्रबुद्ध आध्यात्मिक प्राणी भी मानता है। नीतिशास्त्र परममानवीय आदर्शकी खोज करनेमें मानसिक और शारीरिक क्रियाओंके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित करता है। वह यथार्थ विज्ञानोंकी भाँति घटनाओंका इतिवृत्तात्मक वर्णन नहीं करता।

जीवशास्त्र यथार्थ विज्ञान है। यह जाति-विकासकी प्राकृतिक और ऐतिहासिक व्याख्या करता है। इसका क्षेत्र शारीरिक रक्षणतक सीमित है। इसके अनुसार मानव-व्यापार पशु-व्यापारके सदृश है। और दोनों ही प्राकृतिक नियमों (प्राकृतिक चयन और योग्यतमकी विजय) के अधीन हैं। नीतिशास्त्रका क्षेत्र शारीरिकसे अधिक मानसिक जगत है। मनुष्यके कर्म आत्म-चेतन बुद्धि द्वारा संचालित होते हैं। वह प्राकृतिक नियमोंका अन्धानुकरण नहीं करता, न इसमें उसकी श्रेष्ठता ही है। शारीरिक संरक्षण उसके जीवनका अप्रधान अंश है, उसके जीवनका एकमात्र ध्येय नहीं। जीवशास्त्र नीतिशास्त्रको शारीरिक संरक्षण सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण अवश्य देता है किन्तु यह उसे उसका आदर्श नहीं दे सकता। नीतिशास्त्रका क्षेत्र जीवशास्त्रसे कहीं उच्च और व्यापक है।

समाजशास्त्र सामाजिक विकास और ह्रासकी विभिन्न स्थितियोंमें मानव-जीवनका अध्ययन करता है। आधुनिक स्थितितक पहुँचनेके लिए

समाजशास्त्र

आदिम बर्बर मनुष्यने किन-किन स्थितियोंका अतिक्रमण किया, आज जिस रूपमें समाजको देखते हैं उसकी पूर्वकालमें क्या रूप-रेखा थी; समाजकी उत्पत्ति, विकास और निर्माण किन नियमों द्वारा परिचालित होता है, समाजशास्त्र इनकी क्या व्याख्या करता है। सामाजिक संस्थाओं, नियमों, अभ्यासों, प्रचलनों, रीतियोंकी उत्पत्तिमें कौन विशिष्ट परिस्थितियाँ कार्य कर रही थीं, भारतमें अस्पृश्यता, बालविवाह, सतीप्रथा आदि सामाजिक नियम मिलते हैं उनके मूलमें कौन-सी सामाजिक प्रेरणाएँ काम कर रही थीं आदि ऐसी अनेक समस्याओंपर प्रकाश डालकर वह समाजकी वस्तु-स्थितिके बारेमें पूर्ण ज्ञान देता है। समाजशास्त्र यथार्थ विज्ञान है। वह वर्णनात्मक तथा इतिवृत्तात्मक है और नीतिशास्त्र मनुष्यके आचरणका विज्ञान है। आदर्शविधायक तथा विधि-निषेधात्मक है। वह मनुष्यके कर्मोंका इस आधारपर मूल्यांकन करता है कि वह एक सामाजिक प्राणी है। उसका एकाकी अस्तित्व अचिन्तनीय है। यही नहीं, अनुभव, अध्ययन एवं मनोवैज्ञानिक चिन्तनके फलस्वरूप सभी नीतिज्ञ यह मानने लगे हैं कि मनुष्यके व्यक्तित्वके निर्माण तथा उसके चारित्रिक गठनमें सामाजिक संस्थाओं, वातावरण एवं परिवेशका विशिष्ट हाथ है। वह अपनी भाषा, संस्कृति, सभ्यता और नैतिक गुणोंके लिए बहुत अंशोंतक समाजपर निर्भर है। वह अपने जीवनके सुख, स्वास्थ्य और समृद्धिके लिए सामाजिक सहयोगकी याचना करता है। संक्षेपमें, व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। इस अनन्य सम्बन्धको सम्मुख रखते हुए कुछ नीतिज्ञों—विकासवादी सुखवादियों—का कहना है कि नीतिशास्त्र समाजशास्त्रका अंगमात्र है। उसे अपने नियमोंका प्रतिपादन करनेके लिए पूर्णरूपसे समाजशास्त्रपर आश्रित रहना चाहिये। क्योंकि नैतिकताकी समृद्धि सामाजिक संघटन और स्वास्थ्यपर निर्भर है। विकासवाद यह बताता है कि मनुष्यने अपने

जीवन संरक्षणके लिए बाह्य परिवेश तथा परिस्थितियोंके साथ संयोजित होनेका प्रयास किया है। इस प्रयासके क्रममें उसे कुछ लाभप्रद नियम मिले। और यही नियम नैतिक नियम हैं जो सामाजिक उन्नतिके लिए आवश्यक हैं। सामाजिक विकासके साथ ही इन नियमोंका विकास हुआ है। जिससे यह सिद्ध होता है कि समाजशास्त्रका अध्ययन ही नैतिक नियमोंका स्पष्टीकरण कर सकता है। अथवा नैतिक नियमोंका ज्ञान उन नियमोंका ज्ञान है जिन्हें कि जातिने अपने संरक्षणके लिए लाभप्रद पाया। अतः समाजशास्त्रीय नीतिज्ञोंका कहना है कि नीतिशास्त्रके लिए समाजशास्त्रका ज्ञान अनिवार्य है।

जहाँतक समाजशास्त्रके ज्ञानका प्रश्न है कोई भी नीतिज्ञ इस तथ्यको अस्वीकार नहीं करता है। व्यक्ति और समाजके अनन्य सम्बन्धको आधुनिक नीतिज्ञ मानते हैं, और परिणामस्वरूप नीतिशास्त्र और समाजशास्त्रके घनिष्ठ सम्बन्धको स्वीकार करते हैं। नीतिशास्त्रका ज्ञान भी यह स्पष्ट करता है कि मनुष्यके सामाजिक प्राणी होनेके कारण ही उसके आचरणपर नैतिक निर्णय दिया जाता है। व्यक्ति और समाज एक दूसरेको प्रभावित करते हैं। व्यक्तिकी नैतिक अन्तर्दृष्टि सामाजिक मलिन प्रवृत्तियोंका परिष्कार कर उसे एक शिष्ट और संस्कृत स्तर देती है। स्वस्थ और संस्कृत सामाजिक संस्थाएँ पुष्ट परिपक्व व्यक्तित्वका निर्माण करती हैं। अथवा व्यक्ति युगचेतनाका अंश है, उसका आचरण सामाजिक पृष्ठभूमिमें ही समझा जा सकता है। उसकी प्रेरणाएँ, आन्तरिक प्रवृत्तियाँ बहुत हदतक वातावरण और परिस्थितिजन्य होती हैं। किन्तु सामाजिक महत्वको स्वीकार करनेके अर्थ यह कदापि नहीं हैं कि नैतिकता अपने मौलिक सत्यको भूल जाय। नीतिशास्त्र आदर्शविधायक होनेके कारण समाजशास्त्रीय यथार्थसे आगे बढ़ता है। समाजशास्त्र सामाजिक विधानको समझता है; उन आचरणों, भावनाओं, निर्णयोंको समझाता है जो कि सामाजिक प्राणियों या सामान्य मनुष्योंके संघटित समुदाय द्वारा व्यक्त होते हैं। नीतिशास्त्र मानव-स्वभावके इस व्यक्त रूपको समझनेके साथ ही अपना आदर्श विधा-

यक दृष्टिकोण भी रखता है। वह सामाजिक आदर्शों एवं प्रणालियोंके औचित्य-अनौचित्यपर निर्णय देता है। वह समाजशास्त्रमें वर्णित आचरणों और संस्थाओंका मूल्यांकन करता है। दूसरे शब्दोंमें, समाजशास्त्र उन सामाजिक ऐक्यके नियमोंका स्पष्टीकरण करता है जिसके द्वारा मानव-आचरण सम्बन्धी विभिन्नताओं, विरोधी भावनाओं और निर्णयोंके अस्तित्वको समझा जा सकता है। नीतिशास्त्र इसके भी ऊपर यह बताता है कि कौन-सी आचरणकी विभिन्नता उचित है और कौन-सा निर्णय प्रामाणिक है। उपर्युक्त कथन इन दोनोंके सम्बन्ध और भेदको भी स्पष्ट करता है अर्थात् समाजशास्त्र केवल वर्णनात्मक विज्ञान है और नीतिशास्त्र आदर्शविधायक विज्ञान है। यह, इस सत्यकी ओर भी संकेत करता है कि नीतिशास्त्रका कार्य दोहरा है। विज्ञान होनेके नाते एक ओर वह सामाजिक तथ्योंसे सम्बन्धित है, दूसरी ओर आदर्शविधायक होनेके नाते, तत्वदर्शनसे। नीतिशास्त्र समाजशास्त्रकी भाँति तत्वदर्शनके निष्कर्षोंसे मुक्त नहीं है। समाजशास्त्र मुख्यतः सामूहिक जीवनका अध्ययन करता है। उसके अनुसार व्यक्ति सामूहिक जीवनका ही प्रतिबिम्बमात्र है, उसका अपना अस्तित्व नगण्य है। नीतिशास्त्र व्यक्तिके उस स्वतन्त्र अस्तित्वका अध्ययन करता है जो समाजका अविछिन्न अंग होते हुए भी अपना विशिष्ट व्यक्तित्व रखता है। अतएव संकल्पकी स्वतन्त्रता यदि नीतिशास्त्रकी आवश्यक मान्यता है तो समाजशास्त्रके लिए वह केवल थोथी प्रमाणित होती है। समाजशास्त्र मानसिक क्रियाओंका वस्तुगत विश्लेषण करता है एवं रीति-रिवाजों, नियमों, संस्थाओं आदिका वर्णन करता है। नीतिशास्त्र मानसिक व्यापारोंका आन्तरिक दृष्टिकोणसे अध्ययन करता है। वह आन्तरिक प्रवृत्तियों—इच्छा, प्रेरणा, उद्देश्य, संकल्प आदि—पर प्रकाश डालता है। समाजशास्त्र केवल सैद्धान्तिक है। नीतिशास्त्र सैद्धान्तिकके साथ ही व्यावहारिक भी है। व्यावहारिक होनेके कारण इसके निष्कर्षोंका सार्वभौमिक और तात्कालिक महत्व है। समाजशास्त्र सामाजिक स्वास्थ्यकी वृद्धि एवं भौतिक सुखको सम्मुख रखते हुए लाभप्रद नियमोंको

महत्व देता है। किन्तु नीतिशास्त्र भौतिक सुखके उद्देश्यसे लाभप्रद नियमोंको अनैतिक कहता है। वह उच्चतम नैतिक ध्येयके लिए ऐहिक सुखकी उपेक्षा करता है। नैतिक प्राणी केवल जीवन संरक्षण नहीं चाहता है। उसकी परिष्कृत प्रवृत्ति अद्वितीय आत्मानन्दकी भूखी है। वह मानवताकी रक्षामात्र नहीं चाहती, वह जीवनके परमवांछनीय ध्येयकी प्राप्ति भी चाहती है। नीतिशास्त्र भौतिक कल्याणसे परे विश्वके नैतिक कल्याणकी भी स्थापना करना चाहता है। यह कल्याण समाजशास्त्रकी भाँति केवल सामाजिक ही नहीं, वैयक्तिक और सामाजिक दोनों है। समाजशास्त्र नैतिकताकी विकसित स्थितियों अथवा विकासक्रममें विकसित नैतिक प्रगतिके व्यक्तरूपको ही समझाता है। किन्तु नीतिशास्त्र नैतिकताके आभ्यन्तरिक अर्थको भी जानना चाहता है। वह उस परम आदर्शकी खोज करता है जो कि सामाजिक संस्थाओंके औचित्य-अनौचित्यको समझा सके। उसका सार्वभौम मापदण्ड सामाजिक प्रगतिका परिणाम-मात्र नहीं है, देशकालपर निर्भर नहीं है। वह (नैतिक आदर्श एवं नैतिक चेतना) सामाजिक प्रगतिसूचक सामूहिक मनका आन्तरिक परिष्कार करके उसका आत्मिक उन्नयन करता है।

अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्रका सम्बन्ध वस्तुओंके उत्पादन, वितरण और उपभोगसे है। यह अर्थोत्पादनकी विधि बताता है। मनुष्यकी भौतिक आवश्यकताओं-को समझने और समझानेका प्रयास करता है। इसका सम्बन्ध सापेक्ष शुभसे है। नीतिशास्त्रका सम्बन्ध निर-पेक्ष शुभसे है। वह मानव-आत्माकी आवश्यकताओंको—वांछनीय शुभ-को—समझनेका प्रयासकर इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि अर्थ अपने आपमें साध्य नहीं, परमशुभके लिए साधनमात्र है। नैतिक दृष्टिसे भौतिक एवं दैहिक आवश्यकताओंकी तृप्ति जीवनका अप्रमुख अथवा गौण लक्ष्य है। आधुनिक युगमें अर्थशास्त्रका महत्व अत्यधिक बढ़ गया है। यहाँतक कि कई चिन्तक नैतिक मान्यताओंको समाजकी बाह्य आर्थिक व्यवस्थाका प्रतिबिम्बमात्र मानते हैं। इनके अनुसार नीतिशास्त्र अर्थशास्त्रपर निर्भर

है। ये विचारक नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि विभिन्न विचारधाराओंकी अर्थशास्त्रीय व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार उत्पादन, यन्त्रोंके विकासके साथ-साथ मानव-जातिके रहन-सहन, उसकी भावनाओं तथा विचारोंमें अनेक परिवर्तन हुए हैं। किन्तु मनुष्यको केवल आर्थिक एवं भौतिक आवश्यकताओंका प्राणी मानना भ्रान्तिपूर्ण है। उसके विचार, भावनाएँ और मान्यताएँ आर्थिक व्यवस्थाका परिणाम नहीं है। भूख, वस्त्र और निवासकी चिन्ताके ऊपर उसकी कुछ आध्यात्मिक आकांक्षाएँ हैं। जैव सन्तोषके परे वह उच्चभावनाओं और आकांक्षाओंका प्रेमी है। केवल आर्थिक सुव्यवस्था उसे आत्म-सन्तोष नहीं दे सकती है। उसके जीवनका एकमात्र लक्ष्य धन नहीं है, आत्मिक सन्तोष है। इस आत्मिक सन्तोषमें भौतिक सन्तोष भी निहित है।

नीतिशास्त्र अर्थशास्त्रपर निर्भर नहीं है। दोनोंमें पर्याप्त भेद है। अर्थशास्त्रका सम्बन्ध अर्थोत्पादन और उसके वितरण तथा उपभोगसे है। वह यथार्थवादी एवं तथ्यात्मक है। वह सापेक्ष ध्येय तथा विषय-सुखकी खोज करता है। नीतिशास्त्र अपने आदर्शविधायक रूपमें अर्थनीतिका भी मूल्यांकन करता है। वह परमशुभके आदर्शके आधारपर आर्थिक नियमोंका प्रतिपादन है। अर्थशास्त्र वैयक्तिक स्वतन्त्रताके विरुद्ध सामूहिक संघटनको अधिक महत्व देता है। वह राजनीतिको भी अर्थशास्त्रीय ध्येयसे संचालित करता है। वर्तमान युगमें वह पूँजीवाद तथा साम्यवादके संघर्षके रूपमें वर्गयुद्ध तथा 'रक्तक्रान्ति' के नारे बुलन्द करता है। एक ओर यदि स्वार्थसिद्धि, प्रतियोगिता, शोषण और अत्याचार बढ़ता दीखता है तो दूसरी ओर व्यक्ति समाजका [illegible] निर्जीव अंग बन जाता है। नीतिशास्त्र व्यक्तिके स्वतन्त्रताको स्वीकार कर नैतिक चेतनाको जगाता है जिससे व्यक्ति स्वेच्छासे शुभमार्ग ग्रहण कर सर्वकल्याणकारी मार्गको अपना सके। नीतिशास्त्रको अर्थशास्त्रपर निर्भर मानना मानव-विवेककी तुलनामें जड़ताको महत्व देना है किन्तु अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्रको एक-दूसरेसे स्वतन्त्र मानना भी भूल है। अर्थशास्त्र अपनी प्रारम्भिक

स्थितिमें एक स्वतन्त्र सीमित शास्त्र था; उसका सम्बन्ध जीवनके आर्थिक पहलूसे था, न कि सम्पूर्ण जीवनसे। अब यह सभी मानते हैं कि आत्म-विकासके लिए भौतिक, आर्थिक आवश्यकताओंकी पूर्त्ति अनिवार्य है। निर्धनता एवं मानवीय आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके साधनोंका अभाव आदि व्यक्तित्वके विकासमें बाधक होते हैं। भूखे पेट न तो गोपालका भजन सम्भव है और न धर्मका सन्देश सुना जा सकता है। उचित आर्थिक व्यवस्था ही भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्त्ति कर सकती है। मानव व्यक्तित्वके निर्माणका यह प्रथम सोपान है। सुदृढ़ विश्वप्रेमके साम्राज्यका यह अनिवार्य अंग है। दूसरे शब्दोंमें उचित आर्थिक व्यवस्था बौद्धिक, आध्यात्मिक, मानसिक एवं सांस्कृतिक विकासकी प्रथम स्थिति है। विषम आर्थिक व्यवस्था जिसने पूँजीवाद, सामन्तवाद, जमींदारी प्रथा तथा भयंकर औद्योगिक शोषणको जन्म दिया, अत्यन्त घृणित और अमानुषीय है। इसी तथ्यको सम्मुख रखकर सन्त टौमस एक्यूनिस, ईसू, गांधीजी आदिने नैतिक अन्तर्दृष्टि द्वारा आर्थिक समस्याओंको हल करनेका सन्देश दिया। अमीरको धनका संरक्षकमात्र कहकर संसारसे दरिद्रताको दूर करनेका मार्ग दिखाया।

आजके युगमें यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्रको नीतिशास्त्रके अधीन माना जाय। अर्थशास्त्र नीतिशास्त्रके अन्तर्गत है क्योंकि नीतिशास्त्र सम्पूर्ण मानव-कल्याणका विज्ञान है और सम्पत्तिके उत्पादन-सम्बन्धी नियमोंके ज्ञानको जीवनके आदर्शसे भिन्न नहीं माना जा सकता। वह सम्पत्तिको उचित महत्व देता है और मानव-जीवनमें सम्पत्तिका उचित स्थान निर्धारित करता है। यही नहीं, अर्थका उचित एवं समान वितरण भी नैतिक चेतनाकी जागृतिके द्वारा ही सम्भव है। डण्डेके बलपर रोटीका समान वितरण करना असंस्कृत है तथा अव्यावहारिक है। प्रत्येक अर्थशास्त्रीको मानवकी शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्त्तिको अपना लक्ष्य मानना चाहिये और इस युगकी आर्थिक विषमताओं तथा मानव-स्वभावकी चिरन्तन दुर्बलताओंको सामने रखते हुए अर्थशास्त्रीको

समान आर्थिक वितरणके लिए उस मापदण्डकी खोज करनी चाहिये जो सार्वभौम और विवेकसम्मत हो और जिसे आत्म-प्रबुद्ध प्राणी स्वतः अपने ऊपर आरोपित कर सके जिससे मनुष्य सर्वकल्याणके लिए सहर्ष आत्मत्याग कर सके। आर्थिक प्रश्नोंपर नैतिक नियन्त्रण रखना अनिवार्य है, अन्यथा भयंकर दुष्परिणामोंकी सम्भावना है। फिर नैतिक ध्येय अथवा आत्म-कल्याण, आर्थिक ध्येय अथवा भौतिक सुख-समृद्धिसे अधिक व्यापक और दिव्य है। अतः नैतिक आदर्श ही आर्थिक नियमोंके मार्ग-दर्शक बन सकते हैं। नीतिशास्त्र आर्थिक समस्याके सम्मुख एक उच्चतम ध्येय रखकर उसे गौरवान्वित कर सकता है। लोलुप मानवकी लोलुपताको शुभध्येयके लिए साधन बनाकर उसका उन्नयन कर सकता है।

ईश्वरविद्या

ईश्वरविद्या सृष्टितत्व तथा सृष्टिकर्त्ताके बारेमें बताती है। सृष्टिका सम्बन्ध वास्तविक दृश्यमान जगतसे है। वह जगत जिसमें हम रहते, खाते और चलते हैं। इस जगतका निर्माण करने-वाला ईश्वर है। ईश्वरविद्या ईश्वर, आत्मा और सृष्टिके सम्बन्धमें प्रकाश डालती है। ईश्वर इस विश्वका स्रष्टा है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञाता, सर्वदर्शी, न्यायशील है। वह शुभ और सद्गुणकी पूर्णताका प्रतीक है। सत्यशील एवं न्यायप्रिय होनेके कारण उसने विश्व-विधानका संचालन अनिवार्य नैतिक नियमों द्वारा किया है। मनुष्य उसकी सृष्टिका उच्चतम प्राणी है। उसके पास स्वतन्त्र मनः-शक्ति है। वह आत्मचेतन है। अतः वह सृष्टिकर्ताके प्रति अनुगृहीत है। उसको चाहिये कि वह ईश्वरीय शाश्वत नैतिक नियमोंको समझे। उसका कर्तव्य है कि वह अपनी स्वतन्त्र बुद्धि तथा मनःशक्तिका सदुपयोग करे; भगवद् इच्छाके अनुरूप कर्म करे।

ईश्वरविद्या अथवा अध्यात्म बताता है कि जीवनका ध्येय सार्वभौम-शुभ है। प्रत्येक प्राणीके सुखके लिए प्रयास करना ही मनुष्यका कर्त्तव्य है। सत्तात्मक रूपसे सब प्राणी समान हैं और सबका जनक ईश्वर है। सब प्राणी एक ही परिवारके बालक हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'में भेदके लिए,

तेरे-मेरेके लिए, स्थान नहीं है। भिन्नता या विभेद मायामात्र है, अर्थ-शून्य है। ईश्वर परमसत्य है। सृष्टि उसीका रूप है। इस प्रकार ईश्वर-विद्या अहिंसा एवं विश्व-प्रेमकी नींव डालता है। वह जीवनके ध्येयको सार्वभौम शुभ बताकर व्यक्तिको वैयक्तिक संकीर्णतासे ऊपर उठाकर विश्वात्माके दर्शन कराता है।

कुछ विचारकोंके अनुसार नीतिशास्त्र और ईश्वरविद्यामें प्रमुख अन्तर यह है कि नीतिशास्त्र उस परमशुभकी खोज करता है जो व्यक्तिके लिए वांछनीय है। अर्थात् नीतिशास्त्र व्यक्तिके लिए वांछनीय शुभ एवं आत्म कल्याणको महत्व देता है और ईश्वरविद्या सामूहिक सार्वभौम शुभको ; अथवा एकके सम्मुख व्यक्तिका कल्याण है और दूसरेके सम्मुख समष्टिका। उनके अनुसार नीतिशास्त्रके लिए समाज नगण्य है और ईश्वरविद्याके लिए व्यक्ति। किन्तु व्यक्ति और समष्टिमें भेद देखना मूर्खता है। दोनों परस्पर सजीव रूपसे सम्बद्ध हैं। इनका सम्बन्ध सांगोपांग है। वैयक्तिक कल्याण सार्वभौम ~~वैयक्तिक~~ कल्याणकी अपेक्षा रखता है और सार्वभौम वैयक्तिक कल्याणकी। दोनोंके ही ध्येयको सर्वकल्याणकारी कह सकते हैं। नैतिकता व्यक्ति और समष्टिके द्वारा इस मार्गको ग्रहण करती है और ईश्वरविद्या सृष्टितत्व और सृष्टिकर्ताके बोध द्वारा। जहाँतक दोनोंके आचार सम्बन्धी नियमोंका प्रश्न है, दोनों समान हैं। नीतिशास्त्र और ईश्वरविद्या दोनों ही मानते हैं कि मनुष्य जैव और भौतिक आवश्यकताओंके हाथका खिलौनामात्र नहीं है। उसके जीवनका ध्येय महान है। उसका वर्तमान जीवन वांछनीय शुभके लिए साधनमात्र है। वह अपने कर्मोंके लिए उत्तरदायी है। उसके कर्म स्वेच्छाकृत हैं। उसका संकल्प स्वतन्त्र है। यहाँपर यह बात ध्यान देने योग्य है कि दोनों ही स्वतन्त्रताका प्रयोग भिन्न भिन्न अर्थोंमें करते हैं।

नीतिशास्त्रके अनुसार मनुष्यको अपने कर्मोंको विवेक द्वारा परिचालित करना चाहिये। उसे उन्हीं कर्मोंको करना चाहिये जो उचित हों। उसे अपनी आत्माके आदेशको मानना चाहिये। नैतिक नियम आत्म-

आरोपित हैं। किन्तु ईश्वरविद्याके अनुसार मनुष्यकी स्वतन्त्रता इस तथ्य-पर निर्भर है कि वह भगवद् इच्छाको समझ सकता है, उसके अनुरूप कर्म कर सकता है; ईश्वरीय आदेशका पालन कर सकता है; भगवत् कृपा द्वारा परम आदेश एवं ईश्वरीय आदेशको समझ सकता है। नीतिशास्त्रके अनुसार अनैतिक कर्म करनेसे पश्चात्ताप होता है। व्यक्तिकी सत्यात्मा उसे प्रताड़ित करती है। आत्म-सन्तोषके लिए उसे नैतिक आदेशका अनिवार्यरूपसे पालन करना पड़ता है। किन्तु ईश्वरविद्याके अनुसार न्यायशील ईश्वर द्वारा दण्डित होनेके भयसे अथवा नरकके भय एवं स्वर्गकी लालसासे ही व्यक्ति सदाचार करता है। वह अपने कर्त्ताको प्रसन्न करनेके लिए अथवा उसका साक्षात्कार प्राप्त करनेके लिए दैवी नियमोंका पालन करता है। नैतिक आदेश आन्तरिक आदेश है। दैवी आदेश बाह्य आदेश है। फिर भी यह वास्तविक सत्य है कि जनसाधारण ईश्वरविद्या एवं धर्मसे ही अधिक प्रभावित होता है। वह भयवश नियमोंका पालन करता है। नीतिशास्त्र ऐसे कर्मोंको अनैतिक कहता है। वैसे, दोनों ही स्वार्थसे परे परमार्थकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं; मनुष्यको सद्गुणी बननेके लिए प्रेरित करते हैं; उसे उसके कर्त्तव्योंके बारेमें सचेत करते हैं। यह अवश्य है कि नीतिशास्त्रमें नैतिक कर्त्तव्योंकी रूप-रेखा बुद्धि द्वारा निर्धारित की जाती है और ईश्वरविद्यामें कर्त्तव्यका निर्णय ईश्वरकी धारणाके अनुरूप किया जाता है।

नीतिशास्त्र और ईश्वरविद्याकी पारस्परिक निर्भरताके बारेमें विचारकों-का मतभेद है। कुछ विचारक यह सिद्ध करनेका प्रयास करते हैं कि ईश्वर-विद्या नीतिशास्त्रपर आधारित है और कुछ इसके विपरीत नीतिशास्त्रको ईश्वरविद्यापर आधारित मानते हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे दोनोंका प्रादुर्भाव भिन्न-भिन्न समयमें हुआ। किन्तु जैसा कि अभी देखेंगे, दोनोंकी अन्तिम परिणति एक ही है। दोनोंके सम्मुख आत्मकल्याण, आत्मोन्नति और आत्मत्याग ही लक्ष्य है। नीतिशास्त्र ईश्वरविद्यापर आधारित था। सुक-रातके पश्चात् वह स्वतन्त्र रूपसे पल्लवित होने लगा। यूरोपमें भी जब मध्ययुगमें धर्म और पोपका नारा बुलन्द था, ईश्वरविद्याने ही नीतिशास्त्रको

शासित किया। किन्तु रिनैसाँ या पुनर्जागरणके साथ नीतिशास्त्रने स्वतन्त्र-रूप धारण कर लिया। धीरे-धीरे बौद्धिक विकासके साथ अब इन दोनोंके बीचका भेद कम होता जा रहा है। कई विचारक अब मानने लगे हैं कि इन दोनोंका सम्बन्ध अनन्य है। ईसासे ३०० शताब्दी पूर्व प्लेटोने इस तथ्यको स्वीकार किया है। उसके दर्शनमें नीतिशास्त्र और ईश्वरविद्या परस्पर संयुक्त हैं। भारतके विद्वानोंने भी एक ही सत्यके दो पहलुओंकी भाँति इन्हें अंगीकार किया है। ये दोनों ही एक-दूसरेपर आश्रित हैं। भगवान्का अस्तित्व नीतिशास्त्रकी आवश्यक मान्यता है और ईश्वरविद्याका व्यावहारिक रूप ही नीतिशास्त्र है। दोनोंके ही अनुसार मानव-जीवन एक समारम्भ और साधना है। मनुष्यमें अनन्त सम्भावनाएँ हैं। उन्हें प्राप्त करना ही मनुष्यका ध्येय है।

ईश्वरविद्या नीतिशास्त्रको यह बताती है कि नैतिक आदर्श मानव-मनकी कल्पनामात्र नहीं है। वह मनुष्यकी अन्तरात्मा या परमात्माका व्यक्त रूप है और नीतिशास्त्र ईश्वरविद्याको विवेकसम्मत करके उसके नियमोंको वस्तुगत तथा सार्वभौम स्वरूप देकर दैवी आदेशके आन्तरिक पक्षपर प्रकाश डालता है। यह आदेश बाह्य आदेश नहीं मनुष्यकी अन्तरात्माका आदेश है। ईश्वरविद्या नीतिशास्त्रको पुष्ट आधार देती है। भगवान् मानव-पूर्णताका प्रतीक है। नैतिक आदर्शका मूर्तिमान स्वरूप ही भगवान् है। नैतिक आदर्श निर्जीव आदर्श या कोरा स्वप्न नहीं है। ईश्वरविद्यासे संयुक्त होकर वह उस व्यक्तित्वको प्राप्त कर लेता है जो पूर्ण कल्याणमय, आकर्षक तथा आह्लादमय है। यही नहीं, आत्माके अमरत्वको स्थापित करके वह आत्म-त्यागका सन्देश देता है और स्थूल जड़वाद तथा आत्म-घातक सुखवादसे मनको मुक्त करता है। नैतिक मान्यताओंका चरम उत्कर्ष भगवान् है। वह नैतिकताका मापदण्ड है, उसका प्रेरणा-स्रोत है। किन्तु इसके अर्थ यह कदापि नहीं हैं कि नीतिशास्त्र अपने औचित्य-अनौचित्यके निर्णयके लिए जनसाधारणके धर्म अथवा विशिष्ट सम्प्रदायके धर्मपर आश्रित है। मध्ययुगीन यूरोपकी ईश्वरविद्याने अनैतिक

होनेके कारण व्यक्तियोंको त्रासित कर दिया। समृद्धि और स्वर्गकी महदाकांक्षा बेची जाने लगी। विवेकसे शून्य ईश्वरविद्या लुटेरोंका धर्म बन गयी। भारतमें भी नीति-रहित ईश्वरविद्याको अपनानेके कारण पण्डों, पण्डितों और पुजारियोंने अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी लालसासे मानव-जीवनमें भयंकर वैषम्य ला दिया है। नीतिशास्त्र और ईश्वरविद्या आदर्शवादी होनेके कारण परस्पर अवलम्बित हैं। दोनों ही मानवीय चरमोत्कर्षको प्राप्त करना चाहते हैं। आत्म-त्याग द्वारा अद्वितीय आनन्दका अनुभव करना चाहते हैं। नीतिशास्त्र अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिए विवेकका आश्रय लेता है और ईश्वरविद्या श्रद्धा, भक्ति एवं विश्वासका। एक दूसरेसे संयुक्त होकर ही दोनों पूर्णताको प्राप्त करते हैं। नीतिशास्त्र ईश्वरविद्याको विवेक-सम्मत बनाता है और ईश्वरविद्या नीतिशास्त्रको सरस एवं आह्लाददायक बनाता है। नैतिकताकी पराकाष्ठा ईश्वरविद्या है और ईश्वरविद्याका व्यावहारिक तथा व्यक्त रूप नैतिकता है।

राजनीति मनुष्योंने अपने जीवनको व्यवस्थित रूप देनेके लिए राज्यसत्ताका निर्माण किया; राज्यकी रक्षा, उन्नति और जनहितको सम्मुख रखते हुए राज्यका विधान बनाया; लोकहितके दृष्टिकोणसे प्रत्येक व्यक्तिको आचरणके मूल्यांकनार्थ राजनीतिक नियम बनाये। राजनीतिक विधान उस आदर्शका सूचक है जो कि राजसत्ताको मनुष्योंके विकासके लिए आवश्यक समझता है। राजनीतिका उद्देश्य उस बाह्य आदर्श व्यवस्थाका निर्माण करना है जो मनुष्यके सर्वोच्च ध्येयकी प्राप्तिके लिए सहायक है। यहाँपर राजनीति भी नीतिशास्त्रकी भाँति ही मनुष्यके आचरण और चरित्रसे सम्बन्ध रखती है, कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित करती है। नीतिशास्त्र और राजनीति दोनों ही आदर्शविधायक और व्यावहारिक विज्ञान हैं। दोनों वस्तु-स्थितिको समझते हुए वांछनीय ध्येयकी खोज करते हैं। दोनोंका ध्येय मानवीय शुभ है। मनुष्यके आचरणपर निर्णय देना, उसपर नियन्त्रण रखना ही उनका लक्ष्य है। इस अर्थमें वे यथार्थ विज्ञानोंसे ऊपर हैं।

दोनों व्यक्तिको सामाजिक प्राणी मानते हैं। उसके एकाकी अस्तित्वको अकल्पनीय मानते हैं। मनुष्य सामान्यतः किसी-न-किसी संगठित समुदाय या राजनीतिक समुदायमें जन्म लेता है। वह जीवनभर उसका सदस्य या नागरिक बनकर रहता है। व्यक्ति और समाजके अनन्य सम्बन्धको मानते हुए नीतिशास्त्र वैयक्तिक शुभको सम्मुख रखता है और राजनीति जन-हितको सम्मुख रखती है। अर्थात् दोनों व्यक्ति तथा समाजके कल्याण-की परवाह करते हैं और एक दूसरेकी प्रगतिमें भी सहायक हैं। मनुष्यके सद्गुणोंको उसके सामाजिक सम्बन्धोंके बीच ही समझा जा सकता है। उसके नैतिक विकासके लिए शुभ राजनीतिक संस्थाओं और संघटनोंका होना आवश्यक है। नैतिकताका विकास तभी होगा जब कि समाज सुसंघटित हो, और यह राजनीतिपर निर्भर है। जबतक सब व्यक्तियोंमें पूर्णरूपसे नैतिक चेतना जाग्रत न हो जाय तबतक व्यक्तिके सामाजिक जीवनके लिए शुभ राजनीतिक नियम अनिवार्य हैं। राजनीति दण्डविधान द्वारा स्थूल अहंतावादियों, दुश्चरित्रों तथा दुष्ट-प्रकृतिके लोगोंको दूसरोंकी जीवन-प्रगतिमें बाधा डालनेसे रोकती है। प्रारम्भमें मनुष्योंने अपनी वैयक्तिक भलाईको सम्मुख रखते हुए राजसत्ताका निर्माण किया; जनहित द्वारा वैयक्तिक हितकी रक्षा की; पारस्परिक कर्तव्य और अधिकारोंको निर्धारित किया। व्यक्तिकी कुशल और उसकी सम्पत्तिकी रक्षाके लिए राजनीतिक नियम आवश्यक हैं। नीतिशास्त्र उन नियमोंका मूल्य निर्धारित कर राजनीतिको सन्मार्ग दिखाता है, राजनीतिक संस्थाओंके औचित्य-अनौचित्यपर निर्णय देता है। संकीर्णता, स्वार्थान्धता, तानाशाही, अमान-वीय भौतिकता आदिके कुचक्रोंसे राजनीतिको ऊपर उठाकर विश्वप्रेम तथा व्यापक लोकहितका सन्देश देता है। नीतिशास्त्र और राजनीति दोनों-को एक दूसरेके लिए एक विशिष्ट स्थिति—अबौद्धिक सामाजिक विकासकी स्थितितक आवश्यक मानते हुए भी दोनोंके बीचके स्पष्ट भेदकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

राजनीति और नीतिशास्त्र दोनोंके ही मापदण्डमें भिन्नता है। नीति-

शास्त्र नैतिक पूर्णताकी स्थितिकी स्थापना करना चाहता है किन्तु राजनीतिके सम्मुख भौतिक जनहित एवं लोकक्षेम लक्ष्य है। नीतिशास्त्र मनुष्यके लिए परम वांछनीय ध्येयकी खोज करता है; उसे आत्मप्रबुद्ध मानते हुए उसके लिए मार्गदर्शक नियमोंका प्रतिपादन करता है। किन्तु राजनीतिका सम्बन्ध केवल राज्यके शासन एवं जन-समुदायके हिततक ही सीमित रहता है। वह जनहितको सम्मुख रखते हुए राज्यकी नीतिको निर्धारित एवं तत्सम्बन्धी अनिवार्य नियमोंका प्रतिपादन करता है। यह उन व्यक्तियोंके लिए नियम बनाता है जो राज्यके नागरिक हैं। किसी भी राज्यके नागरिक कहलानेके लिए उस राज्यके नियमोंका पालन करना आवश्यक है। नीतिशास्त्र जहाँ मार्गदर्शक नियमोंको बनाकर वैयक्तिक स्वतन्त्रताकी स्थापना करता है वहाँ राजनीति जनहितकी तुलनामें वैयक्तिक स्वतन्त्रताको नगण्य मानती है। राजनीतिका मापदण्ड लोकोपयोगिता है और नीतिशास्त्रका मापदण्ड नैतिक औचित्य या पूर्णता है। राजनीतिका लक्ष्य जनसामान्यकी सुख-समृद्धि है। वह जनसमुदायके लिए लाभप्रद तथा उपयोगी कर्मोंको निर्धारित करती है। उपयोगिताको ध्यानमें रखते हुए वह व्यक्तियोंके आचरणपर नियन्त्रण रखती है। किन्तु नीतिशास्त्र नैतिक पूर्णताको महत्व देता है। उपयोगितासे ऊपर वह सर्वोच्च शुभकी प्राप्तिके लिए प्रयास करता है। उच्चतम ध्येयकी अभिलाषा रखनेवाली नैतिकता उपयोगिताको अनैतिक कहकर ठुकरा सकती है, नीतिशास्त्र और राजनीतिके नियमोंके पालन करने और ध्येयकी प्राप्तिके उपायोंमें भी महान अन्तर है। नैतिक नियमोंका पालन व्यक्ति आत्मसन्तोषके लिए करता है और राजनीतिक नियमोंका पालन राजभय अथवा दण्डसे बचनेके लिए करता है। नैतिक नियम आत्म-आरोपित एवं आन्तरिक हैं। राजनीतिक नियम बाह्य हैं। नैतिक व्यक्ति केवल ध्येय ही नहीं, साधनकी पवित्रताको भी महत्व देता है, वह प्रायः अवसरवादी होता है। उसकी नीति 'चाणक्यनीति' है। 'दूरदर्शिता और चतुराई उसकी सफलताकी कुंजी है। आजका युग इस बातका

साक्षी है कि राजनीति भौतिक बाध्यता द्वारा सब कुछ करा सकती है। दण्डका भय और पुरस्कारका लोभ दुर्बल व्यक्तिकी नैतिक चेतनाको दबा देता है। 'जैसा देश, वैसा वेश' ही उसकी प्रकृतिका गुण बन जाता है। राजनीति सम्यक् विधान और सम्यक् लोकाचार द्वारा शासित समाजोंके आचरणको बाह्य रूपसे नियन्त्रित करती है। नीतिशास्त्रका नियन्त्रण आन्तरिक है। नीतिशास्त्र और राजनीति दोनोंके ही आदेश निरपेक्ष आदेश हैं। किसी भी विशिष्ट राज्यमें अपने जीवनको सुरक्षित रखनेके लिए प्रत्येक व्यक्तिको कुछ विशिष्ट राजनीतिक नियमोंका पालन करना पड़ता है। किन्तु आत्मप्रबुद्ध व्यक्ति आत्म-सन्तोषके लिए अथवा पश्चात्ताप या आत्म-ग्लानिसे बचनेके लिए ही नैतिक नियमोंका अनिवार्यरूपसे पालन करता है। वह अनुचित राजनीतिक नियमोंका अस्तित्वतक स्वीकार नहीं करता और उनका उल्लंघन कर कठोरसे कठोर दण्ड सहर्ष अंगीकार कर लेता है। राजनीति और नीतिशास्त्रके निर्णय देनेके रूपोंमें भी अन्तर है। राजनीतिका सम्बन्ध चरित्रके बाह्य रूप तथा कर्मोंके परिणामसे है, वह उन वास्तविक घटनाओंका विवेचन करती है जो किसी विशिष्ट देश या कालमें घटित होती हैं। इस अर्थमें उसके नियम यथार्थपर आधारित होते हैं। किन्तु नीतिशास्त्र आदर्श नियमोंका प्रतिपादन करता है। उसके नियम मार्गदर्शक हैं। वह व्यक्तिके आचरणके औचित्यपर प्रकाश डालते हैं। नीतिशास्त्र निर्णय देते समय सम्पूर्ण मनुष्यको समझनेका प्रयत्न करता है। वह अपनेको मनुष्यके स्थूल बाह्य व्यक्तित्व-तक सीमित नहीं रखता। वह मानव-स्वभावका विश्लेषण कर उसके आन्तरिक संकल्पों, प्रवृत्तियों आदिके मूलको समझनेका प्रयास करता है। अगले अध्यायमें हम विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे कि नीतिशास्त्र मनुष्यके आचरणपर निर्णय देनेके पूर्व किसी प्रकार उसके आचारके बाह्य और आन्तरिक पक्ष, दोनों पक्षोंका गहन अध्ययन करता है। राजनीति केवल बाह्य पक्षको महत्व देती है। इसके अनुसार प्रशंसनीय और आदरणीय नागरिक वह है जो राजनीतिक नियमोंको भलीभाँति जानता है और अव-

सरके अनुकूल उनपर चलता है। नीतिशास्त्र ऐसे व्यक्तिको हेय समझता है। नैतिक व्यक्ति वह है जिसके लिए ज्ञान सद्गुण है।

राजनीति और नीतिशास्त्र एक-दूसरेसे भिन्न होनेपर भी एक-दूसरेकी सहायता चाहते हैं। अबौद्धिक असंस्कृत व्यक्ति या समूह सुसंघटित, सुसंस्कृत संस्थाओं तथा अनुशासनके नियमों द्वारा ही नैतिक ज्ञानको प्राप्त कर सकता है। मानव-विकासमें वातावरण और परिवेशका जो महत्व है वह आजके मनोवैज्ञानिक युगमें किसीसे छिपा नहीं है। कूपमण्डूकों तथा धर्मान्ध एवं रूढ़िग्रस्त लोगोंके लिए भी शुभ राजनीतिक नियमोंका होना आवश्यक है। बाल-विवाह और वैधव्यके पोषकोंकी नैतिक चेतनाको राजनीतिक अनुशासन ही बदल सकता है। किन्तु इस सत्यको कभी नहीं भूलना चाहिये कि परमशुभको खोजनेवाला नीतिशास्त्र राजनीतिसे अधिक व्यापक है। राजनीतिके लिए नैतिक संबलकी आवश्यकता है। बिना पुष्ट नैतिक आधारके राजनीतिक संस्थाएँ दीर्घजीवी नहीं हो सकतीं। नैतिकताको पतनोन्मुख करनेवाली राजनीति अपने आमूल नष्ट होनेका बीज बोती है। राज्यके नागरिकोंके वैयक्तिक जीवनमें, विवेकसम्मत धर्म, कला, साहित्य और नैतिकतामें हस्तक्षेप करना बुरा है। राजनीतिके नियम ऐसे होने चाहिये कि वे लोगोंकी नैतिक चेतनाके विकासके लिए सुन्दर वातावरणका निर्माण कर सकें; नैतिकताको आधार मानकर राजनीतिको अपने नियमोंमें परिवर्तन करना चाहिये क्योंकि नैतिकता ही राजनीतिक संस्थाओंके औचित्य और अनौचित्यके मापदण्डको निर्धारित कर सकती है। आशावादी नीतिज्ञ उस स्थितिकी कल्पना करके भूल नहीं करते हैं जब नैतिक पूर्णताकी स्थितिके साथ बाह्य बाध्यता अथवा राजनीतिक नियम हट जायँगे। लोगोंकी प्रकृति स्वतः उन्हें विश्वप्रेमके राज्यकी ओर आकृष्ट कर लेगी। इसी प्रकारके सिद्धान्तको माननेके कारण प्राचीन यूनानी विचारकोंने वैयक्तिक शुभ और राजनीतिक शुभमें एकत्व देखा। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटोने कहा कि दार्शनिक ही राज्यसत्ताका संचालन कर सकता है और भारतमें तो योग्य शासकोंने प्राचीनकालमें सदैव ही

समदर्शी विद्वान ऋषियोंसे राजनीतिका ज्ञान प्राप्त करना श्रेयस्कर समझा।

नीतिशास्त्रके आदर्शविधायक स्वरूपका स्पष्टीकरण करते समय यह कहा जा चुका है कि इसका तत्वदर्शनसे अत्यधिक सामीप्य है। तत्वदर्शन

तत्वदर्शन

सत्ताके सम्यक् स्वरूपको समझानेका सुव्यवस्थित प्रयास है। वह आत्मा, ईश्वर और जड़ जगतके विधानपर प्रकाश डालता है। वह बताता है कि विश्व प्रयोजनपूर्ण है या प्रयोजनशून्य; वह नैतिक नियमों द्वारा संचालित होता है अथवा वह नैतिकतासे शून्य है। तत्वदर्शन दृश्यमान और ज्ञेयके परे अज्ञेय जगतको समझना चाहता है; अनेकता और एकताके सिद्धान्तोंका अध्ययन करना चाहता है। वह नीतिशास्त्रको बताता है कि व्यक्तिका सत्यस्वरूप क्या है, उसकी विश्वमें क्या स्थिति है, उसकी एकाकी सत्ता कहाँतक सम्भव है। तत्वदर्शन उस अन्तर्जगतका पूर्ण ज्ञान देता है जो मानव-जीवन, मानव-कार्यों एवं विचारोंका क्षेत्र है। मानव-जीवनके क्रियात्मक पक्षसे सम्बन्ध रखनेवाले नीतिशास्त्रके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह मनुष्यकी सत्ता, उसके वास्तविक स्वरूप तथा परिस्थितिका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर ले।

नीतिशास्त्र यह मानता है कि मनुष्य केवल निम्न प्राणियों अथवा वनस्पतियोंका-सा जीवन नहीं बिताता है। वह मात्र दैहिक और भौतिक आवश्यकताओंका प्राणी नहीं है। वह अन्य जीवधारियोंकी भाँति प्रकृतिका अंगमात्र नहीं है। वह नैतिक प्राणी है, वह अपनी प्रकृतिका परिष्कार कर सकता है। उसका अपने सामाजिक और भौतिक वातावरणसे चेतन सम्बन्ध है। उसकी आत्म-चेतना परमध्येयके अनुरूप कर्म करना चाहती है। वह जानना चाहता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या है; विश्वमें उसकी क्या स्थिति और स्थान है। अपने कर्मोंको वांछनीय ध्येयके अनुसार निर्धारित करनेके लिए वह तत्वदर्शनके समीप आता है। नैतिक सिद्धान्तोंका अध्ययन यह बतलाता है कि व्यक्तिकी नैतिक धारणाएँ उसके तात्विक दृष्टिकोणसे सर्वाधिक प्रभावित होती हैं। नैतिक प्रश्नोंका समाधान

विश्व-निर्माण सम्बन्धी दार्शनिक विचारोंपर निर्भर है[1], एक ओर स्थूल जड़वादी नीतिज्ञ हैं जो क्षणिक दैहिक-सुखमें विश्वास करते हैं, दूसरी ओर वे अध्यात्मवादी नीतिज्ञ हैं जो आत्माके शाश्वत स्वरूपको माननेके कारण क्षणिक सुखको जीवनका ध्येय नहीं मानते। यदि हम कुछ देरके लिए यह मान लें कि विचारक अपने नैतिक सिद्धान्तको तत्वदर्शनसे सरलतापूर्वक पृथक् रख सकते हैं तो एक दूसरी कठिनाई उपस्थित होती है। इन विचारकोंके नैतिक दर्शनकी सत्यता तथा उनके नैतिक सत्योंके प्रमाणको समझनेका प्रयास करनेपर हमें घूम-फिरकर तत्वदर्शनके ही क्षेत्रमें जाना पड़ता है।

नैतिक धारणाओंकी प्रामाणिकता सत्ताके सत्यस्वरूप पर निर्भर है। नैतिक निर्णयोंके विधानको स्वीकार करनेके लिए तत्वदर्शनका आश्रय लेना ही पड़ता है। चार्वाकमतके विचारकोंने ऐन्द्रिय सुखको जीवनका ध्येय इसलिए बताया कि वे जड़वादमें विश्वास रखते थे। अपने विश्वके स्वरूपके ज्ञानके अनुसार ही नीतिज्ञोंने नैतिक सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। तत्वदर्शनके निष्कर्षोंका नैतिक मान्यताओंपर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। अन्य विज्ञानोंके लिए यह कह सकते हैं कि वे अपने सीमित क्षेत्रमें तत्वदर्शनसे मुक्त हैं। पदार्थविज्ञान जड़ और शक्तिके अस्तित्वको मानकर चलता है और गणित देशके अस्तित्वको। इन विज्ञानोंके लिए यह जानना अनावश्यक है कि तत्वदर्शन जड़ पदार्थ, शक्ति और देशकी धारणाको कैसे समझाता है; उन्हें वह वस्तुमूलक मानता है या आत्ममूलक। किन्तु

1. नीतिशास्त्र और तत्वदर्शनके सम्बन्धके बारेमें वास्तवमें तीन मत हैं:—
   (अ) तात्विक ज्ञानसे नैतिक ज्ञानका निगमन करना चाहिये।
   (ब) नैतिक ज्ञानसे तात्विक ज्ञानका निगमन करना चाहिये।
   (स) तत्वदर्शन और नीतिशास्त्र एक दूसरेसे स्वतन्त्र हैं।

   इन मतोंके विवादोंमें न जाकर हम यह मानेंगे कि नीतिशास्त्र अपने आदर्श तथा मान्यताओंके प्रमाणके लिए तत्वदर्शनपर आश्रित है।

जहाँतक नैतिक मान्यताओंका प्रश्न है वे अपने व्यापक और गूढ़ ज्ञानके लिए तत्वदर्शनपर आधारित हैं। उनकी प्रामाणिकता और मूल्यका प्रश्न वास्तवमें सत्ताके स्वरूपका प्रश्न है। जब मनुष्य यह जानना चाहता है कि मानव-जीवन-सम्बन्धी सक्रिय मूल्योंका निर्माण कैसे हुआ, मानव-व्यक्तित्वका सारतत्व क्या है, विश्वमें उसका क्या स्थान है, तब वह तत्व-दर्शनके क्षेत्रमें प्रवेश करता है। बिना यह समझे कि 'मैं क्या हूँ' और 'मेरा सत्यरूप क्या है' यह कहना कठिन है कि मेरा क्या कर्त्तव्य है। मानव-चरित्रका मूल्यांकन करनेके लिए उसके तात्विक स्वरूपको समझना अनिवार्य है। आध्यात्मिक तत्वदर्शन नीतिशास्त्रको बताता है कि वह कैवल अपने परिवार या अपनी राजसत्ताका ही नागरिक नहीं है, वह मानव-समाज एवं वसुधैव कुटुम्बकमूका भी अविच्छिन्न सदस्य है। वह परस्पर सम्बद्ध सार्वभौम सजीव विश्वव्यवस्थाका अंश है। उसका जीवन धर्मक्षेत्र है। सामाजिक कल्याण ही उसका आत्म-कल्याण है। आध्यात्मिक दर्शनको माननेवाले नीतिज्ञ विश्वको आध्यात्मिक चेतनाका व्यक्त-रूप मानते हैं। उनके अनुसार विविधताके मूलमें एकता है। व्यक्ति सत्तात्मक रूपसे एक है। जीवनका ध्येय सर्वकल्याण है। किन्तु कुछ नीतिज्ञ अपने भौतिक तत्वदर्शनकी व्याख्याके अनुसार विश्वका निर्माण अणुओंके संघर्षके कारण मानते हैं। इनका नैतिक सिद्धान्त केवल वैयक्तिक कल्याणका-पोषक है। ये अध्यात्मवादियोंकी तरह व्यक्ति और समाजको एक अविच्छिन्न सत्ताके रूपमें नहीं देखते। इस प्रकार विश्वविधानके विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोणोंके अनुरूप आचरणके दो भिन्न मापदण्ड देखनेको मिलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि नीतिशास्त्र तत्वदर्शनके निष्कर्षोंसे अपनेको सर्वथा मुक्त नहीं कर सकता है।

नैतिक निर्णय स्वेच्छाकृत कर्मपर दिया जाता है। संकल्पकी स्वतन्त्रता नीतिशास्त्रकी आवश्यक मान्यता है। तत्वज्ञान बताता है कि संकल्पशक्ति क्या है। उसकी स्वतन्त्रताके क्या अर्थ हैं। यही नहीं, ईश्वरका अस्तित्व और आत्माकी अमरता भी नीतिशास्त्रकी आवश्यक मान्यताएँ हैं। ईश्वरका

अस्तित्व उसके सिद्धान्तको आकर्षक ही नहीं बनाता है, उसकी वास्तविकताकी पुष्टि भी करता है। ईश्वर नैतिक आदर्शका प्रतीक है। आत्माकी अमरता मनुष्यको क्षणिक सुखसे ऊपर उठाती है। विश्वात्माके साथ उसके तादात्म्यपर प्रकाश डालती है। नीतिशास्त्र अपनी तीनों आवश्यक मान्यताओंके लिए तत्वदर्शनपर आधारित है। नीतिशास्त्रका आचरणसे सम्बन्ध है। वह आचरणपर निरपेक्ष निर्णय देता है। इसके निर्णयोंका रूप सार्वभौम होता है, वैयक्तिक और सापेक्ष नहीं होता है। कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको वैयक्तिक इच्छा या विशिष्ट परिस्थितिके आधारपर निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि नीतिशास्त्र जीवनके निरपेक्ष मूल्यको या परमवांछनीय शुभको समझनेका प्रयास है। अतः तत्वज्ञान (वस्तुओंका सम्यक् ज्ञान) ही नैतिकताके पथको प्रकाशित कर सकता है।

कुछ नीतिज्ञोंका कहना है कि नीतिशास्त्रका सम्बन्ध जीवनके क्रियात्मक वास्तविक पक्षसे है। इसलिए नीतिशास्त्रको अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन मनोविज्ञान और जीवनके वास्तविक अनुभवोंके आधारपर करना चाहिये न कि अध्यात्मवादके आधारपर। उसका क्षेत्र यथार्थवाद, अनुभववाद, वास्तविकतावाद और प्रतिभासवादतक ही सीमित रहना चाहिये। उसका पारमार्थिक सत्यसे सम्बन्ध नहीं है। अपने विषयके लिए उसे व्यक्ति और मानवताके प्रतिदिनके व्यावहारिक जीवनपर ही निर्भर रहना चाहिये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नीतिशास्त्रका क्षेत्र तत्वदर्शनसे अधिक सीमित है। अपने आदर्शके मापदण्डके लिए तत्वदर्शनपर निर्भर होनेपर भी वह मूलतः व्यावहारिक विज्ञान है। किन्तु विज्ञान और दर्शनमें अन्तर प्रकारका नहीं, मात्राका है। तत्वदर्शन नैतिक ज्ञानकी अपूर्णताकी पूर्त्ति करता है। कोई भी नैतिक सिद्धान्त मनको तबतक सन्तोष नहीं दे सकता है जबतक कि वह विश्व और विश्वमें मनुष्यके स्थानके बारेमें भी तर्कसम्मत ज्ञानका प्रतिपादन न कर ले। नैतिक मान्यताओंका व्यापक, गूढ़ और निश्चयात्मक ज्ञान दृश्यमानसे परे पारमार्थिक सत्यपर निर्भर है। ईश्वर, आत्मा और विश्वका पूर्ण ज्ञान ही नैतिक आदर्शको प्रेरणात्मक बना सकता है, उसमें

जीवन और गतिका स्फुरण भर सकता है। नैतिक आदर्श कल्पनाकी सृष्टि नहीं है। यह मनुष्यकी अनन्त सम्भावनाओं और पूर्णताओं तथा उसके देवत्वका सूचक है। वस्तुओंका तात्विक ज्ञान ही नैतिकताका सन्तोषप्रद स्पष्टीकरण कर सकता है। वह नैतिक निर्णयोंकी प्रामाणिकता और वस्तुपरकताको समझा सकता है।[१] मानव-जीवनका सार-तत्व विश्व-सार-तत्वका अंग है, नैतिक व्यवस्था वैश्व व्यवस्थाका अंग है, नैतिक प्रणाली वैश्व प्रणालीका अंग है।

---

१. यहाँपर यह कह देना उचित होगा कि नीतिशास्त्रके कठिन और अमूर्त होनेका कारण ही यह है कि तत्वदर्शनसे उसका अनन्य सम्बन्ध है। तात्त्विक आधारपर ही उसकी मान्यताओंका स्पष्टीकरण हो सकता है। यह भी सत्य है कि गूढ़ अध्ययनके पश्चात् उसका तात्कालिक मूल्य स्पष्ट हो जाता है। पाठकको उसे समझनेमें प्रारम्भमें कठिनाई होती है, न कि अन्त में।

अध्याय ६ (२)

नीतिशास्त्रका मनोवैज्ञानिक आधार तथा नैतिक निर्णयका विषय

मनोवैज्ञानिक मनुष्यको वास्तविक स्थिति तथा क्रियाकलापका ज्ञा
देता है। यह मानवका विज्ञान है। नीतिशास्त्र और मनोविज्ञानक
असम्बद्ध नहीं मानना चाहिये। नैतिक सिद्धान्तक
सार्थकता और पूर्णताको समझनेके लिए मनुष्य
मानसका ज्ञान अनिवार्य है। आदर्शविधायक विज्ञा
होनेके कारण नीतिशास्त्र मनुष्यके नैतिक जीवनक
तथ्यात्मक अध्ययन करता है। नीतिशास्त्रका सम्बन्ध मानव-चेतनासे है
मनुष्य आत्म-प्रबुद्ध चेतन प्राणी है। उसके जीवनमें कर्त्तव्य और अधिका
अपनी विशेष सार्थकता रखते हैं। उसके कर्मोंके सम्मुख औचित्य औ
अनौचित्यका प्रश्न उठता है। किन्तु इस प्रकारके विवेचन मनुष्यके मान
सिक विकासके सूचक हैं। अबोध बालक, पागल, अपसामान्य, निर्बुद्धि
मूढ़ और अल्पमति व्यक्तियों तथा जंगली मनुष्योंके आचरणपर नैति
निर्णय अर्थशून्य है। मनुष्यके लिए वांछनीय जीवन क्या है? उसक
स्वाभाविक प्रकृतिजन्य विशिष्टता क्या है? इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके पू
यह आवश्यक है कि मनुष्यके स्वभाव और उसके निर्माणात्मक तत्वोंक
भलीभाँति समझ लें।

मनोवैज्ञानिक ज्ञानकी आवश्यकता

मनोविज्ञान मनुष्यके मानस तथा उसके व्यक्तित्वका अध्ययन कर
है। वह बताता है कि ज्ञान, संकल्प और भावना कैसे कार्य करती हैं
मनुष्य स्वेच्छाकृत कर्मोंको कैसे निर्धारित करता है। मनके निर्माणात्म

तत्व क्या है। कर्मकी प्रेरणाशक्ति क्या है। मनुष्य अपने कर्मोंमें कहाँतक सचेत है। उसे उसके कर्मोंके लिए कहाँतक उत्तरदायी ठहरा सकते हैं। उसके कर्म भावना-प्रधान हैं या बुद्धि-प्रधान। मानव-चरित्रके विकासमें वंशानुगत गुणों, वातावरण, परिवेश आदिका कितना हाथ है। इस प्रकार मनो-विज्ञान मानसिक घटनाओंका अध्ययन करता है। नीतिशास्त्र मनुष्यके मानसिक जीवनका अध्ययन कर नैतिक निर्णय देता है। कर्मोंके बाह्य परिणामोंके आधारपर निर्णय देना अनुचित है। नैतिक दृष्टिसे ध्येय, प्रेरणा और मानसिक प्रवृत्तियोंको समझना आवश्यक है। बाह्य परिणाम कर्ताके सत्य स्वभाव एवं चरित्रको पूर्णरूपसे प्रकाशित नहीं करते। वह यह अवश्य बताते हैं कि उसके कर्मोंकी दूसरोंपर क्या प्रतिक्रिया हुई। अरस्तूने कहा है कि नीतिशास्त्र उस मानवीय शुभको निर्धारित करता है जिसका सम्बन्ध मानव-व्यक्तित्वसे है। इसी तथ्यको मानते हुए आधुनिक सभी नीतिज्ञ यह कहते हैं कि उनकी खोजका मुख्य लक्ष्य मानवका मान-सिक धरातल है। नैतिक जिज्ञासा मनश्चेतनाके ज्ञानके पश्चात् ही अपने मार्गमें अग्रसर हो सकती है। यही कारण है कि विभिन्न नीतिज्ञोंने अपने सिद्धान्तों की पुष्टि मनोविज्ञान द्वारा की है। सुखवादियोंने मनुष्यको ऐन्द्रियिक मानकर अपने सिद्धान्तको समझाया है और बुद्धिपरतावादियोंने मनुष्यको शुद्धबुद्धिमय समझा है। तीसरे प्रकारके वे विचारक हैं जो मनुष्यको बुद्धि और भावनाका योग मानते हैं। मनुष्यकी प्रकृतिके ज्ञानके अनुरूप ही इन विचारकोंने नैतिक आदर्शके स्वरूपको समझाया है। मनुष्यका परमवांछनीय शुभ उसकी स्वाभाविक प्रकृतिका प्रतिबिम्ब है, यह सभी जानते हैं। किन्तु अपनी-अपनी मनोवैज्ञानिक धारणाओंके आधारपर उनमें उसके स्वरूपके बारेमें मतभेद है। जैसा कि सिद्धान्तोंके अध्ययनसे स्पष्ट हो जायगा कि मनश्चेतनाका अपूर्ण ज्ञान ही एकांगी और अपूर्ण नैतिक सिद्धान्तोंका जनक है। जीवनके वांछनीय शुभको समझनेके लिए मनुष्यकी मनश्चेतना तथा उसके व्यक्तित्वका उचित ज्ञान अनिवार्य है। वास्तविक

मनोविज्ञानसे सम्बन्ध

तथ्योंके आधारपर ही परमसाध्य और उसको प्राप्त करनेके साधनोंपर प्रकाश डाला जा सकता है। बिना मनुष्यके व्यक्तित्वकी सम्भावनाओं और सीमाओंको समझे मानवीय शुभके स्वरूपको निर्धारित नहीं कर सकते। यही नहीं, विभिन्न नैतिक विवाद—आचरणका स्वरूप, निर्णीत कर्मके निर्माण करनेवाले अंग, उद्देश्य, प्रेरणा, संकल्प एवं मनःशक्तिकी स्वतन्त्रता आदि अपनी पुष्टि मनोविज्ञानके ही द्वारा करते हैं। नैतिक निर्णय मानव-स्वभावके पूर्ण अध्ययनके पश्चात् ही सम्भव है। नैतिक धारणाएँ अपने प्रामाण्यको मनश्चेतनापर आधारित करती हैं। नीतिशास्त्र और मनोविज्ञानके घनिष्ठ सम्बन्धको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। महत्वपूर्ण नैतिक धारणाएँ मनोवैज्ञानिक धारणाएँ भी हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। किन्तु यह अवश्य है कि शुभ और अशुभ, औचित्य और अनौचित्यके बारेमें उनमें मौलिक मतभेद है। इसका कारण यह है कि मनोविज्ञानका प्रत्यक्ष सम्बन्ध 'क्या है' से है न कि 'क्या होना चाहिये' से।

नीतिशास्त्र बौद्धिक प्राणियोंके कर्मोंके औचित्य और अनौचित्यको निर्धारित करता है और यह माना हुआ सत्य है कि बिना स्वेच्छाकृत कर्मके स्वरूपको समझे, बिना मनुष्यके मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व और वास्तविक स्वभावका पूर्ण ज्ञान प्राप्त किये इसके औचित्य-अनौचित्यका मापदण्ड अपंगु बन जाता है। नैतिक सिद्धान्तोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि नीतिज्ञोंने परमशुभके बारेमें विभिन्न मत दिये हैं। इसका क्या कारण है? यदि परमशुभ मनुष्यके सत्यस्वरूपके अनुरूप है तो वह अनेक कैसे हो सकता है? यदि मनुष्यका परमवांछनीय शुभ उसकी वास्तविक आत्माका प्रतिबिम्ब है तो वांछनीय शुभके बारेमें मतभेदका क्या कारण है? इस मतभेदके मूलमें अपूर्ण मनोवैज्ञानिक ज्ञान ही है। सैद्धान्तिकोंने मनुष्यके स्वभावको दो भागोंमें विभाजित कर दिया है; बौद्धिक और अबौद्धिक। वह यह भूल गये कि व्यक्ति बुद्धि और भावनाकी सामञ्जस्यपूर्ण ईकाई है। बुद्धि और भावना एक दूसरेके पूरक हैं। जीवनकी उन्नति और कल्याण इन दोनोंके समन्वयसे सम्भव है। किन्तु इस तथ्यको भूलते

हुए कुछ नीतिज्ञोंने बुद्धिको प्रधानता दी और कुछने भावनाको ; अथवा एक ओर बुद्धिपरतावाद मिलता है और दूसरी ओर इन्द्रियपरतावाद। मनुष्य न तो शुद्ध बुद्धि है और न केवल भावना है। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त अमनोवैज्ञानिक हो जानेके कारण अनैतिक हो गये हैं। मानव-स्वभावकी भ्रान्त धारणा इस एकांगी सिद्धान्तके लिए दोषी है। वह सिद्धान्त जैसा कि आगे अध्ययनसे ज्ञात होगा, अव्यावहारिक और असत्य है। अतः मानसविज्ञानसे अनभिज्ञ होना नीतिज्ञोंके लिए कुछ कम खतरेकी बात नहीं है। उनका व्यावहारिक दर्शन पंगु तथा अव्यावहारिक हो जाता है। मनोविज्ञानका अधूरा ज्ञान नीतिशास्त्रके उन दुर्बल और क्षीण सिद्धान्तोंको जन्म देता है जिनके कि आंशिक सत्यको मानते हुए भी मुँह मोड़ना पड़ता है। नीतिशास्त्रका सम्बन्ध सम्पूर्ण व्यक्तिसे है। नैतिक आचरण उसके चरित्रका सूचक है और चरित्र व्यक्तित्वका। व्यक्तित्वकी पूर्णता स्वभावके सन्तुलनपर निर्भर है। बुद्धि और भावना एक ही स्वभावके दो रूप हैं। नैतिक प्राणी कर्त्ता है। वह अपने इस रूपमें ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और रागात्मक प्रवृत्तियोंका संयोजित रूप है। उसकी संकल्पशक्ति उसके बौद्धिक, अबौद्धिक स्वभावका व्यक्त रूप है। संकल्पशक्तिमें दोनों ही निहित हैं। नैतिक व्यक्ति न तो मात्र बौद्धिक है और न मात्र अबौद्धिक। वह दोनोंका योग है। उसकी संकल्पशक्ति वह क्रिया है जिसकी बुद्धि और भावना अनिवार्य अंग हैं, जिसमें दोनों ही सम्मिलित हैं। नीतिशास्त्र विज्ञान होनेके नाते मनोविज्ञानके क्षेत्रका अतिक्रमण नहीं कर सकता है। इसीलिए सिजविकने कहा है कि मैं नीतिशास्त्रको एक अध्ययन अथवा विज्ञानके रूपमें देखना पसन्द करता हूँ जो हमें इसका ज्ञान देता है कि उचित क्या है और वास्तवमें क्या होना चाहिये—जहाँतक कि वह व्यक्तियोंके स्वेच्छाप्रेरित कर्मपर अवलम्बित है। इसी आधारपर नीतिशास्त्रकी एथौलौजी (Ethology) या चरित्र अथवा चित्तवृत्तियोंका विज्ञान भी कहा गया है।

नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी

अन्तर है । नीतिशास्त्रका क्षेत्र अधिक व्यापक है । वह वास्तविक मानसिक घटनाओंके आगे उस भविष्यको समझना चाहता है जो कि मानवीय गौरवका प्रतीक है । यह यथार्थ घटनाओंको समझकर तत्वदर्शनकी सहायतासे आदर्शका निर्माण करता है । मनोविज्ञान हमें केवल स्वच्छाकृत कर्मों और उनके स्रोतके बारेमें बताता है; नैतिक मान्यताओं और निर्णयोंका वास्तविक घटनाओंकी भाँति अध्ययन करता है । नीतिशास्त्र मनुष्यके आत्मिक सत्य और उसके तात्विक स्वरूपको भी समझनेका प्रयास करता है । वह मनश्चेतनाके वास्तविक और दृष्टिगोचर रूपतक ही अपनेको सीमित नहीं रखता । मानव-आत्माके पूर्णरूपको समझनेके लिए प्रयोगशाला पर्याप्त नहीं है । नीतिशास्त्र आदर्शविधायक विज्ञान है । वह व्यावहारिक और विधिनिषेधात्मक है । मनोविज्ञान यथार्थ-विज्ञान है । इसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष घटनाओंसे है । यह मानसिक घटनाओंका तथ्यात्मक अध्ययन तथा मानवचरित्रका विश्लेषण करता है और इस अर्थमें यह सैद्धान्तिक है । नीतिशास्त्र आचरणका अध्ययनमात्र नहीं करता है । वह उसके औचित्य और अनौचित्यके मापदण्डको निर्धारित करता है । मनोविज्ञानका सम्बन्ध 'क्या है' से है और नीतिशास्त्रका सम्बन्ध 'क्या होना चाहिये' से है । क्या होना चाहिये को निर्धारित करनेके लिए ही वह मनोविज्ञानके आगे दर्शनके क्षेत्रमें प्रवेश करता है । मानसिक तथ्योंके ज्ञानके आधारपर वह नैतिक आदर्शकी प्राप्तिके लिए साधन जुटाता है । नैतिक तथ्य मानसिक अवश्य है । किन्तु इसके अर्थ यह नहीं है कि नीतिशास्त्र मनोविज्ञानपर आधारित है । इसका मनोविज्ञानसे घनिष्ठ सम्बन्ध है । आचरणका तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् वह आचरणके आदर्शसे प्रतिपादन करता है । मनोविज्ञानका आचरणके आदर्शसे सम्बन्ध नहीं है । यह उसका मूल्यांकन नहीं करता है । नीतिशास्त्र और मनोविज्ञान दोनों ही मानवचेतनाको दो भिन्न दृष्टिकोणसे देखते हैं । मनोवैज्ञानिक वैज्ञानिककी भाँति मानवचेतनाकी विभिन्न स्थितियोंका विश्लेषण करता है और नीतिज्ञ कलाके आलोचककी भाँति उसका मूल्यांकन करता है ।

नैतिक-दृष्टि वैज्ञानिककी दृष्टिसे भिन्न है। यथार्थ विज्ञानकी भावनाको मानसिक घटनाओं तक ही अपनेको सीमित नहीं रखती है किन्तु दूसरी ओर औचित्य-अनौचित्यको भी निर्धारित करती है। भावना नीतिशास्त्रका सम्बन्ध आचरणके आदर्शसे है। नैतिक निर्णयका विषय मनुष्यका आचरण है। नैतिकताके लिए आत्म-चेतन प्राणीके स्वेच्छाकृत कर्मोंपर ही दिया जाता है। वह व्यवहारिक घटनाओं, अप्रबुद्ध लोगों, पागलों तथा बच्चोंके कर्मोंपर नहीं दिया के लिए है। दूसरे शब्दोंमें उन्हीं कर्मोंपर नैतिक निर्णय दिया जा सकता है अन्या- लिए कि कर्त्ता उत्तरदायी है, जिन्हें कि वह समझबूझकर स्वेच्छासे। दुर्बल है। स्वेच्छासे किये हुए कर्मोंका क्या रूप है, उनकी क्या पहिचाते हुए नैतिक निर्णय वस्तुतः किसपर देते हैं ? इन प्रश्नोंका उत्तर यह है नैतिक नैतिक निर्णय आचरणपर देते हैं; और आचरणको ही मनोवैज्ञानिक तत्वकी भाषामें स्वेच्छाकृत कर्म (Willed-action) कहते हैं। सच पूछा जावके तो आचरण अथवा आचरण सम्बधी समस्याएं मनोवैज्ञानिक हैं। आचरणको समझनेके लिए मनुष्यके स्वभावका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आवश्यक है।

नैतिक निर्णयका विषय—आचरण

इच्छित कर्मको मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे समझनेके पूर्व उसकी अन्य कर्मोंसे तुलना कर लेना उचित होगा। मनुष्यके कर्म दो प्रकारके होते हैं; इच्छित और अनिच्छित। अनिच्छित कर्म नैतिक गुणसे हीन हैं। उनके अन्तर्गत उत्क्षिप्त, सहजप्रेरित, आवेग-पूर्ण, अप्रबुद्ध आदि कर्म आते हैं। ये कर्म स्वतःजात होते हैं। आकस्मिक आवेगके कारण व्यक्ति उन्हें करता है। स्वतःजात और आकस्मिक होनेके कारण अनिच्छित कर्म अपने किसी भी रूपमें नैतिक निर्णयका विषय नहीं हो सकते। उनके लिए कर्त्ताको उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इच्छित कर्म वे हैं जिन्हें कि कर्त्ता स्वतन्त्रतापूर्वक अपने विवेकसे परिचालित करता है। उन कर्मोंको आत्म-निर्णीत (Self-determined) या बौद्धिक कर्म भी कहते हैं। कर्त्ता इन कर्मोंके लिए उत्तरदायी है। यह नैतिक निर्णयके क्षेत्रके अन्दर आते हैं।

दो प्रकारके कर्म-इच्छित और अनिच्छित

यह ध्यान देनेकी बात है कि अभ्यासगत कर्मोंपर भी नैतिक हैं। यह कहा जा सकता है कि अभ्यासगत कर्म अनिच्छाप्रेरित और दुर्निवार (Irresistible) होते हैं। किन्तु मनोविज्ञानका कहना है कि केवल स्थूल दृष्टिसे ही अभ्यासगत कर्मोंको अनिच्छाप्रेरित कह सकते हैं। मानसिक आन्तरिक अभ्यासोंका अनुशीलन करनेसे प्रतीत होगा कि प्रारम्भमें प्रेरित कर्म होते हैं और समयके साथ दुहराये जानेसे वे अभ्यास हैं। अतः बुरे अभ्यासोंवाला व्यक्ति अथवा दुःशील व्यक्ति अपने के लिए उत्तरदायी है। उसे प्रारम्भमें ही अपने अभ्यासोंमें सुधार परिवर्तन कर लेना चाहिये। यह सत्य है कि धीरे-धीरे अभ्यास स्वभावका अंग बन जाते हैं। किन्तु मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह दृढ़-और मनःशक्ति द्वारा बुरे अभ्यासोंको छोड़ दे या उनका उन्नयन । जीवनको सुखी और सफल बनानेके लिए शुभ अभ्यासोंको स्व-अंग बना लेना आवश्यक है। मनुष्यको अपने जीवनके हर क्षेत्रमें, प्रत्येक कर्ममें सुरुचि और सुथरेपनको अपनाना चाहिये। उसके जीवनमें छोटेसे छोटे कर्मका भी महत्व है, चाहे वह घास छीलना ही क्यों न हो। नैतिक ज्ञान बताता है कि निर्णीत कर्मका सम्बन्ध जीवनके किसी एक अंगसे नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जीवनसे है।

आचरणका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—पशु और मनुष्यके कर्मोंमें भेद

यदि पशुओंके जीवनकी ओर ध्यान दें तो हमें मालूम होगा कि वे अपने कर्मोंमें सहजप्रवृत्तियों और अन्धप्रवृत्तियोंसे प्रेरित हैं। उनके कर्म भावनासे संचालित होते हैं, किन्तु मनुष्यके कर्म उनसे भिन्न हैं। मनुष्यमें भी अनेक प्रवृत्तियाँ और आवेग होते हैं। उसके इच्छित कर्ममें स्रोतके रूपमें आवेग वर्तमान रहता है। किन्तु बौद्धिक होनेके कारण वह 'आगे-पीछे'की बात भी सोचता है। वह अपने आवेगों और प्रवृत्तियोंका स्वामी है। वह अपने संवेदनाओं और आवेगोंके जीवनमें ध्येयका निर्माण करता है। पशुओंके कर्म अन्ध-

आत्मीयोंको सुख-समृद्धि और उचित शिक्षामें सहायक होगा तो उसके सामने एक और अनेक तथा अपने और परायेका प्रश्न उठेगा। नैतिक आचरण औचित्य और न्यायका आचरण है, अतः भावना या दयासे संचालित नहीं होता। प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें ऐसे द्वन्द्वोंकी विभिन्न परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं। प्रश्न यह है कि सदाचारका इच्छुक व्यक्ति अपने मार्गको कैसे निर्धारित करे। क्या प्रत्येक द्वन्द्वकी स्थितिमें वह नैतिक नियमोंकी संहिता देखे? यदि हाँ, तो क्या ऐसी संहिता सम्भव एवं उपलब्ध है? नैतिक नियम निश्चित और अपरिवर्तन-शील नहीं हैं। वे देश काल और परिस्थितिसे विमुख नहीं हो सकते। नैतिक कर्म परमध्येयके लिए साधनमात्र हैं। अतः विवेकी व्यक्तिका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह नियमोंका अन्धानुकरण न करे बल्कि देशकाल और परिस्थितिको ध्यानमें रखते हुए ध्येयकी प्राप्तिके लिए प्रयास करे। नैतिक कर्म निम्न इच्छाओं और स्वार्थोंसे मुक्त, चतुराई और व्यवहारकुशलतासे दूर तथा पूर्वग्रहों और अन्धविश्वासोंसे स्वतन्त्र हैं। नैतिक एवं शुभ-कर्मोंको चुननेमें सत्-असत् इच्छाओंका चयन करना पड़ता है। परिस्थितिका व्यापक विश्लेषण और परीक्षण करना पड़ता है।

कर्मके औचित्यको निर्धारित करनेके लिए, मानसिक संघर्षकी स्थितिमें, व्यक्तिको पक्षान्तरों एवं विकल्पोंके पक्ष-विपक्षको समझनेका प्रयास करना पड़ता है। वह सब प्रकारके सम्भाव्य परिणामोंको अपने सम्मुख रखता है। उनका तुलनात्मक परीक्षण और युक्तिसंगत विवेचन करता है। उन परिस्थितियोंके साथ काल्पनिक तादात्म्य अनुभव करके उन्हें अपनी नैतिक अन्तर्दृष्टि द्वारा भलीभाँति समझ लेना चाहता है। यही नहीं, वह यह भी जानना चाहता है कि किसी विशिष्ट विकल्पको स्वीकार करके, उसके अनुरूप कर्म करनेसे वह दूसरोंकी स्थितिको कहाँतक प्रभावित करेगा। वह अपने आचरण द्वारा दूसरोंकी नैतिक हानि तो नहीं करेगा। अपने सम्मुख व्यापक दृष्टिकोण रखकर वह विकल्पोंमें निहित मान्यताओंका मूल्यांकन करेगा। वह साध्य और साधनको समझना चाहता है। उसके

लिए आवश्यक है कि उसका ध्येय और उसे प्राप्त करनेके उपाय दोनों ही शुभ हों। वह यदि किसी निर्धनको धन देना चाहता है तो इस धनको वह किसी अमीरका गला काटकर नहीं लायेगा। या तो स्वतः इस धनको अर्जित करेगा या अमीरकी नैतिक चेतनाको जागरित करेगा। नैतिक कर्म करनेके लिए सम्पूर्ण परिस्थितिको भलीभाँति समझना आवश्यक है। अपने वांछनीय ध्येयको सम्मुख रखकर विवेकशील व्यक्ति पूर्ण विवेचनाके पश्चात् एक विशिष्ट निर्णयपर पहुँचता है और उस निर्णयके अनुरूप कर्म करता है।

नैतिक निर्णयका विषय, जैसा कि कह चुके हैं, मनुष्यका आचरण है और मनोविज्ञान यह बताता है कि जब संकल्पशक्ति व्यक्तिके चरित्रके अनुरूप उसकी प्रबल इच्छासे समीकरण करके कार्य रूपमें परिणत हो जाती है तब उसे आचरण कहते हैं।

आचरणके दो रूप : बाह्य और आन्तरिक

इस प्रकार आचरणके दो रूप सम्मुख आते हैं; आन्तरिक रूपमें यह निर्णय करनेवाली संकल्पशक्ति है और बाह्य रूपमें कार्यरत आत्मा या संकल्पशक्ति। एक दृष्टिसे आचरण वह संकल्पशक्ति है जो चेतन कर्म द्वारा अपनेको व्यक्त करती है। संकल्पशक्तिके रूपमें यह भावना और इच्छा है, जिसके सम्मुख एक विशिष्ट ध्येय है और दूसरी दृष्टिसे यह कर्म है। कर्ममें परिणाम भी अन्तर्हित रहता है। एक ओर संकल्पशक्ति ध्येय और प्रयोजनकी सूचक है और दूसरी ओर आचरण और परिणामकी। अपने क्रियात्मक रूपमें यह परिणाम (कार्य) का कारण है। यहाँपर प्रश्न उठता है कि नैतिक निर्णय संकल्पशक्तिके किस रूपपर देते हैं? प्रयोजनपर या परिणामपर? कार्यपर या कारणपर? उस प्रबल इच्छापर देते हैं जिसके अनुसार संकल्पशक्ति कर्म करती है या उन घटनाओंपर जो कर्म करनेपर उत्पन्न होती हैं? अथवा आचरणका औचित्य-अनौचित्य भावना और इच्छाके स्वरूपपर निर्भर है या उन परिणामोंपर जो संकल्पशक्तिके कार्यरूपमें परिणत होनेपर उत्पन्न होते हैं? कुछ नीतिज्ञोंने आचरणके इन दो रूपोंके बीच परम भेद देखा और इस भ्रान्त धारणाके

आधारपर कुछने प्रेरणा (आन्तरिक रूप) को और कुछने परिणाम (बाह्य रूप) को नैतिक निर्णयका विषय कहा।

प्रेरणा (motive) और परिणाम (consequences) के बारेमें नीतिज्ञोंके विभिन्न मत हैं। पहले प्रेरणाको समझनेका प्रयास करेंगे।

प्रेरणा

प्रेरणाके स्वरूपके बारेमें एक ओर कांट, बटलर और सहजज्ञानवादियोंका मत मिलता है और दूसरी ओर बैंथम और मिलका। दोनों ही प्रकारके विचारकोंने प्रेरणाको भिन्न अर्थमें समझा है। प्रेरणा किसे कहते हैं? इससे क्या अभिप्राय है? सुखवादियों-(बैंथम, मिल) के अनुसार प्रेरणा वह है जो कर्म करनेके लिए प्रेरित करती है। सुख-दुःखकी भावना ही प्रेरणा है। प्रेरणा ही कर्मका स्रोत है। सब प्रेरणाओंका एक ही स्वरूप होता है :—सुखकी खोज और दुःखसे दुराव। प्रेरणा गुणहीन है। यह अपने-आपमें न तो अच्छी ही है और न बुरी ही। परिणामके सन्दर्भमें ही इसे अच्छा या बुरा कह सकते हैं। सुखवादियोंके अनुसार प्रेरणा भावनामात्र है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कई बार मनुष्य भावनावश कर्म करते हैं। किन्तु नैतिक निर्णय उस आचरणपर दिया जाता है जो कि साभिप्राय कर्म है। साभिप्राय कर्मका परमकारण भावना नहीं है। मनोविज्ञान बताता है कि भावना निर्णीत कर्मका अनिवार्य अंग है। इसे कर्मका निमित्त कारण कह सकते हैं किन्तु परमकारण नहीं। यह निर्णीत कर्मका अंग होते हुए भी व्यक्तिको पूर्णरूपसे कर्म करनेके लिए प्रेरित नहीं कर सकता। भावना और इच्छित ध्येयकी धारणा मिलकर ही व्यक्तिको कर्म करनेके लिए प्रेरित करती है। अतः भावनाको कार्यका प्रेरक नहीं कह सकते। यह कर्मका स्रोत नहीं है। अथवा प्रेरणा भावनामात्र नहीं है। यह वह प्रबल इच्छा है जो कि कर्मकी प्रवर्तक है, या जिसके लिए कर्म किया जाता है। माँ-बापके सम्मुख उनके बच्चेका हित है। बच्चेका हित वह प्रबल इच्छा या प्रेरणा है जो कि उन्हें प्रेरित करती है कि बच्चेकी बुरी आदतोंको छुड़ानेके लिए उसे दण्डित करें। यहाँपर प्रेरणा बच्चेका हित है। प्रेरणाका सम्बन्ध प्रत्यक्ष

ध्येयसे है। प्रेरणा वह है जिसके लिए कि व्यक्ति कर्म करता है, जिसे वह चुनता है। प्रेरणा इस अर्थमें कर्मका परमकारण है। कर्मका आन्तरिक स्रोत है। यहाँपर कांट और बटलरका कहना है कि कर्मका औचित्य-अनौचित्य प्रेरणापर निर्भर है। परिणामसे नैतिकताका कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि प्रेरणा पवित्र है तो कर्म पवित्र है। संक्षेपमें एक मतके अनुसार प्रेरणा द्वारा ही कर्मके औचित्यको निर्धारित कर सकते हैं और दूसरेके अनुसार परिणाम द्वारा।

परिणामको महत्व देते हुए बैंथमने कहा कि कर्मके औचित्यको समझनेके लिए उद्देश्य (intention) को समझना चाहिये। उद्देश्यका

उद्देश्य

क्षेत्र प्रेरणासे अधिक व्यापक है। प्रेरणा वह है जिसके लिए कर्म किया जाता है किन्तु उद्देश्य केवल वह नहीं है जिसके लिए कर्म किया जाता है किन्तु वह भी है जिसमें परिणामको समझ-बूझकर कर्म किया जाता है। इसमें सब प्रकारकी सम्भावनाएँ सोच ली जाती हैं। यदि बच्चे और माँ-बापवाला ही उदाहरण लें तो मालूम होगा कि माँ-बाप यह भलीभाँति जानते थे कि बच्चेको सुधारनेके लिए उसे दण्डित करना पड़ेगा, उसे कष्ट देना होगा। उद्देश्यके अन्तर्गत प्रेरणा और परिणाम दोनों ही आते हैं। किन्तु प्रेरणाके अन्तर्गत उद्देश्य नहीं आता है। प्रेरणाके सम्मुख बच्चोंकी भलाई है, न कि उसे दण्डित करना। उसका सम्बन्ध साध्यसे है। उद्देश्यका साध्य और साधन दोनोंसे है। किसी भी कर्मको सोद्देश्य कहनेका अर्थ यही होता है कि उस कर्मके बारेमें कर्त्ताको पूर्ण ज्ञान है। वह जानता है कि उसे किन साधनोंको अपनाना होगा और उस कर्मके सम्भाव्य परिणाम क्या होंगे। सम्पूर्ण परिस्थितिको समझकर और स्वीकार करके ही वह कर्म करता है। परिणामोंके बारेमें वह उत्तरदायी है। फिर भी यह सम्भव हो सकता है कि कभी अकस्मात् ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाय कि उसकी कल्पना उसने स्वप्नमें भी न की हो। ऐसी परिस्थितिके लिये कर्त्ताको प्रत्यक्ष रूपसे दोषी नहीं ठहरा सकते। इतना अवश्य कह सकते हैं कि उसने दूरदर्शितासे काम नहीं

लिया। अतः उद्देश्यके सम्मुख केवल ध्येय ही नहीं है किन्तु उस ध्येयकी प्राप्तिके लिए आवश्यक साधन भी है। यह प्रेरणासे इस अर्थमें व्यापक है कि इसमें प्रेरक और निवारक अथवा प्रवर्त्तक और निवर्तक दोनों ही सम्मिलित हैं।

प्रेरणा और परिणामके विवादका निष्कर्ष

सहज-ज्ञानवादियोंका यह कहना है कि कर्मका औचित्य-अनौचित्य प्रेरणापर निर्भर है। निर्णीत कर्ममें प्रेरणा अथवा कर्मके श्रोतकी पवित्रता अनिवार्य है। नैतिकताका परिणामसे कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु निर्णीत कर्ममें प्रेरणा और परिणाममें परम भेद नहीं कर सकते हैं। प्रेरणा वह अभीप्सित परिणाम है जिसके लिए कर्म किया जाता है। कर्त्ता ध्येयके साथ ही उसकी प्राप्तिके साधनोंके प्रति भी जागरूक है। आत्म-प्रबुद्ध प्राणी यह भलीभाँति जानता है कि इच्छित ध्येयकी प्राप्तिके लिए उसे किन उपायोंको अपनाना होगा और उनका क्या परिणाम होगा। उस तथ्यको सम्मुख रखते हुए गांधीजीने अहिंसाको साध्य और साधन दोनों माना है। साध्यकी पवित्रताके साथ ही साधनकी पवित्रताको भी आवश्यक बताया है। प्रेरणामें परिणाम पूर्वकल्पित होता है, इसमें सन्देह नहीं है। निर्णीत कर्ममें नैतिक निर्णय देते समय परिणामकी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। बुरे साधनोंका उपयोग करनेके लिए और पूर्वज्ञात बुरे परिणामोंके लिए कर्त्ता दोषी है। आत्म-प्रबुद्ध प्राणी अपनी प्रेरणाको वास्तविक रूप देते समय इनके बारेमें सचेत है। जब कोई व्यक्ति गरीबोंकी भलाईकी प्रेरणासे अमीरोंके घरमें डाका डालता है तो वह यह भलीभाँति जानता है कि अपनी प्रेरणाको वह मूर्त रूप अमीरोंके रक्त द्वारा दे रहा है। नैतिक दृष्टिसे केवल प्रेरणाकी (ऊपरके उदाहरणमें परोपकारको) सम्मुख रखकर कर्मकी पवित्रता सिद्ध नहीं की जा सकती। नैतिक कर्म वह कर्म है जिसके साध्य और साधन दोनों पवित्र हैं। शुभ साध्यकी दुहाई देकर अशुभ साधनको न्यायोचित नहीं कह सकते। अशुभ साधनका प्रयोग करनेवाला निर्दोष

नहीं है। प्रेरणा निर्णीत कर्मका स्रोत है। इसका स्वरूप व्यक्तिके चरित्रके अनुरूप होता है। किन्तु इसका मूल्य तभी आँक सकते हैं जब यह वास्तविक मूर्त आदर्शके साथ एकाकार हो जाती है और वास्तविक रूप प्राप्त करनेके लिए साधन और परिणामोंका आलिंगन कर आचरणमें परिणत हो जाती है। अतः नैतिक निर्णयका विषय वह प्रेरणा है जो परिणाम और साधनसे सर्वथा मुक्त नहीं है।

इसी प्रकार सुखवादियोंका यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि नैतिकताका प्रेरणासे कोई सम्बन्ध नहीं है। वे इस तथ्यको तो स्वीकार करते हैं कि उद्देश्यके अन्तर्गत प्रेरणा और परिणाम दोनों आते हैं; किन्तु जहाँतक प्रेरणाके स्वरूपका प्रश्न है वे उसे भावनामात्र मानते हैं और इसी अर्थमें इसे नैतिक गुणहीन कहते हैं। परिणामको महत्व देते हैं। महत्वपूर्ण परिणाम अथवा अधिक परिमाणवाला परिणाम ही कर्मके औचित्यको निर्धारित करता है। निर्णीत कर्मका विश्लेषण यह सिद्ध करता है कि निर्णीत कर्मकी प्रेरक भावना नहीं हो सकती। इसका स्रोत वह प्रेरणा है जिसकी प्राप्तिके लिए आत्मा प्रयास करती है अथवा संकल्पशक्ति बाह्य रूप धारण करती है। नैतिक निर्णय कर्मपर नहीं दिया जाता, कर्त्तापर दिया जाता है। कर्मका औचित्य-अनौचित्य कर्त्ताके चरित्रको प्रतिबिम्बित करता है। बिना कर्त्ताके कर्मपर नैतिक निर्णय देना उतना ही अर्थशून्य है जितना कि प्राकृतिक घटनापर। कर्त्ताके चरित्रकी सूचक प्रेरणा है। प्रेरणाके द्वारा ही व्यक्तिके चरित्रको समझ सकते हैं। इस अर्थमें प्रेरणा भावनामात्र नहीं है। वह आत्म-चेतन-व्यक्तिको कर्म करनेके लिए बाधित करनेवाली शक्ति है। कर्त्ताके चरित्रके अनुरूप प्रेरणा उसे किसी विशिष्ट परिस्थिति, समय और कालमें एक विशिष्ट रूपसे प्रेरित करती है। अतः प्रेरणा कर्त्ताके कर्म करते समय उसके मानसिक स्तर एवं चरित्रकी सूचक है। यह आन्तरिक है। बाह्य परिस्थितियाँ व्यक्तिको प्रेरित नहीं करतीं। वे उद्दीपकमात्र होती हैं। यही कारण है कि दो भिन्न लोगोंको एक विशिष्ट परिस्थिति दो भिन्न प्रकारसे प्रभावित करती है। अपने आन्तरिक चरित्रके अनुरूप ही

समान परिस्थितिमें रहते हुए भी एक साधु हो जाता है और दूसरा चोर। अतः नैतिक निर्णय देते समय प्रेरणाको समझना अनिवार्य है, क्योंकि यह व्यक्तिके चरित्रपक्षको व्यक्त करती है। साथ ही, यह भी सत्य है कि जब व्यक्ति प्रेरणाके अनुसार कर्म करता है तो उसे परिणामका पूर्व-बोध होता है। प्रेरणा अपने व्यापक अर्थमें अनुमानित और इच्छित परम-परिणाम है। कर्मके उचित मूल्यको आँकनेके लिए परमपरिणाम या प्रेरणाको समझना अनिवार्य है। कोई कृपण, भिखारीके बार-बार माँगनेसे, झुँझलाकर उसकी ओर एक पैसा इस अभिप्रायसे फेंकता है कि भिखारीकी आँख फूट जाय और वह भविष्यमें आकर उसे दिक न करे। किन्तु दुर्भाग्य-वश कृपणका निशाना चूक जाता है और भिखारी बिना कष्टके पैसा प्राप्त कर लेता है। यदि कृपणके कर्मके परिणामको ही केवल देखें तो नैतिक दृष्टिसे यह उचित नहीं होगा। कर्मका नीतिसम्मत मूल्यांकन करनेके लिए उस प्रेरणाको भी समझना आवश्यक है जिसके लिए कर्म किया जाता है। इस तथ्यको सम्मुख रखते हुए ग्रीनका कहना है कि प्रेरणा ध्येयके बारेमें वह विचार है जिसे आत्म-चेतन व्यक्ति अपने सम्मुख रखकर उसे प्राप्त करनेका प्रयास करता है। प्रेरणा वह पर्याय है जो परिणाम अथवा उद्देश्यके लिए प्रयोगमें लाया जाता है। इस अर्थमें प्रेरणा नैतिक निर्णयका विषय है।

प्रेरणा और परिणाममें परम अभिन्नता देखना भूल है। उद्देश्य अपने सीमित अर्थमें प्रेरणा है और प्रेरणा अपने व्यापक अर्थमें उद्देश्य है। प्रेरणा और उद्देश्य अपृथक् हैं किन्तु साथ ही अपनी विशिष्टता रखते हैं। प्रेरणा और परिणाम एवं कर्म एक ही क्रियाके आन्तरिक और बाह्य पक्ष हैं, क्योंकि किसी विचारका मानसमें प्रकट होना, उसका संकलन करना और उसे निर्धारित करना एक ही क्रियाका आदि और अन्त है। यदि पुनः यह प्रश्न किया जाय कि नैतिक निर्णयका विषय क्या है तो कहा जा सकता है कि वह आचरण है और आचरणसे अभिप्राय उसके दोनों पक्षोंसे—आन्तरिक और बाह्य पक्षोंसे है। नैतिक निर्णय विवेकसम्मत है। यह सम्पूर्ण परिस्थितिके

अध्ययनके पश्चात् ही कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित करता है। जहाँतक व्यक्तिके आचरणका प्रश्न है यह उसके चरित्रका ही व्यक्त रूप है। अथवा आचरणपर निर्णय देना या चरित्रपर निर्णय देना एक ही बात है। व्यक्तिकी संकल्पशक्ति, आत्मा और प्रेरणा भी उसके चरित्रके ही सूचक हैं। अतः नैतिक निर्णयका विषय व्यक्तिका आचरण, चरित्र, संकल्प-शक्ति, आत्मा और प्रेरणा—सभी समान रूपसे हो सकते हैं। निर्णीत कर्मका विश्लेषण यह बताता है कि वे सब एक ही सत्यके रूप हैं। उनको विवाद-ग्रस्त परिभाषाओंसे मुक्त करके नैतिक निर्णयका विषय बनाया जा सकता है।

अध्याय ६

नैतिक प्रत्यय

कर्त्ता, कर्म और ध्येयके नैतिक स्वरूपको समझानेके लिए विभिन्न शब्दोंका प्रयोग करते हैं अर्थात् उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, कर्त्तव्य-अधिकार, सद्गुण-दुर्गुण, पाप-पुण्य, स्वतन्त्रता-उत्तरदायित्व[1] आदि जिन्हें नैतिक प्रत्यय कहते हैं; नीतिशास्त्रमें वे विशिष्ट अर्थोंसे युक्त हैं, और नैतिक निर्णयमें सहायक होते हैं। नैतिक निर्णय वे निर्णय हैं जो कि स्वेच्छित कर्मों तथा उन कर्मोंको करनेवाले व्यक्तियों तथा उन ध्येयोंपर जिनकी प्राप्तिके लिए व्यक्ति प्रयास करते हैं, उनके स्वरूपका मूल्यांकन करनेके लिए, दिये जाते हैं।

शुभ और उचितके प्रत्यय नैतिकताके मूलगत प्रत्यय[2] हैं और अन्य प्रत्यय इन्हींके समानार्थी हैं। फिर भी यह उचित है कि हम प्रत्येक प्रत्यय-के विशिष्ट अर्थका ज्ञान प्राप्त कर लें। दैनन्दिन जीवनमें इन प्रत्ययोंका प्रयोग सामान्य रूपमें किया जाता है क्योंकि सामान्यबोध इनमें कोई स्पष्ट भेद नहीं करता है। नीतिशास्त्रके अनुसार ध्येयके स्वरूपको समझानेके लिए शुभ और अशुभका, व्यक्ति या वैयक्तिक चरित्रोंके लिए सद्गुण और दुर्गुणका और स्वेच्छाकृत कर्मके रूपको समझानेके लिए उचित और अनुचितका प्रयोग करना अधिक मान्य है। इन भिन्न विशेषणोंके यह अर्थ कदापि नहीं हैं कि कर्त्ता, कर्म और ध्येयका मूल्यांकन करनेके लिए

---

१. Duty—Obligation, Virtue-Vice, Merit-Demerit, Freedom-Responsibility.

२. देखिये—भाग १, अध्याय १.

हम भिन्न मानदण्डोंका प्रयोग करते हैं। जिस मानदण्डसे हम ध्येयको शुभ कहते हैं उसी मानदण्डसे हम कर्ताको सद्‌गुणी और कर्मको उचित कहते हैं। उदाहरणार्थ, उपयोगितावादके अनुसार अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख ही परमध्येय है। यही नैतिक निर्णयका मानदण्ड है। इसके अनुरूप कर्म, चरित्र और ध्येयको ही नैतिक अनुमोदनके योग्य मानना चाहिये।

कर्त्तव्य, अधिकार : सामान्य अर्थ

मनुष्यका सामान्य जीवन कर्त्तव्य और अधिकार[1] के बीच व्यतीत होता है। वह समाजका अनिवार्य अंग और देशका नागरिक है। समाज अपने सदस्योंको मौलिक अधिकार प्रदान करता है ताकि वह भलीभाँति अपने जीवनकी विविधांगी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति कर सके। किन्तु अधिकार बिना कर्त्तव्यके अधूरा और अर्थशून्य है। यदि किसी व्यक्तिको अपनी सम्पत्ति रखनेका अधिकार है तो उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह दूसरेकी सम्पत्तिका अपहरण न करे। प्रत्येक नागरिकके सुव्यवस्थित जीवनकी रक्षा करनेके लिए ही समाज और राजसत्ता कर्त्तव्य और अधिकारकी रूपरेखा बनाती है और उसे लोगोंपर अरोपित करती है।

नैतिक अर्थ

नैतिकता, कर्त्तव्य और अधिकारको मानते हुए, उन्हें एक उच्च मान्यता प्रदान करती है। वह कर्त्तव्यको महत्व देते हुए कहती है कि बौद्धिक प्राणीका यह जन्मजात अधिकार है कि वह अपने नैतिक और आध्यात्मिक अधिकारोंकी माँग कर सकता है। वह अधिकार शक्ति-प्रदर्शन, भोग-विलास, यश-लालसा तथा धनकी तृष्णाका नहीं है किन्तु आत्मिक उन्नतिका है। आत्मिक उन्नति मानव-जातिकी उन्नतिकी अपेक्षा रखती है। अतः व्यक्तिको अपने अधिकारके साथ ही दूसरोंके अधिकारोंके प्रति जागरूक रहना चाहिये।

अंग्रेजीका 'राइट' शब्द द्वयर्थक है। वह भिन्न सन्दर्भोंके अनुरूप औचित्य और अधिकारका सूचक है। समाजमें संस्कृत और सभ्य कहलानेके

1. Right.

लिए शिष्टाचारके नियमोंका पालन करना नैतिकता नहीं है और न दण्ड-से बचनेके लिए राज्यके नियमोंके अनुरूप कर्म करना नैतिक कर्म करना है। मनुष्य नैतिक प्राणी है और नैतिक नियम आन्तरिक नियम है। जब किसी कर्मको लोक-व्यवहारके कारण नहीं बल्कि उसकी आन्तरिक श्रेष्ठताके कारण अपनाते हैं तो वह उचित कर्म कहलाता है। समझ-बूझकर सदाचारको अपनाना ही उचित (राइट) है। वही कर्म नैतिक है जो उचितके बोधसे किया गया हो अथवा नैतिक बाध्यतावश या कर्त्तव्यकी चेतनासे प्रेरित होकर किया गया हो। कर्त्तव्य और औचित्य समानार्थी हैं। कर्त्तव्य करना ही उचित है और उचित करना ही कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्य और उचितको महत्व देकर नीतिशास्त्र यह संकेत करता है कि मानवीय दुर्बलताएँ मनुष्यको अनैतिक मार्गकी ओर खींचती हैं। किन्तु उसे नैतिक ज्ञान और दृढ़ संकल्पकी सहायतासे उस मार्गको अपना लेना चाहिये जो नैतिक और शुभ है। स्वेच्छित कर्म करनेवाले बौद्धिक व्यक्तिका यह कर्त्तव्य है कि वह सदैव उचितको अपनाये।

कुछ लोग कर्त्तव्य और बाध्यतामें भेद देखते हैं और कहते हैं कि बाध्यता कानून अथवा समझौतेकी उपज है। वे बाध्यता और कर्त्तव्यमें भेद देखते हैं।

कर्त्तव्य और नैतिक बाध्यता

बाध्यता वह है जिससे कि व्यक्ति निश्चित बोध और समझौते द्वारा कर्म करनेके लिए बद्ध हो जाता है। कर्त्तव्य वह है जो कि एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके प्रति देय है, क्योंकि मनुष्य मूलतः एक नैतिक और सामाजिक प्राणी है। कर्त्तव्य और बाध्यताका वर्णित भेद नैतिक दृष्टिसे व्यर्थ है। नीतिशास्त्रमें कर्त्तव्य और बाध्यता पर्यायवाची हैं। दोनोंसे ही अभिप्राय उससे है जिसे मनुष्यकी बुद्धि उसके लिए अनिवार्य मानती है। उसकी वास्तविक आत्मा उसे विशिष्ट प्रकारसे कर्म करनेके लिए बाध्य करती है। सब कर्त्तव्य अनिवार्य हैं एवं नैतिक मनुष्य उन्हें करनेके लिए बाध्य है। नैतिक जीवनमें कर्त्तव्यके बोध एवं नैतिक बाध्यताके बोधका प्रमुख स्थान है। नैतिक बाध्यता

मनुष्यके उस नियमके प्रति सचेत सम्बन्धको प्रकट करती है जिसे कि वह विशिष्ट परिस्थितियोंमें पालन करनेके लिए सर्वश्रेष्ठ समझता है और जिसका पालन करना उसके लिए सम्भव है। ऐसे नियमका पालन करना व्यक्तिका कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्य और नैतिक बाध्यता व्यक्तिके चञ्चल और दोलायमान तथा आवेगपूर्ण स्वभावके सूचक हैं। मनुष्य सहज ही निम्न प्रवृत्तियोंके प्रवाहमें बह जाता है। उनसे ऊपर उठना एवं शुभके मार्गको ग्रहण करना उसका कर्त्तव्य है। यही नैतिक बाध्यता है। नीतिशास्त्र वह विज्ञान है जो कि नैतिक ध्येयके प्रति व्यक्तिको सचेत और जागरूक रखता है ताकि वह समझ-बूझकर ध्येयके मार्गपर चल सके। इस अर्थमें कर्त्तव्यके नियम बाह्य सत्ता द्वारा निर्धारित किये हुए नहीं हैं। वे आत्म-आरोपित हैं। कर्त्तव्यके निरपेक्ष आदेश एवं आत्म-आरोपित नियमकी श्रेष्ठताको कांटने भलीभाँति समझाया है।

कुछ विचारकोंने कर्त्तव्योंको दो वर्गोंमें विभाजित किया है। वे यह मानते हैं कि आचरणके नियमों अथवा सब कर्त्तव्योंको पूर्ण रूपसे निर्धारित नहीं किया जा सकता। कर्तव्यकी निश्चित संहिता बनाना सम्भव नहीं है फिर भी वे यह मानते हैं कि सहायताके इच्छुक जनसामान्यका नीतिशास्त्र कुछ हदतक पथ-निर्देशन कर सकता है। इस अभिप्रायसे नीतिज्ञोंने कहा कि दो प्रकारकी बाध्यताएँ हैं : (१) जिनको निर्धारित किया जा सकता है और (२) जिनको निर्धारित नहीं किया जा सकता है। इसी आधारपर कुछ विचारकोंने निश्चित बाध्यताओंको कर्त्तव्य और अनिश्चितको सद्गुण कहा है। कुछ निश्चित कर्त्तव्योंको न्यायके अन्तर्गत समझाते हैं और उनका पालन करना नैतिक बाध्यता मानते हैं।

कर्त्तव्यकी पूर्ण और अपूर्ण बाध्यता

कांटने उपर्युक्त भेदको महत्व देकर पूर्ण बाध्यताके कर्त्तव्य और अपूर्ण बाध्यताके कर्त्तव्यकी भिन्नताको समझाया। पूर्ण बाध्यताके कर्त्तव्य बतलाते हैं कि कुछ आचरण अनुचित हैं, और ऐसे अनुचित आचरणको न

करनेका आदेश हमें मिलता है। अतः पूर्ण बाध्यताके कर्त्तव्य निषेधात्मक हैं। बिना किसी शर्तके एक निश्चित प्रकारके आचरणकी आशा की जाती है— 'चोरी नहीं करोगे,' 'झूठ नहीं बोलोगे' आदि। ये नीतिवाक्य सर्वदेशीय और सर्वकालीन हैं; अनिवार्य आदेशके रूपमें ये हमें मिलते हैं। ये निश्चित कर्त्तव्य हैं। अपूर्ण बाध्यताके कर्त्तव्य विधेयात्मक हैं। इन्हें निषेधात्मक आदेशोंकी भाँति परमरूपसे व्यक्त नहीं कर सकते। ये सर्वदेशीय और सर्वकालीन नहीं हैं। देश, काल और परिस्थितिके वृत्तमें ही इन्हें समझ सकते हैं। परोपकार, दान, दया आदिके कर्त्तव्य विशिष्ट अवसर एवं देश, काल और परिस्थितिसे सम्बन्धित हैं। निश्चित कर्त्तव्योंका बाह्य आदेश प्राप्त होता है। उनका उल्लंघन दण्डसे युक्त है। किन्तु अनिश्चित एवं अपूर्ण बाध्यताके कर्त्तव्य आत्म-आरोपित हैं। कर्त्ता स्वयं ही सत् आचरणको अपनाता है। जब देशकी भलाईके लिए स्वेच्छासे प्रसन्नवदन होकर व्यक्ति जीवनोत्सर्ग कर देता है तो वह अपूर्ण बाध्यताके कर्त्तव्यको अपनाता है। ऐसे कर्त्तव्य उन्नत चरित्र एवं नैतिक श्रेष्ठताके सूचक हैं। श्रेष्ठ चरित्र किसी भी विशिष्ट परिस्थितिमें शुभके अनुरूप कर्मको अपनावेगा। उसका आचरण सदैव ही शुभकी प्राप्तिके लिए साधन-मात्र रहेगा।

मेकैंजीने[१] मनुष्यके कर्त्तव्योंको तीन वर्गोंमें बाँटा है। (१) वे निश्चित कर्त्तव्य जिन्हें कि राज्यसत्ता निर्धारित करती है और जिनका उल्लंघन दण्डसे युक्त है। (२) वे कर्त्तव्य जिन्हें कि राजकीय या राष्ट्रीय नियमका रूप नहीं दे सकते हैं किन्तु फिर भी प्रत्येक सम्माननीय नागरिकके लिए वे आवश्यक हैं। (३) वे कर्त्तव्य जो कि प्रत्येक व्यक्तिके व्यक्तित्वको अभि-व्यक्त करते हैं। प्रत्येकसे भिन्न प्रकारके नैतिक आचरणकी आशा करते हैं।

कर्त्तव्योंमें निश्चित भेद देखना, जैसा कि स्वयं मेकैंजीने स्वीकार किया है, अनुचित है। इस भाँतिका भेद विवेकसम्मत नहीं है। यह भेद कानूनी है, न कि नैतिक। नैतिक क्षेत्रमें सद्गुण, नैतिक बाध्यता, कर्त्तव्य

१. Mackenzie.

आदि समानार्थी हैं और इन सबका सम्बन्ध ध्येयसे है। शुभ एवं ध्येयके अनुरूप कर्म करना सद्गुण, नैतिक बाध्यता एवं कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य सदैव विशिष्ट परिस्थियोंमें निश्चित तथा निर्धारित होता है। नीतिज्ञोंने कर्त्तव्योंके बीच जो भेद माना है वह सामयिक है, परम और स्थायी नहीं है। तीनों प्रकारके नियमोंमें जो भेद दीखता है वह परम नहीं है बल्कि देश, काल और परिस्थितिपर निर्भर है। नियमोंका ऐतिहासिक अध्ययन बतलाता है कि आवश्यकताएँ, विकास और परिवर्तन किसी वर्गके नियमको स्थायी नहीं रहने देता; कर्त्तव्योंके वर्गोंको बदलता जाता है। प्रथम वर्गका कोई कर्त्तव्य द्वितीयमें आ सकता है और द्वितीयका तृतीयमें। राज्य-विधान तथा नागरिकोंके शिष्टाचारके नियम कठोर और अपरिवर्तनशील नहीं रह सकते। आवश्यकता और समयानुसार कुछ कर्त्तव्य अधिक महत्वपूर्ण हो जाते हैं और कुछ कम। अतः कर्त्तव्योंकी सामयिक संहिता बनायी जा सकती है, स्थायी नहीं। तो क्या हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि निश्चित कर्त्तव्योंकी रूपरेखा बनाना भूल है? क्या मनुने अपनी मनुस्मृति तथा बाइबिलने अपने दस आदेश देकर अव्यावहारिक काम किया? समय और कालकी सीमाओंके अन्दर सापेक्ष कर्त्तव्योंको निर्धारित करके जनसामान्यके मार्गको निर्देशित करना उचित और आवश्यक है किन्तु इसके अर्थ यह कदापि नहीं हैं कि हम विकास, परिवर्तन और नवीन आवश्यकताओंको भूल जायँ।

नीतिशास्त्र ध्येयकी चेतनाको जाग्रत करके आचरणके नियमोंका आभासमात्र देता है। वह कर्म करनेके लिए विस्तृत उपदेश नहीं देता। नैतिक अन्तर्ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति अपने कर्त्तव्यको स्वयं निर्धारित कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति विशिष्ट परिवार, समाज, देश, जाति और राष्ट्रका अंग है। उसके स्वरूपकी अपनी विशेषताएँ हैं। अपने परिवार और परिवेशको, प्रवृत्तियोंको वह दायरूपमें प्राप्त किये रहता है। वह एक विशिष्ट परि-स्थितिमें अपनेको निर्धारित पाता है और उसी स्थितिके जीवनके सामान्य विधानमें वह सहयोग देता है। इस विधानके लिए सक्रिय कर्म करना ही

उसका प्रमुख कर्त्तव्य हो जाता है। अतः प्रत्येक व्यक्तिके लिए यह आवश्यक है कि वह अपने स्वधर्मको समझकर कर्म करे। जो व्यक्ति जिस कर्मके योग्य हो उसे ही श्रेष्ठ समझकर भलीभाँति करे। अपने क्षेत्रके अन्दर आचरणके नियमोंका पालन करना प्रत्येकका धर्म है।

वास्तवमें कर्त्तव्यकी समस्या चरित्र और ध्येयकी समस्या है। बौद्धिक प्राणीके लिए यह जानना अनिवार्य नहीं है कि नियम क्या हैं क्योंकि नियमका अनुवर्तनमात्र करना यन्त्रवत् रहना है। मनुष्यके लिए चरित्रके उस आदर्शको समझना आवश्यक है जिसका कि वह अपने अन्दर विकास करना चाहता है। एक सुविकसित चरित्रको चाहे किसी भी विशिष्ट परिस्थितिमें रख दें उसे अपने आचरणके मार्गको खोजनेमें देर नहीं लगेगी। ऐसे व्यक्तिको नियमोंके अध्ययनकी आवश्यकता नहीं। उसका ध्येय निर्दिष्ट है। वह स्वयं मार्ग खोज सकता है। यदि व्यक्तिमें शुभकी प्राप्तिके लिए आन्तरिक प्रेरणा और तीव्र जिज्ञासा हो तो उसका कर्म अपने आप ही सुनिर्देशित हो जाता है किन्तु यदि वह ध्येयके प्रति उदासीन हो अथवा उसका नैतिक ज्ञान कुण्ठित हो तो प्राथमिक स्थितिमें नियम सहायक सिद्ध होंगे। यहाँपर नीतिज्ञका कर्त्तव्य हो जाता है कि मानव-जीवनके सामान्य स्वभावके आधारपर आचरणके कुछ नियमोंका प्रतिपादन करे और उन स्थितियोंको समझाये जिनके लिए वे उपयोगी सिद्ध होंगे। यहाँपर यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि नियमको पूर्ण महत्व देनेवाले लोग भूल करते हैं। पहिले तो जीवनकी अनन्त आवश्यकताओंको लिपिबद्ध नहीं किया जा सकता और दूसरा जीवन नियममात्र नहीं है। अतः नीतिज्ञ केवल ध्येयके स्वरूपको हमारे सम्मुख रख सकता है। प्रत्येक व्यक्तिका काम है कि मूर्त स्थितिको समझकर अपना मार्ग निर्धारित करे। यही कर्त्तव्यका मार्ग है।

स्वतन्त्र संकल्पवाले आत्म-प्रबुद्ध प्राणीका कर्त्तव्य है कि वह उस कर्मको करे जो शुभ है। अर्थात् शुभ-कर्म करना कर्त्तव्य है और अशुभ-कर्म करना अकर्त्तव्य है। जब व्यक्तिको कर्त्तव्य करनेका अभ्यास हो

कर्त्तव्य और सद्-गुण-दुर्गुण. जाता है और कर्त्तव्य उसका अभ्यास बन जाता है तब वह श्रेष्ठ चरित्र (सदाचार या सद्गुण)को प्राप्त कर लेता है। सद्गुण चरित्रकी श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टताका सूचक है और दुर्गुण दुर्बलता तथा दोषका। सद्गुण चरित्रके आन्तरिकसे आन्तरिक स्वरूपको अभिव्यक्ति देता है। अनेक शुभ-कर्मोंकी पुनरावृत्तिसे व्यक्ति इसे अर्जित कर लेता है। यह चरित्रका वह स्वभाव, गुण या अर्जित प्रवृत्ति है जो स्थायी है। चरित्रका गुण होनेपर भी कर्मों और प्रेरणाओंके लिए इसका प्रयोग किया जाता है। यह शुभ-कर्मका सूचक है। श्रेष्ठ चरित्र कर्म द्वारा अपनेको व्यक्त करता है। कर्त्तव्यका सम्बन्ध भी कर्म-विशेषसे है। कर्त्तव्यबोधकी चेतनासे युक्त व्यक्ति सच्चरित्र होते हैं। कर्त्तव्यका अभ्यास शुभ चरित्रका निर्माण करता है और शुभ चरित्र ही कर्त्तव्य है। यदि व्यक्ति अपने चरित्रका उत्थान चाहता है तो उसे चाहिये कि वह बारम्बार कर्त्तव्यके मार्गको पकड़े क्योंकि कर्त्तव्य करनेकी अन-वरत चेष्टा एवं अभ्यास सच्चरित्रका जनक है। कर्त्तव्यको अपनानेके लिए आलस्य और असावधानीका त्याग आवश्यक है अन्यथा अनायास ही व्यक्ति दुर्गुणको अपना लेगा। सच्चरित्रकी स्थापनाके लिए कर्मसे युक्त होना पड़ता है। दृढ़ संकल्प, सतर्क चिन्तन, शुभ मार्गको अपनानेकी उत्कट प्रेरणा, कठिनाइयोंसे न डरना आदि सच्चरित्रकी ओर ले जाते हैं। जब धीरे-धीरे कर्त्तव्य करना मनुष्यका स्वभाव हो जाता है तो कर्त्तव्य सहज और आनन्दप्रद हो जाते हैं। अतः कर्त्तव्य ज्ञान और संकल्प-स्वातन्त्र्यकी अपेक्षा रखता है। कर्त्तव्य न करनेवाला व्यक्ति दोषी है। नैतिक दुर्गुण मानवीय संकल्पपर निर्भर है। व्यक्ति अकर्त्तव्यके लिए उत्तरदायी है। पापी एवं दुर्गुणी जान-बूझकर कर्त्तव्य नहीं करता है। किन्तु कई बार ऐसा भी हो जाता है कि कर्त्तव्यका इच्छुक व्यक्ति अनुचित मार्गको अपने भ्रमपूर्ण चिन्तनके कारण अपना लेता है। ऐसी स्थितिमें चिन्तनको भ्रान्तिपूर्ण कहने-पर भी व्यक्तिको दोष नहीं देते। व्यक्ति हृदयसे सद्गुणेच्छु है। उसके स्वभाव और संकल्पका झुकाव सद्गुणकी ओर है यद्यपि चिन्तन भ्रमपूर्ण है।

नैतिक दृष्टिसे सद्गुणको विशिष्ट गुणके रूपमें नहीं समझ सकते क्योंकि वह चरित्रका स्वभाव या गुण है। ऐसा कथन बतलाता है कि सद्गुणका प्रयोग दो अर्थोंमें होता है। नैतिक सद्गुण और विशिष्ट सद्गुण। विशिष्ट सद्गुणको हम उस अभिरुचिके रूपमें समझ सकते हैं जो स्वेच्छित कर्म द्वारा किसी विशेष शुभ ध्येयकी प्राप्तिके लिए प्रयास करती है। इसे हम अच्छे विद्वानों और कलाकारोंमें देखते हैं। वह व्यक्ति जो अपने क्षेत्रमें योग्यता प्राप्त कर लेता है अथवा वह व्यक्ति जो किसी अच्छे कामको अच्छी तरह कर लेता है विशिष्ट गुणसम्पन्न व्यक्ति है। विशिष्ट गुण अपने आपमें अच्छे हैं। वे समृद्ध समाजके लिए आवश्यक हैं। विशिष्ट गुणोंमें पारस्परिक भेद सम्भव हो सकता है। यह आवश्यक नहीं कि एक अच्छा गायक एक अच्छा चित्रकार अथवा एक अच्छा चित्रकार एक अच्छा लेखक भी हो। विशिष्ट गुण प्रतिभाका परिणाम है और सामान्यबोध यह मानता है कि वह भगवान्-प्रदत्त है। यह अवश्य है कि प्रयास द्वारा इस प्रतिभाको अधिक विकसित कर सकते हैं। यही नहीं, यदि विशिष्ट गुण-सम्पन्न व्यक्ति अथवा लेखक कुछ कालके लिए अनिवार्य कारणोंवश (शारीरिक रोग, मानसिक आघात, प्रेरणा प्राप्त न कर सकनेके कारण, आदि) अपना काम न करे तो वह क्षम्य है। नैतिक गुणका होना प्रत्येक सम्माननीय नागरिकके लिए आवश्यक है। संयम, न्याय, दया आदि सद्गुण नाममात्रसे भिन्न हैं। वास्तवमें वे एक ही सद्गुणकी अभिव्यक्ति हैं क्योंकि सद्गुण एक है। नैतिक सद्गुण सम्पूर्ण चरित्रकी वह अभिरुचि है जो कि निरन्तर कार्यान्वित रहना चाहती है। प्रत्येक परिस्थितिमें जो सबसे अधिक उत्तम है उसे शुभचरित्र खोजता है। उसके लिए सब कर्म अपने आपमें साध्य हैं एवं परमशुभके लिए साधन हैं। जिस भाँति भूखा व्यक्ति एकमात्र भोजन चाहता है उसी भाँति सद्गुणी एकमात्र नैतिक आदर्शका भूखा है। चाहे पत्थर बरसे या बिजली गिरे उसे अपने कर्मसे छुट्टी नहीं मिल सकती।

नैतिक सद्गुण दो रूपोंमें दीखता है ; परम्परागत और विवेकसम्मत।

जनसामान्य उस व्यक्तिको सद्गुणी मानता है जो प्रचलित नैतिक नियमों और परम्पराओंका सदैव पालन करता है; जो दयालु, संयमी, सम्माननीय, न्यायशील और उद्योगी है। किन्तु नैतिक दृष्टिसे स्वीकृत नियमोंका पालन-मात्र करना अपनेको यंत्र बना लेना है। नैतिकता उचित नियमोंके अन्ध-पालनकी अपेक्षा नहीं रखती। वह उचित नियम द्वारा उस ध्येयको पालन करनेकी आशा रखती है जो कि विवेकशील व्यक्तिके लिए वांछनीय है। अतः नैतिक सद्गुण वह अभ्यासगत प्रवृत्ति है जो सदैव चेतन रूपसे उन ध्येयोंकी प्राप्तिके लिए प्रयास करती है जो श्रेष्ठ और वांछनीय हैं। यह अवश्य व्यक्तिकी योग्यता, प्रतिभा, लगन और व्यक्तित्वपर निर्भर है कि वह कहाँतक ध्येयको समझ सका है। ध्येयके स्वरूपका जिज्ञासु सदैव वस्तुगत नैतिक मानदण्डकी सहायतासे अपने मानदण्डको सुधार सकता है। सम्यक् मानदण्डको समझनेके लिए आत्मगत और वस्तुगत एवं वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टिकोणोंका उचित सन्तुलन अनिवार्य है। व्यक्ति और समाज दोनोंके हितकी समान रूपसे वृद्धि करनेकी प्रवृत्तिका सामान्य रूप ही नैतिक सद्गुण है। इसका रूप समय और कालके अनुसार परिवर्तित होता है।

नैतिक सद्गुण और विशिष्ट सद्गुणमें परम भेद देखना व्यर्थ है। नैतिक सद्गुण विशिष्ट सद्गुणों द्वारा अभिव्यक्ति पाते हैं और विशिष्ट सद्गुण नैतिक सद्गुण द्वारा ही स्थायी मूल्य पाते हैं। यदि उन व्यक्तियों और संस्थाओंके लिए नैतिक सद्गुण—दया, दान, न्याय आदि—सहायक नहीं हैं जो वास्तवमें योग्य पात्र हैं और जो उचित सहायता पाकर अपनी प्रतिभा और विशिष्टताको प्रस्फुटित कर सकते हैं तथा समाजके जीवनको संस्कृत, सभ्य और कलात्मक बनानेमें सक्रिय योग दे सकते हैं तो नैतिक सद्गुण व्यर्थ और अमूर्त हो जायँगे। कला और साहित्यका स्थायी मूल्य इसपर निर्भर है कि वे अपने सामाजिक उत्तरदायित्वको कहाँतक निभा सके हैं। यदि चित्रकारकी तूलिका और लेखककी लेखनी सामाजिक जीवनको सुन्दर और मंगलमय बनानेमें असमर्थ है तो वह श्रेष्ठ नहीं है।

गुण एक व्यापक प्रत्यय है जिसके अन्दर पाप और पुण्य हैं। अपने स्वरूपके अनुरूप वह पाप और पुण्यका सूचक है। चरित्रकी भावात्मक नैतिक श्रेष्ठता पुण्य है और अभावात्मक नैतिक योग्यता पाप है। यदि पहला यह बतलाता है कि चरित्र नैतिक दृष्टिसे कितना मूल्यवान् है तो दूसरा उसके नैतिक ह्रासका ज्ञान देता है। वास्तवमें पाप और पुण्य चरित्रके गुण हैं। चरित्रके नैतिक स्वरूपको व्यक्त करनेके लिए ही इनका प्रयोग करते हैं। ये दोनों कर्म द्वारा चरित्रको अभिव्यक्ति देते हैं। उचित कर्म एवं पुण्य, चरित्रकी श्रेष्ठताका सूचक है और अनुचित कर्म एवं पाप, चरित्रके दोषका। उचित और अनुचितके आधारपर भी पाप और पुण्यको समझा जा सकता है। जब कर्म उचित एवं नैतिक मानदण्डके अनुरूप है तो वह पुण्य है और अनुचित पाप है।

पाप और पुण्य

दोनों प्रत्ययोंका ऐसा भेद बतलाता है कि चरित्रके नैतिक विकासके बिना पुण्य सम्भव नहीं है। ऐसे कर्म स्वतन्त्र संकल्पपर निर्भर हैं। जब विवेकी व्यक्ति स्वेच्छासे कर्त्तव्यके मार्गको अपनाता है, तब वह अपने कर्म द्वारा अपने उन्नत चरित्रको अभिव्यक्ति देता है। जब व्यक्ति नैतिक ध्येयको समझकर भी उसके विपरीत कर्म करता है तो वह पाप करता है। ऐसा कर्म उसके चरित्रके पतनका सूचक है। पाप और पुण्यका सम्बन्ध व्यक्तिसे है अतः इनमें गुणात्मक भेद दीखता है। चरित्रकी नैतिक पूर्णता गुणात्मक अन्तरकी अपेक्षा रखती है। व्यक्तिके चरित्रका उत्थान और पतन समझानेके लिए कम पतन, अधिक पतन, अधिक श्रेष्ठ आदि वाक्योंका प्रयोग किया जाता है। चरित्रकी अपूर्णतासे पूर्णतातकमें एक क्रमिक श्रृंखला मिलती है।

पाप और पुण्य चरित्रके सूचक हैं। इस कारण कुछ नीतिज्ञ संकल्प द्वारा इनके स्वरूपको समझाते हैं। यदि उचित मार्गको पकड़नेके लिए आवेगों और प्रवृत्तियोंपर अत्यधिक नियन्त्रण रखना पड़े अथवा त्यागके लिए दृढ़ संकल्पकी आवश्यकता हो तो चरित्र अत्यधिक श्रेष्ठ है। इन्द्रियोंका दमन करनेके लिए और इच्छाओंको सन्मार्ग दिखानेके लिए

जितना अधिक प्रयास करना पड़े उतना ही अधिक पुण्य-चरित्र होनेका सूचक है। किन्तु ऐसा भेद एकांगी है। इसे सर्वसामान्य मापदण्ड नहीं मान सकते। वास्तवमें उन्नत चरित्रमें संकल्प और इच्छाके बीच द्वन्द्व या तो कम दीखेगा या दीखेगा ही नहीं। नैतिक दृष्टिसे जो व्यक्ति जितना ही कम विकसित होगा उसे उतना ही अधिक त्याग और प्रयास करना पड़ेगा। दो समान चरित्रके व्यक्तियोंकी श्रेष्ठताको इस आधारपर अवश्य आँका जा सकता है। पर सम्पूर्ण परिस्थितिका व्यापक और सूक्ष्म ज्ञान ही पाप-पुण्यके रूपको निर्धारित कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति मूर्खतावश ऐसी स्थितिमें त्याग करता है जहाँ कि त्यागकी आवश्यकता नहीं है तो उसका आचरण चरित्रकी श्रेष्ठताका सूचक नहीं है। नैतिक दृष्टिसे हम उसे मूर्ख और अविवेकी कहेंगे। वही चरित्र श्रेष्ठ है जो समझ-बूझकर आवश्यकतानुसार सहर्ष पूर्ण त्याग करता है।

अभीतक जितने भी नैतिक प्रत्ययोंका प्रयोग किया है उनके मूलमें यह अनिवार्य मान्यता है कि संकल्प-शक्ति स्वतन्त्र है। बिना संकल्प-स्वातन्त्र्यको माने नैतिकता एवं नैतिक प्रत्यय अस्तित्व शून्य हैं। संकल्प-स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व सापेक्ष हैं। दोनोंका सह-अस्तित्व है।

संकल्प-स्वातन्त्र्य और उत्तरदायित्व

नीतिशास्त्र संकल्पको स्वतन्त्र[1] मानकर कर्मोंको आत्म-निर्णीत तथा नियतिवाद और अनियतिवादको एकांगी सिद्धान्त मानता है। नियतिवाद अथवा अनियतिवादको स्वीकार कर लेनेपर नैतिक उत्तरदायित्वपर घोर आघात पहुँचता है। मनुष्य अपने कर्मोंके लिए दोषी नहीं रह जाता है। उसके कर्मोंपर नैतिक निर्णय देना व्यर्थ हो जाता है। नीतिशास्त्र यह मानता है कि व्यक्ति अपने आत्म-निर्णीत कर्मोंके लिए उत्तरदायी है। यदि

१. नैतिक जीवनमें संकल्प-स्वातन्त्र्यका महत्वपूर्ण स्थान होनेपर भी नीतिज्ञोंमें मतभेद है। अतः इसका विस्तारसे वर्णन करना आवश्यक है जिसकी पूर्ति अगले अध्यायमें की गयी है। संकल्पका स्वरूप उत्तरदायित्वके स्वरूपपर भी अधिक प्रकाश डालेगा।

वह ऐसे कर्म करता है जो अशुभ हैं अथवा जिनका परिणाम बुरा है तो नैतिकता उससे प्रश्न कर सकती है कि तुमने ऐसा क्यों किया ? विवेकशील और स्वतन्त्र प्राणी होनेपर भी शुभ ध्येयके अनुरूप कर्म क्यों नहीं किया ? अपनेको पूर्वग्रहोंसे मुक्त करके तथा क्षणिक आवेगोंपर नियन्त्रण रखकर तुमने न्यायके मार्गको क्यों नहीं अपनाया ? उस ध्येयको क्यों नहीं अपनाया जो वास्तवमें शुभ है ? नैतिक दृष्टिसे ऐसा प्राणी अपने ही सम्मुख दोषी है, उसे अपनी ही आत्माको उत्तर देना पड़ेगा और यदि वह अपने दायित्वका निर्वाह नहीं कर सकता है तो उसका कर्म निन्दनीय और दण्डनीय है।

अध्याय ७

संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रता

अभीतक यह मानते आये हैं कि मनुष्यके कर्म आत्म-निर्धारित हैं। उसकी संकल्पशक्ति स्वतन्त्र है। वह अपने कर्मोंके लिए उत्तरदायी है।

स्वतन्त्र संकल्प-शक्ति—आवश्यक नैतिक मान्यता

उसके कर्म नैतिक निर्णयका विषय हैं। इस अर्थमें संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रता आवश्यक नैतिक मान्यता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे संकल्प अथवा संकल्पशक्तिके बारेमें दो परम विरोधी सिद्धान्त मिलते हैं : नियतिवाद (Determinism) या अस्वच्छन्दतावाद (Anti-Libertarianism) और अनियतिवाद (Indeterminism) या स्वच्छन्दतावाद (Libertarianism)। इन दोनों मतोंका आलोचनात्मक अध्ययन यह बतायेगा कि इन मतावलम्बियोंने एकांगी दृष्टिकोणको सम्मुख रखा। नियतिवाद और अनियतिवाद दोनोंको ही समान रूपसे अनिवार्य मानते हुए तीसरे प्रकारके विचारक नैतिक कर्मोंको आत्म-निर्णीत मानते हैं। आत्म-निर्णीत कर्मोंको ही शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित कह सकते हैं। इन्हींका नैतिक दृष्टिसे मूल्यांकन कर सकते हैं। यदि इसके विपरीत यह मान लें, कि मनुष्यके कर्म आत्म-निर्णीत नहीं हैं, संकल्पशक्ति स्वतन्त्र नहीं है तो नैतिक आदेश और नैतिक मान्यताएँ अर्थशून्य हो जायँगी। नैतिक दृष्टिसे जब यह कहते हैं कि 'तुम्हें यह करना चाहिये', 'यह कर्म उचित है', 'यह पाप है', आदि, तो इसके अर्थ यही होते हैं कि तुम इस कर्मको करनेके लिए स्वतन्त्र हो, यदि तुम चाहो तो तुम्हारी कर्मशक्ति उचित मार्गको ग्रहण कर सकती है। संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रताको बिना माने 'नैतिक चाहिये' पागलका प्रलाप है। नैतिक आदर्शकी प्राप्ति व्यक्तिके

लिए उतनी ही असम्भव हो जायगी जितना कि किसी अन्धेके लिए सुन्दर दृश्य देखना। अथवा नैतिक आदर्श उस सुन्दर कल्पनाकी भाँति हमारे सम्मुख आयेगा जो कि मूर्त और व्यावहारिक रूप प्राप्त नहीं कर सकती। ऐसी स्थितिमें नीतिशास्त्रको अस्तित्वहीन मान लेना अनुचित न होगा। इस सत्यको सम्मुख रखते हुए ही कांटने कहा कि नैतिक ज्ञान संकल्पशक्तिको स्वतन्त्र मानता है। संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रता नैतिकताकी आवश्यक मान्यता है। स्वतंत्र प्राणी अपने कर्मोंके लिए उत्तरदायी है। इस तथ्यका स्पष्टीकरण करनेके लिए आवश्यक है कि पहिले दोनों सिद्धान्तों—नियतिवाद और अनियतिवादको समझ लें।

नियतिवाद

नियतिवादियोंके अनुसार मनुष्यकी संकल्पशक्ति स्वतन्त्र नहीं है, पूर्वनिर्धारित है। उनका कहना है कि निर्णीत कर्ममें संकल्पशक्ति प्रेरणाके साथ समीकरण करती है और प्रेरणाका स्वरूप व्यक्तिके चरित्रपर निर्भर है। अतः यदि व्यक्तिके चरित्रका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लें तो उसके भविष्यके आचरणके बारेमें भविष्यवाणी की जा सकती है। यह पहिलेसे ही बताया जा सकता है कि उसके कर्मोंकी रूप-रेखा कैसी होगी। उसकी संकल्पशक्तिका बाह्यरूप क्या होगा। जन्मके समयसे ही मनुष्यका अन्तःसंस्कार सामाजिक और भौतिक परिस्थितियोंसे प्रभावित होता रहता है। चरित्रका उत्थान और पतन उन परिस्थितियोंके आधारपर ही होता है। उन परिस्थियोंके ज्ञानके द्वारा उसके चरित्रका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। चरित्रका ज्ञान प्राप्त करना ही उसके वर्तमान और भविष्यके कर्मोंको समझना है। व्यक्तिके कर्म सदैव उसके कर्म करते समयतकके निर्धारित चरित्रके अनुरूप होते हैं। उसका चरित्र बाह्य परिस्थितियों, वंशानुगत गुणों, मौलिक स्वभाव तथा परिवेशका योग है। उन्हींके द्वारा उसका चरित्र निश्चित स्वरूप ग्रहण करता है। मनुष्यके कर्म उसके मौलिक स्वभाव, वंशपरम्परा और परिस्थितिका अनिवार्य परिणाम होते हैं। इस प्रकार उसके कर्म पूर्वनिश्चित होते हैं। इस आधारपर नियतिवादी कहते हैं कि यदि किसी व्यक्तिके विगत

जीवनको भलीभाँति समझ लिया जाय तो निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि उसके कर्म कैसे होंगे। किसी भी व्यक्तिके मौलिक स्वभाव, परिवार, परिस्थिति, शिक्षा और वातावरण आदिका पर्याप्त ज्ञान उसके भावी आचरणको स्पष्ट रूपसे प्रतिबिम्बित कर सकता है। यही नहीं, वह यहाँतक कहते हैं कि यदि दो व्यक्तियोंका मौलिक स्वभाव और वातावरण बिलकुल एक सा हो तो उनके कर्म निश्चित रूपसे समान होंगे, भिन्न नहीं हो सकते। इस तथ्यको समझानेके लिए वे उदाहरण देते हैं कि यदि ऐसे दो जुड़वा भाइयोंको लें जिनके अन्तःसंस्कारों या मूलगत प्रवृत्तियोंमें पूर्णरूपसे समानता हो और जन्मसे ही उनका लालन-पालन समान रूपसे एक ही सामाजिक परिस्थितियोंमें हुआ हो तो वे सदैव एक ही रूपसे व्यवहार करेंगे। नियतिवादियोंके अनुसार उन भाइयोंका व्यवहार किसी भी विशिष्ट आयुमें भिन्न अथवा पृथक् नहीं हो सकता। वे संकल्पशक्तिको पूर्वनिश्चित मानते हैं। व्यक्तियोंके आचरणको उनके मूलगत स्वभाव और भूतकालीन परिस्थितियोंसे संचालित मानते हैं। संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रताका निराकरण करते हुए वह मनुष्यके कर्मोंको प्राकृतिक घटनाओंकी भाँति समझानेका प्रयास करते हैं। उसके कर्मोंमें कार्य-कारणके नियमको घटित होते हुए देखते हैं। वे भूल जाते हैं कि मनुष्य नैतिक प्राणी है। उनके अनुसार मनुष्यके विगत जीवनका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर (कारणको समझ) लेनेसे उसके कर्म (कार्य) के बारेमें निश्चित रूपसे भविष्यवाणी की जा सकती है। नियतिवादी मनुष्यको प्रकृतिका ही अंग मानते हैं। वे व्यक्ति (आत्म-चेतन प्राणी) के आचरण और प्राकृतिक घटनाओंको एक ही नियमसे संचालित होते देखते हैं। यही नहीं, वे अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिए अनेक तर्क भी देते हैं। मनोविज्ञान (विशेषरूपसे आचारवाद), जीवशास्त्र, नृतत्त्वशास्त्र (Anthropology), शरीरशास्त्र (Physiology), जनन-शास्त्र (Genetics), सर्वेश्वरवाद (Pantheism), ईश्वरज्ञान आदिके ज्ञानके आधारपर वे संकल्पशक्तिकी नियतिवादिताको समझाते हैं। अधिक-

तर अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिए उन्होंने इन्द्रिय संवेदनवादी (Sensationalistic) और जड़वादी दृष्टिकोणको ही अपनाया है। नियतिवादी अपने सिद्धान्तकी धुनमें यह भूल जाते हैं कि व्यक्ति आत्म-प्रबुद्ध प्राणी है। उसकी अनेक सम्भावनाएँ हैं और वह इन सम्भावनाओंको प्राप्त करनेके लिए स्वतन्त्र है। वे व्यक्तिके आचरणको भौतिक घटनाकी भाँति देखते हैं। जिस प्रकार गणित-ज्योतिष द्वारा यह बतला सकते हैं कि सूर्य और चन्द्रग्रहण कब घटित होंगे उसी प्रकार मनुष्यके स्वभाव, वातावरण, बहिर्गत परिस्थितियोंके पूर्ण ज्ञान द्वारा वे मनुष्यके भावी कर्मोंके बारेमें भविष्यवाणी कर सकते हैं। अतीतके जीवन, अभ्यासों और अनुभवोंका व्यक्तिकी वर्तमान मानसिक स्थितिके बनानेमें वैसा ही सहयोग रहता है जैसा कि उनके अनुसार किसी तरकारीके बनानेमें मसालों और उसके बनानेकी विधिका।

अनियतिवाद

अनियतिवादियोंके अनुसार संकल्पशक्ति स्वतन्त्र है। मनुष्यके कर्म पूर्वनिर्धारित नहीं हैं। उसके कर्मोंके बारेमें पहिलेसे कुछ भी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। मनुष्यका आचरण अनिश्चित होता है। उसमें अनेक प्रकारकी सम्भावनाएँ हैं। उसके कर्म प्रेरणाहीन होते हैं। नियतिवादियोंके विरुद्ध अनियतिवादियोंका कहना है कि संकल्पशक्ति प्रबल इच्छाके अनुरूप कर्म नहीं करती है। जब इच्छाओंमें द्वन्द्व होता है तो संकल्पशक्ति बिना प्रेरणाके ही आकस्मिक चुनाव करती है। संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रता इसपर निर्भर है कि वह प्रबल इच्छा या प्रेरणासे समीकरण न कर क्षणिक आवेगसे कर्म कर लेती है। वह किसी भी इच्छाको चुन लेती है। संकल्पशक्ति एक अज्ञात शक्तिकी भाँति है। उसके कर्म तात्कालिक आवेग या क्षणिक प्रवृत्तियोंसे संचालित होते हैं। कर्म करनेके पूर्व व्यक्तिके सम्मुख अनेक इच्छाएँ और प्रेरणाएँ होती हैं। किन्तु संकल्पशक्ति उनमेंसे किसीके अनुरूप कर्म करनेके लिए बाध्य नहीं है। वह उनसे प्रभावित नहीं होती, उसका निर्णय आकस्मिक होता है। अतः नियतिवादियोंका यह कहना कि भूत और वर्तमानके

ज्ञानके आधारपर भविष्यके कर्मोंके बारेमें निर्णय करना, सर्वथा दुस्साध्य है। अनुमानसे स्वतन्त्र इच्छित नैतिक कर्मोंके स्वरूपको निर्धारित करना, उनका पूर्वज्ञान देना व्यर्थ है। स्वेच्छित कर्म किसी ऐसी वस्तु अथवा चरित्रका अनिवार्य परिणाम नहीं हैं जो कि पहिलेसे ही वर्तमान हो। संकल्पशक्ति जिस क्षणिक आवेगसे कर्म करती है उसकी पूर्वसम्भावना मनुष्यके भीतर नहीं होती। कर्म करनेके क्षणतक कोई भी ऐसी सम्भावना ज्ञात नहीं है जिससे कि व्यक्तिकी इच्छाका पता चल सके। संकल्पशक्तिका कर्म पूर्णतः एक नयी सृष्टि है। उसका कर्म स्वतन्त्र है। यहाँपर अनियतिवादी यह स्वीकार करते हैं कि कर्मका कर्त्ता व्यक्ति है, किन्तु यह निर्धारित चरित्र या प्रेरणापर निर्भर नहीं है। संकल्पशक्तिका स्वरूप व्यक्तिके उसी क्षणके व्यक्तित्वपर निर्भर है। यह उस चरित्रपर निर्भर नहीं है जिसके स्वरूपका अभीतक निर्माण हुआ है अथवा जिसको लेकर वह उत्पन्न हुआ। व्यक्ति नैतिक प्राणी इसी अर्थमें है कि उसकी संकल्पशक्ति स्वतन्त्र है। यदि इस स्वतन्त्रताका निराकरण कर दें तो नैतिकताके लिए कोई स्थान नहीं है। संकल्पशक्ति प्रत्येक कर्मके लिए स्वतन्त्र है। कर्मरत संकल्पशक्ति प्रेरणा और पूर्वनिश्चित चरित्रसे मुक्त है। उसका अपना एक अज्ञेय अस्तित्व है। व्यक्तिकी आत्मा सृजनशील है, वह प्रत्येक कर्ममें संकल्पशक्ति द्वारा नवीन रूपमें प्रकट होती है। मनुष्यके कर्म पूर्णरूपसे अनिश्चित हैं। यहाँतक कि उसके नैतिक और विचारयुक्त कर्मोंके बारेमें भी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, भले ही उसके विगत जीवनका इतिहास ज्ञात हो। यदि जुड़वा भाइयोंका उदाहरण लें तो अनियतिवादियोंके अनुसार उनका व्यवहार किसी भी परिस्थतिमें समान नहीं होगा। दोनोंका व्यवहार सदैव भिन्न रहेगा। यह सम्भव हो सकता है कि जुड़वा भाइयोंमेंसे एक साधु निकल जाय और दूसरा चोर। अतः मानव-स्वभावके बारेमें निश्चित रूपसे किसी ऐसे सिद्धान्त या नियमको घटित नहीं कर सकते जिसके आधारपर उसके भविष्यके आचरणके बारेमें निश्चित रूपसे निर्णय दिया जा सके।

दोनों ही सिद्धान्तोंके मुख्य विवादका प्रश्न यह है कि क्या दृढ़ता

पूर्वक कह सकते हैं कि मनुष्यका भावी आचरण कैसा होगा ? क्या उसके कर्मका स्वरूप पूर्वनिर्धारित है ? नियतिवादियोंका उत्तर स्वीकारात्मक है और अनियतिवादियोंका उत्तर नकारात्मक । नियतिवादियोंके अनुसार मनुष्यका आचरण उसी प्रकार पूर्वनिर्धारित है जिस प्रकारकी भौतिक घटनाएँ । वे आचरणवादियोंकी भाँति मनुष्यको प्रयोगशालाकी वस्तु समझते हैं । विश्लेषण द्वारा उसके सम्यक् व्यक्तित्वको मानसिक और भौतिक प्रकृतिके अंशोंमें बाँट-कर उसके आचरणके बारेमें प्रामाणिक भविष्यवाणी करनेका दावा करते हैं । अनियतिवादियोंको इसके विपरीत मनुष्यके सम्यक् व्यक्तित्वमें ज्वार-भाटे उठते दिखाई देते हैं, वे उसके कर्मोंको आवेगपूर्ण और प्रेरणाहीन कहते हैं; उसकी संकल्पशक्तिको उस रहस्यमयी शक्तिकी भाँति देखते हैं जिसका स्वरूप कर्म करनेके पूर्वतक बिलकुल अनिश्चित और अज्ञेय रहता है । इस अर्थमें मनुष्यका भावी आचरण पूर्वनिश्चित नहीं है । इन दोनों सिद्धान्तोंके अतिवादोंके मूलमें 'प्रेरणा' है । इन दोनोंने ही प्रेरणाको विभिन्न अर्थोंमें समझा है । इच्छा, प्रेरणा, संकल्पशक्ति तथा आत्माके सम्बन्धको बाह्य लिया है अथवा निर्णीत कर्मके निर्माणात्मक अंगोंको असम्बद्ध माना है । वे भूल गये कि ये एक ही इकाईके अभिन्न अंग तथा एक ही सत्यके विभिन्न रूप हैं । निर्णीत कर्मका विश्लेषण बताता है कि प्रबल इच्छा या प्रेरणा वह इच्छित ध्येय है जिसकी प्राप्तिके लिए आत्मा प्रयास करती है । संकल्पशक्ति अपने आन्तरिक रूपमें आत्मा अथवा भावना और इच्छा है तथा बाह्य रूपमें आचरण है । नियतिवादी इस तथ्यको भूलते हुए-से प्रेरणा और संकल्पशक्तिके सम्बन्धको बाह्य लेते हैं । वे कहते हैं कि संकल्पशक्ति स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वह प्रेरणाके अनुरूप कर्म करती है और प्रेरणा आत्माके स्वरूपको व्यक्त करती है । इसी प्रकार अनियतिवादी कहते हैं कि संकल्पशक्ति स्वतन्त्र है क्योंकि यह इच्छा, आत्मा और चरित्रसे प्रभावित नहीं होती है ।

विवादका मूल : प्रेरणा

इच्छा और संकल्पशक्तिकी भिन्न मान्यता भ्रमपूर्ण है । संकल्पशक्ति

इच्छापर निर्भर है और इच्छाका सम्बन्ध चरित्र और आत्मासे है। इस अर्थमें संकल्पशक्ति कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे आत्मा अधिकृत किये हो और न यह वह अज्ञात शक्ति है जिसका आत्मासे भिन्न अस्तित्व हो। संकल्पशक्ति ही आत्मा है। अथवा संकल्पशक्ति वह आत्मा है जो ज्ञात-रूपसे इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिए प्रयास करती है। जब इच्छाओंमें द्वन्द्व होता है तो द्वन्द्वों द्वारा आत्मा अपने ही विभिन्न स्तरोंको अभिव्यक्ति देती है। इच्छाएँ सदैव विषयमूलक होती हैं और इन विषयोंका उस आत्मासे सम्बन्ध होता है जिसके लिए कि ये उपयोगी होती हैं। अतः इच्छाएँ सदैव आत्माके चरित्रको प्रतिबिम्बित करती हैं। इच्छाएँ केवल उन विवेकहीन शक्तियों या प्रवृत्तियोंकी भाँति नहीं हैं जो व्यक्तिको इधर-उधर नचाती रहें। इच्छाओंका सम्बन्ध किसी ज्ञात विषयसे है और इसी विषयकी प्राप्तिके लिए आत्मा संकल्पशक्तिके रूपमें ज्ञातरूपसे बाहरकी ओर प्रवाहित होती है। निर्णीत कर्ममें इच्छाओंकी सन्तुष्टि द्वारा आत्मा स्वयंको सन्तुष्ट करती है।

एकांगी दृष्टि-कोणोंका परि-णाम : नैति-कता अर्थशून्य

नियतिवादी एक वैज्ञानिककी भाँति मनुष्यके सम्यक् व्यक्तित्वको छिन्न-भिन्न करनेका प्रयास करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति अपने समय और परिस्थितिका शिशु है। यह उनके सम्मुख अशक्त है। उसका जीवन निम्न प्राणियोंकी भाँति क्रिया-प्रति-क्रियाका जीवन है। उसका चरित्र भौतिक और मानसिक शक्तियोंका योग है। उसके कर्म उसके चरित्रके अनिवार्य परिणाम हैं। उसकी संकल्पशक्ति पूर्वनिर्धा-रित है। यदि व्यक्तिके कर्म पूर्वशक्तियोंके अनिवार्य परिणाम हैं तो व्यक्तिको उसके कर्मोंके लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते; क्योंकि उसके कर्मोंकी प्राप्ति यान्त्रिक है। उसके आचरणपर निर्णय देना उतना ही अर्थशून्य है जितना कि हवासे उड़ते हुए पत्तेपर देना है। जिस प्रकार बिजलीके बटनको दबानेसे बिजलीकी बत्ती जल जाती है उसी प्रकार एक विशिष्ट परिस्थितिमें व्यक्ति विशिष्ट रूपसे कर्म करता है। व्यक्तिके पूर्वनिर्धारित स्वरूप अथवा कारणके

अनुरूप कर्म करनेवाली कार्यरत संकल्पशक्ति नैतिक निर्णयका विषय नहीं हो सकती और न ऐसे कर्त्ताके सम्मुख कर्त्तव्य, पश्चात्ताप आदि नैतिक मान्यताओंका ही कुछ मूल्य है। नियतिवादियोंकी प्रमुख भूल यह है कि उन्होंने व्यक्तिके चरित्रको वैज्ञानिक परिभाषामें बाँधना चाहा। उसके आचरणका कार्य-कारणके नियमके द्वारा स्पष्टीकरण करनेका प्रयास किया। सभी प्रबुद्ध विचारक यह मानते हैं कि मनुष्यकी कर्मशक्तिका क्षेत्र अन्य घटनाओंकी भाँति पूर्व घटनाओंपर आधारित नहीं है। व्यक्तिके कर्म आत्म-निर्णीत हैं। वह अपने कर्मोंको अपना कहता है। शुभकर्म करनेपर उसे आत्मसन्तोष होता है एवं अशुभकर्म करनेपर ग्लानि और पश्चात्ताप। वह कहता है 'मुझे ऐसा नहीं करना चाहिये' और भविष्यके लिए दृढ़ संकल्प करता है। उस संकल्पका उसके जीवनमें मूल्य है। किन्तु नियतिवादियोंके अनुसार पश्चात्ताप तथा दृढ़संकल्पके लिए मानव-जीवनमें कोई स्थान नहीं है। आत्मोन्नति, चरित्रका उत्थान, पतन और धार्मिक परिवर्तन आदि सब खोखली बातें हैं।

किसी भी व्यक्तिका चरित्र उसके भूत और वर्तमान आचरण द्वारा पूर्णरूपसे व्यक्त नहीं होता है। उसमें अनेकों अविकसित सम्भावनाएँ हैं, अघटित घटनाएँ हैं। ज्ञानकी वृद्धि और अनुभवकी व्यापकता तथा तीव्रता उसका पूर्णरूपसे रूपान्तर कर देती हैं। एक मनुष्यका स्वभाव ऐसा भी हो सकता है कि वह निन्यानवे बारतक विशेष उत्तेजना पाकर एक ही तरहका आचरण करेगा और सौवीं बार दूसरी तरहका। मनुष्य-स्वभावका अध्ययन यह भलीभाँति बता देता है कि किसी दृढ़ व्यक्तित्वके मनुष्यके बारेमें भी विश्वासपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि किसी विशेष परि-स्थितिमें उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। नियतिवादियोंने यह कहकर बड़ी भूल की कि मनुष्यके कर्म पूर्वपरिस्थितियोंसे उसी प्रकार प्रभावित होते हैं जिस प्रकार भौतिक जगतकी घटनाएँ। उन्होंने नैतिक उत्तरदायित्व, नैतिक आदेशका ही नहीं, नैतिकताका भी निराकरण कर दिया। मनुष्यका व्यक्तित्व अपना है, आत्म-निर्मित है। नैतिक मनुष्य मात्र इच्छाओं तथा

परिस्थितियोंका प्राणी नहीं है। वह अपने विश्वका निर्माता भी है। उसके नैतिक, बौद्धिक विकासके साथ उसकी इच्छाओं और इच्छित वस्तुओंका स्वरूप बदल जाता है। वह अपने इच्छित कर्मोंके लिए उत्तरदायी है।

अनियतिवादियोंके अनुसार मनुष्यकी संकल्पशक्ति उस शैतानकी भाँति है जो मनुष्यके संघटित व्यक्तित्व तथा चरित्रकी स्थिरताकी उपेक्षा करता है और अचानक किसी अनजाने पथसे आकर अपना काम पूरा कर जाता है। ऐसी संकल्पशक्तिकी सृष्टि प्रत्येक क्षणमें नवीन है। ऐसे अनजाने कर्मका कर्त्ता होते हुए भी व्यक्ति उस कर्मको अपनानेमें कठिनाई प्रतीत करता है। उसमें उसे अपने अविच्छिन्न व्यक्तित्वका प्रतिबिम्ब नहीं मिलता। वह कह सकता है कि यह कर्म उसके कर्म करनेके पूर्वतकके चरित्रका सूचक, उसके चिन्तन-मननका परिणाम नहीं है। उसका कर्म उस संकल्पशक्ति द्वारा किया गया है जिसपर उसके चरित्र और इच्छाओंका अधिकार नहीं है। ऐसे आचरणको नैतिक दृष्टिसे अशुभ नहीं कह सकते हैं। इस प्रकार संकल्पशक्तिको इस अर्थमें स्वतन्त्र माननेवाले सैद्धान्तिकोंके लिए दृढ़-संकल्पका कोई मूल्य नहीं है। इस दृष्टिसे मानव-स्वभावमें संगति और एकता देखना व्यर्थ है और ऐसी स्थितिमें नैतिकताका लोप तो हो ही जायगा, साथ ही मनुष्यका सामाजिक जीवन भी असम्भव हो जायगा। सामाजिक जीवनकी पूर्णता व्यक्तियोंके सम्यक् चरित्रपर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ सीमातक अपने तथा अन्य लोगोंके चरित्रको समझता है, उनके आचरणके बारेमें अपनी सम्मति दे सकता है। वह अपने तथा दूसरोंके कर्मोंका स्पष्टीकरण चरित्र तथा परिस्थितिविशेषके नामपर करता है और उस परिस्थितिसे सम्बद्ध कर्त्तव्यके बारेमें भी सचेत है। किन्तु संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रताके पोषक प्रेरणाहीन कर्मोंको ही स्वतन्त्र कर्म कहते हैं। नैतिक मनुष्यके लिए बिना उस प्रेरणाके कर्म करना, जो कि कर्त्ताको बौद्धिक रूपसे कर्म करनेके लिए प्रेरित करती है, पशु-जीवनको स्वीकार करना है। वह अन्धप्रवृत्तियों तथा आवेगोंका दास नहीं है, अपने

चरित्रका निर्माता तथा अपने आचरणके लिए उत्तरदायी भी है। उसके इच्छित कर्म साभिप्राय होते हैं। उसकी संकल्पशक्ति उसकी आत्मा है। संकल्पशक्तिके बाह्यरूप द्वारा उसकी आत्मा सन्तोष प्राप्त करती है। यदि हम इस अर्थमें संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रताको न मानें तो पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित आदि नैतिक प्रत्यय अस्तित्वहीन हो जाते हैं। यदि मनुष्यकी संकल्पशक्ति उसे समझ-बूझकर कर्म नहीं करने देती और अन्धड़की तरह आवेशमें आकर उसे ऊपर-नीचे गिराती है तो निश्चय ही नैतिक मान्यताएँ एवं नैतिक आदेश काल्पनिक हैं। यही नहीं, संकल्प-शक्तिका मुक्त शासककी भाँति प्रत्येक क्षण ऐसा नवीन सृजन करना कि वह भूत और वर्तमानसे असम्बद्ध हो—मानव-चरित्रकी स्थिरता और अवि-छिन्नताको धूलमें मिलाना है। नैतिकता दृढ़-चरित्रसे ही उद्भूत होती है। आवेगपूर्ण प्रेरणाहीन कर्म और नैतिकता आपसमें विरोधी हैं, तथा एक दूसरेके विनाशक हैं।

निर्णीत कर्मके विश्लेषणने यह बतलाया कि आत्मा और संकल्पशक्ति एक हैं। आत्मा ही ज्ञातरूपसे इच्छित ध्येयकी प्राप्तिके लिए प्रयास करती है। संकल्पशक्तिका स्वरूप आत्माके स्वरूपपर निर्भर है। उस आत्माका क्या स्वरूप है जिसके द्वारा कर्म किये जाते हैं? क्या इसका स्वरूप निर्धारित नैतिक गुणों, वंशानुगत विशेषताओं, भूतकालीन कर्मों और भावनाओंका परिणाम है? अथवा क्या कोई ऐसी सम्भावना सदैव रहती है जिसके आधारपर व्यक्ति अपने अभीके उचित, अनुचितके निर्णयके अनुसार कर्म कर सकता है, चाहे उसके पूर्वके कर्म और अनु-भव कुछ भी क्यों न हों?

आत्म-निर्णीत कर्म : नियतिवाद और अनियतिवाद

व्यक्तिके आचरणका अध्ययन यह बतलाता है कि व्यक्ति सदैव जिस प्रकार कर्म करता है वह एक विशिष्ट नियमके अनुरूप होता है। यह नियम उसके चरित्रका नियम है और चरित्र उसके जन्मजात मानसिक संस्कारों, वंशानुगत-गुणों तथा परिस्थितिका परिणाम है। साथ ही यह भी सच है

कि उसके चरित्रको पूर्णरूपसे समझना असम्भव है। चरित्रका निर्माण करनेवाले तत्व अत्यन्त जटिल होते हैं। उनकी सफलतापूर्वक गणना करना सैद्धान्तिक रूपसे सम्भव होनेपर भी वास्तवमें असम्भव है। अतः प्रेरणा द्वारा निर्धारित कर्मोंको प्राकृतिक घटनाकी भाँति समझनेका प्रयास करना मूर्खता है। नैतिक कर्म यह भी बताता है कि संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रता इसपर निर्भर नहीं है कि कर्म प्रेरणाहीन हैं, किन्तु इसपर है कि वह प्रेरणा द्वारा निर्धारित हैं। प्रेरणा नैतिक प्राणीके स्वरूपको अभिव्यक्ति देती है। मनुष्यका चरित्र सहजप्रवृत्तियों और आवेगोंका अस्थिर समुद्र नहीं है। उसके कर्म स्वयं उसे तथा उसके सम्पर्कमें आनेवालोंको चमत्कृत नहीं करते हैं। वे आत्म-निर्णीत होते हैं; उसके चरित्रके अनुरूप होते हैं। नैतिक जीवनके लिए दृढ़-चरित्रका निर्माण आवश्यक है और चरित्र विशेष अभ्यासोंसे निर्मित जगतकी अपेक्षा रखता है। शुभ-चरित्र शुभ-अभ्यासोंका संगतिपूर्ण विधान है। उसकी संकल्पशक्तिमें एकरूपता मिलती है। उसके निश्चय उसके चरित्रसे समानता रखते हैं। उसके कर्मोंके बारेमें कुछ सीमातक निश्चित रूपसे कहा जा सकता है। इस अर्थमें नीतिशास्त्र नियतिवादको मानता है। यदि नियतिवाद अभ्यासोंकी समानताका सूचक है, तो वह आवश्यक है। नियतिवाद सामान्यतः समानताका दूसरा रूप है। यह समानता नैतिक जीवनके लिए आवश्यक है। नैतिक प्राणी हर क्षण गिरगिटकी भाँति रूप नहीं बदलता है। उसका व्यक्तित्व आत्म-निर्धारित है। उसका जीवन नियमबद्ध है। उसकी संकल्पशक्ति इस नियमके अनुरूप कर्म करती है। उसके आचरणमें एकरूपता और व्यवस्था मिलती है। उसके आचरणका नैतिक रूपसे समान होना अनिवार्य है। वह विवेक और बुद्धि द्वारा परिचालित है, न कि क्षणिक आवेग द्वारा।

नैतिक प्राणी आध्यात्मिक प्राणी है। वह आत्मोन्नतिके लिए प्रयास करता है। संस्कृति और सभ्यताका उपासक है। उसका नैतिक ज्ञान उसे बताता है कि वह 'नैतिक चाहिये'के अनुसार कार्य कर सकता है। वह

स्वतन्त्र है। अपने चरित्रको विकसित कर सकता है, नये अभ्यासोंकी नींव डाल सकता है; पर यह भी सच है कि प्रत्येक व्यक्तिकी सम्भावनाएं सीमित हैं। वह अपनी मानसिक, शारीरिक और भौतिक प्रकृतिपर निर्भर है। इस निर्भरताके साथ ही वह आत्म-चेतन प्राणी भी है। वह अपने ध्येयको समझता है। अपनेको बाह्य-बन्धनोंसे मुक्त कर सकता है। उनके प्रतिकूल कर्म कर सकता है। अपने कर्मोंके स्वरूपको स्वयं निर्धारित कर सकता है और अपना उन्नयन कर सकता है। यह सभी मानेंगे कि व्यक्तिका वर्तमान चरित्र विभिन्न शक्तियोंका परिणाम है। किन्तु व्यक्तिकी आकांक्षाएँ और सम्भावनाएँ भविष्यकी ओर इङ्गित कर उसे बताती हैं कि इस 'परिणाम' से ऊपर उठनेकी उसमें शक्ति और सामर्थ्य है। इस अर्थमें उसके कर्म आत्म-निर्णीत हैं। वह समझ-बूझकर कर्म कर सकता है। अपनी वास्तविक आत्माके आदेश एवं आस्तिक आदेशको मान सकता है। यही संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रता है। कर्त्तव्य तथा नैतिक मान्यताएँ आदिकी धारणाएँ इसी स्वतंत्रताकी सूचक हैं। इन धारणाओंका उसके जीवनसे चेतन-सम्बन्ध है। वह परिस्थिति-विशेषमें अपने सामर्थ्यके अनुकूल जिस नियमको सर्वश्रेष्ठ समझता है, उसे-कर सकता है। यही उसका नैतिक कर्त्तव्य है। कर्त्तव्यका आदेश उसे अनुचित मार्गकी ओर झुकनेसे बचाता है। उसे बताता है कि अभी बौद्धिक पशु ही होनेके कारण वह भावनाके झंझावातमें खो सकता है। उसे अपनी स्वतन्त्र संकल्पशक्तिके द्वारा निम्न-प्रवृत्तियों, कुण्ठित-भावनाओं-का उच्चतम ध्येयके लिए उन्नयन करना चाहिये। उसकी संकल्पशक्ति उसकी बौद्धिक और भावुक प्रकृतिको संगतिपूर्ण एकत्वमें बाँध सकती है। चिरन्तन सुखके लिए क्षणिक सुखका निराकरण कर सकती है। उसे संस्कृतिके उच्चतम शिखरकी ओर ले जा सकती है। मनुष्य दृढ़-संकल्प द्वारा भविष्यके आचरणको सुधारनेका प्रयास कर सकता है। संकल्पशक्ति-की स्वतन्त्रताके कारण ही वह दुर्निवार बुरे अभ्यासोंको त्यागनेमें सफल होता है। प्रारम्भमें उसे बुरे अभ्यासोंको छोड़नेमें कठिनाई होती है किन्तु

धीरे-धीरे उसकी कर्मशक्ति दृढ़-अभ्यासोंको दुर्बल कर उनपर विजयी हो जाती है। आत्मोन्नतिके लिए संकल्पशक्तिकी स्वतन्त्रता आवश्यक मान्यता है। नैतिक दृष्टिसे बद्ध आवेगपूर्ण कर्मोंकी सूचक नहीं, आत्मोन्नतिकी सूचक है। जहाँतक व्यक्तिके शुभ-अभ्यासोंका प्रश्न है, उसकी संकल्पशक्ति नियतिवाद, स्थिरता, दृढ़ता, संकल्प और संस्कृतिकी द्योतक है। यहाँपर यह न भूलना चाहिये कि यह नियतिवाद प्राकृतिक नियतिवादसे भिन्न है। इसमें आत्मोन्नतिके लिए विस्तृत क्षेत्र है। नैतिक नियतिवादमें संकल्पशक्ति स्वतन्त्र है। उसकी पूर्णस्वतन्त्रता इसपर निर्भर है कि वह अपने कर्त्तव्योंके प्रति पूर्णरूपसे जागरूक है। इस प्रकार मनुष्य परिस्थिति, परिवेश और स्वभावकी सीमाओंसे बद्ध होनेपर भी अपनी आत्मोन्नतिके लिए प्रयास कर सकता है क्योंकि उसके कर्म आत्म-निर्णीत हैं।

अध्याय

नैतिक निर्णयका मानदण्ड

नैतिक निर्णयके मानदण्डका प्रश्न वास्तवमें नैतिक चेतनाके विकासका प्रश्न है। नैतिक चेतनाके विकासके ऐतिहासिक अध्ययनसे प्रकट होता है कि किस प्रकार नैतिक निर्णय अनेक बर्बर स्थितियोंको अतिक्रम कर आजकी विकसित अवस्थामें पहुँचा है। उसका मापदण्ड अब वैयक्तिक अथवा एकदेशीय नहीं रह गया है। वह सार्वभौम प्रामाणिकता प्राप्त कर चुका है। उसका ध्येय सार्वभौमिक कल्याण और उसका निर्णय मानवताका निर्णय है।

विषयप्रवेश

यह कहा जा चुका है कि नैतिक निर्णय स्वेच्छाकृत कर्मोंपर दिया जाता है अथवा उन कर्मोंपर, जिन्हें बुद्धिजीवी स्वतन्त्रतापूर्वक करता है। किन्तु प्रश्न यह है कि वह कौन-सा मापदण्ड है जिसके आधारपर कर्मोंको नैतिक अथवा अनैतिक कहते हैं, उनके औचित्य-अनौचित्यपर निर्णय देते हैं? कर्मोंके स्वरूपको समझनेके लिए मुख्यतः शुभ-अशुभ, उचित-अनुचितका प्रयोग किया जाता है। कर्मोंके विशेषणोंके रूपमें अन्य जितने भी शब्द मिलते हैं वे किसी-न-किसी रूपमें इन्हींके पर्यायवाची हैं। वह कर्म शुभ है जो ध्येयकी प्राप्तिके लिए उपयोगी है और वह कर्म उचित है जो नियमके अनुरूप है। इन अर्थोंपर ध्यान देनेसे यह प्रतीत होता है कि कर्मोंका मूल्यांकन करनेके लिए दो भिन्न मापदण्ड हैं: एक ध्येय सम्बन्धी और दूसरा नियम सम्बन्धी।

नियम और ध्येयकी समस्या

किन्तु विभिन्न मापदण्डोंकी धारणा वास्तवमें, मिथ्या है। नियमोंके उद्गमके इतिहाससे ज्ञात होता है कि निर्णयका मापदण्ड एक ही है। यदि

यह समस्या मिथ्या है

पूछा जाय कि मानव-विकासमें ध्येय और नियममें कौन सा मापदण्ड पूर्वनिर्धारित हुआ तो प्रथम दृष्टिमें ऐसा प्रतीत होता है कि नियमका मापदण्ड ही पहला मापदण्ड है। नियमके स्रोतपर ध्यान देनेपर यह भ्रान्ति दूर हो जाती है और यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्त अथवा अव्यक्त रूपमें नियमसे पहिले ध्येयका अस्तित्व अनिवार्य है। बिना ध्येयके नियमका निर्माण सम्भव नहीं है। नियम ध्येयका अनुगामी है, पूर्वगामी नहीं हो सकता। आदि कालमें लोगोंने व्यक्ति, समाज एवं समुदायकी आवश्यकताकी पूर्त्तिके लिए ही नियमोंका निर्माण किया। उनकी चेतनाने जिन नियमोंको प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे उपयोगी माना, आजकी नैतिक चेतना उन नियमोंको अनुपयोगी, अहितकर तथा हानिप्रद कह सकती है; किन्तु, आदिम चेतनाका मानव जिन भौतिक परिस्थितियों, जिस वातावरण तथा जीवन-यापनके जिन साधनोंके बीच रहता था एवं उस समय उसका जो मान-सिक-कायिक अस्तित्व था, वह तब उनसे अधिक स्वस्थ नियम नहीं बना सकता था। उस समयकी अविकसित चेतना ध्येयके स्वरूपको अधिक निश्चित एवं स्पष्ट कर सकनेमें असमर्थ थी। ध्येय, नियमोंकी प्रामाणिकता, कर्त्तव्य, अधिकार, उत्तरदायित्व आदिके बारेमें न तो वह सचेत थी और न उसे इनके बारेमें कोई जिज्ञासा ही थी। उसने झुण्ड, जाति एवं समु-दायके लिए हितकर नियमोंको स्वभावतः ही अनायास रूपसे अपनाया। वह उसकी नैतिक चेतनाकी सम्भावित स्थिति थी। आजकी विकसित चेतनाकी तुलनामें वह अविकसित, अर्धव्यक्त तथा सुप्त थी।

ध्येयकी पूर्तिके लिए ही नियम बनाये गये जो निर्माणात्मक दृष्टिसे ध्येयके लिए साधनमात्र थे। किन्तु व्यावहारिक जीवनमें उन्हें ही प्रधानता मिली; अपने आचरणमें व्यक्तिने उन्हींको प्रमुख माना। यही कारण है कि सर्वप्रथम नैतिक आदेश बाह्य आदेशके रूपमें प्रकट हुआ। नैतिकताकी अभि-व्यक्ति सर्वत्र-विभिन्न देश-कालोंमें इसी रूपमें हुई।

नैतिक आदेश बाह्य आदेशके रूपमें प्रकट हुआ

व्यक्तियों एवं जातियोंकी सहजप्रेरणाओं, आवेगों और इच्छाओंपर उसकी नैतिक-आत्माने नियन्त्रण नहीं रखा किन्तु बाह्य शक्तियोंने, अर्थात् प्राकृतिक, सामाजिक, दैवी आदि शक्तियोंने उसे नियन्त्रित रखा। इन शक्तियोंने बाह्य आदेशोंके रूपमें स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका दमन किया। इस स्थितिमें कर्म और परिणामको महत्व दिया गया, न कि प्रेरणाकी पवित्रता और चरित्रको। अतः नैतिक नियम अपने अभ्युदयकालमें बाह्य आरोपित नियम थे, न कि आत्म-आरोपित। उन्होंने आचरणके बाह्य पक्षपर निर्णय दिया, न कि आन्तरिक पक्षपर।

नैतिक नियमकी सर्वप्रथम वह स्थिति मिलती है जब कि व्यक्ति अहेरियोंका जीवन बिताता था। प्राकृतिक आवश्यकताएँ उसके जीवनको संचालित करती थीं, उसके कर्म अधिकतर आवेगजन्य होते थे। वे दूरदर्शितासे रहित, चिन्तनहीन, परिणामके विचारसे मुक्त थे। ऐसे कर्मोंको केवल वैयक्तिक आवेगोंसे प्रेरित कहना भी उचित नहीं है।

ऐतिहासिक स्पष्टीकरण : अस्थिर जीवन

उस युगका व्यक्ति अपनी जाति, समुदाय अथवा झुण्डका सदस्य था। 'अनुकरण और संकेत' का उसके जीवनमें स्थान था। जो कुछ भी उसने देखा उसे उसी रूपमें सहज भावसे स्वीकार कर लिया। वह जातिके प्रचलनों, रीति-रिवाजोंसे बद्ध था और प्राकृतिक शक्तियोंके उत्पातोंसे भयभीत था। वह अपने दलके मुखियाके आदेशको परम आदेश मानता था।

धीरे-धीरे वह इस अस्थिर अवस्थासे ऊपर उठा। उसके व्यवस्थित जीवनने आचरणके विशिष्ट नियमोंको जन्म दिया। किन्तु नियमोंका निर्माण करनेपर भी वह प्रचलनोंसे ऊपर नहीं उठ सका। वास्तवमें नियम द्वारा उसने प्रचलनोंको ही स्पष्ट रूप दिया। अतः नियम अपने मूल रूपमें प्रचलन ही हैं। जैसा कि प्रथम अध्यायमें कह चुके हैं एथॉस एवं मौरेस शब्द प्रचलनके सूचक हैं। समुदायों, जातियों और राष्ट्रोंकी नैतिकताके निर्माणमें इन प्रच-

स्थिर जीवन; नियमोंका जन्मदाता : प्रचलित नैतिकता

लनोंका अत्यधिक योग रहा है। इतना अवश्य है कि जब प्रचलने नियम बने तो उनमें अनायास ही कुछ परिवर्तन आ गये। उदाहरणार्थ, जब हत्या आदि दुष्कर्मोंके लिए दण्ड-विधान बना तो प्रतिशोध, द्वेष आदिकी धारणाओंको न्यायकी अस्पष्ट धारणाने आवृत कर दिया। नियमोंका यह युग प्रचलित नैतिकता (customary morality) का युग था। नियम और प्रचलनसे निर्देशित आचरण नैतिक आचरण है।

प्रचलित नैतिकता ही धनात्मक नैतिकता (positive morality) के रूपमें प्रकट होती है। यह धनात्मक नियमोंको जन्म देती है। धनात्मक नियम वह नियम हैं जिन्हें समाजके कल्याणके लिए जनसमुदाय स्वीकार करता है अथवा वे नियम जिन्हें कोई समाज, जाति या देश अपने समयके कर्मोंके सदसत्को निर्धारित करनेके लिए स्वीकार करता है। इन नियमोंका सम्बन्ध आचरणके बाह्य पक्षसे है। कर्म और परिणाम ही निर्णयका लक्ष्य है। वास्तवमें धनात्मक नियम या धनात्मक नैतिकता प्रचलनों, रीति-रिवाजों, विचारशून्य परम्पराओंपर आधारित होती है। मानव-जीवनकी विभिन्न स्थितियोंने ही जाने-अनजानेमें उसे जन्म दिया है। उसकी कम विकसित बुद्धिने अपनी शक्ति, ज्ञान और आत्मचेतनाके अनुरूप भौतिक, दैहिक, सामाजिक, भौगोलिक आवश्यताओंकी पूर्त्तिके निमित्त नियम बनाये। तत्पश्चात् भय, विश्वास तथा अभ्यासवश वह उन्हींका यन्त्रवत् पालन करने लगा। ऐसे अनेक नियम अथवा बाह्य आदेश हैं जिनका

उसके विभिन्न रूप

प्रचलनों और रीति-रिवाजोंके बारेमें यह मानना पड़ेगा कि उनकी उत्पत्ति अकारण नहीं हुई। उत्पत्तिके कारणोंपर प्रकाश डालना, उनका बौद्धिक स्पष्टीकरण करना अवश्य दुरूह एवं असम्भव है। उस स्थितिके व्यक्तियोंका बौद्धिक एवं मानसिक धरातल क्या था, उन्होंने अपने समयकी स्थिति-विशेषको कैसे समझा, क्या प्रतिक्रिया रही, नियमका निर्माण करनेके पीछे क्या प्रेरणा थी आदि समझे बिना उत्पत्तिके कारणपर प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

वह पालन करता है और साथ ही जिन्हें अनिवार्य मानता है। वे प्राकृतिक नियम, जातिके नियम, सामाजिक नियम, राजसत्ताके नियम, अधिकारी एवं शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा बनाये गये नियम इत्यादि हैं। इनके अतिरिक्त उसने शास्त्र, श्रुति, पण्डित, साधु-सन्तोंके आदेशोंको भी अनिवार्य माना। इन अनेक आदेशोंका पालन उसने हर्ष और उत्साहके साथ किया और अब भी कर रहा है।

प्रचलित नैतिकताका मानव

सभ्यताका प्रथम चरण बाह्य-नियमों अथवा प्रचलित नैतिकताका चरण था। उस समयका व्यक्ति झुण्डका सदस्य था। उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। वह प्रचलनों, रूढ़ि-रीतियों और नियमोंके जगतमें रहता था। उसका विश्व जातिका विश्व था। उसके नैतिक निर्णय झुण्ड, जाति एवं समाजके प्रचलनोंको अभिव्यक्ति देते थे। जातिके आचरणका अनुकरण करना उसका कर्त्तव्य था। सामाजिक व्यवस्थाके नियमोंका पालन करना उसका एकमात्र ध्येय था। जाति-चेतना उसे शासित करती थी। उसकी विवेकशक्ति एवं विधि-निषेधात्मक बुद्धिने अपना व्यक्तित्व तथा अपनी स्वतन्त्रता जाति-चेतनामें खो दी थी। जाति-चेतना ही उसके कर्मों तथा अन्य व्यक्तियोंके कर्मोंपर निर्णय देती थी। जातिकी भलाई तथा उसके सम्मानकी रक्षा ही उसके जीवनका ध्येय था। उसके नियमोंका अन्धानुकरण ही नैतिकता थी। वह यह मानता था कि प्रचलित रीतिके अनुरूप कर्म ही उचित और शुभ कर्म है। औचित्य-अनौचित्यका परममापदण्ड जाति ही है। जातिके नियमोंमें अनन्य श्रद्धा और विश्वास रखना अनिवार्य है। अतः उन नियमोंके विरुद्ध कुछ करना तो दूर रहा, वह उनके विरुद्ध सोचनेतककी कल्पना नहीं कर सकता था। वास्तवमें व्यक्तिके लिए प्रचलित नैतिकताका शासन तानाशाही राज्य था। वह उसकी स्वतन्त्र तर्कबुद्धिको विकसित करनेके बदले उसे कुण्ठित कर देती है। प्रचलित नैतिकताके अनुसार नियमोंकी प्रामाणिकतापर सन्देह करना भयंकर पाप है, उनके औचित्यको समझनेका प्रयास

करना नरकका मार्ग खोजना है और निर्धारित कर्त्तव्योंकी संहिताको ज्यों
त्यों स्वीकार कर लेना ही नैतिकता है। ऐसे स्थिर नियमोंको पूजनेव
व्यक्ति सामाजिक हितको अपना लक्ष्य नहीं बना सकता था। विका
साथ प्रगति करनेके बदले वह कट्टरपन्थी हो गया। नियमोंका अन्धानु
करनेके कारण उसने दुष्कर्मों और अनैतिक आचरणको अपना लि
नियमोंके स्रोतकी ओरसे विमुख हो जानेके कारण वह उनका पालन वे
अभ्यास और भयवश करने लगा। उसने उन नियमोंके मूलतत्वको
उनकी उपयोगिताको समझनेका प्रयास नहीं किया। वह धीरे-धीरे नै
ज्ञान-शून्य हो गया। वह रीति-रिवाजोंको ही सब कुछ मानने लगा। नै
संहिताओं, प्रचलित धारणाओं, विश्वास तथा धार्मिक आस्थाओंके अन्
आचरणको ही वह शुभ समझने लगा। उसकी दृष्टिमें वही व्यक्ति नै
गुणसम्पन्न रहा जो प्रचलित मान्यताओंका मूक भावसे पशुवत् प
करता हो; जिससे प्रचलन-रूपी तलवारकी धारका भय अमानु
असामाजिक और अनैतिक कर्म करवा देता हो।

ऐसे व्यक्तिके आचरणको नैतिक आत्मा संचालित नहीं करती, ब
पुरस्कार और दण्डकी भावना, पड़ोसीका भय, परिवेश, राजसत्ता
परिवारका मोह आदि बाह्य प्रतिबन्ध परिचालित करते हैं। उनसे भय
होकर वह एक विशिष्ट प्रकारसे कर्म करता है। ये उसे आदेश देते हैं
'ऐसा करो' और वह बलि-पशुकी भाँति उसे हरी घास समझकर
स्वीकार करता है। बिना समझे-बूझे नियमोंका पालन करनेवाला व
'यह करना चाहिये' अथवा 'यह करना उचित है' आदि तथ्योंकी उ
तथा आचरणके आन्तरिक पक्षकी ओरसे अचेत है। उसके आचर
बागडोर प्रचलनोंके हाथमें है। वह उनकी सत्ताको बिना आपत्ति
विरोधके चुपचाप स्वीकार कर लेता है। उनके विरुद्ध उसके मा
किसी प्रकारका संकल्प-विकल्प नहीं उठता। जिस वातावरणमें वह प
और रहता है उसके नियमोंका पालन करना ही उसके लिए स्वर्ग है
उसका उल्लंघन करना ही नरक है।

ऐसे व्यक्तिका आचरण नैतिकताकी कसौटीमें खरा नहीं उतर सकता। भगवान्, नरक, राजसत्ता, शक्तिशाली व्यक्ति, पड़ोसी, अदृश्य शक्तियों—आदिसे भयभीत होकर कर्म करना अनैतिक है। प्रचलित नैतिकताका अन्धानुकरण करनेवाला, अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको भूलनेवाला, बुद्धिको कुण्ठित करनेवाला, नैतिक ज्ञानपर रीतिका पर्दा डालनेवाला व्यक्ति सबकुछ होते हुए भी नैतिक मानव नहीं है। प्रलापी तथा धर्मोन्मादी लोगोंके पशु-सदृश व्यवहार करनेका यही कारण है कि उन्होंने अपनेको बाह्य नियमों तथा आडम्बरोंमें सीमित कर दिया है। उन नियमोंका पालन करके हम कहाँ पहुँचेंगे, इसे समझनेका प्रयास नहीं किया है। जीवनका क्या ध्येय है? सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? कल्याणके क्या अर्थ हैं? आदि समस्याएँ उनके जीवनमें नहीं उठतीं। यही कारण है कि वे नियमोंकी कमियों और बुराइयोंकी ओरसे उदासीन हैं। यह विरक्ति ही उनसे जड़-नियमोंका पालन तथा अनैतिक कर्म करवाती है। स्थिर नियमोंका पालन करना नैतिकता नहीं है। वही नियम नैतिक हैं जो मानवताके विकास और कल्याणके लिए शुभ हैं। विज्ञान और कलाकी उन्नति, सभ्यता और संस्कृतिका विकास, ज्ञान और अनुभवकी वृद्धि एवं जीवनका सांगोपांग अभ्युदय नियमोंमें भी परिवर्तनकी अपेक्षा रखता है। एक ही नियम सब कालों और परिस्थितियोंमें मान्य नहीं हो सकता। व्यक्तिकी मानसिक-कायिक स्थिति, उसकी आवश्यकता और परिवेश, समाजकी आर्थिक स्थिति, सांस्कृतिक चेतना, औद्योगिक और राजनीतिक क्रान्तियाँ नियमोंके सापेक्ष महत्वको समझाती हैं। परिस्थिति और समयके अनुसार कर्त्तव्यका रूप बदल जाता है। किन्तु विवेकहीन प्रचलनोंका दास मानव इस सत्यको नहीं समझ पाता।

प्रचलित नैतिकताकी दुर्बलताएँ

इसमें सन्देह नहीं कि अपनी प्रारम्भिक अवस्थामें नैतिक नियम प्रचलित लौकिक नीतियों और अनीतियोंके सूचक रहे। किन्तु कालक्रममें उनमें अनेक त्रुटियाँ आ गयीं, वे व्यावहारिक आवश्यकताओंकी पूर्ति नहीं कर सके। वास्तवमें प्रचलित नैतिकताका राज्य अविवेकका राज्य है। यह अपनी

प्रजाकी स्वतन्त्र बुद्धि और विवेकको निष्क्रिय कर देता है। परिणाम-स्वरूप प्रजा नियमोंको परम मान लेती है। वह अबौद्धिक आचरणको अपना लेती है और समझ-बूझकर कार्य नहीं करती। ध्येयको समझनेका प्रयास किये बिना ही स्थिर नियमोंको अपना लेती है। अपरिवर्तनशील नियम नैतिक विकासमें बाधा डालते हैं। वे जीवनकी प्रगतिके लिए अनुपयोगी हो जाते हैं और व्यावहारिक कठिनाइयोंको नहीं सुलझा पाते। वे जनसाधारणको अन्धविश्वास, रूढ़िप्रियता, चमत्कारवाद एवं थोथी आस्थाओं-विश्वासोंसे जकड़ देते हैं और इस बातपर जोर देते हैं कि रूढ़ि-रीतियों, ईश्वरीय नियमों, आप्त वाक्यों, श्रुतिसम्मत मतों, आगम-निगमोंके रहस्यों, धार्मिक आस्थाओं और कथनोंको बुद्धिसे ग्रहण करनेका प्रयास नहीं करना चाहिये। क्योंकि केवल वही लोग (पादरी, मसीहा, पण्डित आदि) इन्हें समझ सकते हैं जिन्हें भगवद् अनुकम्पा प्राप्त है। जनसाधारण यदि इनके उपदेशों और आदेशोंको नतमस्तक होकर स्वीकार नहीं करेगा तो उसे भयंकर यातनाएँ सहनी पड़ेंगी।

यातनाओंसे त्रस्त और भयभीत व्यक्तियोंने प्रचलित नैतिकताके अनुरूप कर्मको शुभ और उचित कहा। नैतिक दृष्टिसे जिन्हें विवेक-सम्मत कर्म कहते हैं वे प्रचलित नैतिकताके उपासकोंके पल्ड़ेमें अनैतिक उतरे। नरक, भगवान् और शक्तिशाली व्यक्तियोंसे घबड़ाकर जन-साधारणने अन्धविश्वासों और प्रचलनोंको अपना संबल बनाया। वह आस्थाओं, विश्वासों, रूढ़ि-रीतियों एवं बाह्य आदेशोंका जीवन बिताने लगा। एक ओर तो जनसाधारण बाह्याडम्बर, शारीरिक कष्ट, सामाजिक नियम, धार्मिक विधिपर आधारित अबौद्धिक जीवन बिताने लगा, दूसरी ओर समाजके लालची पण्डितों, शक्तिशाली व्यक्तियों, कूटनीतिज्ञोंने धर्मके नामपर अत्याचार करने प्रारम्भ किये। नैतिकताकी आड़में अमानुषीय कर्म होने लगे एवं अत्यन्त क्रूर तथा रोमहर्षक नियम बनने लगे। फल-स्वरूप सतीप्रथा, दासप्रथा, बाल-विवाह, बहुपत्नीप्रथा, देवदासीप्रथा आदि असभ्य रीतियाँ फैलने लगीं। इस रूपमें प्रचलित नैतिकताने मानव-

कल्याणके बदले रक्तपात करवाया। समाजमें एकता, स्नेह, प्रेम, सहृदयता, आत्म-त्याग आदिके बदले स्वार्थ, लोभ, द्वेष, क्रोध, भेदभाव, मनोमालिन्य आदि दुष्प्रवृत्तियोंका राज्य स्थापित हुआ।

कमियोंको दूर करनेका प्रयास

विवेकशून्य होकर नियमोंका पालन करनेवालोंको पग-पगपर अधिक नियमोंकी आवश्यकता हुई और प्रचलित नैतिकताका विधान व्यापक और विशाल होता गया। किन्तु लोगोंको वह फिर भी व्यावहारिक सहायता नहीं पहुँचा सका। उनका पथ-प्रदर्शन करना तो दूर रहा, विधानकी व्यापकता अपने आपको ही नहीं सँभाल सकी। उसमें आन्तरिक विरोध पैदा होने लगे। साधारण मनुष्यके लिए अपना कर्त्तव्य निर्धारित करना कठिन हो गया। यदि वह एक नियमको मानता है तो दूसरेका उल्लंघन करता है। पिताका कर्त्तव्य है कि वह अपने बच्चोंका पालन-पोषण करे, नागरिक होनेके नाते उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह देशकी रक्षाके लिए युद्ध करे। धर्म-ग्रन्थोंके अनुसार 'झूठ नहीं बोलना चाहिये', एवं 'आर्त्तकी रक्षा करनी चाहिये' किन्तु जबतक कर्त्ताको विषम स्थितियोंका सामना नहीं करना पड़ा तबतक तो ऐसे आदेश ग्राह्य हो सके पर यदि कभी ऐसी स्थिति आ गयी कि आर्त्तकी रक्षाके लिए झूठ बोलना आवश्यक हो गया अथवा सच बोलकर आर्त्तकी रक्षा करना सम्भव नहीं हो सका तो मनुष्य अपनेको असहाय स्थितिमें पाता है। उसकी समझमें नहीं आता है कि वह क्या करे। नैतिक नियमोंका जब सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि नियमोंसे विरोध होता है तब भी कर्त्ता असमंजसमें पड़ जाता है। इस कारण कुछ लोगोंने इन नियमोंको एकताके सूत्रमें बाँधनेका प्रयास किया। उदाहरणार्थ, मनुस्मृतिमें कर्त्तव्यकी व्यापक व्याख्या मिलती है। यह सच है कि कुछ हदतक व्यवस्थित नैतिक विधान बनानेमें सफलता भी प्राप्त हुई है। समाजमें अथवा व्यक्तियोंके समुदायमें एक मत मिल सकता है। जनसाधारणके विचारोंमें वंशपरम्परा, वातावरण, शिक्षा आदिके कारण समानता मिलना दुर्लभ नहीं है। विचारोंकी समानताके आधारपर नैतिक

कर्त्तव्योंकी रूपरेखा बनायी जा सकती है। किन्तु ऐसे नियम सदैव प्रचलित नैतिकताके अङ्ग रहेंगे। नैतिकता जनसाधारणके विचारोंकी समानताकी सूचक नहीं है, वह ध्येयकी प्राप्तिके लिए शुभ नियमोंका निर्देशन करती है। कर्त्तव्योंका विधान बनानेवालोंने चरम ध्येय अथवा उद्देश्यको समझनेका प्रयास नहीं किया। उनका नैतिक विधान ध्येयकी संगतिको प्राप्त नहीं कर सका। वह आन्तरिक विरोधसे नियमोंको मुक्त न कर सका। अतः ऐसे विधानोंको सन्तोषप्रद मान लेनेपर भी सार्वभौम मूल्यकी दृष्टिसे सफल नहीं कह सकते। पहिले तो जीवनकी प्रत्येक भिन्न परिस्थितिके लिए आचरणका नियम बनाना अपनी अतिव्यापकताके कारण एक असम्भव प्रयास है। परिस्थितियोंकी विभिन्नता और विषमता अनन्त कर्त्तव्योंकी अपेक्षा रखती है। परिस्थिति, देश और कालके अनुसार कर्त्तव्यका रूप बदल जाता है, अनन्त कर्त्तव्योंको समझना, उनकी गणना करना, उन्हें लिपिबद्ध करना, मानवशक्तिके परे है और यदि थोड़ी देरको यह मान भी लें, तो क्या मनुष्यकी स्मरणशक्ति अनन्त नियमोंको याद रख सकती है? क्या सदैव नियमोंको याद रखकर उनके अनुरूप बिना सोचे-समझे ही, कर्म करनेवाला व्यक्ति नैतिक है? क्या ऐसे समस्त नियमों एवं आदेशोंका पालन करना बौद्धिक और विवेकसम्मत है?

वास्तवमें बिना ध्येयको समझे न तो आचरणका मार्ग निर्धारित किया जा सकता है और न नियमोंके विरोधको दूर ही किया जा सकता है। नैतिकताका काम विशिष्ट नियमोंको देना नहीं है और न वह मनुष्यपर नियमोंको आरोपित ही करती है। वह केवल मार्ग-निर्देशित करती है और बुद्धिजीवी स्वेच्छासे उस मार्गको स्वीकार करता है। विशिष्ट कर्त्तव्योंकी रूपरेखा बनाना, जैसा कि अभी कहा जा चुका है, असम्भव तो है ही, अनैतिक भी है। फिर ऐसा व्यापक विधान नियमोंके विरोधको बढ़ाता है, घटाता नहीं। धर्मने इस विरोधको दूर करनेका एक भिन्न उपाय निकाला। धर्मनिष्ठका कर्त्तव्य है कि वह दैवी आदेशोंका चुपचाप, बिना आपत्ति किये, सविनय पालन करे। मनुष्यको चाहिये कि वह राजा,

धर्माध्यक्ष या प्रधान पुरोहितके निर्णयोंको दैवी उपदेश समझकर स्वीकार करे। प्राचीन कालमें भारतमें राजाको धर्मकी धुरी धारण करनेवाला माना जाता था। राजा ही प्रजाका पति तथा ईश्वर समझा जाता था। मध्य-युगीन यूरोपमें भी राजाके दैवी अधिकारों तथा प्रधान पादरीके आदेशों-का बोल-बाला था। किन्तु इस 'सविनय आज्ञा पालन' करनेकी आवाजको उठाकर भी धर्म व्यावहारिक कठिनाइयों और नियमोंके विरोधको सुलझा नहीं पाया। दैवी आदेशको परम कहकर उसने नियमोंके विधानमें जिस संगति और सामंजस्यको स्थापित करना चाहा वह सम्भव न हो सका।

यह काल वास्तवमें परिवर्तनका काल था। लोगोंके अनुभव और ज्ञानकी वृद्धिने, संस्कृतियोंके संघर्ष और कर्त्तव्योंकी मुठभेड़ने नैतिक बुद्धिको जाग्रत कर दिया। विकासकी सर्वांगीण उन्नतिने मनुष्यका ध्यान गूढ़ चिन्तनकी ओर आकर्षित किया। मनुष्यकी बुद्धिने अपनेको सुप्ता-वस्थासे मुक्त करके एकताकी माँग सम्मुख रखी और उसका समाधान करनेके लिए कर्त्तव्योंका संगतिपूर्ण विधान बनानेका प्रयास किया तथा 'सविनय आज्ञा पालन' करनेकी सलाह दी। लोगोंके सन्देह और संशयको, उनकी आपत्तियों और विरोधोंको 'दैवी इच्छा'के नामपर दूर करना चाहा। आत्मा, सत्य और न्यायकी पुकारको 'स्वर्गकी आकांक्षा', 'नरकका भय' अथवा पुरस्कार एवं दण्डके भयसे दबाना चाहा और इस प्रकार दैवी आदेशके नामपर नैतिकताका विनाश करना चाहा। यह सभी मानेंगे कि नैतिकता शक्तिशाली बाह्य आदेशोंकी अनुवर्तिनी दासी नहीं है। इसमें भी सन्देह नहीं है कि आचरणके नियम असंस्कृत और अनैतिक व्यक्तिके लिए अनिवार्य हैं। वे उसको शिक्षित बनानेके लिए परम उपयोगी हैं। किन्तु नैतिक व्यक्ति जब प्रचलनोंके अन्तःसत्यको सम-झनेका प्रयास करता है और उसे उनमें अन्तर्विरोध मिलता है तो उसकी आत्मा नियमोंकी विरोधी हो जाती है। वह उनके बन्धनोंसे अपनेको मुक्त कर यह जाननेका प्रयास करता है कि उसका ध्येय क्या है। जब धर्म या नीति उससे कहती है कि अपने पड़ोसीको अपने समान प्यार करो तो वह

जानना चाहता है कि उसका अपने प्रति क्या कर्त्तव्य है। क्या पड़ोसी और उसके अधिकार समान हैं? यदि समान हैं तो वह परस्परके स्वार्थोंके संघर्षके कारण विरोधी परिस्थिति उत्पन्न होनेपर क्या करे? यह एक नैतिक चिन्तनकी स्थिति है। बाह्य नियमके बन्धन और चेतनाकी आन्तरिक स्वतन्त्रताके विरोधका प्रश्न है। उसकी नैतिक चेतना बाह्य आरोपित नियमोंके विपरीत आत्म-आरोपित नियमके स्वायत्त्वको स्थापित करती है। वह विवेकसम्मत और उचित नियमोंको चाहती है। दण्डका भय और पुरस्कारकी लालच उसे अपने मार्गसे विचलित नहीं करती है। इस प्रकार व्यक्ति ज्यों-ज्यों नैतिक प्रौढ़ताकी ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों वह अपनेको बाह्य नियमोंसे मुक्त करता गया।

प्रचलित नैतिकताने अपनी दुर्बलताओंके कारण अपने विरोधी बीज बोये। रीति-रिवाजोंके संकुचित दायरेमें नैतिकता पनप नहीं सकी। उसकी

आन्तरिक नियमका बोध

घुटनने एवं धनात्मक नियमोंकी कट्टरताने लोगोंकी आलोचनात्मक बुद्धिको जाग्रत कर दिया। जीवनकी विषम परिस्थितियोंने विवेकको सक्रिय बनाया। व्यावहारिक कठिनाइयोंने प्रचलित मान्यताओंके प्रति सन्देह और अविश्वासको जन्म दिया। लोकमत और शास्त्रमतके प्रति मनुष्यने विद्रोह किया। उसने यह आवश्यक समझा कि वह इनको स्वीकार करनेके पहिले उनके सत्यको समझे और जब उसने उन्हें आलोचनात्मक कसौटीपर कसकर तर्कबुद्धिसे ग्रहण करना चाहा तो उसे रूढ़ियों और पूर्वग्रहोंके खोखलेपनका तथा धर्मके बाह्याडम्बर और प्रचलित आदेशोंकी व्यर्थताका बोध हुआ। उसने उन सबसे अपनेको मुक्त करनेका प्रयास किया और उसका ध्यान आन्तरिक नियमोंकी ओर खिंचा। इस प्रकार सर्वत्र ही नैतिकताका विकास बाह्य नियमोंसे आन्तरिक नियमोंकी ओर होने लगा।

नियमोंकी सत्यताको समझनेके प्रयासमें मनुष्यको यह ज्ञात हुआ कि प्रचलित नैतिकता विवेकसम्मत नहीं है। वह सच्चरित्रताको महत्व नहीं देती है, उद्देश्य, प्रेरणा एवं चरित्रका उचित मूल्यांकन नहीं करती है; वह

जीवनके बाह्य पक्षको ही सबकुछ मानती है, आन्तरिक पक्षकी ओरसे विमुख है। अपने मूलमें शुभ होते हुए भी वह आभ्यन्तरिक रूपसे अशुभ है, बौद्धिक दृष्टिसे खोखली और व्यावहारिक दृष्टिसे भ्रमपूर्ण है। उसके नियमोंमें देश-कालकी विभिन्नता एवं विचित्रता नहीं मिलती, अत्यन्त कट्टर हो जानेके कारण वह स्थिर नियमोंका समर्थन करती है, जिनका पालन करनेसे आत्मप्रबुद्ध व्यक्तिको सन्तोष नहीं मिल सकता क्योंकि वह अविवेकी एवं नैतिक ज्ञान-शून्य व्यक्तिकी भाँति नियमानुवर्तिताको ही सबकुछ नहीं समझ सकता। वह आन्तरिक नियमको भी जानना चाहता है। वह उस नियमको समझना चाहता है जिसके अनुरूप कर्म करनेके लिए वह बाध्य है।

नैतिक मापदण्ड क्या है? नैतिक निर्णयका मूल आधार क्या है? किस मापदण्डके आधारपर कर्मको उचित और अनुचित कहा जा सकता है? क्या नैतिकता उस मापदण्डको दे सकती है जो नियम, रीति-रिवाज एवं अभ्यासका स्थान ले सके या जो समाज, जाति, देशके ऊपर एक सार्वभौम वस्तुगत सत्यकी पूर्त्ति कर सके? वह कौन-सा अनुभव है जिसे हम अपने नैतिक आचरण द्वारा प्राप्त करना चाहते हैं? मनुष्यके विवेकने जानना चाहा कि कौन-सा आदेश सर्वोच्च आदेश है। जीवनमें जो अनन्त आदेश दीखते हैं उनमें कौन-सा आदेश वरेण्य है? आचरणमें किस मापदण्डकी शरण ली जाय कि आदेशों और नियमोंके जगतमें जो विरोध मिलता है वह दूर हो जाय? क्या प्रचलित नैतिकताको सही अर्थमें नैतिक कह सकते हैं? क्या उसके नियमोंका पालन करना शुभ है? क्या वे ध्येयके लिए उपयोगी हैं? क्या उनमें आत्मसंगति मिलती है? और यदि नहीं मिलती तो इसका क्या कारण है? संक्षेपमें, अनेक प्रकारके प्रश्नोंको उठाकर मनुष्यने नैतिक मान्यताओंकी प्रामाणिकताको जानना चाहा। व्यावहारिक कठिनाइयोंने उसे विवश किया कि वह नैतिकताके परम-स्वरूपको समझे। उसने तर्कबुद्धिसे काम लिया और व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयास किया। मनन और चिन्तन

उसे नैतिक प्रगतिकी ओर ले गये। दण्ड और पुरस्कारका युग अनायास ही पीछे छूट गया। बाह्य नियमोंका भय जाता रहा। मनुष्य सदाचारकी ओर झुक गया। प्रचलित नैतिकताका अनैतिक व्यक्तियोंके लिए जो कुछ भी महत्व रहा हो, नैतिक दृष्टिसे वह केवल ऐतिहासिक जिज्ञासाका समाधान करती है। उनके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार दण्ड-पुरस्कारके सामाजिक नियमसे व्यक्ति आत्मोन्मुखी हुआ और किस प्रकार नैतिकताके विकासके द्वितीय चरणने विचारप्रधान प्रणालियों (reflective systems) को जन्म दिया

विचारकोंने नियमोंको समझनेका प्रयास किया और वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि बाह्य शक्तिद्वारा आरोपित नियमोंका भय, विनय या दासताके भावसे पालन करना नैतिकता नहीं है। रीति-रिवाज, प्रचलनों और बाह्य नियमोंसे नैतिक व्यक्ति मुक्त है। वह उन्हीं नियमोंको अपने आचरणमें स्वीकार करता है जिनका कि उसका अन्तर्बोध (conscience)[१] अनुमोदन करता है। उसका जीवन अपने आपमें अपना नियम बना लेता है। नैतिक प्रौढ़ताको प्राप्त व्यक्ति बाह्य नियमका आज्ञाकारी नहीं है, वह अपने आन्तरिक नियम या अन्तर्बोधसे शासित है। नैतिक नियम वास्तवमें अन्तर्बोधकी देन है और नैतिक निर्णय अन्तर्बोधका निर्णय है। यह मनुष्यका अपना वैयक्तिक अधिकार है कि वह नैतिक क्षेत्रमें स्वतन्त्र निर्णय दे सकता है, अन्तर्बोधकी ध्वनिको सुन सकता है और उसके आदेशका पालन कर सकता है। अन्तर्बोध उसे बताता है कि उसे क्या करना चाहिये और आचरणका कौन-सा नियम उसके लिए उचित है। अन्तर्बोध नैतिकताका मापदण्ड है, वह व्यावहारिक मार्गको निर्धारित करनेवाला है।

अन्तर्बोधकी स्थिति

१. नैतिक नियमके आन्तरिक स्वरूपको सहज ज्ञानवादियों (Intuitionists) ने समझानेका प्रयास किया है। उन्होंने अन्तर्बोधके विभिन्न अर्थ किये हैं। वे अपने इस प्रयासमें कहाँतक सफल अथवा असफल रहे उसके लिए देखिये—भाग २, अध्याय १०।

अन्तर्बोधके शासनका काल नैतिक-जीवनका वह काल है जब कि मनुष्य प्रचलनोंकी नैतिकता तथा लौकिक आचारविधियोंसे विद्रोह करके अन्तर्दर्शनका ज्ञान प्राप्त करने लगा और अपने अन्तःकरणकी शुद्धतापर मनन-चिन्तन करने लगा। वह बाह्य नियमोंसे विमुख होकर आत्मिक सत्यको खोजने लगा, किन्तु अपरिपक्व मानसिक स्थितिके कारण वह अपने ही साम्प्रदायिक आवेश और कट्टरपंथीका शिकार हो गया। उसकी आस्थाओं, पूर्वग्रह, रूढ़िप्रियता और प्रचलनोंका भय ही उसके अन्तर्बोध द्वारा अपनेको व्यक्त करने लगे। इन दुर्बलताओंके होनेपर भी आन्तरिक नियमकी अपनी विशेषता रही। उनके प्रभावसे व्यक्ति नैतिक-रूपसे अधिक जागरूक हो गया। प्रचलित नैतिकताने आचारके बाह्य पक्ष-को—कर्मों और उनके परिणामोंको महत्व दिया था। किन्तु विवेक-सम्मत नैतिकता (Rationalistic Ethics) ने, अथवा विचारप्रधान प्रणालियोंने बाह्यके अतिरिक्त आन्तरिक पक्षको भी महत्व दिया। उसने इस बातकी ओर विशेषरूपसे ध्यान आकर्षित किया कि प्रेरणा, उद्देश्य एवं चरित्रको समझना आवश्यक है और बाह्य नियमोंके सविनय पालनको अनैतिक माना। उसके अनुसार नैतिक नियम आत्म-आरोपित हैं। प्रेरणाकी पवित्रता नैतिकताका चिह्न है। नैतिक कर्म 'हृदयकी पवित्रता'की अभि-व्यक्ति हैं। मन, वचन और कर्मसे नैतिक होना अनिवार्य है।

आन्तरिक नियम-की अच्छाइयाँ और बुराइयाँ

बाह्याचारसे मुक्त होनेके पश्चात् वह स्थिति आयी जब कि व्यक्तिने अपनी आत्मगत कठिनाइयों और सीमाओंसे अपने नैतिक ज्ञानको संकुचित कर दिया। किन्तु पूर्णरूपसे नैतिक होनेके लिए यह आवश्यक है कि वह आत्मगत सीमाओंसे ऊपर उठे; आत्मगतसे वस्तुगत, वैयक्तिकसे वैश्विक एवं अपूर्णसे पूर्णकी ओर जाय। अथवा उसके लिए आन्तरिक और बाह्य नियमकी एकता समझना अनिवार्य है। इस सन्दर्भमें नैतिक नियम आत्मगत होते हुए भी वस्तुगत हैं, सार्वभौम

नैतिक नियमका स्वरूप : आन्तरिक होते हुए भी वस्तु-गत और सार्वभौम

हैं। नैतिकताका मूल्य सार्वभौम है। बिना इसके सार्वभौम मूल्यको समझे व्यक्ति एवं राष्ट्र नैतिक प्रगतिकी ओर नहीं बढ़ सकते। उन्हें अनेक स्वभाव, वातावरण और परिवेशकी सीमाएँ बाँध देती हैं।

नैतिक नियम विशिष्ट व्यक्तियों, जातियों और राष्ट्रोंतक सीमित नहीं हैं। नैतिक विचार और मान्यताएँ व्यक्ति एवं जाति-विशेषकी थाती नहीं हैं, उनका मूल्य सार्वभौमिक है। सब प्राणियोंके लिए वे समान रूपसे अनिवार्य हैं और देश और कालकी परिधिसे भी मुक्त हैं। वे सब देश और कालमें समान रूपसे लागू हैं। उनका सार्वभौमिक मूल्य यह बतलाता है कि वे स्वतः वांछनीय हैं। उनका आदेश आत्माके सत्यका आदेश है, अतः निरपेक्ष है। ज्ञानी (नैतिक ज्ञानी) व्यक्ति ही इस निरपेक्ष तथा आन्तरिक आदेशको समझ सकते हैं। ज्ञान सद्गुण है इसलिए सत्यका ज्ञान ज्ञानियोंको सत्यकी ओर खींचता है, सदाचारी बनाता है। सदाचारके नियमोंको मनुष्य स्वयं अपने ऊपर आरोपित करता है। पण्डितों, शास्त्रों और श्रुतियोंकी दुहाई देकर नैतिक-नियम दूसरोंपर आरोपित नहीं किये जा सकते। स्वेच्छापूर्वक तथा समझ-बूझकर सदाचारके मार्गको ग्रहण करना ही नैतिकता है।

सदाचारका यह मार्ग आनन्दका मार्ग है। यह सदाचारियोंको आकर्षित करता है। उनके जीवनको अह्लादमय बनाता है। किन्तु जो व्यक्ति अपने नैतिक ज्ञानपर अविवेकका पर्दा डाल देते हैं और भयवश नियमोंका पालन करते हैं उनके लिए यह अत्यन्त कठिन और नीरस मार्ग है। नैतिक मार्गको अधिकांश व्यक्ति भयवश ही अपनाते हैं और फिर वे उलाहना करते हैं कि यह अव्यावहारिक और अतिमानवीय है। वे यह भूल जाते हैं कि नीतिके अनुसार व्यक्तियोंका आचरण उनके सामान्य और स्वतन्त्र जीवनका प्रतिरूप है। नैतिक व्यक्तियोंके कर्म उनके चरित्र एवं जीवन-सिद्धान्तके सूचक होते हैं। वे उन्हीं कर्मोंको करते हैं जिन्हें वे योग्य और मूल्यवान समझते हैं, जिनपर कि उनके जीवनकी सार्थकता निर्भर है।

नैतिक विचार, मान्यताएँ और निर्णय प्रारम्भमें विशिष्ट जाति, राष्ट्र,

समुदाय तथा परिस्थिति-विशेषतक सीमित थे। देश और काल- अथवा भौगौलिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्थितिके अनुरूप नैतिक-नियमोंमें भिन्नता थी। वे अपने ही उत्पत्ति-स्थल और निवास-स्थानके संकुचित-घेरेकी चेतनाको व्यक्त करते थे। वहींके लिए उनकी प्रामाणिकता थी। किन्तु धीरे-धीरे वे व्यापक और सार्वभौमिक होने लगे। उनकी सार्व-भौमिकताके साथ उनका आन्तरिक रूप भी स्पष्ट हो गया। नैतिक निर्णयके रूपका भी रूपान्तर हो गया। इस प्रकार नैतिक नियम मूल्यपरक हो गये। वे इसपर प्रकाश डालने लगे कि कौन-से कर्म अथवा नियम ध्येयकी प्राप्तिमें सहायक हैं और कौनसे नहीं हैं।

ध्येयकी धारणा उन्हें सार्वभौमिक प्रामाणिकता देती है

विकसित नैतिक चेतनाके व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्रके लिए यह जानना आवश्यक है कि उनके जीवनका गूढ़ आन्तरिक सत्य एवं ध्येय क्या है। प्रचलनों और नियमोंके जगतसे उन्हें उन्हीं नियमोंको स्वीकार करना चाहिये जो कि ध्येयके लिए सहायक हैं। नियमोंका अपना मूल्य अवश्य है। वे नैतिक बुद्धिके विकासमें सहायक होते हैं। नैतिक जीवनका आन्तरिक तथा बाह्य पक्ष अथवा बुद्धि तथा नियमोंका द्वन्द्व तथा उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना एक दूसरेके विकासमें सहायक होते हैं। अन्तर्बोधका आन्तरिक-नियम अपने-आपमें संकुचित होता है और प्रचलनोंका बाह्य नियम जर्जर तथा रूढ़िप्रिय होता है। नियमोंको स्वीकार करनेके पहले उनका मूल्यांकन करना अनिवार्य है। जब व्यक्ति विरोधी-नीतिवाक्यों और विरोधी-परिस्थितियोंमें पड़ जाता है एवं जब आचरणके औचित्य-अनौचित्यका प्रश्न उठता है तो उसे अपने ध्येयको सामने रखकर उसका निराकरण करना चाहिये। नियमोंके विरोधोंको ध्येयकी धारणा ही एकताके सूत्रमें बाँध सकती है। आर्त्तकी रक्षा करना और सत्य बोलनेमें विरोध नहीं है। आर्त्तकी रक्षा करनेके लिए सत्य न बोलनेमें पाप नहीं है। जीवनका ध्येय मानव-कल्याण है। उसे ही सम्मुख रखकर कर्म करने चाहिये।

वस्तुतः अपनी प्रारम्भिक अविकसित मनःस्थितिमें मनुष्यको अनिवार्यतः बाह्य नैतिक नियमोंकी आवश्यकता पड़ती है किन्तु जब उसके भीतर सदसत्का बोध उदय हो जाता है तब वह उन प्रचलित बाह्य नियमोंकी परीक्षा कर तथा उन्हें अपने अन्तर्सत्यकी कसौटीपर कसकर उनका वास्तविक मूल्य निर्धारित करता है और अपने लिए एक आन्तरिक नैतिक नियमको खोजनेका प्रयत्न करता है जिसे प्राप्त कर लेनेपर वह बाह्य नियमोंको रूढ़ि तथा संस्था सम्बन्धी सीमाओं तथा जड़ताओंसे मुक्त होकर उस सार्वजनिक अन्तर्सत्यके नियमसे परिचालित होना पसन्द करता है जो मनुष्यत्वके उपादानोंसे पूर्ण होनेके कारण सर्वकल्याणकर होता है।

ध्येयके स्वरूपको समझनेके क्रममें मनुष्य व्यक्तिविशेषके कल्याणसे विश्वके कल्याणकी ओर उन्मुख हुआ। प्रेमका आन्तरिक सिद्धान्त, सार्वभौम विवेक, कर्त्तव्य कर्म, निष्काम कर्म, अहिंसा, वसुधैव कुटुम्बकम्-की धारणाएँ विश्व-कल्याणकी धारणाएँ हैं। व्यक्ति नैतिक विश्वका सदस्य है। उसे उस नियमको अपनाना चाहिये जो मुख्यतः मानवीय है, मनुष्यत्वके बोधसे प्लावित है। नैतिक नियम जीवनका वह सिद्धान्त है जो कि एक ही विश्वके सदस्य होनेके कारण सब मनुष्योंकी धरोहर सम्पत्ति है। वह एक सार्वभौम धर्म तथा विश्वव्यापी सिद्धान्त है। आचरणका नियम सार्वजनीन है। उसकी सार्वभौमिकता उसके वस्तुगत स्वरूप-पर प्रकाश डालती है और उसका मानवीय पक्ष या गुण उसके आन्तरिक स्वरूपपर। वास्तवमें, नैतिक जगतमें बाह्य और आन्तरिकका भेद नहीं होता। जैसा कि कहा जा चुका है केवल बाह्य नियम अनैतिक और मानव-गौरव-विहीन हैं तथा केवल आन्तरिक संकुचित या सीमित एवं वैयक्तिक हैं। नैतिक जगतमें यह एक-दूसरेके विरोधी नहीं हैं प्रत्युत एक-दूसरेको पूर्ण और स्वस्थ बनाते हैं। नैतिक दृष्टिसे बाह्य नियम और कुछ नहीं हैं बल्कि आन्तरिक नियमोंके ही प्रतिबिम्ब हैं। आन्तरिक सत्य ही बहिर्मुखी होकर प्रवाहित होता है। नैतिक नियम सम्पूर्ण जीवनके सिद्धान्त

हैं। नैतिक निर्णय द्वारा मानवताका सत्य विकासकी ओर अग्रसर होता है और वह व्यक्तियों द्वारा अपनी पूर्णताको प्राप्त करता है।

द्वितीय भाग

नैतिक सिद्धान्त

अध्याय ९

सामान्य निरीक्षण

(क) विभिन्न नैतिक सिद्धान्त

नीतिशास्त्र इस तथ्यपर आधारित है कि मनुष्यके कर्म आत्म-निर्णीत होते हैं। उनका आचरण साभिप्राय होता है। बौद्धिक होनेके नाते वह जानना चाहता है कि किस परम ध्येयके लिए वह अपने जीवनको संचालित करे। अथवा नैतिक आदर्श क्या है? जीवनकी पूर्णता किसपर निर्भर है? आत्म-सन्तोष कैसे प्राप्त हो सकता है? उस सर्वश्रेष्ठ शुभका क्या स्वरूप है जो कि मानवीय गौरवका प्रतीक है? मनुष्य किसी भी नियम या आदेशका—चाहे वह आत्म-आरोपित हो या बाह्य-आरोपित—यान्त्रिक रूपसे पालन नहीं कर सकता। वह उसका अर्थ समझना चाहता है। नियमों और आदेशोंको व्यावहारिक रूप देनेमें उसे कई प्रकारकी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। विरोधोंका सामना करना पड़ता है। नियमोंमें भी आत्म-विरोध मिलता है। ऐसी असहाय अवस्थामें वह एक परममापदण्डकी खोज करता है। उस आदर्शको जानना चाहता है जिसके लिए नियम साधनमात्र हैं, जिसके द्वारा परस्पर विरोधी नियमोंकी आत्मातक पहुँचा जा सके। नियमोंको अन्तरात्माका ज्ञान ही उसका मार्गदर्शक बनकर उसके जीवनमें संगति लाता है और विरोधी नियमोंको एकताके सूत्रमें बाँधता है। उसे विदित हो जाता है कि उनका विरोध वास्तविक नहीं, स्थूल है। अपने सत्य रूपमें ये नियम परम आदर्शको प्राप्त करनेके भिन्न मार्ग हैं।

नैतिक आदर्श

यदि नैतिकताके इतिहासका अध्ययन करें तो मालूम होगा कि

नैतिक चिन्तनके शैशवकालसे ही परम आदर्शके स्वरूपके बारेमें दो विरोधी धारणाएँ चली आ रही हैं। नीतिज्ञोंने मनुष्य-स्वभावको बुद्धि और भावनाकी सामञ्जस्यपूर्ण इकाई न लेकर दो योद्धाओंका युद्धक्षेत्र मान लिया है। एक मतके अनुसार मनुष्यका मूलरूप भावनात्मक है और दूसरेके अनुसार उसका मूलरूप बौद्धिक है। दोनों प्रकारके मतके प्रतिपादकोंने अपनी मनुष्य-स्वभावकी धारणाके अनुरूप अपने-अपने सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है।

विवादका केन्द्र : व्यक्तिका स्वभाव

मनुष्यको भावनात्मक प्राणी माननेवालोंने कहा कि जीवनका चरम ध्येय अथवा नैतिक आदर्श सुख है। उसका कल्याण इन्द्रिय-सुखमें निहित है। इस इन्द्रियपरक नीतिशास्त्र(Ethics of Sensibility)के सिद्धान्तके अनुसार जीवनका ध्येय सुख (Hedone) है। यह सिद्धान्त सुखवाद(Hedonism)के नामसे प्रसिद्ध है। सुखवादका प्रतिपादन प्राचीनकालमें यूनानमें सिरेनैक्स (Cyrenaics) और ऍपिक्यूरियन्स (Epicoureans) ने किया और आधुनिक कालमें उपयोगितावादियों (Utilitarians) ने। इसके तीन रूप मिलते हैं: अनुभवात्मक, बौद्धिक और विकासात्मक।

भावना : सुखवाद

दूसरी ओर बुद्धिपरतावाद (Rationalism) मिलता है जिसके अनुसार मनुष्य पूर्ण रूपसे बौद्धिक है। उसका शुभ इन्द्रियसुखमें नहीं, बौद्धिकतामें है। बुद्धिपरतावादको बुद्धिपरक नीतिशास्त्र (Ethics of Reason) भी कहते हैं। इसका प्रतिपादन प्राचीनकालमें सिनिक्स (Cynics) और स्टौइक्स (Stoics) ने किया तथा आधुनिक कालमें कांट तथा सहजज्ञानवादियों (Intuitionists) ने।

बुद्धि : बुद्धिपरतावाद

नैतिक इतिहासके क्रममें सुखवाद और बुद्धिपरतावाद, दोनों ही, समय-समयपर भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होते गये। दोनों सिद्धान्तोंका अध्ययन यह बताता है कि नैतिक विचारकोंने शुभ (परमध्येय) को समझनेका प्रयास किया है। इन सिद्धान्तोंके प्राचीन यूनानी प्रवर्तक यह भलीभाँति

विरोधकी प्रगति : समन्वयकी ओर

जानते थे कि शुभका सम्बन्ध वास्तविक जीवनसे है। शुभ वह है जिसे कि प्रयास द्वारा व्यक्ति प्राप्त कर सकता है और जिसका वह आत्म-साक्षात्कार कर सकता है। उसका प्रत्यक्षीकरण करके वह आत्म-सन्तोष प्राप्त कर सकता है। यूनानी दर्शन आत्म-बोध (Self-realisation) को शुभ कहता है। आत्म-बोधका क्या रूप है? उससे अभिप्राय इन्द्रिय-तृप्तिसे है या बौद्धिक सन्तोषसे?—यह प्रश्न अपने उत्तरके लिए स्वयं इस प्रश्नपर निर्भर है कि मनुष्य क्या है? उसका क्या स्वरूप है और उसके सत्य-रूपको भावना अभिव्यक्त करती है या बुद्धि? 'आत्म-बोध' के स्वरूपको समझनेमें सुखवाद और बुद्धिपरतावाद दोनों ही दो रूपोंमें सम्मुख आते हैं, उग्र रूपमें और नम्र रूपमें। अपने उग्र रूपमें बुद्धिपरतावादने भावनाओंका उन्मूलन करना चाहा और सुखवादियोंने भोग-विलासपूर्ण मानव-जीवनमें बुद्धिको कंटक समझा। किन्तु जैसा कि उन सिद्धान्तोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है दोनोंने ही अपने-अपने सिद्धान्तोंकी परम सत्यता-को सिद्ध करनेके आवेगमें अपनी नींव खोद डाली। मनुष्य न तो भावना-शून्य ही है और न बुद्धिरहित ही। उसका नैतिक जीवन बुद्धि और भावनाके समन्वयकी अपेक्षा रखता है। सुखवाद बिना बुद्धिको स्वीकार किये नहीं टिक सकता है और बुद्धिवाद बिना भावनाको स्वीकार किये वास्तविक नहीं हो सकता। बुद्धि और भावना मानव-स्वभावके दो अविच्छिन्न अङ्ग हैं। इनका सन्तुलन बिगड़नेसे मनुष्य जीवनमें आगे नहीं बढ़ सकता। नम्र बुद्धिपरतावाद और नम्र सुखवादने इस सत्यको जाने-अनजाने स्वीकार किया। नम्र सुखवादियोंने प्रारम्भमें बुद्धिको भावनाकी दासीके रूपमें स्वीकार किया, जो उसके ध्येयके लिए साधन जुटाती है। अन्तमें वे इस तथ्यपर पहुँचे कि सुख बौद्धिक भी है। इसी प्रकार नम्र बुद्धिपरतावादियोंने प्रारम्भमें भावनाको शुभ जीवनका उपकरणमात्र कहा और अन्तमें उसे शुभ जीवनका अविच्छिन्न निर्माणात्मक अङ्ग मान लिया।

बुद्धिपरतावाद और सुखवादने अपने-अपने सिद्धान्तोंको सिद्ध करनेके आवेशमें न तो तर्कका आधार लिया और न मनुष्यके स्वभावको ही

पूर्णतावाद

समझनेका प्रयास किया। उन्होंने स्थूल बुद्धिसे काम लिया। एक ही व्यक्तित्वमें दो विरोधी प्रवृत्तियोंको देखा। एक ओर मनुष्यकी सामान्य इच्छाएँ हैं और दूसरी ओर उसकी वह बौद्धिक चेतना है जो निरन्तर इन्द्रियनिग्रह करनेका प्रयास करती है। सच तो यह है कि मनुष्यके पूर्ण संघटित व्यक्तित्वमें बिना इच्छाओंके बुद्धि निष्क्रिय है और बिना बुद्धिके इच्छाएँ अन्धी हैं। अतः स्थूलदृष्टिसे विरोधी होते हुए भी वे एक-दूसरेकी पूरक हैं। उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तोंकी मुख्य त्रुटि यही है कि उन्होंने मनुष्यके पूर्ण व्यक्तित्वको एवं बुद्धि और भावनाके एकत्वको नहीं समझा और उनके विरोधको अत्यधिक महत्व दे दिया। जनसाधारणमें जो जीवनयापनके दो मत मिलते हैं उनके मूलमें भी मानव-व्यक्तित्वकी यही भ्रान्तिपूर्ण धारणा है। सुखवादी और बुद्धि-परतावादी मनुष्यके व्यक्तित्वको बुद्धि और भावनाकी संगतिपूर्ण इकाई न मानते हुए जनसाधारणकी भाँति पूछते हैं कि उसके सत्य स्वरूपको इच्छाएँ अभिव्यक्त करती हैं या बुद्धि? नीतिशास्त्रके इतिहासमें यह विरोध हिरे-क्लिटस—डिमोक्रिटस, एण्टिस्थीनीज—ऍरिस्टिपस, जीनो—ऍपिक्यूरस, कडवर्थ-हौब्स और कांट-बैंथम आदिके बीच प्रकट हुआ। उसके साथ ही वह मत भी मिलता है जिसने मनुष्यके मूर्त्त व्यक्तित्वको समझनेका प्रयास किया। मनुष्य भावनामात्र या बुद्धिमात्र नहीं है। उसका मूर्त्त व्यक्तित्व उन दोनोंका समन्वय है। वह एक अविच्छिन्न इकाई है। वह जिस वांछनीय जीवनकी आकांक्षा रखता है उसमें न तो भावनाकी उपेक्षा कर सकते हैं और न बुद्धिकी। दोनोंकी तुष्टि अथवा आत्म-तुष्टि उसके जीवनका ध्येय है। यह मत व्यक्तित्वका नीतिशास्त्र (Ethics of personality) या पूर्णतावाद (Perfectionism) के नामसे प्रसिद्ध है। इसने दोनों सिद्धान्तोंकी सीमाओं और विरोधोंका अतिक्रमण करके उनमें सामञ्जस्य स्थापित किया। व्यक्तिका मूर्त्त व्यक्तित्व ही इनका संगम अथवा मिलन-भूमि है। इस मतकी ओर प्लेटो, अरस्तू और हीगलने ध्यान आकृष्ट किया।

उपर्युक्त तीन सिद्धान्तोंके अतिरिक्त अन्य मत भी मिलते हैं। उन मतोंको मिश्रित सिद्धान्तोंके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है और उनको उन्हीं सिद्धान्तोंके आधारपर समझाया जा सकता है। प्रमुख सिद्धान्त तीन ही हैं।

(ख) पूर्व-सुकरात युग

नीतिशास्त्रके इतिहासके प्राचीन युगका अध्ययन करनेपर ज्ञात होगा कि हिरेक्लिटस (Heraclitus)[1] और डिमोक्रिटस (Democritus)[2] प्रथम विचारक थे जिन्होंने नैतिक धारणाओंको दार्शनिक सिद्धान्तोंका तार्किक परिणाम माना। हिरेक्लिटस 'रोता हुआ दार्शनिक'के नामसे प्रसिद्ध है। वह कहता है कि परमतत्व एक है, प्रवाहमय है, गतिशील है। प्रत्येक वस्तु परिवर्तनकी स्थितिमें है। मनुष्यको चाहिये कि विवेकपूर्वक 'प्रकृतिके अनुसार' कर्म करे। अथवा यह मनुष्यके लिए बुद्धिमत्ता होगी कि वह विश्व-विधानके अथवा सृष्टिके नियमोंके अनुरूप अपने कर्मोंको संचालित करे। यही नहीं, उसके अनुसार बौद्धिक, प्राकृतिक और ईश्वरीय नियम एक ही हैं। तीनों एक ही सर्वभूत वस्तुगत व्यवस्थाकी अभिव्यक्ति हैं। विवेकीजन प्रकृतिके अनुरूप कर्म करके आनन्द (Complacency)को प्राप्त कर सकते हैं। यही निःश्रेयस् है। इन्द्रियोंके भ्रममें पड़ना आनन्दके बदले नीच इच्छाओंको स्वीकार करना है। विवेक सर्वसामान्य है। उसका नियम वस्तुगत नियम है। उसकी शरणमें जाकर ही मनुष्य आनन्दको प्राप्त कर सकता है। वह यह मानता है कि भगवान्की दृष्टिमें सभी कुछ शुभ और सुन्दर है। मनुष्य अपने सीमित दृष्टिकोणके कारण विश्वमें अन्याय देखता है। वास्तवमें विश्व पूर्ण है। वह ईश्वरीय नियम द्वारा संचालित होता है और विवेकीजन उस नियमको समझ सकते हैं एवं विश्वमें पूर्णता देख सकते हैं। हिरेक्लिटस

१. जन्म ५३० ई०पू०—मृत्यु ४७० ई०पू०

२. ,, ४६० ,, — ,, ३७० ,,

स्टोइक-सिद्धान्त (निःस्पृहतावाद) का अग्रदूत था। स्टोइक्सने यह समझानेका प्रयास किया कि 'प्रकृतिके अनुसार' कर्म करना ही मनुष्यका कर्त्तव्य है।

डिमोक्रिटस 'हँसता हुआ दार्शनिक' के नामसे प्रसिद्ध है। वह जड़-वादी था। उसने अणुवादको स्वीकार किया और कहा कि परमतत्व असंख्य अणुओंका समूह है। इन्द्रियविषयक सिद्धान्तोंसे उसने प्रबुद्ध आत्म-सुखकी नैतिकताका निगमन किया। नैतिकताका मूलतत्व सुख है। जीवनका ध्येय सुख है। यह सुख अच्छे स्वास्थ्य, प्रसन्न मुद्रा एवं मनःशान्तिपर निर्भर है। डिमोक्रिटस प्रथम विचारक था जिसने जीवनके चरम ध्येयको आनन्द बतलाया। आनन्दसे उसका अभिप्राय मनकी अविचलित स्थितिसे था। आनन्द अथवा प्रसन्न मनोभाव, आत्मोल्लास अथवा बौद्धिक सुखके लिए प्रयास करना चाहिये। उसके सम्मुख शारीरिक सुख तुच्छ है। परमसुखकी प्राप्तिके लिए हमें इच्छाओंको सीमित और संयमित रखना चाहिये। मृत्युके भयसे बचनेके लिए विवेक और ज्ञानसे काम लेना चाहिये। डिमोक्रिटस यह भी कहता है कि केवल अन्याय ही नहीं करना चाहिये अपितु अनुचित भी नहीं सोचना चाहिये। अन्याय सहना और करना दोनों ही पाप है। उसके सिद्धान्तमें अनेक नैतिक विचार मिलते हैं। किन्तु उसने उन्हें व्यवस्थित रूप नहीं दिया। एक संगतिपूर्ण व्यवस्थामें नहीं बाँधा। इतना अवश्य है कि उसके नैतिक दर्शनमें ऐपिक्यूरियनिज्मके बीच मिलते हैं। ऐपिक्यूरियनिज्म इसी सिद्धान्तका विकसित प्रतिरूप है।

डिमोक्रिटस

हिरेक्लिटस और डिमोक्रिटस दोनोंके सिद्धान्तोंके लिए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने अपने नैतिक विचारोंको व्यवस्थित रूपसे प्रस्तुत करनेका प्रयास नहीं किया। सच तो यह है कि सुकरातके पश्चात् ही नैतिक सिद्धान्तोंने विधिवत् व्यवस्थित रूपको अपनाया है।

पूर्व-सुकरात युगके सबसे प्रमुख नैतिक शिक्षक पाइथेगोरियन्स (Pythagoreans) थे। उस मतका प्रचारक पाइथेगोरस

पाइथेगोरियन्स

(Pythagoras)[1] था। पाइथेगोरसने अपने नैतिक और धार्मिक विश्वासोंके साथ भ्रातृभावका प्रचार किया। उसने संयम, सच्ची मित्रता, नियमों और राजसत्ताके आदेशोंके पालनको महत्व दिया। पाइथेगोरसकी प्रवृत्ति रहस्यवादी नैतिकताकी ओर थी। उसका कहना था कि मनुष्यका जीवन भगवान्के हाथमें है। मनुष्यको अपने जीवनको भगवान्के अनुरूप ढालना चाहिये। उसे दैवी आदेशका पालन करना चाहिये। सुखका त्याग करना चाहिये तथा पूर्वजन्मके पापोंको भुगतना चाहिये। उसके अनुसार दुःखसे छुटकारा पानेके लिए आत्महत्या करना पाप है। सुखके त्याग द्वारा सद्‌गुणयुक्त जीवन बिताया जा सकता है। वासनाओंसे मुक्ति पानेके हेतु बौद्धिक आत्माके लिए संयम रखना अनिवार्य है। वासनाओंपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। पाइथेगोरसके सिद्धान्तमें वैराग्यवादी व्यवस्थाके संस्थापकोंकी धारणाओंका पूर्ण ज्ञान मिलता है। वैरागियोंकी भाँति उसने भी ब्रह्मचर्य, मौन, प्रार्थना तथा आत्म-परीक्षणको महत्व दिया है। उसके सिद्धान्तमें प्रथम बार वैराग्यवादकी वह महत् धारणा मिलती है जिसके अनुसार नैतिकके लिए प्राकृतका त्याग आवश्यक है। उसके नैतिक आदेशोंमें थोड़ा-बहुत दार्शनिक तत्व होते हुए भी हठधर्मी मिलती है। वह अधिकतर भविष्यवक्ताकी भाँति बोलता है, न कि दार्शनिककी भाँति। यह अवश्य है कि उसके सिद्धान्तमें प्लेटोके दर्शनके चिह्न मिलते हैं।

पाइथेगोरियन्सके रहस्यवादी और वैराग्यवादी दृष्टिकोणकी विरोधी एक धाराका लगभग इसी समय प्रादुर्भाव हुआ जिसने यूनानी चेतनाके

सोफिस्ट्स

अनुकूल एक अन्य दृष्टिकोण—प्रकृतिवादको सम्मुख रखा। इस मतको सर्वप्रथम सोफिस्ट्स (Sophists)[2] ने अभिव्यक्ति दी। इन शिक्षकोंके समुदायने एथिन्सके नागरिकोंको योग्य

---

१. जन्म ५८० ई० पू०—मृत्यु ५०० ई० पू०

२. सोफिस्ट्सका युग ४५० ई० पू०—४०० ई० पू० के बीच माना जाता है।

नागरिक बनानेके लिए शिक्षित करनेका बीड़ा उठाया। उनका ध्येय व्यावहारिक था। वे लोगोंको नागरिक कर्त्तव्यमें प्रवीण बनाना चाहते थे। उन्होंने प्रथम बार नैतिक समस्याओंको लोगोंके सम्मुख रखा आचरण सम्बन्धी नियमोंकी ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। सामाजिक नैतिकता तथा राजनीतिक कर्त्तव्योंके आधारकी प्रामाणिकतापर सन्देह किया। उन्होंने उनके मूलतत्वोंको समझना चाहा। उनके अनुसार प्रचलित नियमों और संस्थाओंमें परमसत्य नहीं मिलता है। वे अपूर्ण और असत्य हैं। उन नियमोंके मूलमें व्यावहारिक आवश्यकता और उपयोगिता है। उदाहरणार्थ, उनका कहना था कि विधानके निर्माताओंने लोगोंका भगवान्में विश्वास उत्पन्न किया ताकि लोग भगवान्के भयसे पाप अथवा निन्द्य कर्म न करें और यदि करें भी तो बता दें। इस प्रकार उन्होंने संस्थाओं और नियमोंके कृत्रिम रूपका अत्यधिक बढ़ाकर वर्णन किया। यह उन्होंने सामान्य रूपसे गम्भीरतापूर्वक और स्पष्टरूपसे किया। यह उनका अत्यन्त साहसी प्रयास था। धर्मावलम्बी लोग उससे दुःखी और आहत हुए। उनका तिरस्कार करनेके अभिप्रायसे उन्होंने उन्हें 'सोफिस्ट्स' (वाक्छल करनेवाले)[१] कहा।

प्रकृति और रीति-रिवाज परस्पर विरोधी

नैतिकताके क्षेत्रमें उन्होंने प्रकृति (nature) तथा रीति-रिवाज (Convention)के भेदको स्पष्ट किया। लोगोंको समझाया कि प्राकृतिक नियमों और प्रचलित नियमोंमें क्या भेद है। किन्तु 'प्रकृति' शब्दका प्रयोग उन्होंने बहुत ही अनिश्चित रूपसे किया।[२] प्रत्येक सोफिस्ट शिक्षकने अपने अनुरूप इस शब्दका स्पष्टीकरण किया। इस

---

१. सोफिस्ट शब्दका सम्बन्ध यूनानी शब्द सोफोस (Sophos) से है जिसका शाब्दिक अर्थ ज्ञान (Wisdom) है। प्रारम्भमें सोफिस्ट शब्दका प्रयोग प्राध्यापक (Professor)के अर्थमें हुआ। बादमें प्लेटो और अरस्तूने 'वाक्छल'से इसे संयुक्त कर दिया।

२. बादमें स्टोइक्स और सुकरातने इस शब्दका स्पष्टीकरण किया।

समुदायके विश्वविख्यात उपदेशक प्रोटेगोरस (Protagoras) का कहना है कि प्रकृतिने सब मनुष्योंको उचितका ज्ञान दिया है। सोफिस्ट्सने प्रकृति और प्रचलनोंके भेदके द्वारा सन्देहवादकी नींव डाली। इस सन्देहवादको पल्लवित करनेमें यूनानकी तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक स्थितियाँ भी सहायक हुईं। अन्य देशोंके सम्पर्कमें आनेके कारण यूनानके राजनीतिक सम्बन्धोंमें वृद्धि हो गयी थी। इस तथ्यने यूनानियोंको जीवनके व्यावहारिक पक्षकी ओर अधिक ध्यान देनेको बाध्य किया। यूनानमें जो क्रान्तियाँ हुईं उनके कारण भी लोगोंका नियमों और प्रचलनोंपर विश्वास नहीं रह गया था। सोफिस्टोंके सन्देहवादमें वास्तवमें उनके युगका अविश्वास प्रतिबिम्बित होता है। सन्देहवाद द्वारा उन्होंने यह समझानेका प्रयास किया कि राजनीतिक, धार्मिक तथा नैतिक विचारोंमें परमसत्य नहीं है। उनके मूलमें सुविधा और आवश्यकता है। उन्होंने प्रचलित नैतिक और धार्मिक विश्वासोंको आमूल नष्ट करना चाहा।

सोफिस्ट्सका सिद्धान्त अत्यन्त वैयक्तिक है। उनके अनुसार ज्ञान अथवा सत्य सार्वभौमिक और वस्तुमूलक नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तियोंका अनुभव एवं उनका ज्ञान समान हो। ज्ञान व्यक्तिनिष्ठ है। शुभ, आत्मगत और सापेक्ष है। इस तथ्यको प्रोटेगोरस यह कहकर समझाता है कि 'मनुष्य ही सब वस्तुओंका मापदण्ड है।' अथवा जहाँतक ज्ञानका प्रश्न है, मनुष्य ही सब अर्थोंमें प्रमाण है। प्रत्येक मनुष्य अपने व्यक्तिगत सत्यका मापदण्ड है। प्रत्येक व्यक्ति जिन संवेदनाओंका अनुभव करता है, जो प्रभाव उसके मनपर पड़ते हैं वह उसके लिए सत्य है। प्रोटेगोरसकी उक्तिके विवादग्रस्त अर्थोंमें न जाकर हम इतना ही कहेंगे कि सोफिस्ट्सने शुभकी परिभाषाको सीमित बनाकर उसे सापेक्ष और व्यक्तिगत रखा। इस प्रकार उन्होंने सामाजिक शुभका निराकरण किया। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यकी धारणाको काल्पनिक बतलाया, उसे रूढ़िग्रस्त सिद्ध किया। उनका यह विश्वास था कि प्रकृतिने प्रत्येक व्यक्तिको औचित्यका ज्ञान दिया है। इस अर्थमें

ज्ञान—शुभ, सापेक्ष और वैयक्तिक

ज्ञानकी स्वतन्त्र वस्तुगत सत्ता नहीं है। वह आत्मगत है। उनके अनुसार निश्चयात्मक ज्ञान सम्भव नहीं है। उन्होंने ज्ञानमात्रको सन्दिग्ध कहा। वे उसके दार्शनिक रूपको नहीं मानते हैं। ज्ञानके इस पक्षको सुकरातने सम्मुख रखा। सोफिस्ट्स मतकी दुर्बलताओंको मानते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि वे अपने समयके प्रबुद्ध विचारक थे। उन्होंने अपने युगके बौद्धिक जीवनको जगाया। बुद्धि और प्रकृतिकी दुहाई देकर रूढ़ि-रीतियोंमें जो बुराइयाँ हैं उनकी ओर लोगोंको जागरूक किया। उन्होंने इस बातपर जोर दिया कि परममानवीय शुभको नैतिक ज्ञान द्वारा जाना जाय। ऐतिहासिक दृष्टिसे सर्वप्रथम उन्होंने शुभ अथवा कल्याणके अर्थका अन्वेषण करनेका प्रयास किया। उनके पूर्वके चिन्तक दर्शनका जीवनसे सम्बन्ध माननेपर भी जड़ जगतकी गुत्थियोंमें उलझे रहे। यह सोफिस्ट-सन्देहवादका ही परिमाण है कि लोग नैतिक समस्याओंकी ओर झुके।

(ग) सुकरात

सुकरात (Socrates)[1] ने सोफिस्ट्सकी चुनौतीका उत्तर देनेका प्रयास किया। सोफिस्ट्सने शुभके वैयक्तिक पक्षको महत्व दिया था।

सोफिस्ट्स की आलोचना : शुभ वस्तुगत है

वैयक्तिक शुभको सामाजिक शुभसे वियुक्त एक स्वतन्त्र अस्तित्व दे डाला था। इससे उनके सिद्धान्तका विकास परमस्वार्थवादकी ओर हुआ। सोफिस्ट्सका व्यक्तिवाद इस तथ्यको प्रकाशमें लाता है कि उन व्यक्तियोंके अतिरिक्त जो कि समाजका अनिवार्य निर्माणात्मक अंग हैं, सामाजिक शुभका कोई अर्थ नहीं है। सोफिस्ट्सके इस कथनको स्वीकार करते हुए यह भी ध्वनि निकलती है कि वैयक्तिक शुभ और सामाजिक शुभ एक ही हैं। किन्तु सोफिस्ट्स अपने परमस्वार्थवादकी धुनमें यह भूल जाते हैं कि व्यक्तिगत शुभ सामाजिक भी है। वे शुभके केवल व्यक्तिगत् पक्षको ही महत्व देते हैं। प्रत्येकका सम्बन्ध उसीतक सीमित रखते हैं। उनके इस सिद्धान्तमें

---

१. जन्म ४६९ ई० पू०—मृत्यु ३९९ ई० पू०

वैयक्तिक शुभकी सामाजिक शुभसे संगति नहीं मिलती है। इस सामाजिक मानव-शुभकी भावनाका खण्डन सुकरातने किया। उसने प्रोटेगोरसकी उक्ति—मनुष्य ही सब वस्तुओंका मापदण्ड है—में जो सत्य है, उसे स्वीकार किया और इस बातका समर्थन किया कि जिस शुभकी खोज हम करते हैं उसका सम्बन्ध मानव-कल्याण(Human well-being)से है और वह व्यक्तियोंके ही द्वारा प्राप्त हो सकता है। अथवा शुभका सम्बन्ध व्यक्तियोंसे है। किन्तु इस कारण हम इसे आत्मगत नहीं कह सकते हैं। जब सोफिस्ट्स कहते हैं कि शुभका सामाजिक जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं है तब सुकरात उनके विरुद्ध यह घोषित करता है कि शुभ वस्तुगत है, वह वैयक्तिक और सापेक्ष नहीं है। सुकरातके अनुसार यह भ्रान्तिपूर्ण है कि व्यक्तियों ही द्वारा प्राप्त हो सकनेके कारण ही शुभ आत्मगत है। सोफिस्ट्सके विरुद्ध वह यह सिद्ध करनेका प्रयास करता है कि शुभ व्यक्तिगत या आत्मगत नहीं है, उसका स्वरूप सार्वभौम और वस्तुगत है। वह सामान्य प्रत्ययों द्वारा समझा जा सकता है। नैतिक प्रत्ययोंकी परिभाषा या नैतिक धारणाओंकी व्याख्या की जा सकती है। सुकरातने यह समझानेका प्रयास किया कि सोफिस्ट्सने नैतिक धारणाओं(न्याय, संयम आदि)का बिना उचित रूपसे अर्थ समझे ही प्रयोग किया है अतः उनके प्रयोगोंमें विरोध मिलता है। सुकरातने परिभाषाओं द्वारा यह बताया कि शुभके विभिन्न रूपों अथवा गुणोंमें ऐक्य है। नैतिक गुणोंमें व्यक्तिगत भिन्नता नहीं है। उनकी अपनी स्वतन्त्र वस्तुगत सत्ता है। वह व्यक्तियोंके अनुभवों और भावनाओंपर निर्भर नहीं है। उन्हें बिना अपवादके प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है। देश, कालका भेद मिथ्या है। उदाहरणार्थ, संयम, न्याय आदिको सभी लोग सब समयोंमें शुभ कहेंगे। वे सार्वभौम हैं।

सोफिस्ट्सने नैतिक मान्यताओंका जिस भाँति स्पष्टीकरण किया उससे सुकरात असन्तुष्ट था। सोफिस्ट्सके सम्मुख उनका वैयक्तिक, व्यावसायिक तथा उपयोग-प्रधान दृष्टिकोण था। सुकरात नैतिक जिज्ञासु था। उसके जीवनका ध्येय आचरणकी पूर्णताको प्राप्त करना था। उसने सदैव

अपनेको नीतिशास्त्रका विद्यार्थी माना। जीवनके व्यावहारिक पहलूका गम्भीरतापूर्वक मनन किया। वह नैतिक विज्ञानका संस्थापक था। उसने सामान्य नैतिक धारणाओंकी उचित वैज्ञानिक परिभाषा देना आवश्यक समझा। विशिष्ट नियमोंको समझाना चाहा। विभिन्न नियमोंको एक व्यवस्थित विधानके अन्तर्गत रखनेका प्रयास किया। सोफिस्ट्सने प्राकृतिक नियमों और यथार्थ नियमों एवं रीति-रिवाजोंके बीच एक अनमेल खाई खोदी। सुकरातने प्राकृतिक नियमोंको यथार्थ नियमोंका आधार बताते हुए सामान्य विश्वासोंको समझाया। जनसामान्य-द्वारा स्वीकृत शुभ-अशुभके नियमोंको उनकी असंगत जटिलताओंके साथ स्वीकार किया। उनके विरोधोंमें साम्य स्थापित किया। उसके अनुसार सद्गुणोंके जगतमें अव्यवस्था नहीं है, व्यवस्था है, जिसे समझा और समझाया जा सकता है। उसके अनुसार सद्गुण ही ज्ञान है,[१] प्रज्ञा ही शील है। पूर्णज्ञान और पूर्णशील एक ही हैं। कर्म ज्ञान भिन्न नहीं है। शुभके ज्ञानको व्यवहारसे पृथक् नहीं कर सकते। संकल्पशक्ति सदैव बुद्धिके अनुरूप कर्म करती है। मूर्ख अथवा अज्ञानी ही अशुभ आचरण करता है। शुभका ज्ञाता सदैव शुभ कर्म करता है, उसे ज्ञात रहता है कि शुभाचरणमें उसका स्वार्थ[२] निहित है। अतः वह उसके विपरीत आचरण नहीं कर सकता। अशुभ आचरण करनेवाला

सद्गुण, ज्ञान, आनन्द एक ही हैं

१. Virtue is Knowledge.

२. स्वार्थ (interest) से सुकरातका अभिप्राय आत्मोन्नति और आत्मसन्तोषसे है। वह कहता है कि व्यक्तियोंको अपनी आत्माको पहचानना चाहिये। उसके अनुरूप कर्म करना चाहिये। अपनी अज्ञानावस्थाको समझकर और आत्माके सत्य स्वरूपको जानकर ही वह पवित्र आनन्दको प्राप्त कर सकता है। भौतिक सुख अथवा क्षणिक सुख उसके जीवनका ध्येय नहीं है। उसे प्रज्ञा, आनन्द अथवा पूर्णशीलकी स्थितिको प्राप्त करना चाहिये। आत्मज्ञान उसे स्वतन्त्रता देता है। आत्मज्ञ व्यक्ति परमशुभके अनुरूप कर्म

अज्ञानी अपने ही स्वार्थके बारेमें अनभिज्ञ है। व्यक्तियोंका स्वार्थ सदैव सामान्य शुभके अनुरूप होता है, क्योंकि शुभ सार्वभौम और अपरिवर्तनशील है। सद्गुण और मानव-कल्याण व्यक्तियोंकी बदलती हुई रुचिसे भिन्न अपवितर्नशील नियमोंके आश्रित है। शुभका ज्ञान व्यक्तियोंके आचरण और नियमोंमें एकरूपता ला देता है। शुभ वह है जो सार्वभौमरूपसे सबके लिए उचित है एवं लाभप्रद है। शुभ वह है जो कि परम उपयोगी (Supremely useful) है। शुभ और उपयोगी एक ही है। इनका ऐक्य सिद्ध करता है कि सद्गुणकी अन्तिम परिणति आनन्द (happiness) है। आनन्द ही सद्गुण है और सद्गुणमें आनन्द शीघ्रतासे चरितार्थ हो जाता है। बौद्धिक अन्तर्दृष्टि द्वारा शुभ एवं सद्गुणको समझा जा सकता है। इसके स्वरूपको समझ लेनेसे विवेकी व्यक्तिको बाह्य ऐहिक आकर्षणोंके प्रति घृणा एवं अरुचि हो जाती है। वह आनन्दको पवित्र सुख मानने लगता है, जिसका अभिप्राय है सामान्य सुखभोगका त्याग। आनन्द अपने आपमें साध्य है। उसकी प्राप्तिमें सहायक अन्य शुभ साधन एवं सापेक्ष शुभ हैं। परमशुभ आनन्द अथवा सद्गुण ही है।

(घ) उत्तर-सुकरात युग

सुकरातका प्रभाव

सुकरातके अनुसार चरित्रकी पूर्णताको प्राप्त करना ही मनुष्यका ध्येय है। उसका विश्वास था कि सदाचारी जीवन व्यतीत करना, उसके बारेमें लोगोंको दीक्षित करना ही दैवी आदेशका पालन करना है। उसने अपने आचरण, आख्यानों, व्यक्तिगत वाक्-विवादों द्वारा नैतिक-जीवनकी आवश्यकताकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट किया। सुकरातने किसी विशिष्ट सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं किया और न उसने नीतिशास्त्रपर कोई निबन्ध ही लिखा। उसने सदैव [illegible] जिज्ञासु माना। उसके आचरण और उपदेशके कारण नीतिशास्त्रने

करता है, विरोधी वासनाओं और इच्छाओंपर संयम रखता है। आत्मज्ञान द्वारा वह चरित्रकी पूर्णताको प्राप्त कर लेता है।

यूनानमें अपने लिए प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। सुकरातकी प्रेरणाके कारण ही लोगोंका ध्यान बाह्य जगतसे हटकर आचरणपर आया। उन्होंने नैतिक प्रश्नोंको समझना चाहा। उसकी मृत्युके पश्चात् कई सिद्धान्तोंका प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने धीरे-धीरे स्पष्ट रूप धारण किया।

सुकरातसे प्रभावित होकर चिन्तकोंने यह जानना चाहा कि परम शुभका क्या रूप है। सुकरातके साथ उन्होंने यह स्वीकार किया कि

सुकरात पन्थ

उचित जीवनके बारेमें व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तथा नैतिक विज्ञान सम्भव है। किन्तु प्रश्न यह है कि मानव कल्याण क्या है? उसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं? सुकरात-के पन्थको माननेवाले चार प्रमुख सिद्धान्त मिलते हैं: मेगेरियन (Megarian), प्लेटोनिक (Platonic), सिनिक (Cynic) और सिरेनैक (Cyrenaic)। ये चारों यह मानते हैं कि मनुष्यके लिए शुभका ज्ञान आवश्यक है। किन्तु शुभके स्वरूपके बारेमें इनमें पारस्परिक विरोध मिलता है। इसका मूल कारण यह है कि सुकरातके सिद्धान्तमें विच्छिन्न रूपसे अनेक विचार-धाराएँ मिलती हैं। उसके अनुयायियोंने उसको अपना गुरु मानते हुए उसके सिद्धान्तमें अपने ही विशिष्ट सिद्धान्तोंका प्रतिबिम्ब देखा। सुकरातके मुख्य शिष्योंमें प्लेटो और अरस्तू (Aristotle) हैं। अन्य सिद्धान्तोंके प्रतिपादक भी उसके शिष्य एवं अनुयायी थे।

मेगेरियनने अपने नीतिशास्त्रको रहस्यवादी बना दिया। वे व्यावहारिक दर्शनके नामपर तत्वदर्शनमें प्रवेश कर गये। अतः नैतिक दृष्टिसे वे

भिन्न शाखाएँ

महत्वपूर्ण सिद्धान्तका प्रतिपादन नहीं कर सके। प्लेटो, सिनिक तथा सिरेनैकके सिद्धान्तोंका हम आगामी अध्यायोंमें वर्णन करेंगे। संक्षेपमें, प्लेटोके लिए परम शुभ ज्ञान और सुखका सन्तुलित योग है किन्तु सिनिक और सिरेनैक विचारधारामें परम विरोध मिलता है। सिरेनैकके अनुसार जीवनका ध्येय इन्द्रियसुख है और सिनिकके अनुसार इन्द्रिय-विजय।

अध्याय १०

सुखवाद

सुखवाद (Hedonism) सामान्यतः उन सिद्धान्तोंका सूचक है जो सुखभोगको ही जीवनका परमध्येय मानते हैं। यह यूनानी शब्द

भूमिका

हीडोन(Hedone)से लिया गया है। हीडोनके अर्थ होते हैं, सुख। अतः वे सिद्धान्त जो सुखको जीवनका ध्येय मानते हैं सुखवादके नामसे प्रसिद्ध हैं। सुखवादके प्रवर्तक अपनेको सुकरातका अनुयायी मानते हैं। वे इस बातसे प्रभावित हुए कि सुकरातने अपने चारों ओरकी परिस्थितिका अधिकसे अधिक उपयोग किया। उन्होंने सुकरातके आचरणकी पवित्रता और सात्विकताको नहीं समझा। उसमें चतुराई और दूरदर्शिता देखी। सुकरातके अनुसार जीवनका ध्येय आनन्द है। सुखवादियोंने इसके अर्थ बदल दिये। आनन्दका अर्थ उन्होंने स्थूल इन्द्रियजन्य सुखसे लिया और कहा कि अधिकसे अधिक परिमाणमें सुखकी प्राप्ति ही जीवनका ध्येय है। सुखके स्वरूपको समझाते हुए उन्होंने कहा कि सुख भावनामात्र है और वह नैतिक मान्यताका केन्द्र-विन्दु है। नैतिक दृष्टिसे उसी कर्म, उद्देश्य तथा प्रेरणाको हम शुभ कहेंगे जो कि सुखकी उत्पत्ति तथा दुःखके विनाशमें सहायक होती है। वे अशुभ होते यदि वे दुःखप्रद होते और वे महत्वहीन होते यदि वे दुःख और सुख दोनोंमेंसे किसीका भी कारण नहीं होते। व्यापक दृष्टिसे सुखवादियोंको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है। कालक्रमके अनुसार प्राचीन और अर्वाचीन तथा सैद्धान्तिक रूपसे मनोवैज्ञानिक और नैतिक।

प्राचीन सुखवाद अथवा मनोवैज्ञानिक सुखवाद

प्राचीन कालमें सुखवादकी सर्वप्रथम नींव यूनानमें पड़ी। सुकरात-की मृत्युके पश्चात् उसके अनुयायी, ऍरिस्टिपसने उसके सिद्धान्तको

स्वार्थसुखवाद

स्पष्ट रूपसे समझानेका प्रयास किया। उसके इस प्रयासके फल-स्वरूप ही स्वार्थसुखवाद (Egoistic Hedonism) या मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism) की उत्पत्ति हुई। प्राचीन सुखवाद वैयक्तिक और स्वार्थपूर्ण है। वह इस तथ्यपर आधारित है कि मनुष्यका कर्त्तव्य केवल अपने ही प्रति है। मनुष्यको अपने सुखकी खोज करनी चाहिये चाहे उसका सुख दूसरोंके लिए विनाशकारी ही सिद्ध हो। दूसरोंके सुख-दुःखसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जब भी वैयक्तिक सुख और सामाजिक सुखके बीच विरोध उत्पन्न हो तब मनु[illegible] कि निश्चित-रूपसे अपने ही सुखकी खोज करे। मनुष्यका एकमात्र अपने प्रति कर्त्तव्य है, आत्मसुख ही उच्चतम नैतिक ध्येय है। यह सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक भी है। यह इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको मानता है कि मनुष्य स्वभाववश सदैव सुखकी खोज करता है। उसकी इच्छाका परम केन्द्र सुख है। उसकी सहजप्रवृत्तियाँ और स्वभाव सुखकी खोज करते हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवाद तथ्यात्मक है। वह मनुष्य-स्वभावका वास्तविक चित्रणमात्र, वर्णनमात्र करता है। वह पुनः दो भागोंमें बाँटा जा सकता है : स्थूल और संस्कृत (Gross and Refined)। स्थूल सुखवादी अधिकसे अधिक इन्द्रियसुखको महत्व देते हैं। वे कहते हैं कि मनुष्य आवेगपूर्ण और उत्तेजनापूर्ण जीवन बिताना चाहता है। किन्तु संस्कृत सुखवादी शान्त सुखको महत्व देते हैं। उनके अनुसार मनुष्य दुःखों और कष्टोंसे बचना चाहता है।

स्थूल सुखवादका प्रवर्तक ऍरिस्टिपस (Aristippus)[1] था। ऍरिस्टिपस सीरीन देशका निवासी था। अतः उसका सिद्धान्त सिरेनैक्स

स्थूल सुखवाद : सिरेनैक्स

(Cyrenaics) कहलाया। ऍरिस्टिपस अपनेको सुकरातका मतावलम्बी मानता था। सुक[illegible] सार जीवनका ध्येय आनन्द है। कम[illegible] मूल्यको सम-

1. जन्म लगभग ४३५ ई० पू०

झना ही बौद्धिक जीवनका उद्देश्य है। कर्मोंको समझना, उनके तात्कालिक भविष्यत् और सुदूर भविष्यत्के सुखप्रद और दुःखप्रद परिणामोंको समुचित रूपसे आँकना व्यक्तिका कर्त्तव्य है। ऍरिस्टिपसने सुकरातके इस सिद्धान्तको स्थूल सुखवादी रूप दे दिया। उसका कहना था कि जिस आनन्दकी ओर सुकरातने संकेत किया वह इन्द्रिय-सुखपर निर्भर है। इस प्रकार उसने इन्द्रियपरक सुखवाद या विशुद्ध सुखवाद (pure Hedonism) का प्रतिपादन किया। वह मनुष्यस्वभावकी दुहाई देकर कहता है कि मनुष्य सदैव सुखकी खोज करता है। जहाँतक सुखके स्वरूपका प्रश्न है सब सुख जातिमें समान होते हैं। उनमें केवल मात्राओं अथवा तीव्रताका अन्तर होता है। तीव्रताके आधारपर ही एक सुख दूसरे सुखसे अधिक वांछनीय और शुभ माना जाता है। शारीरिक सुख क्षणिक होनेपर भी मानसिक सुखसे अधिक तीव्र होते हैं। अतः वे अधिक वांछनीय हैं। तीव्र इन्द्रिय-सुख ही जीवनका ध्येय है।

जीवनका ध्येय : तीव्र इन्द्रियसुख

ऍरिस्टिपसने सोफिस्ट्सके सापेक्षवादको स्वीकार किया। उसने भी यह माना कि मनुष्य केवल अपनी संवेदनाओं और अनुभवोंका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तात्कालिक संवेदन ही ज्ञानका एकमात्र विषय है। मनुष्यका भविष्य अनिश्चित है। अनुभव बताता है कि तत्कालीन इन्द्रियसुख एकमात्र श्रेय शुभ है। अन्य कोई सुख इससे अधिक महान नहीं है। मनुष्य सदैव सुखका आलिंगन करता है। वह तात्कालिक सुखकी परवाह करता है। तात्कालिक शारीरिक सुख अनुभवगम्य सुख है। अधिकसे अधिक परिमाणमें सुख भोगना ही परम ध्येय है। आचरण-का मूल्य सुखके परिमाणपर निर्भर है। परिमाणके अनुपातमें ही आचरण शुभ और अशुभ है। जीवनका ध्येय केवल सुखप्रद जीवन व्यतीत करना नहीं है बल्कि उन विशिष्ट सुखोंका अधिकसे अधिक परिमाणमें उपभोग करना है जिन्हें व्यक्ति अपनी विवेकबुद्धिसे प्राप्त कर सकता है।

सुखका स्वरूप : तात्कालिक, अनुभवगम्य, अधिक परिमाण

मनुष्यकी सहज प्रवृत्ति और स्वभाव सदैव सुखकी खोज करते हैं। उसके कर्मोंका एकमात्र प्रेरक सुख है। मनुष्योंकी प्रेरणामें कोई अन्तर नहीं है; सब सुखकी प्रेरणासे प्रेरित होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अधिकसे अधिक सुखकी प्राप्तिके लिए प्रयास करता है। किन्तु अपने ज्ञान और अनुभवके अनुरूप कुछ लोग अधिक परिमाणमें सुख प्राप्त करते हैं और कुछ कम। नैतिक अज्ञानवश व्यक्ति दुःख प्राप्त करता है। शुभ आचरण वही है जो कि विशिष्ट परिस्थितमें अत्यधिक सुख प्राप्त कर लेता है।

सुख कर्मोंका एकमात्र प्रेरक

इस आधारपर ऍरिस्टिपसने सुकरातके विरुद्ध भी कहा कि कर्मोंके सुदूर भविष्यके परिणामोंको आँकनेकी आवश्यकता नहीं है। मनुष्यको तत्कालीन सुखकी चिन्ता करनी चाहिये। कर्मोंके औचित्यको उनके परिणामों द्वारा आँकना चाहिये। वही कर्म शुभ है जिसका परिणाम सुखप्रद है। कर्म अपने आपमें शुभ अशुभ नहीं हैं। परिणामों द्वारा ही उनका मूल्यांकन कर सकते हैं। सुखप्रद परिणामोंको महत्ता देनेके लिए वह यहाँतक कहता है कि चोरी, पाप, व्यभिचार आदि कुछ स्थितियोंमें शुभ हैं। सुख चाहे किसी प्रकारका हो, शुभ है। केवल इतना आवश्यक है कि वह साम्प्रतिक (तत्क्षण) और अनुभवगम्य हो। मनुष्यको उसी सुखका त्याग करना चाहिये जिसका परिणाम दुःखप्रद हो। वही आचरण शुभ है जो कि सुखप्रद है अथवा सुखके लिए उपयोगी है। वही कर्म बौद्धिक और विवेकसम्मत है जो कि सुखके लिए साधनमात्र है। वही ज्ञान और संस्कृति ग्रहण करने योग्य है जो कि सुखप्रद है।

कर्मोंके तत्कालीन परिणाम महत्वपूर्ण : शुभ, अशुभके सूचक

ऍरिस्टिपस यह भी कहता है कि विवेकी व्यक्ति आत्म-संयम द्वारा अत्यधिक सुखका भोग कर सकता है। सुखकी प्राप्तिके लिए विवेकसे काम लेना आवश्यक है। यही नहीं, वह अपनी [illegible]वादी धारणाका संशोधन-सा करता हुआ कहता है कि मनुष्यको अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता कभी नहीं

सिद्धान्तमें गोपन विरोध

खोनी चाहिये। उसे सुखपर अधिकार करना चाहिये न कि सुखको उस-पर। सुखभोगके बीच उसे अपनी बौद्धिक दृढ़ता कभी नहीं खोनी चाहिये। एक ओर तो वह मनुष्यको चिन्तनशून्य जीव मानते हुए कहता है कि जीवनका ध्येय इन्द्रियसुख है और दूसरी ओर सुखी जीवनके लिए बुद्धि आवश्यक मानता है। वह कहता है कि व्यक्ति सुखोंकी प्राप्ति कर सकता है यदि वह इतनी बुद्धिमत्ता रखे कि परिस्थितिको समझ ले और साथ ही इतना साहस और दृढ़ता रखे कि उसे सँभाल ले।

विरोधको स्वीकार करना उचित

ऍरिस्टिपस प्रथम विचारक था जिसने कि परमजड़वादको अपना-कर इन्द्रियसुखको शुभ कहा। उसका विश्वास था कि सब प्राणी केवल सुखकी खोज करते हैं और दुःखसे अलगाव रखते हैं। मनुष्य-जीवनका ध्येय मूर्त और यथार्थ है। अनुभव-गम्य शारीरिक सुख परमशुभ है। जड़वादी होनेके नाते वह यह भी मानता था कि भविष्य अनिश्चित है, जीवनका कोई भरोसा नहीं है, शरीर नष्ट होनेपर धूलमें मिल जायगा, आदि। अतः वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि इन्द्रियोंका अधिकसे अधिक सुखभोग बुद्धि-मानी है। विवेकी व्यक्तिको अत्यन्त तीव्र सुखकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना चाहिये, चाहे उसको दुःख सहना पड़े और लांछित होना पड़े।[१] उद्वेग और उत्तेजनाहीन जीवन अवांछनीय और हेय है। यह सिद्धान्त गूढ़ नैतिक सन्देहवादका सूचक है। यह उस अविश्वासको प्रतिबिम्बित करता है जो कि सन्देहवादी स्वभावतः ही गहन नैतिक आदर्शोंके प्रति रखता है। अर्थात् जीवन क्षणभंगुर है, आत्मा अमर नहीं है। शाश्वत नैतिक नियम नहीं है, कर्मवाद मिथ्या है। जीवन संगति और नियमशून्य

१. इसी प्रकारकी विचारधारा भारतमें चार्वाक दर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। उनके अनुसार मनुष्यको जीवनभर सुख भोगना चाहिये। उन्होंने आत्मरति और सम्भोगको आदर्श माना। उनकी यह उक्ति है: ऋण लेकर भी घी खाना चाहिये। "यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत।" देखिये—भाग ३, अध्याय १।

है। न्यायशील ईश्वर नहीं है, चेतन सृष्टिकर्त्ता नहीं है। सब कुछ मिट्टीसे बना है और मिट्टीमें मिल जायगा। वासनाओं और कामनाओंका अनियन्त्रित प्रवाह ही जीवन है। जीवनकी यह क्षणभंगुरता घोर निराशाको उत्पन्न करती है और यह निराशा तत्कालीन सुखमें मुक्ति देखती है। जीवनको चिन्तनरहित करना ही इस निराशासे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय लगता है। निराशासे छुटकारा पानेकी व्याकुलतामें नीतिज्ञ यह भूल जाता है कि केवल वासनाओं और उद्वेगोंके आवेगमें बहना बुद्धिजीवीके लिए असह्य है। वह पुनः पशुकी अविकसित मानसिक स्थितिमें उतरना कदापि न चाहेगा। यही नहीं, केवल इन्द्रियसुख उस [illegible] शुभ नहीं हो सकता जो कि बुद्धि और इन्द्रियोंका योग है। ऐसा जीव मात्र वासनाओं और भावनाओंके आत्मघाती जीवनका आलिंगन नहीं कर सकता है। चिन्तनप्रधान जीव चिन्तनशून्य नहीं हो सकता। अपने आदर्शको निर्धारित करनेके लिए वह बुद्धिकी सहायता लेता है। विशुद्ध इन्द्रियपरक सुखवाद असम्भव है। सफल इन्द्रियसुखभोग बिना बुद्धिके सम्भव नहीं है। इस तथ्यको ऍरिस्टिपस भी अस्वीकार नहीं कर पाया। वह मानता है कि सफल इन्द्रिय जीवन बुद्धिकी सहायता और सक्रिय सहयोगपर ही निर्भर है। अथवा जैसा कि वह स्वयं कहता है कि सुखकी प्राप्तिके लिए विवेक आवश्यक है। बादमें, दुर्भाग्यवश, यह सिद्धान्त उन लोगोंके हाथमें पड़ गया जो कि संस्कृत और मार्जित रुचिके नहीं थे। उन्होंने सुखवादके नामपर आत्मरतिका प्रचार किया।

सिरेनैक्स पन्थको ऍपिक्यूरस (Epicurus)[1] ने विकसित और गौरवान्वित बनाया। ऍपिक्यूरसका सिद्धान्त उसके नामसे प्रचलित हुआ।

संस्कृत सुखवाद: ऍपिक्यूरियनिज्म

वह ऍपिक्यूरियनिज्म (Epicureanism) कहलाया। ऍपिक्यूरसने अपने सिद्धान्तमें स्थूल सुखवादको डिमोक्रिटसके अणुवाद तथा आत्मानन्दकी भावना[illegible] किया। उसका विश्वास था कि मानव-कल्याणको वैज्ञानिक रूपसे समझना

१. जन्म ३४१ ई० पू० —मृत्यु २७० ई० पू०

ही दर्शन है। दर्शन एवं विवेकपूर्ण ज्ञान उन उपायोंके बारेमें बताता है जो कि ध्येयके लिए आवश्यक हैं। वह पदार्थ विज्ञान और तर्कशास्त्रके ज्ञानको भी मानव-कल्याणको समझनेके अनिवार्य साधनोंमें मानता था। पदार्थविज्ञान बताता है कि भौतिक विश्वमें मनुष्यका क्या स्थान है। तर्कशास्त्र सत्यकी जाँचके लिए कसौटी देता है। ऐपिक्यूरसने अपने सिद्धान्तमें संवेदनात्मक मनोविज्ञानको स्वीकार किया और कहा कि संवेदना ही ज्ञानका एकमात्र स्रोत है। अतीतके अनुभव, स्पष्ट स्मृति और प्रत्यक्ष अनुभव ही सत्यके ज्ञानको देते हैं। सिरेनैक्सके सुखवादको उसने सुकरातके विवेकबुद्धि और डिमोक्रिटसके बौद्धिक सुखके ढाँचेमें ढालनेका प्रयास किया। वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि सुख केवल भावनात्मक नहीं होता, बौद्धिक और सामाजिक भी होता है।

सामान्य निरीक्षण यह बताता है कि सब जीव जन्मके समयसे ही सुखकी खोज करते हैं और दुःखसे बचनेका प्रयत्न करते हैं।

ध्येय:सुख : यही शुभ आचरणका मापदण्ड

सुखके प्रति मनुष्यकी स्वाभाविक रुचि है और दुःखके प्रति उसकी सार्वभौम तथा अनिवार्य रूपसे अरुचि है। सुख मनुष्यका प्रथम और स्वाभाविक ध्येय है। उसकी प्राप्तिके लिए प्रत्येक प्राणी प्रयास करता है। अतः यह शुभ है। मनुष्यका कल्याण सुखभोगमें है। सुख आचरणका परम मापदण्ड है। यही नीतिशास्त्रका प्रथम सिद्धान्त है। 'दुःखसे बचाव, सुखकी खोज' अथवा 'सुखके प्रति आसक्ति, दुःखके प्रति विरक्ति' यह सार्वभौम मान्यता है। जीवनका परमध्येय सुख है। सुख और दुःख कर्मकी एकमात्र प्रेरणाएँ हैं। सार्वभौम अनुभव यह बताता है कि प्रत्येक प्राणी कर्मोंके औचित्य और अनौचित्यको भावनाके मापदण्डसे तौलता है अथवा सुख-दुःख द्वारा कर्मके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित करता है। उन्हें ही वह शुभ-अशुभका मापदण्ड मानता है। उन्हींके आधारपर यह बताया जा सकता है कि मनुष्यके लिए क्या वांछनीय है। उसे किस मार्गको अपनाना चाहिये, किसका त्याग करना चाहिये।

ऐपिक्यूरसका यह कहना था कि जीवनका ध्येय सुख है और सब सुख आभ्यन्तरिक रूपसे शुभ हैं। साथ ही वह यह भी मानता था कि सुखोंकी श्रेष्ठता तथा अधिक वांछनीयताको व्यावसायिक बुद्धि द्वारा आँकना आवश्यक है। उसने यह स्पष्ट रूपसे समझाया कि नैतिक जीवनके लिए बुद्धि अस्तित्वहीन और अर्थशून्य नहीं है, उसका महत्व है। सच्चे ध्येयकी प्राप्तिमें वह सहायक होती है। ऐपिक्यूरसने अपने सिद्धान्तमें सिरेनैक्सकी दो विरोधी धारणाओं—क्षणिक सुख और आत्म-संयम—में सामञ्जस्य स्थापित करनेका प्रयास किया। उसने स्थूल सुखवादके साथ विवेकबुद्धिको महत्व दिया। इस प्रकार संस्कृत सुखवादमें सिरेनैक्स और सुकरातके विवेककी धारणाको एकताके सूत्रमें बाँधा गया है। शुभ जीवन बुद्धिहीन नहीं है। जीवनका ध्येय क्षणिक सुख नहीं, सुखी जीवन है। यहाँपर उसने प्लेटो और अरस्तूके इस कथनको कि बुद्धि जीवनकी मार्गदर्शी है, सुखवादी रूप दिया है। जीवनका ध्येय सुख है। बुद्धि उस ध्येयको प्राप्त करनेके लिए साधन देती है। बुद्धि यह बताती है कि उस सुखकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना चाहिये जो सर्वथा दुःख-रहित हो। भविष्यमें यदि अधिक सुखकी सम्भावना हो तो उसके लिए तत्कालीन सुखका त्याग उचित है। अथवा उस सुखका त्याग उचित है जो अधिक सुखके मार्गमें बाधक है। अतः सिरेनैक्सके क्षणिक सुखके विरुद्ध वह कहता है कि यदि भविष्यमें अधिक अथवा स्थायी सुखकी सम्भावना हो तो उसके लिए तत्कालीन सुखका त्याग उचित है।

उचित सुखोंको अपनानेके लिए विवेकबुद्धि आवश्यक

व्यावसायिक बुद्धिके इस आदेशको सम्मुख रखकर ऐपिक्यूरसने सुखका दो भागोंमें विभाजन किया। इन्द्रियका सक्रिय सुख और बौद्धिक या निष्क्रिय सुख। इन्द्रियसुख प्रत्यक्ष, सजीव, तीव्र और क्षणिक होता है बौद्धिक सुख शान्त ... और चिरस्थायी होता है। वह दुःख और चिन्तासे रहित होता है। बुद्धि बताती है कि मनुष्यको सुखी जीवन बिताना

सुख : दो प्रकार—ऐन्द्रियिक, बौद्धिक

चाहिये। इस अर्थमें क्षणिक और आवेगपूर्ण सुख जीवनका ध्येय नहीं है। सुखकी अन्धखोज, आवेगपूर्ण खोज सुखसे अधिक दुःख देती है। अतः सुखका मूल्यांकन केवल तीव्रताके अनुसार नहीं करना चाहिये किन्तु उसकी दीर्घता और स्थिरताको महत्व देना चाहिये तथा उसके परिणाम-स्वरूप सहवर्ती पीड़ासे मुक्ति[illegible]पर भी ध्यान रखना चाहिये। बुद्धि और स्मृति यह बताती है कि विवेकपूर्वक सुखकी खोज करनेपर ही सुखी-जीवन सम्भव है। सुखी जीवनके दो आवश्यक आलम्बन हैं। दैहिक दुःखका अभाव तथा मानसिक अशान्तिका अभाव। इस मापदण्डसे

बौद्धिक सुखकी श्रेष्ठता : सिरेनैक्स-से मतभेद

ऐन्द्रियिक सुख और बौद्धिक सुखका मूल्यांकन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धिक सुख अधिक श्रेष्ठ है। इन्द्रियसुख केवल शारीरिक भूखको तृप्त करता है। वह सदैव उत्तेजना, व्यग्रता तथा अशान्तिसे युक्त रहता है। किन्तु बौद्धिक सुख, दुःख और वासनाओंको शान्तिपूर्वक सुला देता है। वह दैहिक सुखकी भाँति केवल वर्तमान सुखका दाता ही नहीं है किन्तु भूत और भविष्यके सुखको भी अपनेमें संचित रखता है। मानसिक सुख केवल प्रस्तुत संवेदनोंतक ही सीमित नहीं है, वह सुखप्रद स्मृति और सुखमय आशाका भी सूचक है। इस आधारपर ऍपिक्यूरसने सस्ती इन्द्रिय-परायणताकी कटु आलोचना की। एक ओर तो उसने यह स्वीकार किया कि देह ही सुखका मूलस्रोत है, यथार्थ शुभ दैहिक सुख है और दूसरी ओर उसने बौद्धिक विश्लेषण द्वारा मानसिक सुखको अधिक महत्वपूर्ण कहा। शारीरिक दुःखकी तुलनामें मानसिक दुःख अधिक तीव्र, दीर्घकालीन और असह्य होता है। इसलिए मानसिक सुखको मानव-जीवनके लिए अधिक महत्वपूर्ण मानना चाहिये।

ऍपिक्यूरसके अनुसार जीवनका ध्येय सुख है। उसकी प्राप्ति बुद्धि [illegible]व है। भावना अपने आपमें अन्धी है। ध्येयके स्वरूपको निर्धारित कर ल[illegible]र भी वह अपनी तृप्तिके साधनको बुद्धिकी सहायतासे खोजती है। ऍपिक्यूरस जीवनकी हलचलमें विश्वास नहीं करता था।

उसके अनुसार जीवन उद्वेगों और आवेगोंका वासनापूर्ण तूफान नहीं है।

बौद्धिक सुख : शान्त सुख

वह एक संगतिपूर्ण इकाई है। मनुष्य पशुओंसे श्रेष्ठ है। वह सचेतन जीव है। मनुष्य और पशु; दोनोंकी इच्छाओंका विषय सुख है। दोनोंके जीवनका आदि और अन्त सुख है। किन्तु मनुष्यकी प्रज्ञाके कारण दोनोंके सुखको समान मानना उचित नहीं है। दोनोंके लिए सुखके अर्थ भिन्न हैं, उसकी प्राप्तिके साधनमें अन्तर है। मनुष्य पशुकी भाँति क्षणिक सुखकी खोज नहीं करता। वह आगे-पीछेकी सोचता है। वह क्षणिक सुख या तृप्तिके लिए भूत, वर्तमान और भविष्यको नहीं भुला सकता; उन्मत्त इन्द्रियसुखके लिए आत्माका हनन नहीं कर सकता। उसकी आत्मा विशिष्ट अनुभवोंकी संगति है। वह अपूर्णके लिए पूर्णका त्याग नहीं कर सकता; क्षणिक सुखके लिए स्थायी सुखी जीवनका विनाश नहीं कर सकता। उसका जीवन देह-जगततक सीमित नहीं है। वह मानसिक और बौद्धिक जगतका प्राणी भी है। वह सुख-दुःखके प्रति विशिष्ट रूपसे जागरूक है। उसकी सुख-दुःख सम्बन्धी व्याख्या स्पष्ट और व्यापक है। उसका जीवनके प्रति गम्भीर दृष्टिकोण, व्यापक विचार, आत्म-चिन्तन, दर्शन आदि उसके अनुभवोंको सजीवता प्रदान करते हैं। वह इन्द्रियसुखसे अधिक मानसिक सुखको मूल्य देता है। असम्बद्ध, अव्यवस्थित आवेगपूर्ण जीवन उसे दुःखपूर्ण लगता है। उसके जीवनका ध्येय शान्त सुख है। यह उसीको प्राप्त होता है जो वासनाओं, दुःख और भयसे अपनेको मुक्त कर लेता है। वासनाओंके स्वच्छन्द उपभोगसे बौद्धिक प्राणीमें ऊब और अतृप्ति उत्पन्न होती है। उसके शारीरिक स्वास्थ्यका ह्रास हो जाता है। उसका विवेक उसे बताता है कि दुःखके अभाव तथा अच्छे स्वास्थ्यसे निरन्तर दीर्घकालीन सुख प्राप्त होता है। उसे इसके लिए प्रयास करना चाहिये। इच्छाओंके संयमन, उनके उचित चुनावसे आत्मिक शान्ति मिलती है और मनुष्य अपने भाग्यका निर्माता बन जाता है। ऐपिक्यूरस इच्छाओंके उचित संकलनमें विश्वास रखता था। मनुष्यमें अनन्त इच्छाएँ हैं। उनकी

अतृप्ति दुःखका कारण है। अतृप्तिसे बचनेके लिए उन्हें कमसे कम कर देना चाहिये। वह इच्छाओंका विभाजन करता है : प्राकृतिक, अनिवार्य, अनावश्यक, अर्थशून्य आदि। वह उन आवश्यक इच्छाओंको स्वीकार करनेमें विश्वास करता है जो शरीरकी स्वास्थ्यवर्धक माँगोंकी तृप्ति करती हैं और मानसिक चिन्ताओं तथा दुःखोंसे मुक्त करती हैं। अतः विवेक और आत्म-संयमसे शान्त सुखकी प्राप्ति होती है। मनुष्य मनकी उस शान्त और अविचल स्थितिको प्राप्त कर लेता है जो निष्क्रियताकी स्थिति है। यह सुख दैहिक दुःखोंके अभाव और मानसिक चिन्ताओंसे मुक्तिका सूचक है।

शान्त, अविचल मानसिक स्थिति प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य भयसे अपनेको मुक्त करे। वह अन्धविश्वासों—मृत्यु, नरक, ईश्वर आदिके हाथका खिलौना बनकर सुखी नहीं रह सकता। वह मृत्यु और देवताओंके भयसे सदैव त्रस्त रहेगा। मनुष्यको इस भयसे मुक्त करनेके लिए उसने डिमोक्रिटसके जड़वादी विश्वनिर्माणके सिद्धान्तको स्वीकार किया। उसका कहना था कि देवता हैं, किन्तु उनसे डरनेका कोई कारण नहीं; क्योंकि विश्व अणुओंके संघटन (परस्परके संघर्षण और मिलन) से बना है। भगवान् सृष्टिकर्त्ता नहीं है। विश्वनिर्माणकी दृष्टिसे भगवान् महत्वहीन हैं। जहाँतक मृत्युका प्रश्न है, उससे भी भयभीत होनेका कोई कारण नहीं। मृत्युका विचार दुःखप्रद है, न कि मृत्यु। वास्तवमें मृत्यु कुछ नहीं है। जबतक हम हैं, मृत्यु नहीं है; जब मृत्यु आती है, हम नहीं रहते। अतः मनुष्य काल्पनिक भयोंसे ऊपर उठकर शान्त, अविचल स्थिति-को प्राप्त कर सकता है।

अणुवाद : भयसे मुक्ति

सुखीजीवनके लिए सद्गुण अनिवार्य साधन हैं। वे बुद्धि द्वारा प्राप्त होते हैं। उनकी सहायतासे अत्यधिक सुखकी उपलब्धि सम्भव है। उदाहरणार्थ, सुखप्रद जीवनके लिए न्याय उचित है, अन्याय नहीं। अन्यायको अपनानेपर एवं अनुचित कर्म करनेपर, मानसिक शान्ति खो जाती है। अनुचित कर्मके पता

सद्गुण : अनिवार्य साधन

लगनेका निरन्तर भय लगा रहता है। अतः संयम, न्याय, सद्भाव, सौहार्द्र आदि गुणोंको अपनाना चाहिये। मित्रता महत्वपूर्ण है। वह सुखी जीवनके लिए सहायक है। व्यावसायिक बुद्धि (Prudence) सर्वश्रेष्ठ सद्गुण है। उसके आधारपर उचित सुखका संग्रह किया जा सकता है। इस प्रकार एक ओर ऍपिक्यूरसने स्वार्थ-सुखवादको स्वीकार किया और दूसरी ओर विरोधी सामाजिक शक्तियों तथा तत्वोंका निराकरण किया। साथ ही उसने प्रचलित मान्यताओं और सद्गुणोंको अपनाया। यह ध्यान देने योग्य है कि सद्गुण सुखी जीवनके लिए साधनमात्र हैं, साध्य नहीं हैं।

संस्कृत सुखवादमें कठिनाइयाँ

ऍपिक्यूरसके अनुसार सुख एकमात्र शुभ है और दुःख एकमात्र अशुभ है। व्यावसायिक बुद्धि बताती है कि उस सुखका त्याग करना चाहिये जिसका परिणाम दुःखप्रद है अथवा उसी दुःखको स्वीकार करना चाहिये जो अधिक सुखके लिए उपयोगी है। सद्गुण, नियम, रीति-रिवाज उपयोगी साधन हैं। उनके द्वारा अधिक सुखकी प्राप्ति सम्भव है। व्यवसायात्मिक चिन्तन तथा शुभ आचरण तबतक अर्थशून्य और निरर्थक है जबतक कि वह कर्त्ताको सुख नहीं पहुँचाता। सुखके अर्थ मूलतः ऐन्द्रियिक हैं।

विलासितासे मुक्त नहीं

सुखकी वह धारणा थोथी है जो वासनाओं और आवेगोंको तृप्त नहीं करती है। सुखको ऐन्द्रियिक मानते हुए भी वह बौद्धिक सुखकी खोज करनेको कहता है। बौद्धिक सुख अपने-आपमें शुभ नहीं है। वह सुखी जीवनके लिए आवश्यक है। वह स्पष्ट रूपसे बौद्धिक सुखकी गुणात्मक श्रेष्ठताको स्वीकार नहीं करता है। ऍपिक्यूरसके दर्शनका परिणाम बुरा हो सकता है। विलासी व्यक्ति इसे अपनी विलासिताका आधार मान सकता है; क्योंकि ऍपिक्यूरस स्पष्ट रूपसे कहता है कि सद्गुण अपने-आपमें शुभ नहीं है, साधनमात्र है। सद्गुण इसलिए आवश्यक नहीं हैं कि उनसे मानसिक प्रवृत्तियोंका परिष्कार होता है किन्तु इसलिए कि वे निरन्तर सुखका कारण हैं। उसकी दूरदर्शिता सद्गुणोंका स्वागत करती है।

एॅपिक्यूरस इन्द्रियबोधकी स्थितिको नैतिक आदर्श और मापदण्डका आधार मानता है। किन्तु उसके दर्शनकी अन्तिम परिणति वासनाओंके आवेगोंसे मुक्तिकी स्थिति एवं आत्म-संयमकी स्थिति है।

निष्क्रियता

उसने इन्द्रियसुखको ध्येय मानते हुए अपना सम्पूर्ण ध्यान साधनकी ओर केन्द्रित किया। उसका साधन बौद्धिक है। यह मानना पड़ेगा कि उसका साधन ध्येयको उस उदासीनताकी स्थितिमें बदल देता है जो कि सुख-दुःखके प्रति उपेक्षा करता है। वह भावनाकी धनात्मक स्थिति नहीं है। एॅपिक्यूरस स्टोइक्सकी भाँति यह मानता है कि मनुष्यको सुख-दुःखके प्रति तटस्थ रहनेका अभ्यास करना चाहिये। उसका चिन्तन उसे उदासीनताकी ओर झुका देता है। व्यक्तिके लिए मूर्त, यथार्थ सुखकी प्राप्ति असम्भव है। उसे सुख-दुःखके प्रति उस उपेक्षाभावको अपनाना चाहिये जो कि उसे निष्क्रियताकी स्थितिमें पहुँचा देता है। नैतिक ध्येयकी खोज उसे वेदनाशून्य जीवनकी ओर ले जाती है। वह सुख-दुःखसे मुक्ति एवं उनके अभावकी स्थितिको प्राप्त करना चाहता है। यह स्थिति सक्रिय जीवनको प्रोत्साहित नहीं करती वरन् निष्क्रियताका आलिंगन करती है। यह जीवन नैतिक जीवनके विपरीत है। नैतिक जीवन क्रियाशीलताका जीवन है।

मनोवैज्ञानिक सुखवादकी आलोचना

मनोवैज्ञानिक सुखवादकी मूलगत प्रमुख त्रुटि तात्विक है। स्थूल सुखवादको अपनानेके कारण ही उसका सिद्धान्त असामाजिक, अव्यावहारिक, अवास्तविक, अमनोवैज्ञानिक तथा अनैतिक हो गया है। अपने जड़वादी तत्वदर्शनके कारण उसने यह माना कि आत्माका मूल रूप इन्द्रिय है। वह सहज-प्रवृत्तियों, संवेदनाओं, भावनाओं आदिका क्रममात्र है।

जड़वादी तत्व-दर्शन: स्थूल सुखवाद

मानव-स्वभावके ऐसे एकांगी ज्ञानपर ही उसने अपने सिद्धान्तको आधारित किया। मनुष्यके जीवनका परमध्येय इन्द्रियसुख है। उसे चाहिये कि

आँख मूँदकर सुखभोग करे। चिन्तन करनेमें अथवा आगे-पीछेकी सोचनेमें वर्तमान सुख विनष्ट होता है, :यह उचित नहीं है। व्यक्तिका वर्तमान ही निश्चित है। भविष्य अनिश्चित और अज्ञेय है। न जीवन ही शाश्वत है। मनुष्य कालके अधीन है। ऐसी परिस्थितिमें उसे केवल इन्द्रियमय बुद्धिहीन सरल जीवन बिताना चाहिये। असावधानी और चिन्तनहीनताको अपनाना चाहिये। बौद्धिक चिन्ताओंसे जीवनको मुक्त करके मनुष्य अधिकतम मात्रामें सुखभोग कर सकता है।

केवल इन्द्रिय-सुख : बुद्धि, इच्छा एक दूसरेके पूरक हैं

सब प्राणी स्वभाववश सुख चाहते हैं। मनुष्यके जीवनका ध्येय भी सुख है। उसे अधिकतम परिमाणमें सुख भोगना चाहिये। तात्कालिक, तीव्र और दीर्घकालीन सुख वांछनीय है। मनुष्यके बौद्धिक भी होनेके कारण उसमें तथा निम्न प्राणियोंमें यही अन्तर है कि वह उनकी अपेक्षा अधिक सुखका भोग कर सकता है। जहाँतक दोनोंकी इच्छाके स्वरूपका प्रश्न है, वह समान है। दोनों एकमात्र सुखकी इच्छासे कर्मके लिए प्रेरित होते हैं। ध्येय समान है, साधनमें अन्तर है। मनुष्यकी बुद्धि ध्येयकी प्राप्तिके लिए उचित साधन खोज सकती है। किसी कर्मका बौद्धिक महत्व इसपर निर्भर है कि सुखकी प्राप्तिके लिए कहाँतक उचित साधनोंका उपयोग किया गया है। सुखवादियोंने निर्णीत कर्मके स्वरूपको नहीं समझा। उन्होंने बुद्धि और इच्छाके सम्बन्धके बारेमें भ्रान्तिपूर्ण धारणा बना ली थी। इच्छाके उत्पन्न होते ही बुद्धि उसके सन्तोषके लिए ही नहीं सक्रिय हो उठती है, उचित चिन्तन और विवेचनके पश्चात् ही बुद्धि इच्छाकी पूर्तिके सम्बन्धमें अपना निर्णय देती है। 'इच्छाका विषय' या 'इच्छित ध्येय' उसी व्यक्तिके लिए अर्थ रखता है जो सोच-समझ सकता है; अनुभव और चिन्तन कर सकता है। यही नहीं, इच्छामें स्वयं भी उस ध्येयका विचार निहित है जो मनुष्यकी सम्पूर्ण आत्मा (बुद्धिमय और भावनामय) की अभिव्यक्ति है। भावना, इच्छा, विवेचन, निर्णय, बुद्धि आदि एक ही कर्मके अविच्छिन्न अंग हैं।

थे कर्ताके चरित्र और व्यक्तित्वके सूचक हैं। सुखवादका इतिहास यह बतलाता है कि उसने बुद्धिकी आवश्यकताको समझा। सिरेनैक्सके अनुसार बुद्धिका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। किन्तु ऍपिक्यूरसने सफल इन्द्रियजीवनके लिए चिन्तनको आवश्यक माना। उसके अनुसार विवेक-बुद्धि सर्वश्रेष्ठ सद्गुण है। वह ध्येयकी प्राप्तिके लिए आवश्यक है। आगे हम देखेंगे कि आधुनिक सुखवादियोंने बुद्धिके महत्वके सम्मुख सुखवादको भुला दिया है। प्रसिद्ध नीतिज्ञ सिजविकने तो यहाँतक कह दिया है कि मनुष्यको सार्वभौम सुखकी चाह तथा खोज करनी चाहिये क्योंकि यह विवेकसम्मत है। सुखवादके मूल सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य इन्द्रियरत प्राणी है। प्रश्न यह है कि क्या मनुष्यका प्रधान और विशिष्ट गुण इन्द्रिय है? प्रकट रूपमें यह मानव-स्वभावकी एक अत्यन्त और सरल व्याख्या है कि मनुष्य सुख-दुःखसे प्रभावित होता है। वह सुख खोजता है। किन्तु 'सुख' का वास्तवमें क्या अर्थ है? क्या इन्द्रियसुख उसके सम्पूर्ण स्वभावको अभिव्यक्त कर सकता है? सुखवादियोंने 'सुख' की अस्वाभाविक और एकांगी व्याख्या की है। सुख तभी प्राप्त होता है जब कि मानव-स्वभावके सम्पूर्ण निर्माणात्मक अंग एकताके सूत्रमें बँध जाते हैं। विरोधी तत्वोंकी संगति ही शुभ जीवन है। किन्तु यह संगति बुद्धि द्वारा प्राप्त होती है। भावनाओंको संघटित करनेके लिए बुद्धि आवश्यक है। इन्द्रिय और भावनाओंमें अपने-आप संघटित होनेकी शक्ति नहीं है। बिना बुद्धिके भावना अन्धी है, वह अपने लिए निश्चित मार्ग नहीं खोज सकती है। गिरगिटके क्षणिक रंगोंकी भाँति वह सुखकी खोजमें प्रत्येक क्षण रूप बदलती है। मनुष्यके जीवनको सहज प्रवृत्तियाँ, संवेदनाएँ तथा क्षणिक आवेग सदैव संचालित नहीं करते हैं। वह नियन्त्रित और सुव्यवस्थित जीवनका आकांक्षी है। इसमें सन्देह नहीं कि वह इन्द्रियरत प्राणी है। यहीं मनुष्य-जीवन तथा पशु-जीवनमें सादृश्य है। किन्तु इसके आगे दोनोंमें महान् अन्तर है। मनुष्य बौद्धिक है, यह सत्य उसे देवत्वके समीप लाता है। उसकी निम्न भावनाओं एवं पाशविक प्रवृत्तियोंका उन्नयन

करता है। पशुत्वका मनुष्यत्वमें रूपान्तर कर देता है। उसकी प्रवृत्तियोंको पवित्र और दिव्य बना देता है और इसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है। सुखवादियोंने मानव-स्वभावसे निम्न भावनाओंको पृथक् किया और उन्हें ही महत्व देकर स्थूल इन्द्रियपरकवादका प्रतिपादन किया। मनुष्य-स्वभावके इन्द्रियजन्य पक्षका विरोध कोई भी समझदार नीतिज्ञ नहीं करेगा। किन्तु मनुष्यका स्वभाव उन विभिन्न तत्वोंकी संगतिपूर्ण इकाई है जिनके मार्गका निर्देशन बुद्धि करती है। मनुष्यको सुख और सन्तोष भी तभी प्राप्त होता है जब कि उसकी बौद्धिक माँग (जिसमें भावना निहित है) पूर्ण तृप्त हो जाती है। वास्तवमें बुद्धि और भावना एक दूसरेकी पूरक हैं। बुद्धि अपनी श्रेष्ठताके लिए भावनापर निर्भर है। बिना भावनाके बुद्धिका स्थान और मूल्य वैसा ही है जैसा कि बिना प्रजाके राजा। बिना भावनाके बुद्धि निरर्थक है, शून्य और निष्क्रिय है। भावनाको ज्योतित करना, सन्मार्ग दिखाना, बुद्धिका काम है। बिना बुद्धिके भावनामय जीवन क्षणिक, आवेगमय, अनिश्चित और विशृङ्खल हो जाता है। सुचारु जीवन व्यतीत करनेके लिए बुद्धि और भावनाका सम्मिलित पूर्णत्व अनिवार्य है। दूरदर्शिता और अन्तर्दृष्टिके पहियोंपर ही सुखमय संगतिपूर्ण जीवन आधारित है। दूरदर्शिता अनुभवकी देन है और अन्तर्दृष्टि बुद्धिकी। केवल भावनामय जीवन मनुष्यको सन्तोष नहीं दे सकता क्योंकि वह भावनासे अधिक है। मनुष्यका वास्तविक कल्याण इसीपर निर्भर है कि उचित विवेक द्वारा उच्छृङ्खल तथा अस्थिर भावनाओंको वशमें रखे। जीवनको संयमित तथा निर्देशित करनेके लिए बौद्धिक अन्तर्दृष्टि अनिवार्य है। इसी तथ्यकी ओर संकेत करते हुए प्राचीन यूनानी विचारकों—सुकरात, प्लेटो, अरस्तू—ने यह कहा कि बुद्धिकी अधीनता स्वीकार करना भावनाके लिए आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद अन्तर्चेतनाशून्य तथा नैतिक संज्ञाहीन व्यक्तियों-के आदर्शको सम्मुख रखता है। यह स्थूल इन्द्रियजन्य सुखको महत्व देता है। इसके अनुसार मनुष्य पूर्ण रूपसे स्वार्थी है। वह निरन्तर वैयक्तिक

सुखकी खोज करता है। इस प्रकार सुखवादियोंका दृष्टिकोण वैयक्तिक, असामाजिक और अनैतिक है। जिस परम स्वार्थ-वादका उन्होंने प्रतिपादन किया वह अव्यावहारिक और अवास्तविक है। समाजमें वही व्यक्ति रह सकता है जो सामाजिक कर्त्तव्यों तथा कर्मोंको करता है। वही व्यक्ति समाजमें रहकर अपने अधिकारोंकी माँग कर सकता है जो दूसरोंके अधिकारोंको समझता है। सुखवादके अनुसार सामाजिक सुख अथवा सर्वकल्याणका कोई महत्व नहीं, वह हेय है। स्नेह, दया, ममतासे दूर रहकर व्यक्ति अपने तत्कालीन सुखकी चिन्ता करता है। यदि सुखवादी-धारणाको सजीव और वास्तविक मान लें तो ऐसे इन्द्रियरत परम स्वार्थी प्राणीके लिए समाजमें कोई स्थान नहीं है। बुद्धिजीवी मनुष्य पशु-समाज-तकमें ऐसे प्राणीकी कल्पना नहीं कर पाता। वह यह देखता है कि पशु-पक्षीतक अपने बच्चों तथा निकटवासियोंके लिए त्याग करते हैं। अपत्य-स्नेहके आगे वे तत्कालीन तीव्र सुखको भूल जाते हैं। मनुष्यमें उच्च प्रवृत्तियाँ हैं। उसमें आत्मत्यागकी आश्चर्यपूर्ण शक्तियाँ और सम्भावनाएँ हैं। वह अपने सत्य रूपमें परमार्थी है। उसकी बुद्धि उसे विश्वस्नेहसे संयुक्त करती है। मनुष्यकी इन प्रवृत्तियोंका निराकरण करना मनुष्यत्वका निराकरण करना है। सुखवाद सब व्यक्तियोंको समान रूपसे स्वार्थी मानता है। उसके अनुसार सब इच्छाएँ समान जातिकी और सुखके लिए हैं। साधु-असाधु, पापी-पुण्यात्मा, चोर-देशप्रेमी, सब एक ही श्रेणीके हैं। किन्तु यह भूल जाता है कि यह भिन्नता प्रत्येकके चरित्रके अनुरूप होती है और यह प्रत्येक व्यक्तिके बौद्धिक, मानसिक तथा नैतिक विकासकी सूचक है। सच तो यह है कि स्वार्थ सुखवादका सिद्धान्त "नैतिक चेतनाके सम्मुख एक घृणित रूप प्रस्तुत करता है",[१] और वह अनैतिक भी है। यदि सब व्यक्ति स्वभाववश इन्द्रिय सुखकी खोज करते हैं तो 'नैतिक-चाहिये' अर्थ-हीन है। प्राकृतिक एवं स्वाभाविक शक्तियोंके प्रवाहमें बहनेवाला व्यक्ति

असामाजिक, अव्यावहारिक तथा अनैतिक

१. Mackenzie—A Manual of Ethics p. 171.

उचित-अनुचितको नहीं समझ सकता। अथवा जैसा कि ग्रीनने कहा है "एक व्यक्ति जो कि केवल प्राकृतिक शक्तियोंका परिणाम है उसे नैतिक नियमोंका पालन करनेका आदेश देना निरर्थक है।"

यदि यह भी मान लिया जाय कि सुख ही एकमात्र मनुष्यका नैतिक लक्ष्य है तो इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? सुखवादके अनुसार निरन्तर सुखकी खोज करनी चाहिये। सुखमें ही ध्यान केन्द्रित रखना चाहिये। किन्तु सुखकी प्राप्तिका यह साधन आत्मघाती है। सुखवादियोंकी इस उक्तिमें कि सदैव क्षणिक और तत्कालीन सुखकी प्राप्तिका प्रयास करना चाहिये, स्वयं आत्मविरोध मिलता है। बादके सुखवादियोंने माना कि सुख पानेकी उत्तम रीति यही है कि उसे भूले रहें। चिन्तन और गूढ़-अध्ययन द्वारा अत्यन्त तीव्र और शुद्ध सुख प्राप्त होता है। इसका कारण यही है कि अध्ययनमें तल्लीन होनेके कारण अध्येता या विद्वान् अपनेको तथा अपनी संवेदनाओंको भूला रहता है। सुखवादमें मूलगत विरोधाभास यही है कि "यदि सुखके प्रति आवेग अत्यन्त प्रबल है तो यह अपने ध्येयमें हार जाता है।" अथवा सुखकी खोज करनेसे सुख प्राप्त नहीं होता है। इसी सत्यको मिल यह कहकर समझाता है कि वही व्यक्ति सुखी है जिसका मन सुखके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुपर केन्द्रित है। "अपनेसे पूछिये कि क्या आप सुखी हैं, और आप सुखी नहीं रहते?" यदि सुख चाहते हैं तो यह भावना न लाइये कि सुख चाहिये। एकमात्र सुखकी खोज करना सुखके विनाशकी ओर अग्रसर होना है। जब ऍरिस्टिपस कहता है कि केवल तत्कालीन क्षणिक सुखकी खोज करनी चाहिये तो क्या इससे यह ध्वनि नहीं निकलती है कि दूसरे क्षण दुःख सहना पड़े तो कोई हानि नहीं? ऍपिक्यूरस इस तथ्यको समझता था। उसने सुखी जीवनको ध्येय बतलाया, किन्तु सुखवादको घोर निराशावादी बनाकर ही वह यह कर पाया। ऍपिक्यूरसके अनुसार सुखका अर्थ है, दुःखका अभाव। यह सुखकी भावात्मक स्थिति नहीं, निष्क्रियताकी स्थिति है। ऍपिक्यूरियन्सका विकारशून्य वैरागी सुख-दुःखके प्रति

सुखवादमें विरोध

उदासीन है। ऍपिक्यूरसके अनुसार इच्छाएँ कई प्रकारकी होती हैं, उन सबकी तृप्ति सम्भव नहीं है। अतृप्त इच्छाओंके दुःखसे बचनेके लिए इच्छाओंको कम करना चाहिये। केवल उन इच्छाओंको महत्व देना चाहिये, अथवा उन इच्छाओंकी तृप्तिके लिए प्रयास करना चाहिये जो स्वाभाविक और आवश्यक हैं। उन्हीं इच्छाओंको स्वीकार करना चाहिये जो शारीरिक स्वास्थ्य तथा आत्मिक शान्तिदायक हैं। दुःख और भयसे बचना जीवनमें आवश्यक है। ऍपिक्यूरियन्स्ने स्टोइक्स्की भाँति ही कहा कि सुख-दुःखके प्रति तटस्थ रहना चाहिये। ऍपिक्यूरस नास्तिक था। वह यह नहीं मानता था कि भगवान् इस विश्वके नियन्ता हैं। वह यह कल्पना नहीं कर सका कि सुनिर्देशित एवं नियन्त्रित जीवन व्यतीय करनेसे सुख मिलेगा। उसने कहा कि इच्छाओंके संयमन तथा आत्मिक शान्ति-द्वारा मनुष्य अपने भाग्यका विधायक बन सकता है। ऍपिक्यूरसने जिस आदर्शका प्रतिपादन किया वह घोर विलासिताको अपनानेके साथ ही अत्यन्त विषादपूर्ण भी है। यह वास्तवमें उदासीन इन्द्रियपरतावाद है। एक ओर तो यह वासनाओंके झंझासे बचनेके लिए बौद्धिक संयमका सन्देश देता है और दूसरी ओर विषयसुखको नैतिक ध्येय और मापदण्ड मानता है। उसका सम्पूर्ण ध्यान साधनपर केन्द्रित है किन्तु वह साधन बौद्धिक है। विषयसुखको ध्येय मानते हुए उसने उदासीनताकी स्थितिको ही ध्येय माना है। उसका ध्येय सुखकी भावात्मक स्थिति नहीं, जड़ता (निष्क्रियता) और उदासीनताकी स्थिति है[1]।

अभाव : वस्तुगत मापदण्ड, गुणात्मक भेद, प्रेरणा, कर्त्तव्य

सुखवाद नैतिकताका एकरूप मापदण्ड नहीं दे सकता। वह उस वस्तुगत मापदण्डको निर्धारित नहीं कर सकता जिसे कि सार्वभौम रूपसे स्वीकार किया जा सके। सुखवादके आधारपर सुखका मूल्य उसकी तीव्रतापर निर्भर है। किन्तु तीव्रताको कैसे आँका जा सकता है। सुख सापेक्ष और वैयक्तिक है। वह परिस्थिति, चरित्र और

1. Seth—A study of Ethical Principles, p. 92.

मानसिक स्थितिपर निर्भर है। प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावके अनुरूप ही वस्तु सुखप्रद अथवा दुःखप्रद होती है। बौद्धिक व्यक्तित्वके लिए बौद्धिक सुख तीव्र है, दयालुके लिए दान और परोपकारसे प्राप्त सुख और विषयीके लिए शारीरिक सुख अत्यन्त तीव्र है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्तिकी सुख-दुःखकी भावना आत्मगत एवं दूसरेसे भिन्न है। ऐसी स्थितिमें नैतिकताकी क्या पहिचान है? सुखका मूल्यांकन कैसे किया जा सकता है? तीव्रताके आधारपर कौन सुख श्रेष्ठ है? वस्तुगत मापदण्ड कैसे सम्भव है? मनोवैज्ञानिक सुखवादके पास इसका कोई उत्तर नहीं है। सुखवादके अनुसार सब सुख समान हैं। उनमें जातिगत भेद नहीं, गुणात्मक भेद नहीं, किन्तु जैसा कि अभी देख चुके हैं सुखका स्वरूप उस वस्तुपर निर्भर है जो कि उसके उत्पादनका कारण है और वह भोक्ता (अनुभवी) के व्यक्तित्व-पर भी निर्भर है। सुखमें केवल मात्राओं (अधिक या कम तीव्र) का भेद नहीं है किन्तु गुणात्मक भेद भी है। इस तथ्यको मिल स्पष्ट रूपसे स्वीकार करता है। ऍपिक्यूरसने भी शारीरिक सुखसे अधिक महत्व बौद्धिक सुखको दिया है। बौद्धिक सुखको महत्व वह उसकी श्रेष्ठताके कारण नहीं देता है बल्कि इसलिए कि वह अधिक तीव्र और दीर्घकालीन है। सुखवादी सुख-को परम ध्येय मानते हैं। उनका कहना है कि सब व्यक्ति एकमात्र सुखकी प्रेरणासे कर्म करते हैं। सब प्रेरणाएँ समान हैं। परिणाम अथवा सुखके आधिक्यके अनुरूप ही वे शुभ और अशुभ हैं। निर्णीत कर्मका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते समय हम यह भलीभाँति सिद्ध कर चुके हैं कि सुखवादी प्रेरणाकी उचित परिभाषा नहीं दे पाये। कर्मके औचित्य तथा अनौ-चित्यको समझनेके लिए प्रेरणा, परिणाम और उद्देश्यको समझना आव-श्यक है।

सुखवादके इस सिद्धान्तका (कि सुख ही एकमात्र इच्छाका विषय है) मूल आधार मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति है। वह सुखकी भावनाको कर्मका प्रवर्त्तक मानता है। भावना कर्मका अनिवार्य अंग अवश्य है किन्तु उसकी प्रवर्त्तक नहीं है। मनुष्य सब कर्म सुखकी इच्छासे प्रेरित होकर नहीं करता,

मनोवैज्ञानिक भ्रांति : चयनके क्रियात्मक और हेत्वात्मक पक्ष

किन्तु इच्छित वस्तुकी प्राप्ति उसे सुख देती है। अपने व्यक्तित्वके अनुरूप वस्तुकी वह इच्छा करता है। समाज-सुधारक, देश-प्रेमी, परोपकारी, विषयी, इन सभीकी इच्छाका विषय उनके चरित्र और व्यक्तित्वके अनुरूप होता है। सबके ध्येय भिन्न हैं। सुख ही एकमात्र कर्मका प्रवर्त्तक नहीं है और यहींपर सुखवादी भूल करते हैं। वे सबके ध्येयको समान मान लेते हैं। सुखकी इच्छा करना और इच्छित वस्तुकी प्राप्तिसे सुख प्राप्त होना, यह दो भिन्न बातें हैं। जिस ध्येयको मनुष्य चुनता है वह सुखप्रद अवश्य है, किन्तु वह स्वयं सुख नहीं है। सुखवादियोंकी इस भूलका कारण यह है कि वे चुनने (चयन)के क्रियात्मक (Dynamical) और हेत्वात्मक पक्षोंमें कोई भेद नहीं देखते हैं। सुखका विचार (idea of pleasure) और सुखद विचार (pleasant idea) को एक ही मान लेते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि मनुष्य किस वस्तुको चुनता अथवा उसकी चयन-रुचिको प्रेरित कौन करता है तो उसके उत्तरमें यही कहा जा सकेगा कि मनुष्य उसी विचारकी प्राप्तिके लिए प्रयास करता है जो उसे आकर्षक लगता है अथवा जो सुखद है। इस अर्थमें सुख चुननेकी क्रियात्मक शक्ति है। यह संचालक शक्ति और कार्यमें प्रविष्ट करानेका सक्रिय कारण है। जब मनुष्य दुःख और कष्टको चुनता है तब भी सुख उसके अनिवार्य अंगके रूपमें वर्तमान रहता है। व्यक्ति जब किसी विषयको चुनता है तो उसे सुख भी मिलता है। इच्छित ध्येय स्वयं सुखद है। किन्तु इसके अर्थ यह नहीं कि सुख ही इच्छाका एकमात्र विषय है। सुखद-विचार अनिवार्य-रूपसे सुखकी इच्छा नहीं है। मनुष्य किसी विशिष्ट विचारको अन्य विचारोंकी तुलनामें चुनता है क्योंकि उसके भावार्थ (content) और मनुष्यके व्यक्तित्वमें एकरूपता होती है, और इस एकरूपताके कारण ही वह विशिष्ट विचार सुखद है। वह कर्मका मूल कारण है। वह कारण, जिसके लिए कर्त्ता कर्म करता है; वह ध्येय, जिसे व्यक्ति अपने लिए शुभ

समझता है। इसमें सन्देह नहीं कि 'मूल कारण' और 'सक्रिय कारण' एक ही कर्मके अंग हैं। वे एक-दूसरेके सहयोगी हैं। किन्तु उन्हें एक मान लेना मनोवैज्ञानिक भूल है। जिस ध्येयकी प्राप्तिके लिए कर्त्ता प्रयास करता है वह ध्येय उसके लिए सुखद है। उसे सन्तोष मिलता है क्योंकि वह उसके स्वभावकी मूलगत आवश्यकताओंकी पूर्ति करता है। वह स्वभावके अनुरूप होनेके कारण शुभ तथा सुखदायक है। सुखकी इच्छा करना और ध्येयको सुखद पाना, दो भिन्न क्रियाएँ हैं। सुख शुभ या ध्येयका अनिवार्य निर्माणात्मक अंग अवश्य है किन्तु वह उसका मूलगत रूप एवं एकमात्र निर्माता नहीं है। सुख अपने-आपमें बुद्धिजीवीको पूर्ण सन्तोष नहीं दे सकता। वह उन वस्तुओंसे युक्त है जिनकी कि व्यक्ति इच्छा करता है। व्यक्ति वस्तुओंको स्वयं चुनता है इसलिए वे सुखद हैं। सुख 'चुनाव' के आत्मगत पक्षका सूचक है। किन्तु चुनावका कुछ वस्तुगत मूल्य भी होता है। वह मूल्य वस्तुके स्वरूपपर निर्भर है, चुनावका विषय क्या है और कौन-सी वस्तु चुनी जाती है इसे सुखवाद नहीं बता पाया। वह यह नहीं समझा पाया कि सुखका चुनावमें उचित स्थान तो है पर एकमात्र सुख ही चुनावका लक्ष्य नहीं है।

सुखवाद यह मानता है कि जीवनका परम ध्येय इन्द्रियजन्य है, बौद्धिक नहीं। मनुष्य और पशुओंके जीवनका ध्येय समान है और सुख ही शुभ है। किन्तु दोनोंमें एकमात्र अन्तर यह है कि प्राप्तिके साधन भिन्न हैं। ऍपिक्यूरस स्पष्ट रूपसे विवेकबुद्धिको सुखी जीवनके लिए आवश्यक मानता है। वह कहता है कि पशुओंकी भाँति मनुष्यको वासनाओंके क्षणिक प्रवाहमें नहीं बह जाना चाहिये, किन्तु अधिक सुखके लिए प्रयास करना चाहिये। इस आधारपर वह न्याय, विवेकबुद्धि और सम्मानको सुख मानता है। जिस ध्येयकी पूर्त्तिके लिए ऍपिक्यूरस सामाजिक मान्यताओं और सद्गुणोंको स्वीकार करता है वह ध्येय मनुष्यको अधिक चतुर, संकीर्ण और स्वार्थी बनाता है। यही नहीं, वह निष्क्रिय जीवन (उदासीनताकी स्थिति) को प्रोत्साहित

पशुधर्म

कर मनुष्यको असामाजिक और वैयक्तिक बनाता है। सुखवादी व्यक्ति अनैतिक है। उसके आचरणका मूल्य ध्वंसात्मक है। वह सामाजिक कर्त्तव्य करनेके बदले अपने अधिकारोंकी माँग करता है किन्तु वह यह बतलानेमें असमर्थ है कि मनुष्यत्वकी माँग क्या है? मनुष्यके लिए सुखप्रद क्या है? सुखको शुभ कहकर सुखवादियोंने सोचा कि उन्होंने नैतिक समस्याका समाधान कर दिया किन्तु इसके विपरीत उन्होंने नैतिकताको समूल नष्ट कर दिया। मनुष्यको पशु बना दिया। नैतिकता—कर्मके औचित्य और अनौचित्यकी समस्या—मनुष्यके बौद्धिक माँगकी उपज है। यह उस ध्येयकी प्राप्तिके लिए प्रयास करती है जो मनुष्यको पूर्ण मानसिक सन्तोष प्रदान करता है, मनुष्यकी सम्पूर्ण आत्माको सन्तोष देता है।

सुखवाद पशु आदर्शको ही सबकुछ मानता है। वह मानव-गौरवकी चेतनामें जुगुप्सा उत्पन्न कर मनुष्यत्वको आघात पहुँचाता है। किन्तु फिर

सुखवादका मूल्य

भी यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक सिद्धान्त तथा चिन्तन-पद्धतिमें आंशिक सत्य अवश्य रहता है जो चिन्तनके लिए सामग्री देता है। मनुष्यमें भावनाएँ और इच्छाएँ हैं। चिन्तनशील नैतिक जीवनमें उनकी सन्तुष्टि आवश्यक है। उनका निराकरण नहीं किया जा सकता। सुखवादके विरोधी सिद्धान्त वैराग्यवादकी तुलनामें हम सुखवादके मूल्यको आँक सकते हैं। वैराग्यवादने जीवनके अत्यन्त कठोर, अनाकर्षक तथा अभावात्मक पक्षको स्वीकार किया है। सुखवाद यह बताता है कि भावनाओं तथा सहजप्रवृत्तियोंके निराकरणसे आत्म-सन्तोष नहीं मिल सकता। भावनाएँ और इच्छाएँ मानव-स्वभावका अनिवार्य अंग हैं। आत्म-निषेध द्वारा आत्म-पूर्णताको प्राप्त नहीं किया जा सकता। अगले अध्यायमें हम बतलायेंगे कि वैराग्यवादने केवल बुद्धिको महत्व देकर नैतिकताके रूपको समझा। सुखवादियोंने भावनाओं द्वारा उसके पदार्थको समझाया। वास्तवमें ये दोनों सिद्धान्त एक-दूसरेके पूरक हैं, एक-दूसरेके अभावको दूर करते हैं। इनका समुचित समन्वय ही पूर्ण सिद्धान्तको जन्म देता है।

अध्याय ११

सुखवाद (परिशेष)

अर्वाचीन सुखवाद

प्राचीन और अर्वाचीन सुखवाद दोनों ही मूलतः यह मानते हैं कि जीवनका परम ध्येय सुख है। किन्तु फिर भी दोनोंमें अन्तर है। यह अन्तर मानव-संस्कृति और सभ्यताके विकासका अन्तर है। आधुनिक सुखवादियोंने अपने सिद्धान्तको दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक आधार देनेका प्रयास किया। प्राचीन सुखवाद मनोवैज्ञानिक है: मनुष्य स्वभाववश सुखकी खोज करता है। आधुनिक सुखवाद इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको स्वीकार करनेके साथ ही इसे नैतिक मान्यता भी देता है कि मनुष्यको सुखकी खोज करनी चाहिये। आधुनिक सुखवादियोंने यह भी स्वीकार किया कि व्यक्तिको जनसामान्यके सुखकी खोज करनी चाहिये। अतः उन्होंने यह जानना चाहा कि व्यक्ति किस प्रेरणाके वशीभूत होकर वैयक्तिक सुखके साथ ही जनसामान्यके सुखके लिए प्रयास करता है। हॉब्स, बैंथम, मिल, स्पैंसर, सिजविक आदिने इस प्रश्नका उत्तर देनेका प्रयास किया। उसमें वे कहाँतक सफल हुए यह उन विचारकोंके सिद्धान्तोंका अध्ययन करनेसे स्पष्ट होगा। प्राचीन सुखवाद निराशावादी था। आधुनिक सुखवाद आशावादी है। ऍरिस्टिपसके जीवनके प्रति निराशावादी दृष्टिकोणने उसे क्षणिक सुखकी ओर आकृष्ट किया और ऍपिक्यूरसने सुख-दुःखके प्रति तटस्थताका भाव ग्रहण करनेको कहा। आधुनिक सुखवादने आशावादको जन्म दिया। मनुष्य-जीवनका ध्येय दुःखके अभावकी स्थितिको प्राप्त करना नहीं है वरन् सुखकी अनुभूति

प्राचीन सुखवादसे भिन्नता

है। स्पैंसरका तो यहाँतक विश्वास था कि सुख सद्गुणका अनिवार्य परिणाम है। विकासकी अन्तिम स्थिति पूर्ण सुखकी स्थिति होगी।

कुछ आधुनिक सुखवादियोंने अपने सिद्धान्तको वैज्ञानिक और तार्किक आधार देना चाहा। उन्होंने नीतिशास्त्रको जीवशास्त्र और विकासवादसे संयुक्त किया और नैतिक मान्यताओंकी ऐतिहासिक और प्राकृतिक व्याख्या की। उन्होंने सामाजिक नैतिकताके मूलस्रोतको समझना चाहा और यह जानना चाहा कि नैतिक मान्यताओंका उद्गम क्या है। क्या नैतिक मान्यताएँ अनिवार्य और सार्वभौम हैं? विकासवादको माननेवाले सुखवादियोंने नैतिक जीवनकी गतिशीलताको महत्व दिया। नैतिक जीवन सक्रिय है। नैतिक मान्यताएँ सापेक्ष हैं। वे विकास और परिवर्त्तनको प्राप्त हो रही हैं।

प्राचीन सुखवादियोंका सिद्धान्त वैयक्तिक है। व्यक्तिका हित उनके सम्मुख है। इस स्वार्थ सुखवादके विरुद्ध अधिकांश आधुनिक विचारकोंने परमार्थ या सार्वभौम सुखवादको महत्व दिया। सम्पूर्ण चेतन सृष्टि एवं मानवताका कल्याण (सर्व-कल्याण) जीवनका ध्येय है। 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख', इस सिद्धान्त द्वारा हम कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको माप सकते हैं। प्राचीन सुखवाद उस व्यक्तिको विवेकी कहता है जो अपने स्वार्थको समझते हुए कर्म करता है। मित्रता, आत्म-संयम आदि शुभ हैं क्योंकि वे व्यक्तिगत सुखका उत्पादन करते हैं। किन्तु आधुनिक सुखवादियोंने स्वार्थ-परमार्थके भेदको मिटाना चाहा। मिल, बैंथमने उपयोगिताके नामपर 'अधिकतम संख्याके लिए अधितम सुख'को महत्व दिया और विकासवादियोंने व्यक्ति और समाजके अनन्य सम्बन्ध द्वारा स्वार्थ और परमार्थमें एकत्व स्थापित किया। ऍरिस्टिपस, ऍपिक्यूरस, हॉब्स, बैंथमने सुखके परिमाणके आधारपर आचरणका मूल्यांकन किया। मिलने परिमाणके साथ ही गुणात्मक भेदको स्वीकार किया। जीवनका ध्येय सुख अवश्य है किन्तु बुद्धिजीवी श्रेष्ठ सुख चाहता है। ऍपिक्यूरस भी मानसिक और दैहिक सुखोंके भेदको स्वीकार करता है किन्तु वह गुणात्मक भेदको स्पष्ट रूपसे स्वीकार नहीं करता। उसके विपरीत वह मानसिक सुखकी

श्रेष्ठता उसकी दीर्घकालीनता तथा तीव्रताके आधारपर सिद्ध करता है। वास्तवमें मिलसे पूर्वके विचारकोंके अनुसार सुख मूलतः समान है। उसमें जाति-भेद नहीं है। बेंथम, मिल और विकासवादियोंने सुखवादको व्यापक और व्यवस्थित रूप दिया। उन्होंने नीतिशास्त्रको राजनीतिक, सामाजिक, कानूनी और शिक्षा-सम्बन्धी सिद्धान्तोंका आधार बनानेका प्रयास किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम आभासमें दोनों प्रकारके सुखवाद एकसे हैं किन्तु कालक्रम और परिस्थितिजन्य अनिवार्य परिवर्तनोंके कारण अर्वाचीन सुखवादमें अनेक ऐसे तत्वोंका समावेश हो गया है जिसके कारण उसे सुखवादी सिद्धान्त नहीं कह सकते।

नैतिक आदेश[1]

आधुनिक सुखवादियोंके अनुसार इच्छाका अनिवार्य और स्वाभाविक विषय सुख है। किन्तु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि मनुष्यको

सुख और कर्त्तव्य-में विरोध

सामाजिक कर्त्तव्योंका पालन करना चाहिये एवं सार्वजनिक सुखकी परवाह करनी चाहिये। एक ओर तो वे यह मानते हैं कि मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति आत्मसुखकी ओर है और दूसरी ओर वे कहते हैं कि नैतिक आदर्शका मापदण्ड 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख' है। यदि व्यक्ति

1. आधुनिक सुखवादियोंने एक ओर यह स्वीकार किया कि व्यक्ति अपने सुखकी खोज करता है और दूसरी ओर यह कहा कि उसे सामाजिक नियमों, कर्त्तव्योंका पालन करना चाहिये। उन्होंने इन दो विरोधी उक्तियोंमें समन्वय स्थापित करनेके लिए जिस सेतुका निर्माण किया वह नैतिक आदेश(The Sanctions of Morality)के नामसे प्रसिद्ध है। नैतिक आदेशके द्वारा ही उपयोगितावादी अपने सिद्धान्त 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख' को समझाते हैं। सुखवादियोंके सिद्धान्तको समझनेके पूर्व उन आदेशोंको समझना अनिवार्य है।

सदैव अपने ही सुखकी प्रेरणासे प्रेरित होकर कर्म करता है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि कर्मोंके औचित्य और अनौचित्यका मापदण्ड सार्वजनिक सुख है? यदि यह सत्य है कि मनुष्य क्षणिक अथवा वैयक्तिक सुखकी ही इच्छा करता है तो यह कहना विरोधपूर्ण है कि उसे सामाजिक सुखके लिए यत्न करना चाहिये अथवा सुखकी खोजके साथ ही उसे अपने कर्त्तव्योंका पालन करना चाहिये। सुखवादियोंने यह माना कि कर्मोंकी एकमात्र प्रेरणा सुखकी भावना है, सुख ही जीवनका ध्येय है। यदि कर्मोंका वास्तविक प्रेरक सुख है तो यह कहना अनुचित है कि कर्मोंका परम वांछनीय मापदण्ड सामाजिक सुख है। सुखवादी कहते हैं कि आत्मसुख-रत व्यक्ति सामाजिक प्राणी भी है। वह सामाजिक नियमोंके द्वारा सुख प्राप्त कर सकता है। उसके लिए सामाजिक कर्त्तव्योंका पालन करना आवश्यक है। उसके कर्मों और सामाजिक नियमोंमें सानुरूपता होनी चाहिये। किन्तु सुख और कर्त्तव्य, ये दो विरोधी विचार हैं। इनमें सामञ्जस्य कैसे सम्भव हो सकता है? कैसे कह सकते हैं कि स्वार्थी व्यक्तिको परमार्थी कर्म करने चाहिये? सुखके बदले उस कर्त्तव्यका पालन करना चाहिये जो सामान्य सुखकी वृद्धि करता है।

सुखवादियोंके अनुसार समाजमें कुछ ऐसे प्रचलित और निर्धारित नियम हैं जिनका उल्लंघन करनेसे व्यक्तिको दुःख सहना पड़ता है। वह समझ जाता है कि इनका पालन करनेमें ही उसकी भलाई निहित है जिसके परिणामस्वरूप उसे सुख मिलेगा। इन नियमोंके कारण ही वह प्रत्यक्ष रूपसे अपने सुखकी खोज नहीं करता प्रत्युत कर्त्तव्योंका पालन करता है। इस तथ्यको सुखवादी यह कहकर समझाते हैं कि कुछ ऐसे नैतिक नियम एवं 'नैतिक आदेश' हैं जिनके कारण व्यक्ति सुखके बदले कर्त्तव्यको चुनता है। अपने प्राथमिक रूपमें आदेश (Sanction) के अर्थ होते हैं निश्चित करना या स्थिर करना। सैंक्शन लैटिन शब्द सैंक्टियो (Sanctio) से उद्भूत हुआ। इसके अर्थ होते हैं 'बाँधनेकी

समन्वयकी ओर प्रयास : नैतिक आदेशके अर्थ

क्रिया' अथवा वह वस्तु जो व्यक्तिको बाँधनेमें सहायक हो। आदेश वह है जो राष्ट्रके नियमोंको निश्चित और प्रमाणित करता है, जो व्यक्तिको नियमोंके पालन करनेके लिए आज्ञा देता तथा बाधित करता है। आदेशोंकी अवज्ञा करनेसे व्यक्तिको दण्डित होना पड़ता है, सुखसे कहीं अधिक दुःख भोगना पड़ता है। इसलिए वह उनके उल्लंघनके दुःखप्रद परिणामोंसे बचनेके लिए उनका पालन करता है। उन नियमोंका परिणाम सुखप्रद होनेके साथ ही सामान्य सुखकी वृद्धि करता है। अतः आदेश वह हैं जो एक विशिष्ट रूपसे कर्म करनेके लिए व्यक्तिको बाधित करते हैं। शुभ आचरणका कारण नैतिक आदेश हैं। वही व्यक्तिके सामाजिक आचरणको प्रोत्साहित कर व्यक्तिको कर्त्तव्य पालन करनेके लिए प्रेरित करते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि सुखवादियोंके अनुसार मनुष्य नैतिक आदेशोंका पालन सदैव अपनी भलाईके उद्देश्यसे या स्वार्थसिद्धिकी भावनासे करता है। वह स्वेच्छासे आदेशोंका पालन नहीं करता है। उसकी वैयक्तिक सुखकी भावना उसे इनका पालन करनेके लिए बाधित करती है। मनुष्यके लिए आदेश अपने-आपमें मूल्यवान नहीं हैं। वह इनका पालन स्वार्थवश, भयवश और बाह्य परिस्थितियोंके वशीभूत होकर करता है। दुःखसे बचनेके लिए और सुखकी प्राप्तिके लिए वह इन आदेशोंका पालन करता है। वह जानता है कि यदि वह इन आदेशोंका उल्लंघन करेगा तो परिणामस्वरूप उसे दण्ड भोगना पड़ेगा अथवा वह यह भलीभाँति समझता है कि इनका पालन करके ही वह सुख प्राप्त कर सकता है। नैतिक आदेश अथवा सुख-दुःखके विधान आचरणके किसी भी नियमको उसके जीवनमें महत्व-पूर्ण और अनिवार्य बना देते हैं। इन आदेशोंसे संयुक्त पारितोषिक और दण्ड उसकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता और विवेकको छीन-सा लेते हैं। वह अपने कर्म पारितोषिकके अर्थात् सुखप्रद परिणामोंके अनुरूप संयमित करता है और यह आदेश वैयक्तिक सुखके साथ ही सामान्य सुखकी वृद्धि करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति सुखकी भावनासे प्रेरित होते हुए कर्त्तव्योंका पालन करता है।

नैतिक आदेशोंको दो भागोंमें बाँट सकते हैं : बाह्य और आन्तरिक। बाह्य आदेशके अन्तर्गत वे नियम आते हैं जो बाह्य शक्तियों द्वारा मनुष्यपर आरोपित किये जाते हैं और आन्तरिक आदेशके अन्तर्गत वे नियम हैं जो कि मनुष्यकी अन्तःप्रेरणा द्वारा दिये जाते हैं। वैसे स्थूल दृष्टिसे नैतिक आदेश पाँच हैं : प्राकृतिक (भौतिक), राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक। बैंथम केवल प्रथम चार आदेशोंको मानता है। मिल उन चारोंको बाह्य आदेश कहता है। वह पाँचवें आदेश अर्थात् नैतिक आदेशको आन्तरिक आदेशके नामपर स्वीकार करता है। प्राकृतिक आदेशके कारण मनुष्य प्राकृतिक नियमोंका पालन करता है। यदि उन नियमोंके प्रति वह लापरवाह हो जाय तो फलस्वरूप उसे दैहिक कष्ट उठाने पड़ेंगे एवं शारीरिक दुःख झेलना पड़ेगा। उनके कारण ही वह स्वाभाविक प्रवृत्तियोंपर संयम रखकर ऋतुओंके अनुकूल वस्त्र धारण कर, अपने देहकी आवश्यकताको समझनेका प्रयास करता है। राजनीतिक आदेश राजसत्ता द्वारा आरोपित आदेश हैं। ये आदेश राष्ट्रके सब नागरिकोंके कल्याणको सम्मुख रखकर बनाये जाते हैं। उनके भयसे व्यक्ति सर्वसामान्यके सुखका ख्याल करता है। वह जानता है कि उनकी अवज्ञा करनेसे उसे मृत्युदण्ड-तक मिल सकता है। राजनीतिक नियम एक ओर तो अशुभ आचरणके लिए दण्डित करते हैं और दूसरी ओर उपाधियाँ वितरण करके शुभ कर्मोंको प्रोत्साहित करते हैं। सामाजिक आदेशका जनसाधारणके जीवनमें अत्यधिक महत्व है। सामान्य व्यक्तियोंके चरित्र और आचरणका ज्ञान यह बताता है कि वे अपने जीवनकी आहुति दे सकते हैं पर सामाजिक नियमोंके विरुद्ध जानेका साहस नहीं कर सकते हैं। वे उन सामाजिक नियमोंतकका पालन करते हैं जिन्हें कि उनका विवेक, तर्कबुद्धि और नैतिक ज्ञान अनुचित कहता है। यह सत्य है कि व्यक्तिके लिए सामाजिक दण्ड अत्यधिक असह्य है। जिस पड़ोसमें वह रहता है उस पड़ोसकी आलोचना सहना, अपने पड़ोसीकी उपेक्षा या परिहास सहना साधारण व्यक्तिकी क्षमताके

नैतिक आदेशके दो प्रकार

परे है। सामाजिक अनुमोदन और तिरस्कार व्यक्तिके कर्मोंको प्रभावित करते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। केवल दृढ़ व्यक्तित्वका व्यक्ति ही उनसे ऊपर उठ सकता है। वह अनुचित नियमोंकी अवज्ञा तो करता ही है साथ ही उनमें सुधार भी कर देता है। धार्मिक नियम अधिकतर लोगोंको प्रभावित करते हैं। ऍपिक्यूरसने इस तथ्यको समझा था कि लोग ईश्वर और मृत्युसे डरते हैं। नरकका भय और ईश्वरका भय व्यक्तियोंको सदाचारी बना देता है। नैतिक आदेश व्यक्तिकी अपनी ही अन्तःप्रेरणा द्वारा दिये हुए आदेश हैं। उसके विपरीत आचरण करनेसे उसे पश्चात्ताप और आत्मग्लानि होती है। अनुकूल आचरण करनेसे आत्मसन्तोष एवं सुख मिलता है।

असफलता : व्यवहारकुशलताको महत्व, विरोधी उक्तियोंको स्वीकार

सुखवादियोंने नैतिक आदेश द्वारा यह समझाया कि व्यवहारकुशल व्यक्ति अधिकतम सुख प्राप्त कर सकता है। प्रत्यक्ष रूपसे उसका परिणाम यह निकलता है कि व्यक्ति उन गुप्त जघन्य कर्मोंको कर सकता है जिनके दण्डसे वह अपनी चतुराईके कारण अपनेको मुक्त कर सकता है। वैयक्तिक शुभकी प्राप्तिके लिए साधनके औचित्य-अनौचित्यपर विचार करना व्यर्थ है। केवल यह पता लगाना आवश्यक है कि परिणाम सुखप्रद है या दुःखप्रद है। नैतिक आदेश जीवनके सम्मुख कोई महान आदर्श नहीं रखते हैं। वे स्वार्थी प्रवृत्तियोंकी तृप्ति करते हैं। व्यक्तिका मूलतः अपने प्रति कर्त्तव्य है, वह आत्मसुखकी खोज करता है। दूसरेके प्रति कर्त्तव्यका पालन वह अपने सुखके लिए अथवा सुखके परिमाणकी वृद्धिके लिए करता है। आत्मसुखकी खोज करनेवाला बौद्धिक व्यक्ति सामाजिक कल्याणके नामपर व्यवहारकुशलता और चतुराईका प्रदर्शन करता है। समाजके प्रति उसकी भावना अमंगलकारी है। कुशल व्यवसायी चाहेगा कि युद्धका कभी अन्त न हो। वह युद्ध द्वारा अपने व्यवसायका विस्तार करना चाहेगा। कर्त्तव्यकी आड़में सुखकी खोज करेगा। सुखवादने यह समझानेका प्रयास किया कि सुख

और कर्त्तव्य परस्पर विरोधी नहीं हैं। सामान्यतः व्यक्ति सामाजिक कर्त्तव्यके पालन द्वारा वैयक्तिक सुखको प्राप्त करता है। किन्तु अनुभव और जीवनके यथार्थ तत्व उसके विपरीत सत्यको सिद्ध करते हैं: सद्गुण एवं कर्त्तव्यका अनिवार्य परिणाम सुख नहीं है। नैतिक दृष्टिसे सामाजिक कर्त्तव्योंका पालन वही कर सकता है जो अपने सुख-दुःखके प्रति उदासीन है। वैयक्तिक सुख और कर्त्तव्य परस्पर विरोधी हैं। सुखवादके अनुसार मनुष्य स्वभाववश सुखकी खोज करता है। यदि व्यक्तिगत सुखको ही व्यक्ति स्वभावतः खोजता है तो उस सामाजिक सुखको जिसका कि उसके साथ अनन्य सम्बन्ध नहीं है, वह नहीं खोजेगा। सुखवाद और नैतिक, आदेश परस्पर विरोधपूर्ण हैं। या तो सुखवादको ही स्वीकार कर सकते हैं और या नैतिक आदेशोंको। नैतिक आदेश केवल परिणाम एवं कर्मके बाह्य रूपको महत्व देते हैं और यह अनुचित है। कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यका मूल्यांकन केवल परिणामोंके आधारपर नहीं किया जा सकता। आन्तरिक पक्ष एवं प्रेरणाको भी समझना आवश्यक है। यही नहीं

अनैतिक

नैतिकताके क्षेत्रमें बाध्यताके लिए कोई स्थान नहीं है। यदि किसी कर्मको भयवश एवं बाध्यतावश करें तो वह अनैतिक कहलाएगा। नैतिकता संकल्प-स्वातन्त्र्यमें विश्वास करती है। नैतिक व्यक्ति स्वेच्छासे उचित मार्ग ग्रहण करता है। वह उस मार्गको ग्रहण करता है जो शुभ हो अथवा शुभकी प्राप्तिमें सहायक हो। वह अपनी नैतिक चेतनाके अनुरूप कर्म करता है। भयवश कर्म करना कायरता तथा अनैतिकता है। नैतिकता और बाध्यता परस्पर विरोधी हैं। इसी आधारपर हम मिलके आन्तरिक आदेशको अनैतिक कहेंगे। आन्तरिक आदेशसे उसका अभिप्राय है अन्तःप्रेरणा द्वारा दी हुई सुख-दुःखकी भावना। यदि यह मान लें कि व्यक्ति नैतिक कर्मको मानसिक दुःखसे बचनेके लिए करता है तो यह मूर्खतापूर्ण होगा; क्योंकि नैतिक व्यक्ति कर्मोंको सुखकी प्राप्तिके लिए नहीं करता है, वह उन्हें शुभ समझता है। अथवा नैतिक कर्म करते समय वह सुख-दुःखके प्रति तटस्थ रहता है। सुखवादियोंका विश्वास है कि

नैतिक आदेश द्वारा व्यक्तिको शिक्षित कर सकते हैं। किन्तु मनोविज्ञान बताता है कि स्वाभाविक प्रवृत्तियोंको बलपूर्वक नहीं दबाया जा सकता। बाह्य भय व्यक्तिको सदाचारी नहीं बना सकता। उसके लिए आवश्यक है कि व्यक्तिके चरित्रको तथा उसकी स्वाभाविक आवश्यकताओंको समझा जाय और उसे धीरे-धीरे सन्मार्गकी ओर अग्रसर किया जाय। जबतक व्यक्ति स्वेच्छासे सदाचारको नहीं अपनायेगा वह सदाचारी नहीं बन सकेगा। नैतिक आदेश व्यक्तिके अन्दरतक नहीं पैठ सकते। वे बाह्य-रूपसे उसे नैतिक कर्म करनेके लिए प्रोत्साहित करते हैं। यहाँपर यह स्वीकार करना उचित होगा कि नैतिक-चेतना-शून्य प्राणियों, कायर और दुर्बल मनःशक्तिवाले लोगों तथा भावनाओं और प्रवृत्तियोंके आवेगमें बह जानेवाले मनुष्योंके लिए नैतिक आदेश अत्यधिक आवश्यक हैं। उनके द्वारा सामाजिक सुव्यवस्था स्थिर रह सकती है। बुद्धिजीवी होते हुए भी अधिकांश व्यक्ति अबौद्धिक कर्म करते हैं। वे बौद्धिक पशुमात्र हैं। उनके जीवनको दण्डका भय और पुरस्कारकी आशा प्रभावित करती है। दुर्बल व्यक्ति और जातियोंको कुछ हदतक नैतिक आदेशों द्वारा शिक्षित किया जा सकता है। किन्तु फिर भी नैतिक दृष्टिसे इस प्रकारके बाह्य आदेश अनैतिक हैं। वे आत्म-आरोपित नहीं हैं। Ethical Hedonism

अर्वाचीन सुखवाद : नैतिक सुखवाद

अर्वाचीन सुखवाद नैतिक है

अर्वाचीन सुखवाद नैतिक है। वह मनोवैज्ञानिक सुखवादकी भाँति तथ्यात्मक नहीं है। वह कर्मोंका मूल्यांकन कर उस आदर्शको सम्मुख रखता है जिसके आधारपर सदसत्का विचार किया जा सके। नैतिक सुखवादियोंने प्राचीन सुखवादके मौलिक तत्वको स्वीकार किया। मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ सुखकी खोज करती हैं। किन्तु उसकी बाह्य आकृतिका उन्होंने रूपान्तर कर दिया। मानव-स्वभावको उन्होंने मानव-आदर्शका लिबास पहनाया। मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ जिस सुखकी खोज करती हैं

वही सुख नैतिक मान्यताओंको निर्धारित करता है। मनुष्यको सुखकी खोज करनी चाहिये, यही इच्छाका एकमात्र उचित और विवेकसम्मत विषय है। सुख नैतिकताका मापदण्ड है। उसके द्वारा कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित किया जा सकता है। नैतिक दृष्टिसे वही शुभ है जो सुखप्रद है। अतः मनुष्यको सुखकी खोज करनी चाहिये। इस प्रकार आधुनिक सुखवादियोंने मनोवैज्ञानिक सुखवादको ही नैतिक सुखवादका रूप दिया है।[1]

दो प्रकार : स्वार्थ, परार्थ

नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism) अपने प्रारम्भिक रूपमें वैयक्तिक और स्वार्थी (Individualistic and egoistic) था। धीरे-धीरे उसने सामाजिक कल्याणको अपनाया। वह परार्थ सुखवाद (Altruistic Hedonism) या सार्वभौमिक सुखवाद (Universalistic Hedonism) कहलाया और उपयोगितावाद (Utilitarianism)के नामसे प्रसिद्ध हुआ।

स्वार्थ सुखवाद : हॉब्स

हॉब्स[2] जड़वादी विचारक था। उसने यूनानी विचारकोंसे, विशेषकर अरस्तूसे प्रभावित होकर यह स्वीकार किया कि मनोविज्ञान नीतिशास्त्रका पूर्वविषय है। मनोविज्ञान यह बतला सकता है कि मनुष्य किस प्रेरणाके वशीभूत होकर कर्म करता है।

जड़वाद, इन्द्रियसुखवादी मनोविज्ञान और नैतिक स्वार्थवादका समन्वय

जड़वादी होनेके कारण हॉब्सने अपने मनोविज्ञानको इन्द्रिय एवं शारीरिक सुखतक सीमित कर दिया। नीतिशास्त्रके क्षेत्रमें ऐसे मनोविज्ञानकी परिणति परम स्वार्थवादमें हुई।

---

१. आधुनिक सुखवादियोंने, विशेषकर हॉब्स, बैंथम, मिलने मनोवैज्ञानिक सुखवादको नैतिक सुखवादका आधार माना। किन्तु दोनोंमें असंगति है। यदि व्यक्ति स्वभाववश सुखकी खोज करता है तो उससे यह कहना अर्थशून्य है कि उसे सुखकी खोज करनी चाहिये। दोनोंके बीच कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

२. Thomas Hobbes 1588–1679.

हॉब्स जड़वादी और अनात्मवादी था। उसने मनुष्यके विचारों, कल्पनाओं, भावनाओं, आदिको शारीरिक व्यापारोंका सूचक माना। सुखसे उसका अभिप्राय उन व्यापारोंसे है जो जीवन अथवा प्राणिक क्रियाओंकी वृद्धि करते हैं। दुःखके व्यापार उसके अनुसार इन क्रियाओंके अवरोधक हैं। संवेदनको ही उसने शुभका मापदण्ड माना है। शारीरिक सुख ही एकमात्र शुभ है। यही जीवन है, यही जीवनका नियम है। उसने अपने दर्शन द्वारा यह समझानेका प्रयास किया कि मनुष्य अपने शरीरकी रक्षा करता है। अतः उसे सुखकी खोज करनी चाहिये। उसने मनुष्यके स्वभावका विश्लेषण भी किया। वह इस परिणामपर पहुँचा कि मनुष्यकी इच्छाएँ, भावनाएँ, प्रवृत्तियाँ आदि आत्म-रक्षण सम्बन्धी हैं। उनका सम्बन्ध आत्मसुखसे है। मनुष्य स्वभावसे असामाजिक और स्वार्थी है। उसके निर्णीत कर्म आत्म-स्वार्थसे प्रेरित होते हैं। जिन्हें उच्चभाव और परमार्थी प्रवृत्तियाँ कहा जाता है, जैसे दया, त्याग, सहानुभूति, स्नेह आदि—वे अपने मूलरूपमें स्वार्थकी उपज हैं। उनके मूलमें आत्म-प्रेम है। हॉब्सके अनुसार व्यक्तिके कर्म सदैव वैयक्तिक स्वार्थके परिणाम होते हैं। उसमें अपने सजातियोंके प्रति सहज घृणा होती है। वह उन लोगोंको ही प्यार करता है जिनके द्वारा उसके स्वार्थकी सिद्धि सम्भव है। वह त्याग तभी करता है. जब कि उसे व्यक्तिगत सुखकी आशा होती है। वह सामाजिक कर्म इसीलिए करता है कि वह यश और प्रशंसाका इच्छुक है। दया, हॉब्सके अनुसार, दुःखकी भावना है। यह मनुष्यके हृदयमें तब उठती है जब कि वह दूसरेके दुःखको देखकर स्वयं दुःखी होनेकी कल्पना कर लेता है। इसी प्रकार हॉब्सने अन्य परमार्थी प्रवृत्तियोंको भी समझाया है। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य स्वार्थी है। वह आत्म-संरक्षण और आत्म-सुखकी ही परवाह करता है। अन्य व्यक्तियोंके प्रति वह सद्विचार नहीं रखता। जब वह यात्रा करता है तब हथियार साथ रखता है और जब सोता है तब दरवाजोंमें ताला लगाता है।

मनुष्यका स्वभाव : स्वार्थी आत्म-संरक्षण और सुखका इच्छुक

यदि व्यक्तिमें आत्म-संरक्षण और आत्म-तृप्तिकी ही इच्छाएँ हैं तो नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि संघटनोंके क्या अर्थ हैं ? हॉब्सके

नीतिशास्त्र : बौद्धिक स्वार्थ-वादकी उपज

अनुसार ये सब आत्म-संरक्षण और आत्म-तृप्तिकी सहज प्रवृत्तियोंके बौद्धिक विकासको व्यक्त करते हैं। उसका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्तिका यह प्राकृतिक अधिकार है कि वह शक्तिभर अपनी रक्षा करे और इसे ही उसने नैतिक मान्यताओं और कर्मोंका परम आधार माना। बौद्धिक स्वार्थवाद नैतिक मान्यताओंका मूलस्रोत है। नैतिक मान्यताएँ अनिवार्य और सार्वभौम नहीं हैं। शुभ, अशुभ निरपेक्ष नहीं हैं, व्यक्तिगत हैं। नीतिशास्त्र, इस अर्थमें, वह विज्ञान है जो उन मार्गदर्शक नियमोंका प्रतिपादन करता है जिनके अनुरूप कर्म करके व्यक्ति अधिकतम सुखकी प्राप्ति कर लेता है। 'नैतिक चाहिये' यह बताता है कि विवेकसम्मत कर्म कौन से हैं; किन कर्मोंकी सहायतासे ध्येय—सुख—की प्राप्ति कर सकते हैं एवं उचित बौद्धिक आचरणका मार्ग कौन-सा है। उसके अनुसार मनुष्यके इच्छित कर्म स्वार्थपूर्ण हैं। प्रकृतिने उसके कर्मोंके ध्येयको निश्चित किया है। वह आत्मसुखकी खोज करता है, यही ध्येय है। मनुष्यकी बुद्धि बताती है कि इस ध्येयकी प्राप्ति कैसे सम्भव है। कौन-से साधन उचित हैं। उसका बौद्धिक स्वार्थ उसके लिए मार्गदर्शक नियमोंका प्रतिपादन करता है। मार्गदर्शक नियम ही नैतिक नियम हैं।

हॉब्सके अनुसार मनुष्यकी प्रवृत्तियाँ आत्म-संरक्षण सम्बन्धी हैं। उसमें दूसरेका सुख खोजनेकी कोई प्रेरणा नहीं है। किन्तु फिर भी वह कहता

वैयक्तिक-सामाजिक सुखका प्रश्न

है कि मनुष्यकी बुद्धिमत्ता इसीमें है कि वह दूसरोंके सुखकी भी खोज करे। व्यक्तिगत सुख सामाजिक सुखके साथ सामञ्जस्य स्थापित करनेपर ही सम्भव है। एक ओर तो वह स्पष्ट रूपसे वैयक्तिक आत्म-कल्याण और वस्तुमूलक सामाजिक कल्याणको असम्बद्ध मानता है और दूसरी ओर यह कहता है कि व्यक्तिको सामाजिक सुखकी परवाह करनी

चाहिये। यदि दूसरेका सुख व्यक्तिका सुख नहीं है तो वह क्यों उसकी खोज करे ? यदि सामाजिक सुखका अनुभव करना व्यक्तिके लिए सम्भव नहीं है तो इसका उसके जीवनमें महत्व क्यों है ? यदि व्यक्तिके कर्म आत्मसुखकी प्रेरणासे संचालित होते हैं तो परसुख आवश्यक क्यों है ? अथवा वह कौन-सी प्रेरणा है जिसके कारण व्यक्ति अपने सुखके साथ ही सामाजिक सुखकी भी खोज करता है ? मनुष्यका स्वभाव क्या है ? वह अपने आचरणमें दो विरोधी बातोंको क्यों अपनाता है ? हॉब्सका कहना है कि वैयक्तिक सुखकी आशासे व्यक्ति सामाजिक सुखकी खोज करता है। प्रकृतिने उसके जीवनका ध्येय निश्चित किया है। वह प्रकृति-वश आत्मसुखकी खोज करता है। उसका स्वभाव स्वार्थी है। उसकी प्रेरणाओं और प्रवृत्तियोंके, यहाँतक कि पारमार्थिक प्रवृत्तियोंके मूलमें भी स्वार्थ है।

नैतिक आदेश : आवश्यक और उपयोगी

सामाजिक सुख वैयक्तिक सुखके सम्बन्धमें ही सार्थक है। जितने भी नियम और नैतिक आदेश हैं (दैवी, राजनीतिक, सामाजिक आदि) उन सबका सम्बन्ध वैयक्तिक सुखसे ही है। प्रोटेगोरसकी भाँति हॉब्स भी कहता है कि शुभ व्यक्तिगत है; सामाजिक शुभ बिना वैयक्तिक शुभके अर्थशून्य है। जीवनके संरक्षण या सुखभोगके लिए नैतिक आदेश साधनमात्र हैं। इनकी अनिवार्यता इनके उपयोगी होनेपर निर्भर है। नैतिक आदेश मार्गदर्शक आदेश हैं। नीतिशास्त्र और नैतिक आदेशोंकी यही उपयोगिता है कि वे व्यक्ति को उचित-अनुचितका ज्ञान देते हैं। नैतिक विवेक बताता है कि सुखकी प्राप्ति कैसे सम्भव है। व्यक्ति स्वभावसे असामाजिक है। किन्तु असामाजिक जीवन एकाकी, असुन्दर, तुच्छ और हीन होता है। मनुष्यकी आवश्यकताएँ उसे सामाजिक जीवन बितानेके लिए बाधित करती हैं। आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए वह सामाजिक बना, किन्तु अपने अधिकारों और स्वार्थोंको वह नहीं भूल सका। उनकी रक्षाके लिए उसने नियमोंके रूपमें समाजके साथ समझौता किया। राजनीतिक एकतामें

अपनेको बाँधा। सद्‌गुणोंको स्वीकार किया। सद्‌गुण उसके लिए साधन-मात्र हैं। नैतिक नियमोंको मनुष्यने उनकी उपयोगिताके कारण स्वीकार किया। अन्य सभी चेतन प्राणियोंकी भाँति मनुष्यके जीवनका ध्येय सुख है। प्रत्येक बुद्धिजीवी अपने लिए अधिकतम परिमाणमें सुख प्राप्त करना चाहता है। वह दूसरोंकी भलाई तभी करता है जब उसमें उसकी भलाई निहित होती है। उसके आत्मप्रेमने ही नैतिक नियमोंको जन्म दिया है। उसके स्वार्थसे इनका सम्बन्ध है। अतः ये अनिवार्य और उपयोगी हैं।

भ्रान्तिपूर्ण मनोविज्ञान

हॉब्स यह मानता है कि शुभका आशय सुखभोग एवं भौतिक जीवनका संरक्षण है। इस संकीर्ण भौतिकवादी विचारधाराके कारण ही वह इस परिणाम-पर पहुँचता है कि व्यक्ति स्वार्थी है। वह दूसरोंके सुखकी परवाह नहीं करता। इस सिद्धान्तकी पुष्टि वह अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञानके आधारपर करता है। उसका मनोवैज्ञानिक ज्ञान उसे बतलाता है कि परमार्थी भाव-नाओंके मूलमें आत्म-प्रेम है, सुखभोग है। हॉब्सका मनोविज्ञान भ्रान्तिपूर्ण है। उसने सब प्रवृत्तियोंको स्वार्थी कहकर भयंकर भूल की। उसकी इस भूलके फलस्वरूप ही सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दीके सहजज्ञानवादियोंका सिद्धान्त प्रस्फुटित हुआ। हॉब्स स्वयं भी अपने सिद्धान्तमें पूर्णरूपसे परम-स्वार्थवादको नहीं अपना सका है। उसके सिद्धान्तमें परम-स्वार्थवाद लड़खड़ा उठता है। एक ओर तो वह यह मानता है कि नैतिकताका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, मानव-निर्णीत सामाजिक समझौता ही नैतिक मान्यताओंको एवं उचित और अनुचितको निर्धारित करता है; नैतिकता राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्थापर निर्भर है। दूसरी ओर वह यह मानता है कि सामाजिक एवं नैतिक आदेशका पालन करना अनिवार्य है। सामाजिक संघटनके लिए त्याग करना आवश्यक है। सामाजिक शुभ व्यक्तिके लिए उपयोगी है। इस प्रकार उसके सिद्धान्तमें दो विरोधी कथन मिलते हैं। यदि यह मान लें कि सामाजिक शुभ वैयक्तिक शुभके लिए उपयोगी है तो इसके अर्थ यह हुए कि सामाजिक शुभ और वैयक्तिक

शुभ परस्पर विरोधी नहीं हैं। उनमें संगति है। वे एक ही सत्यके दो रूप हैं।

हॉब्सका कहना था कि मनुष्यको अपने आचरणको उपयोगिताके अनुसार संयमित करना चाहिये। व्यक्तिके लिए उस आचरणको अपनाना उचित है जो कि उसके सम्पूर्ण जीवनके लिए सुखप्रद है। सिरेनैक्सके विपरीत वह कहता है कि सन्निकट सुखको बिना समझे-बूझे स्वीकार नहीं करना चाहिये। उपयोगिताके आधारपर उसने नैतिक नियमोंको स्वीकार किया। उनके सापेक्ष मूल्यको सम्मुख रखा। नैतिक मान्यताओंको निरपेक्ष माननेवालोंके विरुद्ध उसने कहा कि यह अपने-आपमें शुभ नहीं हैं। इस तथ्यको समझानेके लिए उसने कई प्रश्नोंको उठाया : मनुष्य किस प्रेरणावश नियमोंका पालन करता है? उसकी बौद्धिक प्रवृत्ति और सामाजिक प्रवृत्तिमें क्या सम्बन्ध है? उसका स्वभाव सामाजिक किस अर्थमें है? उसकी परमार्थी भावनाओंकी प्रेरणाशक्ति क्या है? वह आत्मकल्याणको छोड़कर बहिर्मूलक सामाजिक शुभकी खोज क्यों करता है? वह उस सामाजिक शुभको क्यों स्वीकार करता है जिसका कि वह स्वयं अनुभव नहीं कर सकता है? हॉब्सने इन विभिन्न प्रश्नोंका समाधान आत्मप्रेमको कर्मोंका प्रेरक मानकर किया है। स्वार्थवादी नैतिकताका प्रचारक होनेके कारण उसने कर्त्तव्य, बाध्यता, सद्‌गुण आदिको व्यक्तिके सुख-दुःखसे सम्बन्धित माना है। अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिए उसने अपने समयसे प्रभावित होकर जिस तार्किक और वैज्ञानिक प्रणालीको अपनाया वह स्तुत्य है। उसकी प्रणालीकी स्पष्टता, दृढ़ता और विधिने उसके उठाये हुए प्रश्नोंको अत्यन्त महत्वपूर्ण बना दिया। हॉब्सने अपने तर्कोंको जिस युक्तिसे सम्मुख रखा उसने उसके परमार्थ अथवा सामाजिक सुखके प्रश्नको अत्यन्त महत्वपूर्ण बना दिया। इङ्गलैण्डमें उसने स्वतन्त्र नैतिक सिद्धान्तको जन्म दिया। शैफ्ट्सबरी, बटलर आदि सहजज्ञानवादियोंके सिद्धान्तकी प्रेरणाशक्ति हॉब्सका परम-स्वार्थवाद ही है। किन्तु साथ ही यह नहीं

सिद्धान्तकी विशिष्टता

भूलना चाहिये कि हॉब्सने अपने सिद्धान्तमें मूलतः जिस कठिनाईको सुलझानेका प्रयास किया—किस प्रेरणावश व्यक्ति वैयक्तिक शुभके साथ ही सामाजिक सुखकी भी खोज करता है—उसे प्राचीन यूनानी विचारकों, विशेषकर प्लेटोने भी उठाया था। हॉब्सकी विशिष्टता इसपर है कि उसने इसे महत्वपूर्ण बनाया, विचारकोंका ध्यान इस ओर आकर्षित किया।

परार्थ सुखवाद : उपयोगितावाद

परार्थ सुखवाद या परसुखवाद सामाजिक सुखमें विश्वास करता है। सामाजिक सुखको नैतिक ध्येय माननेके कारण परसुखवादने सुखवादको व्यापक, महान और जनप्रिय बना दिया। प्राचीन सुखवादके साथ उसने भी स्वीकार किया कि एकमात्र सुखकी प्रेरणा ही मनुष्यके आचरणको शासित करती है। अथवा मनुष्य स्वभावतः सुखकी खोज करता है, वह स्वार्थी है। सुखेच्छा ही मनुष्यके कर्मोंका वास्तविक और अनिवार्य कारण है। मनुष्यकी इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको परसुखवादियोंने जनसामान्यके हितका साधन बनाया और मनोवैज्ञानिक सुखवादको ही नैतिक सुखवाद एवं परार्थमूलक सुखवादका आधार माना। उन्होंने कहा कि मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति—सुखेच्छा—नैतिक लक्ष्यको निर्धारित करती है। सुख ही नैतिक लक्ष्य है। अतः प्रत्येक व्यक्तिको सुख प्राप्त करनेका अधिकार है। दूसरे शब्दोंमें जीवनका ध्येय वैयक्तिक सुख नहीं है किन्तु अधिकतम संख्याका सुख है। मनोवैज्ञानिक सुखवादके द्वारा उन्होंने सामूहिक सुखवादकी स्थापना की और सुखवादका मानव-कल्याणके साथ समन्वय स्थापित किया। अपने मानवतावादी रूपमें सुखवाद विकसित और गौरवान्वित अवश्य हो गया किन्तु इस रूपमें वह प्राचीन सुखवादसे बहुत दूर पहुँच गया। परसुखवादियोंने आत्मसुखको मानते हुए भी सामान्य सुखको महत्व दिया। इस सिद्धान्तके प्रमुख प्रतिपादक बैंथम और मिल जड़वादी विचारधाराके माननेवाले समाज-सुधारक थे। जड़वादी होनेके कारण उन्होंने सांसारिक सुखको ही जीवनका

सामान्य परिचय

परार्थ सुखवादके प्रमुख प्रवर्त्तक

ध्येय माना। सुखसे उनका अभिप्राय जीवनकी सामान्यतः सुखी अवस्थासे अथवा आनन्दमय जीवनसे है। उसके आध्यात्मिक या धार्मिक पक्षको समझनेका प्रयास उन्होंने नहीं किया। समाज-सुधारक होनेके कारण उन्होंने सामाजिक कर्त्तव्य और जनहितको अत्यधिक महत्व दिया। मनुष्यको स्वार्थी मानते हुए उन्होंने कहा कि सामान्य सुखकी वृद्धि करना नैतिक जीवनका लक्ष्य है; सामाजिक शुभके लिए उपयोगी कर्म शुभ हैं। कर्मके औचित्य-अनौचित्यको उपयोगिताकी तुला द्वारा निर्धारित करना चाहिये। परसुखवादका मापदण्ड प्राचीन सुखवादी मापदण्डसे भिन्न है। जनहितको अपनाकर वास्तवमें वह सुखवादको छोड़ देता है। परसुखवाद विश्वको जनहितका सक्रिय सन्देश देता है और प्राचीन सुखवादने स्थूल इन्द्रियप्रियताका सन्देश दिया है। यहीं व्याव-हारिक दृष्टिसे दोनोंमें महान अन्तर आ जाता है। प्रारम्भिक सुखवादी विशेषकर ऍपिक्यूरसके अनुसार समाज-सुधारक बनना मूर्खता है। सामा-जिक सुख, सामाजिक कल्याण, सामाजिक संस्थाओंको उन्नत करनेकी भावना घृणित है। परसुखवादियोंके अनुसार जीवनका ध्येय व्यक्तिका अधिकतम सुख नहीं है किन्तु अधिकतम संख्याका सुख है। उन्होंने यह समझानेका प्रयास किया कि जनहितको ध्यानमें रखकर विभिन्न नियमोंका प्रतिपादन करना चाहिये, सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओंकी रूप-रेखा निर्धारित करनी चाहिये। अपने उस उन्नत रूपमें सुखवाद आधुनिक राजनीतिक, सामाजिक, व्यावसायिक, कानूनी और शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाओंके विकासमें सहायक हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं है। साथ ही यह मानना भी उचित होगा कि अपने पूर्ववर्ती विचारकोंके विपरीत परसुखवादियोंने व्यक्ति और समाजको अनजाने ही जीवन्त संघटनके रूपमें देखा। यदि उस सत्यपर उन्होंने भलीभाँति विचार किया होता तो 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख'—वाली उनकी उक्तिको दृढ़ आधार मिल जाता। स्वार्थ और परमार्थके बीच उन्होंने जो भेद देखा वह सहज ही मिट जाता और वे सरलतापूर्वक समझा सकते कि

क्यों व्यक्तिको सामाजिक सुखकी परवाह करनी चाहिये। परसुखवादियोंके विरुद्ध यही मुख्य आपत्ति है कि वे वैयक्तिक और सामाजिक सुखमें सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाये। वैसे, जहाँतक सुखवादका प्रश्न है, उसके क्षेत्रका अतिक्रमण करके ही उन्हें सफलता मिली।

बैंथम

सुख ही एकमात्र वाञ्छनीय ध्येय : नैतिक-मनोवैज्ञानिक सुखवादका समन्वय

बैंथम[1]के अनुसार "प्रकृतिने मनुष्यको दो प्रमुख शक्तियों—सुख और दुःख—के अनुशासनमें रखा है। इन्हींके द्वारा यह निर्धारित होता है कि हमें क्या करना चाहिये और हम क्या करेंगे।" इस-प्रकार वह अपनी पुस्तक[2]का प्रारम्भ नैतिक और मनोवैज्ञानिक सुखवादके समन्वयसे करता है। इस समन्वयके द्वारा वह यह कहता है कि मनुष्यके कर्म सदैव सुखकी इच्छासे संचालित होते हैं और सुख ही एकमात्र नैतिक आदर्श है। बैंथमका यह सिद्धान्त उन्हीं कर्मोंका अनुमोदन करता है जो कि सुखप्रद हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे यह इस तथ्यपर आधारित है कि मनुष्य वैयक्तिक सुखकी खोज करता है। वह दुःखकी अभावात्मक स्थितिको प्राप्त करना चाहता है और अधिकतम सुखकी खोज करता है। अथवा सुखकी खोज और दुःखका परित्याग, यही दो प्रेरणाएँ उसके कर्मोंको सदैव संचालित करती हैं। उसकी इन प्रेरणाओंको विवेकबुद्धिका सहयोग प्राप्त है। प्रत्येक विवेकसम्मत प्राणीके जीवनका ध्येय आत्मसुख है। स्वभाववश स्वार्थी व्यक्ति दूसरोंके लिए छोटा-सा त्याग भी आत्मसुखकी आशासे करता है। अपने स्वार्थके महत्तम अंशकी प्राप्ति ही विचारवान् मनुष्यके जीवनका उद्देश्य है। इस प्रकार बैंथम स्थूल स्वार्थवादको स्वीकार करता है, प्रेरणाओंके मूलमें आत्म-स्वार्थको देखता है। उस सिद्धान्तको वह आत्मरुचि अथवा आत्मवरणका

१. Jeremy Bentham 1748–1832.
२. Principles of Morals and Legislation.

सिद्धान्त (Principle of self-preference) कहता है। कर्मोंका वरण करते समय मनुष्य केवल अपने सुखका ध्यान रखता है। नैतिक मान्यताएँ, विभिन्न नियम, कर्त्तव्य, नैतिक बाध्यता, सद्गुण आदि उसके सुख-दुःखके सम्बन्धमें ही महत्वपूर्ण तथा अर्थगर्भित हैं।

स्वार्थसे परमार्थकी ओर

बैंथमका नीतिशास्त्र उसके चरित्रसे अत्यधिक प्रभावित है। वह लोक-कल्याण और विश्वप्रेममें विश्वास करता था। स्वभावसे परोपकारी और दयालु था। वह समाज-सुधारक था। कानूनमें उसकी अत्यधिक रुचि थी। वह चाहता था कि जनहितको लक्ष्य मानकर नियम बनाये जायँ। जनहितको ध्येय माननेपर भी उसने जीवनके प्रति अपना दृष्टिकोण जड़वादी रखा, मनुष्यकी मूल प्रवृत्तिको स्वार्थी माना तथा सांसारिक सुखमें जीवनकी सार्थकता देखी। उसका ध्यान जीवनके दार्शनिक, सांस्कृतिक, कलात्मक और धार्मिक पक्ष-की ओर आकृष्ट नहीं हुआ। एक ओर बैंथमने अपने चिन्तन और अध्य-यनके परिणामस्वरूप स्वार्थसुखवादको अपनाया और दूसरी ओर उसके स्वभावने उसे परार्थकी ओर आकृष्ट किया। उसके परसुखवादमें उसकी जनहितकांक्षिणी-प्रवृत्ति बोलती दीखती है। वह कहता है कि नैतिक जीवन-का आदर्श 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख' है। मनुष्यमात्रके लिए अधिकसे अधिक परिमाणमें सुख खोजना ही व्यक्तिका ध्येय है। व्यक्तिको आत्मसुख खोजनेका वहींतक अधिकार है जहाँतक कि उसका सुख दूसरोंके लिए बाधक अथवा दुःखप्रद नहीं बनता। वास्तवमें यहाँपर बैंथम समाज-सुधारकके रूपमें प्रकट होता है। उसने अपने समयकी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्थाको समझनेका प्रयास किया। प्रचलित धर्म, अन्धविश्वास, अभ्यास, रीति-रिवाज तथा धर्मके उपदेशकों द्वारा जिस भाँति जाने-अनजाने सर्वसामान्यके सुखका शोषण होता है उसे देखकर वह अत्यन्त दुःखी हुआ। उसने साधिकार सुखको मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक आधार देते हुए कहा कि जीवनका ध्येय सुख है और यह सुख वैयक्तिक नहीं किन्तु सामाजिक है। सब प्राणियोंको सुख भोगनेका समान

अधिकार है। नैतिकताका मापदण्ड 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख' है, सामूहिक सुख है। मनुष्यको जाति, कर्म और द्वन्द्व-भावनाके स्वार्थोंसे ऊपर उठना चाहिये। जहाँतक सुखका प्रश्न है, ये भेद मिथ्या हैं। नैतिक दृष्टिसे वही कर्म शुभ है जो सर्वकल्याणके लिए उपयोगी है। सर्वकल्याण अथवा जनसम्प्रदायके सुखमें वैयक्तिक सुख खो नहीं जाता। वह समान और निष्पक्ष रूपसे उसमें सुरक्षित रहता है। इस प्रकार बैंथम परम स्वार्थवादके साथ समानता या निष्पक्षताके सिद्धान्त (Principle of equity or impartiality) को स्वीकार करता है।

किन्तु फिर भी प्रश्न उठता है कि यदि व्यक्ति स्वभावतः स्वार्थी है तो वह जनहितसाधन कैसे कर सकता है? बैंथम उपयोगितावादका प्रतिपादन करता है। उसके अनुसार नैतिकताका मूल आधार उपयोगितावादका सिद्धान्त (Principle of utility) है। "उपयोगितावादके सिद्धान्तसे अभिप्राय उस सिद्धान्तसे है जो कि प्रत्येक कर्मको उस प्रवृत्तिके अनुसार स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करता है जो कि उनलोगोंके सुख-दुःखका ह्रास अथवा विकास करती प्रतीत होती है जिनका स्वार्थ उससे सम्बद्ध है।" बैंथमके उपयोगितावाद-के सिद्धान्तके अनुसार वही कर्म शुभ है जो सर्वसामान्यके सुखके लिए उपयोगी है। 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख' अथवा परसुखवाद-को समझानेके लिए वह सुखवादको उपयोगिताके सिद्धान्तके साथ सम्बद्ध कर इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि उपयोगिताके अनुसार कर्म करना ही नैतिकता है। उपयोगिता ही नैतिक मापदण्डको निर्धारित करती है। वह डेविड ह्यूम और ऐडम स्मिथकी आलोचना करता है। ये लोग उपयोगिता-के तत्वको नैतिकताका मूल आधार नहीं मानते; सजातीय भावना (fellow feeling) या सहानुभूति (sympathy) को नैतिक मान्य-ताओंका मूलतत्व मानते हैं, यद्यपि दोनोंमें भिन्नता स्पष्ट है। ह्यूम अपने सहानुभूतिके सिद्धान्तका प्राकृतिक स्पष्टीकरण करता है और एडम स्मिथ सहजज्ञानवादी होनेके कारण अन्तर्बोधके द्वारा सहानुभूतिको समझाता है।

उपयोगितावाद

बैंथमके अनुसार सहानुभूतिको नैतिकताका आधार माननेवाले सिद्धान्त बहिर्मूलक नैतिक मापदण्ड नहीं दे सकते। सहानुभूति अन्ध-प्रवृत्ति है। यह वैयक्तिक भावनापर निर्भर है। ह्यूम तथा स्मिथका मापदण्ड आत्मगत है। इसी भाँति बैंथम वैराग्यवाद, नैतिकबोध, कर्त्तव्य, ईश्वरेच्छा आदिको नैतिकताका आधार माननेवाले सिद्धान्तोंके विरुद्ध कहता है कि वे कर्मोंकी मूल प्रेरणाको नहीं समझा पाये। सुख-दुःखसे सम्बन्धित होनेके कारण ये सब अप्रमुख एवं बाह्य रूपसे व्यक्तिको प्रेरित करते हैं। कर्मोंकी वास्तविक और परमप्रेरक उपयोगिता है। नैतिकता, व्यावहारिक उपयोगिता और वास्तविक अनुभवकी अपेक्षा रखती है। बैंथम उपयोगिताके सिद्धान्तको महत्व देता है और कहता है कि वही कर्म करना चाहिये जो उपयोगिताके सिद्धान्तके अनुरूप हो। यही नैतिक कर्त्तव्यके अर्थ हैं।

नैतिक आदेश द्वारा सामूहिक सुखकी प्राप्ति

बैंथम सुखवादी मनोविज्ञानको स्वीकार करता है। कर्मोंको सुख-दुःखकी प्रेरणा संचालित करती है, किन्तु फिर भी उसके अनुसार नैतिक आदर्श अधिकतम संख्याका अधिकतम सुख है। कर्मका नैतिक दृष्टिसे मूल्यांकन करनेके लिए यह जानना आवश्यक है कि वह सामान्य सुखकी वृद्धि कितनी करता है। स्वार्थ और परमार्थके बीच बैंथम जो स्पष्ट रूपसे विरोध मान चुका है उसका समाधान कैसे सम्भव है? स्वार्थी व्यक्ति सामाजिक कर्त्तव्य करनेमें अपनी कौन-सी भलाई देखता है? इन प्रश्नोंका समाधान भी आवश्यक है। सुखवादी मनोविज्ञानके आधारपर बैंथम यह स्वीकार कर चुका है कि एकमात्र सुख-दुःखकी प्रेरणा मनुष्यको कर्म अथवा सामाजिक कर्त्तव्य करनेके लिए प्रेरित करती है। वह उन्हीं आदेशों और नियमोंको स्वीकार करता है जिनके साथ उसे सुखकी प्राप्ति होती है। वैयक्तिक और सामाजिक सुखमें वास्तवमें कोई सामञ्जस्य नहीं है। स्वार्थ और परमार्थमें विरोध है। यदि यह मान लें कि व्यक्तिका शुभ उसके सुखमें निहित है तो वह दूसरोंके सुखको क्यों चाहता है। बैंथम नैतिक आदेशोंको महत्व देता है और कहता है कि आदेश व्यक्तिको परोपकारी

आचरणके लिए बाधित करते हैं। आदेश बाह्य शक्तियोंकी भाँति हैं। ये व्यक्ति और समाजके बीच एकता स्थापित करते हैं। बैंथमके अनुसार चार प्रकारके आदेश हैं:—भौतिक (प्राकृतिक), राजनीतिक, नैतिक (प्रचलित) और धार्मिक। यही आदेश व्यक्तिके परोपकारी आचरणके आधार-स्तम्भ हैं जो उसके सामाजिक आचरणके अप्रमुख कारण हैं। वास्तवमें मनुष्यकी आन्तरिक प्रेरणा स्वार्थी है। उसका ध्येय आत्मसुख है। किन्तु साथ ही उसका विवेक उसे बतलाता है कि यदि वह आदेशोंका उल्लंघन करेगा तो परिणामस्वरूप उसे दुःख उठाना पड़ेगा। आदेशोंको वैयक्तिक सुखके लिए उपयोगी मानकर ही व्यक्ति परोपकारी एवं सामाजिक कर्म करता है। आदेशोंका पालन करके वह 'एक पन्थ दो काज' करता है। आदेश उसे वैयक्तिक सुख देते हैं और साथ ही सामान्य सुखका उत्पादन करते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि इस तथ्यको कैसे सिद्ध कर सकते हैं? बैंथम तर्कसम्मत कारण नहीं दे सका। वह बार-बार यह कहता है कि आदेश उपयोगी नियम हैं और व्यक्ति स्वभाववश उपयोगी नियमोंका पालन करता है। आदेश अथवा नैतिक मान्यताएँ मनुष्यके लिए आवश्यक हैं। उसका यह दृढ़ विश्वास था कि व्यक्तिगत सुख सार्वजनिक सामाजिक सुखपर निर्भर है। अतः उसने कहा कि यदि वास्तविक जीवनका अध्ययन करें तो मालूम होगा कि सर्वसामान्य सुखका उत्पादन करनेवाले आचरण और व्यक्तिगत सुखका उत्पादन करनेवाले आचरणमें परस्पर समरूपता और अनुरूपता पायी जाती है। इस भाँति वह एक ओर तो परमार्थी प्रवृत्तिको अस्वाभाविक कहता है और दूसरी ओर स्वार्थ और परमार्थमें संगति मानता है। उस संगतिके आधारपर ही वह अधिकतम संख्याके सुखको समझाता है। किन्तु यदि स्वार्थ और परमार्थ विरोधी प्रवृत्तियाँ हैं, व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध बाह्य है तो विश्वासके आधारपर वैयक्तिक और सामाजिक सुखमें सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जा सकता। बैंथम बिना सिद्ध किये ही कह देता है कि सर्वसामान्य सुख वैयक्तिक सुखमें सहायक है और समाज-सुधारकके नाते कहता है कि

नैतिक आदेश द्वारा स्वार्थी व्यक्तिके आचरणमें सुधार कर सकते हैं। बैंथमके अनुसार व्यक्ति सदैव अपने सुखकी प्रेरणासे कर्म करता है। किन्तु साथ ही वह यह भी कहता है कि कर्मका नैतिक मूल्य आँकनेके लिए यह जानना आवश्यक है कि वह सामान्य सुखके उत्पादनमें कितना सहायक है। कर्मोंका नैतिक मूल्यांकन करनेके लिए उनका सामाजिक परिणाम जानना महत्वपूर्ण है।

प्रेरणा, परिणाम, उद्देश्य

अथवा यदि आत्म-सुखकी प्रेरणासे किये हुए कर्मका परिणाम समाजके लिए सुखप्रद है तो वह कर्म शुभ है अन्यथा अशुभ-आत्मसुख और सामाजिक सुख ये दोनों ही विरोधी भाव हैं। यदि व्यक्ति स्वभाववश स्वार्थी है, वह आत्मसुखकी ही खोज करता है तो अधिकतम संख्याके सुखको नैतिक मापदण्ड मानना असम्भव है। इस असम्भवको सम्भव करनेके लिए बैंथम परिणामको महत्व देता है। एक ओर तो वह सुखवादके इस कथनका समर्थन करता है कि व्यक्ति एकमात्र सुखकी प्रेरणासे कर्म करता है। सब प्रेरणाएँ समान हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। वे अपने-आपमें न तो शुभ हैं और न अशुभ। वे गुणहीन हैं। किन्तु जब ये परिणामसे संयुक्त हो जाती हैं तब इनका मूल्यांकन किया जा सकता है। दूसरी ओर वह प्रेरणाको गुण-रहित कहनेके पश्चात् यह स्वीकार करता है कि अनुभव और वास्तविकताके आधारपर प्रेरणाको शुभ अथवा अशुभ कहा जा सकता है। वह यह मानता है कि उन प्रेरणाओंको शुभ कह सकते हैं जिनकी प्रकृति सुखप्रद परिणामोंकी ओर है और इसके विपरीत दुःखप्रद परिणामवाली प्रेरणाएँ अशुभ हैं। इस भाँति परिणामसे सम्बन्धित प्रेरणाका मूल्यांकन कर सकते हैं। वास्तवमें बैंथम स्वभावसे रूढ़िवादी था। उसने अपने समयकी नैतिक मान्यताओंको स्वभाववश स्वीकार कर लिया। इन मान्यताओंकी सुख-वादी व्याख्या करना उसके लिए आवश्यक था। सुखवादके साथ उन्हें संयुक्त करनेके अभिप्रायसे उसने कहा कि सुखकी इच्छा अनेक रूपमें प्रकट होती है। परिणामके आधारपर उसे शुभ अथवा अशुभ कह सकते हैं। संयम, न्याय, सत्यशीलता, ईमानदारी, मित्रता आदि शुभ हैं और

घृणा, क्रोध, प्रतिशोध आदि अशुभ हैं। प्रेरणा और परिणामके विरोधको बैंथम यह कहकर मिटाता है कि कर्मकी नैतिकता प्रेरणापर निर्भर नहीं है किन्तु वास्तविक अथवा सम्भावित परिणामपर। बिना परिणामके प्रेरणा अर्थशून्य है। परिणामसे बैंथमका अभिप्राय कर्मके वास्तविक या सम्भावित फलसे है। यह वह फल है जिसके लिए कर्त्ता पूर्ण रूपसे सचेत है। यदि यह फल अथवा परिणाम सुखप्रद हैं तो कर्म शुभ हैं अन्यथा अशुभ। साथ ही यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सुखसे बैंथमका अभिप्राय वैयक्तिक सुखसे नहीं बल्कि सामाजिक सुखसे है। बैंथमने अपने सिद्धान्तमें सामाजिक परिणामको महत्व दिया है। परिणामसे श्री बैंथमका वास्तवमें अभिप्राय कर्मके विशिष्ट फलसे नहीं है; किन्तु सम्पूर्ण परिस्थिति, उद्देश्यसे है। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य अपने मित्रको दारुण दुःखसे मुक्त करनेके लिए अत्यधिक प्रयास करता है किन्तु परिस्थितिवश उसे सफलता नहीं मिलती तो बैंथमके अनुसार उसका कर्म शुभ कहलायेगा। सुखकी प्रेरणासे प्रेरित होकर व्यक्ति कर्म करता है, अपने मित्रको दुःखसे बचानेका प्रयास करता है। उसका उद्देश्य शुभ है, मानव-सुखकी वृद्धि है। परिणाम बुरा होनेपर भी कर्म स्तुत्य है। बैंथमकी कानूनमें अत्यधिक रुचि थी। वह यह जानना चाहता था कि राजसत्ता जनसमुदायके कल्याणके लिए कितना सहयोग प्रदान कर सकती है। उसने मनुष्यकी प्रेरणाके स्वरूपको समझनेका प्रयास किया और इस निष्कर्षपर पहुँचा कि कुछ ऐसे नियमोंको बनाना चाहिये जिनका पालन करनेसे व्यक्तिको आत्मसुख प्राप्त हो और साथ ही जो सामाजिक सुखका उत्पादन करे। ऐसे अनिवार्य नियमों—प्राकृतिक अथवा मानवीय—को वह आदेश कहता है। ये आदेश व्यक्तिको विशिष्ट रूपसे कर्म करनेके लिए बाधित करते हैं। वे शुभ आचरण अथवा सामाजिक आचरणके लिए व्यक्तिको प्रोत्साहित करते हैं। जनकल्याणको सम्मुख रखकर बनाये हुए आदेशों द्वारा व्यक्तिके आचरणको नियमित किया जा सकता है। स्वार्थी मनुष्य इनका उल्लंघन करनेका साहस नहीं कर सकता क्योंकि इससे उसके स्वार्थकी हानि होती है, उसे दुःख भोगना

पड़ता है। नैतिकताके नामपर बैंथमने सुखको महत्व दिया और वैराग्य-वादको हास्यास्पद घोषित किया। यह सुख सामाजिक है। जनहित ही उसकी नैतिकताका मापदण्ड है। सर्वसामान्यके सुखको सुरक्षित रखनेके लिए उसने प्रेरणा और परिणामका विश्लेषण किया। नैतिक दृष्टिसे प्रेरणा-को निरर्थक बताया और परिणामको अर्थपूर्ण। उसका कहना था कि विभिन्न प्रवृत्तियों—प्रेरणा, कर्म, आचरण आदिका मूल्यांकन उनके सामा-जिक परिणाम—अधिकतम संख्याके लिए सुख अथवा दुःख—के द्वारा ही किया जा सकता है। परिणाम ही उसके औचित्य अथवा अनौचित्यको निर्धारित करता है।

बैंथमके अनुसार सुख जीवनका ध्येय है। सब सुख समान हैं, शुभ हैं। उनमें कोई जातिभेद नहीं है। किन्तु फिर भी कुछ सुख अधिक वांछनीय हैं और कुछ कम। यह जानना आवश्यक है कि अधिक वांछनीय सुखको कैसे समझा जा सकता है। अन्य सुखवादियोंकी भाँति बैंथमने भी परिमाण-को महत्व दिया। उसका कहना था कि जहाँतक परिमाणका प्रश्न है सुखोंमें भेद है। उसके अनुपातमें ही एक सुखको दूसरे सुखसे अधिक वांछनीय माना जाना चाहिये। जहाँतक गुण (quality) का प्रश्न है वह निरर्थक है। उसी गुणका मूल्य है जो परिमाणमें परिणत हो सकता है। परिमाण ही सुखको महत्व देता है। यदि दो सुख आपसमें परिमाणमें समान हैं तो दोनों ही समान रूपसे शुभ हैं। समान परिमाण होनेपर तुच्छ खेलके और कविता करनेके सुखको समान रूपसे शुभ कह सकते हैं। बैंथमके ही शब्द हैं—'Quantity of pleasure being equal, push-pin is as good as poetry'.

परिमाण : सुख-वादी गणना

परिमाण महत्वपूर्ण है या नहीं? इसको कैसे मापा जा सकता है? कानूनमें रुचि होनेके कारण बैंथमने सुखको नापनेके लिए एक वस्तुगत और सार्वभौम मापदण्डकी खोज की। वह दृढ़ और ठोस मापदण्ड चाहता था। ऐसे मापदण्डको चाहता था जो कि व्यक्तिगत विचार और भाव-

नाओंपर निर्भर न हो। उसने यहाँपर गणितसे प्रेरणा ली। गणितमें जो गणनाका सिद्धान्त (mathematical calculation) मिलता है उससे वह अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसका कहना था कि यह सिद्धान्त निर्विवादता, स्पष्टता और सुनिश्चिततापर आधारित है। यदि इसी प्रकारकी गणनाके सिद्धान्तको नीतिशास्त्रके क्षेत्रमें स्वीकार कर लिया जाय तो कर्मोंपर निश्चित निर्णय दिया जा सकता है। सुखको उसी भाँति मापा जा सकता है जिस भाँति कमरेको उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई द्वारा नापा जाता है। सुखके वे कौनसे आयाम (dimensions) हैं जिनके द्वारा उसकी नाप करते हैं। बैंथमके पूर्व पैले (Paley) और अन्य सुखवादियोंने सुखोंके परिमाणको नापनेके लिए दीर्घकालीनता और तीव्रताका भेद माना था। किन्तु बैंथम उनके अतिरिक्त पाँच आयाम और मानता है। उसके अनुसार सुखके परिमाणको नापनेके लिए सात आयामोंको समझना आवश्यक है। तीव्रता (intensity), दीर्घकालीनता (duration), सन्निकटता (nearness), निश्चितता (certainty), विशुद्धता अर्थात् जिस सुखमें दुःखका लेशमात्र मिश्रण न हो (purity), उत्पादकता, जो अन्य सुखोंका उत्पादन कर सके (fruitfulness) और व्यापकता (extent)। बैंथमके ये मापदण्ड सुखवादी गणना (Hedonistic calculus) अथवा नैतिक गणित (Moral Arithmetic) के नामसे प्रख्यात हैं। उसके अनुसार नैतिक गणित यह बतला सकता है कि कौन सुख परिमाणमें अधिक है एवं अधिक वांछनीय है। सुखको चुनते समय यदि हम विवेकसे काम लें तो अधिक वांछनीय सुखको चुन सकते हैं। वह यह भी मानता है कि अशुभ कर्म करनेवाला व्यक्ति वास्तवमें अपने नैतिक गणितमें भूल करता है।

बैंथमने अपने नैतिक गणितमें व्यापकताको स्थान दिया। किन्तु व्यापकताको कैसे तौल सकते हैं ? उसके क्या अर्थ हैं ? यदि व्यापकतासे अर्थ व्यक्तियोंकी सुखभोग करनेवाली संख्यासे है तो स्वार्थ सुखवाद कैसे टिक सकता है ? यही नहीं, एक

व्यापकता

व्यक्तिके सुखकी तुलना दूसरे व्यक्तिके सुखसे करना सम्भव नहीं है। सुख एक भावना है, उसका स्वरूप व्यक्तिगत है। चरित्र, प्रकृति, अभ्यास, आयु, द्वन्द्व भावना, मानसिक स्थिति, वातावरण, परिस्थिति, जलवायु आदिके अनुरूप प्रत्येक व्यक्तिकी सुखकी भावना भिन्न है। अतः वह जो एकके लिए सुखप्रद है, दूसरेके लिए दुःखप्रद हो सकता है। ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनके लिए दूसरोंका सुख नगण्य है अथवा जिनमें इतनी अधिक ईर्ष्या है कि दूसरेका सुख उनके जीवनको दुःखमय बना देता है। ऐसी स्थितिमें किसी एक सुखको मान्य मान लेना या किसी एक सुखको सार्वजनीन-रूप देना सम्भव नहीं है। यदि व्यापकताका यह अर्थ है कि हम दूसरोंके सुखको अधिक महत्व दें अथवा अधिकतम संख्याके सुखको स्वीकार करें तो सुखवादके मूल सिद्धान्तको छोड़ना पड़ेगा। अपने सुखकी तुलनामें दूसरोंके सुखको अधिक व्यापक कहना, अपने सुखसे स्वतन्त्र दूसरोंके सुखको मान्यता देना, सुखवादको त्याज्य कहनेके बराबर है।

त्रुटियाँ: विशेषता

अपने नैतिक सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिए बैंथम इस मनोवैज्ञानिक मान्यताको स्वीकार करता है कि इच्छाका एकमात्र विषय सुख अथवा दुःखसे निवृत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति इस स्वाभाविक मान्यताके कारण उस आचरणको स्वीकार करता है जिससे उसे अधिकतम सुखकी आशा हो। यदि मनोवैज्ञानिक सत्यको भूलकर इस मान्यताको मान लें तो यह कहना व्यर्थ होगा कि व्यक्तिको सुखकी इच्छा करनी चाहिये। मनोवैज्ञानिक सुखवादपर नैतिक सुखवाद आधारित नहीं किया जा सकता। यह व्यर्थका शब्दजाल और पुनरुक्ति है। बैंथमके सिद्धान्तमें आचरणका उचित और सूक्ष्म विश्लेषण नहीं मिलता है। मनोविज्ञानका अध्ययन तथा मनुष्यकी इच्छाओं एवं प्रवृत्तियोंका विश्लेषण यह बताता है कि जिस मनोवैज्ञानिक सुखवादको बैंथम स्वीकार करता है वह दोषयुक्त है। इस दोषसे, जैसा कि हम आगे देखेंगे, मिलका सिद्धान्त भी आक्रान्त हो गया है। मनुष्यकी सब प्रवृत्तियोंके मूलमें स्वार्थ देखना, परम स्वार्थवादको मानना तथा सुखको ही

इच्छाओंका विषय मानना मनोविज्ञानका विरोध करना है। बैंथमका कहना था कि मनुष्यको सुख चाहिये और यह महत्वहीन है कि सुख किस वस्तुसे प्राप्त होता है (कवितासे अथवा तुच्छ खेलसे)। वस्तुसे पृथक् सुखका मूल्यांकन किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक सुखवादको बिना उचित विवेकके स्वीकार करनेके कारण बैंथम यह नहीं समझ पाया है कि इच्छा सदैव वस्तुके लिए होती है। इच्छित वस्तुकी प्राप्तिसे सुख मिलता है। सुखवादको वह निष्पक्षता या समानताके सिद्धान्तके साथ संयुक्त करता है और इस आवेशमें वह भूल जाता है कि सुख आत्मगत और वैयक्तिक है। वह कहता है कि सुखका समान रूपसे वितरण किया जा सकता है। इसके लिए वह 'नैतिक गणित' का आविष्कार करता है। किन्तु जिस आत्म-विश्वाससे वह नैतिक गणितके द्वारा अपनी कठिनाई हल करता है वह वैसा ही है जैसा कि उस बच्चेका विश्वास जो सोचता है कि वह कागजकी नावसे नदी पार कर सकता है। बैंथमका कहना था कि नैतिक गणितके द्वारा दो सुखोंके जोड़को समान अथवा असमान बताया जा सकता है और सुखोंकी परिमाणात्मक तुलना की जा सकती है। उपयोगी कानूनी नियम बनानेमें बैंथमकी अत्यधिक रुचि थी। जनसाधारण सामान्य सुखको प्राप्त कर सके, यह उसकी उत्कट अभिलाषा थी। सम्भव है उस अभिलाषाको वास्तविकता देनेकी तीव्र इच्छाके कारण ही उसने बिना समझे-बूझे कह दिया कि सब सुख समान हैं, उनमें गुणात्मक भेद नहीं, उन्हें तोला जा सकता है, एवं समान रूपसे वितरण किया जा सकता है। वह यहाँतक मान लेता है कि समाज व्यक्तियोंका समुदायमात्र है और इस समुदायमें कानूनी तौरसे प्रत्येकको समान सुख मिल सकता है। वह इस सत्यको भूल जाता है कि मानव-समाज एक जीवन्त संघटन है, उसमें प्रत्येक व्यक्तिका अपना व्यक्तित्व होता है और उस व्यक्तित्वके अनुरूप ही उसकी सुखकी धारणा होती है। बैंथमने सुखमें गुणात्मक भेद न मानकर स्थूल और इन्द्रियपरक सुखवादका स्वागत किया। उसके आलोचकोंने इसपर अत्यन्त आपत्ति की, उसके दर्शनको शूकर-दर्शन (pig-philosophy) कहकर उसका

तिरस्कार किया। सच तो यह है कि बैंथम उपयोगितावादको स्पष्ट रूपसे नहीं समझा पाया। वह इस तथ्यका दार्शनिक तथा तार्किक रूपसे स्पष्टीकरण नहीं कर पाया कि व्यक्तिको क्यों सामाजिक सुखकी परवाह करनी चाहिये। दूसरे शब्दोंमें वह सामाजिक नैतिकताके आधारको नहीं समझ पाया। इसका मूल कारण यह है कि उसने स्वार्थ और परमार्थमें परम भेद देखा और मनोवैज्ञानिक सुखवादको पूर्ण रूपसे ग्रहण कर लिया। किन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि बैंथम उपयोगितावादका प्रवर्त्तक था। वह प्रथम विचारक था जिसने कि नैतिक क्षेत्रमें उपयोगिताके सिद्धान्तको निश्चित रूप दिया, उसके लक्ष्यकी रूपरेखा बनायी। बैंथमके पूर्व पैलेने कहा कि भगवानके आदेशका पालन करना ही नैतिक कर्त्तव्य है। दैवी आदेश क्या है इसे धार्मिक पुस्तकों और प्रकृतिके चेतन-प्रकाश द्वारा जाना जा सकता है। वे बताते हैं कि भगवान सब प्राणियोंका सुख चाहते हैं। मृत्युके पश्चात् दण्ड और पुरस्कार (स्वर्ग और नरक) की आशासे व्यक्ति दैवी आदेशका पालन करते हैं। पैलेने दैवी आदेशको नैतिक मापदण्ड मानकर उन्हीं कर्मोंको शुभ कहा जो सामान्य सुखकी वृद्धि करते हैं तथा उसके लिए उपयोगी हैं। आलोचनात्मक दृष्टिसे पैलेका उपयोगितावाद अत्यन्त दुर्बल है। उसमें कई त्रुटियाँ हैं। यदि सिद्धान्तकी परिपूर्णता, एकता और संगतताकी दृष्टिसे देखा जाय तो बैंथमका उपयोगितावाद पैलेके सिद्धान्तसे निश्चित रूपसे श्रेष्ठ है। बैंथमने व्यापकताको महत्व देकर निष्पक्षता और समानताके सिद्धान्तको सम्मुख रखा। उसका कहना था कि 'सुखोंका वितरण करते समय प्रत्येक व्यक्तिकी गणना समान रूपसे एक है, एकसे अधिक कोई नहीं है'। किन्तु 'व्यापकता' को वह सफलतापूर्वक नहीं समझा पाया। वह नहीं बता पाया कि क्यों व्यक्ति अपने सुखको छोड़कर सामान्य सुखकी खोज करे। पुनः व्यापकता वास्तवमें परसुखवादका मापदण्ड है। उसके अनुसार व्यक्ति नगण्य हो जाता है क्योंकि वह सुख जो मापदण्ड है, वैयक्तिक नहीं है। यह स्पष्ट है कि सुखवादको छोड़कर ही 'व्यापकता' को स्वीकार किया जा सकता है एवं

अधिकतम संख्याके सुखको महत्व दिया जा सकता है। किन्तु सुखवादके आधारपर 'व्यापकता' को अपनानेमें जो भी कठिनाई हो, यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि उसके कारण उपयोगितावाद जनप्रिय हो गया और उसने अन्य सिद्धान्तोंको सक्रिय रूपसे प्रभावित किया।

मिल

उपयोगितावादको लोकप्रिय बनानेका श्रेय मिल[1]को है! उसने बैंथमके आलोचकों एवं उपयोगितावादको शूकर-दर्शन कहनेवालोंके विरुद्ध उसकी श्रेष्ठताको समझाकर उपयोगितावादका प्रसार और प्रचार किया। मिलके सिद्धान्तमें हमें उपयोगितावादके प्रति जो अन्ध-समर्थन तथा तार्किक और दार्शनिक असंगतियाँ मिलती हैं उसका कारण यह है कि मिलका उपयोगितावाद उसके स्वतन्त्र बौद्धिक चिन्तनका अनिवार्य परिणाम नहीं है। उसने इसे पैतृक सम्पत्तिके रूपमें अपने पिता (जेम्स मिल) और उनके मित्र बैंथमसे प्राप्त किया। जेम्स मिल और बैंथमने मिलको बचपनसे ही उपयोगितावादके साँचेमें ढाला। उसे इस प्रकार शिक्षित किया कि वह बड़ा होकर उपयोगितावादका प्रचार करे। दैवने उन्हें इस प्रयासमें पूर्ण सफलता दी। मिलने अपने पिताकी तथा बैंथमकी मृत्युके पश्चात् एक ओर तो उपयोगितावादी परम्पराको निभाया और दूसरी ओर वह सत्यके प्रति जागरूक रहा। उसने विरोधी मतोंके सुदृढ़ तत्वों (सत्य अंशों) को स्वीकार किया और साथ ही वह उपयोगितावादका परम अभिभावक बना रहा। ऐसा करनेके कारण अनजानेमें ही उसने अपने सिद्धान्तमें अनेक असंगतियोंको स्थान दे दिया। अथवा उपयोगितावादका प्रतिपादन करनेपर भी वह अपनेको उसकी संकीर्ण परिधिके अन्दर न रख सका। उसकी पक्षपातहीन स्वतन्त्र बुद्धि प्रत्येक सत्यको स्वीकार करनेके लिए तत्पर रही। इसी कारण वह उपयोगितावादकी पूर्ण, सुस्पष्ट तथा विधिवत् व्याख्या नहीं कर पाया।

उपयोगितावादके प्रचारकके रूपमें

---

1. John Stuart Mill 1806-1873.

मिल उपयोगितावादको दृढ़ सिद्धान्तके रूपमें स्थापित करनेमें असमर्थ रहा। वरन् उसने कुछ नवीन सत्योंकी ओर संकेत किया। नवीन सत्योंकी ओर प्रकाश डालनेके कारण उसका सिद्धान्त अत्यन्त लोकप्रिय हो गया किन्तु साथ ही उपयोगितावाद समूल नष्ट हो गया।

मिलने बैंथमके उपयोगितावादके सिद्धान्तको स्वीकार किया और उसे उपयोगितावादके नामसे प्रसिद्ध किया। उसने उपयोगितावादकी व्याख्या इस प्रकार की : "उपयोगितावाद वह धारणा है जो नैतिकताको उपयोगिता या अधिकतम सुखके सिद्धान्तपर आधारित मानती है और यह स्वीकार करती है कि कर्म उस अनुपातमें उचित या अनुचित हैं जिसमें कि वह सुखकी वृद्धि या विनाश करते हैं। सुखका अर्थ इन्द्रिय उपभोग और दुःखका अभाव है; और दुःखका अर्थ पीड़ा तथा सुखका अभाव है।"[१] उपयोगितावादकी व्याख्यामें मिल बैंथमके सिद्धान्तको प्रायः पूर्ण रूपसे ग्रहण कर लेता है। पर मिलके उपयोगितावादके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्ततः दोनोंमें महान अन्तर है। बैंथमने मनोवैज्ञानिक मान्यता (प्रत्येक व्यक्ति स्वाभाविक प्रवृत्तिवश खोज करता है) पर अपने सिद्धान्तको आधारित किया। अर्थात् मनुष्य सदैव आत्मसुख चाहता है। सब सुख समान होते हैं। उनमें गुणात्मक भेद नहीं होता है। अतः उनकी परिमाणात्मक गणना की जा सकती है। कानूनमें रुचि रखनेवाले

मिलका उपयोगितावाद : उसकी विशिष्टता

१. "The creed which accepts as the foundation of morals, utility, or the Greatest Happiness Principle, holds that actions are right in proportion as they tend to produce happiness, wrong as they tend to produce the reverse of happiness. By happiness is intended pleasure, and the absence of pain; by unhappiness pain, and the privation of pleasure."

—Utilitarianism p. 6. (published by J. H. Dent, London 2nd. ed.)

नीतिज्ञ, बैंथमके लिए यही तथ्य महत्वपूर्ण था। इसीको उसने समझाया। मिलने अपने सिद्धान्त द्वारा यह बतलाया कि सुखोंमें गुणात्मक भेद होता है। परिमाणात्मक रूपसे समान होते हुए भी वे उच्च और निम्न कोटिके हो सकते हैं। मनुष्यमें पशुप्रवृत्तियोंकी तुलनामें उन्नत प्रवृत्तियाँ भी हैं। 'तृप्त शूकरसे अच्छा अतृप्त मानव होना है'; मिलके इस कथनने बैंथमके 'उपयोगितावादकी काया-पलट कर दी। उसने उपयोगिताके सिद्धान्तको परिमाणात्मक मापदण्डसे स्वतन्त्र एक नया मापदण्ड दे दिया। उपयोगितावादके इस नवीन रूपको समझनेसे पहिले यह समझना आवश्यक है कि मिलने उपयोगितावादके प्रचारकके रूपमें उपयोगितावादको कैसे सिद्ध किया। मिल, नीतिज्ञ होनेके साथ ही तर्कशास्त्रका प्रकाण्ड पण्डित भी था। उसने तर्कशास्त्र और मनोविज्ञानके आधारपर 'अधिकतम संख्याके सुख' को समझानेका प्रयास किया।

नैतिक ध्येय : सुख
नैतिक-मनोवैज्ञानिक सुखवाद

मिलके अनुसार सुख ही एकमात्र वांछनीय ध्येय है। किन्तु यह सिद्ध करनेके लिए उसने तर्कप्रणालीका आश्रय लिया। प्रकाण्ड तर्कशास्त्री होनेपर भी वह अपनी तर्कप्रणालीको भ्रान्ति एवं हेत्वाभाससे मुक्त नहीं कर पाया। नैतिक सुखवाद (सुखकी ही खोज करनी चाहिये) का प्रतिपादन करनेके प्रयत्नमें वह वाक्यालंकारके हेत्वाभास (fallacy of figure of speech) को जन्म देता है। मनोविज्ञानके नामपर वह कहता है कि मानव-स्वभावका निर्माण इस प्रकार हुआ है कि वह केवल सुख चाहता है। अथवा उसे चाहता है जो या तो सुखका अंश हो, या सुखके लिए साधन हो, या स्वयं सुखप्रद हो। इस प्रकार मनुष्य सदैव किसी-न-किसी रूपमें सुखकी खोज करता है। मनुष्य-स्वभावके आधारपर ही यह सिद्ध होता है कि सुखप्रद वस्तुएँ वांछनीय हैं। अस्तु कर्मोंका परम ध्येय सुख है और आचरणका शुभ होना इस तथ्यपर निर्भर है कि वह सुखकी कितनी वृद्धि करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुख ही नैतिकताका मापदण्ड है। यही नहीं, सुखकी वांछनीयताको सिद्ध करने-

के लिए मिल यहाँतक कहता है कि यह एक अनुभवात्मक वास्तविकता है और इसे प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। अभ्यस्त आत्म-निरीक्षण और आत्म-चेतनताके सहारे यदि अन्य व्यक्तियोंके निरीक्षणका मिलान करें तो स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है। निष्पक्ष भावसे सभी यह मानेंगे कि "किसी वस्तुको चाहना और उसे सुखप्रद कहना तथा किसी वस्तुको न चाहना और उसे दुःखप्रद कहना, ये क्रियाएँ पूर्ण रूपसे अभिन्न हैं। यह एक ही मनोवैज्ञानिक सत्यका दो भिन्न प्रकारसे नामकरण करना है। किसी वस्तुको वांछनीय मानना···और उसे सुखप्रद मानना एक ही बात है।" अतः सुख ही एकमात्र वांछनीय ध्येय है। "किसी वस्तुको दृश्य (visible) सिद्ध करनेके लिए एकमात्र प्रमाण यह है कि लोग उसे वास्तवमें देखते हैं।···इसी भाँति···किसी वस्तुको वांछनीय (desirable) कहनेके लिए इसके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है कि लोग उसे वास्तवमें चाहते हैं।" मिल यहाँपर दृश्य और वांछनीयको एक ही श्रेणीमें रख देता है। दृश्यके अर्थ होते हैं जो दृष्टिगम्य हो अथवा दिखाई देता हो (capable of being seen)। मिलने दोनोंके उपसर्ग (able) में सादृश्य देखा और इस आधारपर उसने वांछनीयका अर्थ लगा लिया—'वह जिसकी इच्छा की जा सकती है।' अर्थात् (capable of being desired) वह अपने सिद्धान्तको सिद्ध करनेके आवेशमें यह बात भूल गया कि जब 'एबुल' (able) शब्द 'डिजायर' (desire) के साथ उपसर्गके रूपमें संयुक्त होता है तब उसके अर्थ बदल जाते हैं। उसके अर्थ हो जाते हैं, इच्छाका उचित और विवेकसम्मत विषय अथवा वह वस्तु जिसकी इच्छा करनी चाहिये। उस वस्तुको वांछनीय नहीं कहते हैं जिसकी सामान्य रूपसे अथवा स्वभाववश इच्छा करते हैं। इच्छा की जा सकनेके अर्थमें प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी व्यक्ति द्वारा, किसी-न-किसी समयमें, इच्छाका विषय बन जाती है। सर्वसामान्यका अनुभव यह बतलाता है कि प्रत्येक वस्तु इच्छाका विषय बन सकती है। मिल 'इच्छाकी जा सकने' वाली वस्तुको और वांछनीयको एक ही मान लेता है। यही मिलकी भूल है, जो वाक्या-

लंकारकी भ्रान्ति है। इस भ्रान्तिसे आक्रान्त होकर वह निश्चयात्मक भावसे कह देता है कि सुख वांछनीय है क्योंकि उसे लोग वास्तवमें चाहते हैं।

मिलके अनुसार नैतिक अथवा वांछनीय ध्येय सुख है और यह सुख सर्वसामान्यका है, व्यक्ति-विशेषका नहीं। मिल कहता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख चाहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि "'अधिकतम संख्याका अधिकतम सुख' सर्वश्रेष्ठ तथा वांछनीय ध्येय है। यह सुख वस्तुगत और सार्वभौम है। जो दूसरोंके लिए शुभ या वांछनीय है वही व्यक्तिके लिए भी शुभ है। अतः सामान्य सुख ही नैतिक मापदण्ड है। इसीकी वृद्धि और ह्रासके अनुरूप कर्म, आचरण, प्रेरणा आदिका मूल्यांकन किया जाता है। बैंथमने भी सर्वसाधारणके सुखको नैतिक मापदण्ड माना था। किन्तु वह यह नहीं समझा पाया था कि स्वभाववश आत्मसुखकी खोज करनेवाले व्यक्तिको क्यों अधिकतम संख्याके सुखको अपनाना चाहिये। मिलने बैंथमकी इस उक्तिको तार्किक आधार देकर पुष्ट करना चाहा। एक दार्शनिककी भाँति उसने स्वीकार किया है कि "साधारण अर्थमें चरम ध्येयके प्रश्नोंके लिए प्रमाण लागू नहीं हो सकते" अथवा परम सत्योंको साधारण ढगसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। वह परम सत्यको बुद्धिगम्य मानता है। कुछ ऐसे विचार हैं जिनको यदि बुद्धिके सम्मुख रखें तो बुद्धि अपनी अनुमति दे देगी। बुद्धिकी अनुमति मिल निम्नलिखित विधिसे लेता है :—"कोई कारण नहीं दिया जा सकता कि सर्वसामान्यका सुख क्यों वांछनीय है अतिरिक्त इसके कि प्रत्येक व्यक्ति ... अपने लिए सुख चाहता है ..... प्रत्येक व्यक्तिका सुख उसके लिए शुभ है और इसलिए सर्वसामान्यका सुख व्यक्तियोंके समुदायके लिए शुभ है।"[१] मिलके द्वारा प्रस्तुत किये हुए विचार बुद्धिका समाधान कहाँतक करते हैं, यह कहना सरल नहीं है। तर्कशास्त्रके नियम यह बतलाते हैं कि महान तर्कशास्त्री मिलने अपने विचारोंको प्रस्तुत करनेमें

नैतिक मापदण्ड : सामान्य सुख

तार्किक युक्ति द्वारा पुष्टि

१. Utilitarianism, pp. [illegible]2-33.

कई भूलें की हैं। उसकी विधिमें जो सबसे स्पष्ट भूल है, वह रचनात्मक हेत्वाभास (fallacy of composition) की है। तर्कशास्त्रका यह स्पष्ट और सामान्य नियम है कि तार्किक विधिके उत्तरपक्षमें कोई ऐसा विचार या शब्द नहीं आना चाहिये जो पूर्वपक्षमें न हो। मिल पूर्वपक्षमें यह कहता है कि 'प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए सुख चाहता है' और इस तथ्यके आधारपर उत्तरपक्षमें वह इस परिणामपर पहुँच जाता है कि 'सर्वसामान्य सुख जनसमुदायके लिए शुभ है।' उपयोगितावादको तार्किक आधार देनेकी उत्कट अभिलाषाके कारण वह प्रत्येक व्यक्तिके सुख द्वारा जनसमुदायके सुखको सिद्ध करनेका भ्रान्त, हेत्वाभासपूर्ण प्रयास करता है। प्रत्येक व्यक्तिका अपना व्यक्तित्व है, उसके सुखका उसके लिए विशिष्ट अर्थ है। व्यक्तियोंको समुदायमें परिणत नहीं कर सकते हैं। समुदाय व्यक्ति नहीं है। व्यक्तियोंको जोड़ नहीं सकते हैं और न उनके सुखोंको जोड़ सकते हैं। सुखोंको जोड़ना उतना ही हास्यास्पद है जितना यह कहना कि कक्षामें दस विद्यार्थी हैं; प्रत्येक पाँच फीट लम्बा है अतः विद्यार्थियों-की लम्बाई पचास फीट है। अथवा तर्क द्वारा व्यक्तिगत सुखसे जनसमुदायके सुखको सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह नहीं कहा जा सकता कि सर्वसाधारणके सुखकी वृद्धि करना मनुष्यका कर्त्तव्य है।

मिल मनोविज्ञानकी भी शरण लेता है। स्वार्थ और परमार्थमें सामञ्जस्य स्थापित करके मिल पारमार्थिक प्रवृत्तियों, आचरण और कर्मको समझाता है। वह मानता है कि मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी है। उसका स्वार्थ—आत्मसुखकी लालसा—उसे सुखप्रद कर्म करनेके लिए प्रेरित करता है। अपनी स्वार्थसिद्धिके लिए ही वह दूसरोंसे सहानुभूति रखता है। इस क्रियाको दोहराते रहनेसे कालक्रममें सहानुभूति उसके स्वभावका अनिवार्य अंग बन जाती है। सहानुभूति मनुष्यकी ज्ञान और अनुभव द्वारा उपार्जित विशेषता है। सुसंस्कृत, सहृदय अथवा सहानुभूति-पूर्ण मनुष्य जनसमुदायके सुखके लिए प्रयास करते हैं। 'विचार साहचर्यका

मनोवैज्ञानिक प्रमाण : स्वार्थसे परमार्थ

नियम' यह बतलाता है कि प्रयत्नोंकी पुनरावृत्तिके कारण साधन और साध्यके बीच तादात्म्य स्थापित हो जाता है। वैयक्तिक सुख सामाजिक सुखसे युक्त हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप मनुष्यकी रुचिमें परिवर्त्तन हो जाता है। जिन कर्मोंको मनुष्यने अभीतक अपने सुखके लिए साधन माना था, वे साध्यसे बारम्बार युक्त होनेके कारण उसीका स्थान प्रात कर लेते हैं। इस प्रकार मनुष्य दूसरोंके सुखमें सुख मानने लगता है एवं स्वार्थसे परमार्थकी उत्पत्ति होती है। मिल यहाँपर सहानुभूतिमूलक सुखवाद (Sympathetic Hedonism) का प्रतिपादन करता है। 'विचार साहचर्य' के आधारपर मिल अन्य तथ्य भी समझाता है। वह कहता है कि मनुष्य एकमात्र सुखका इच्छुक है। वह यश, धन, शक्ति आदिको इसलिए स्वीकार करता है कि प्रारम्भमें वे उसकी सुखवृद्धिके साधन थे। बादमें सुखप्रद परिणामोंके साथ युक्त एवं मानसिक रूपसे सम्बद्ध हो जानेके कारण वे अपने-आपमें महत्वपूर्ण हो गये। इसी प्रकार सद्‌गुण भी अपने मूल रूपमें वैयक्तिक सुखके लिए साधनमात्र हैं। सद्‌गुण करते समय मनुष्य सुखप्रद परिणामके बारेमें सचेत रहता है। किन्तु बादमें पुनरावृत्तिके कारण सुख सद्‌गुणके साथ युक्त हो गया। मनुष्यको सद्‌गुण करनेमें तत्कालीन सुख मिलने लगा।

सद्‌गुण ही साधनसे साध्यका रूप प्राप्त कर लेता है। सद्‌गुण सहानुभूतिपूर्ण मनुष्योंकी अभ्यासगत विशेषता है। उसके कारण ही वे अपने आचरण और कर्म द्वारा सामान्य सुखकी वृद्धि करते हैं। वे सद्‌गुणको सद्‌गुणके लिए चाहते हैं। सहानुभूतिहीन मनुष्यके लिए वह वैयक्तिक सुख प्राप्त करनेका अनिवार्य साधन है। मिलका परमार्थ स्वार्थका ही एक रूप है। विचारोंके साहचर्यसे उत्पन्न हुई परमार्थकी भावना अमौलिक भावना है। मिल अपने सिद्धान्तके प्रतिपादनके लिए केवल इस भावनाकी शरण लेकर ही सन्तुष्ट नहीं होता। वह उसे स्वाभाविकताका दृढ़ आधार देनेका प्रयास कर 'आन्तरिक आदेश' द्वारा मनुष्योंको सामाजिक एकताके सूत्रमें बाँधता है। बैंथमने 'नैतिक आदेशों' को अनिवार्य और आवश्यक माना

आन्तरिक आदेश : सजातीय भावना

और उन्हींके द्वारा सामाजिक आचरणको समझाया। मिल बैंथमके 'आदेशों'को 'बाह्य आदेश' कहता है। मनुष्य दण्डित होनेके भयसे एवं आत्मसुखके कारण आदेशोंका पालन करता है। मिल कहता है कि आदेशों द्वारा मनुष्यके नैतिक आचरणको भलीभाँति नहीं समझा जा सकता। यह व्यक्तिके सामाजिक आचरणका गौण स्पष्टीकरण मात्र है। मनुष्यकी प्रवृत्तियोंकी अध्ययन बतलाता है कि उसमें सजातीय भावना (fellow feeling) है, जिसे वह स्वाभाविक भावना भी कहता है। मिलका विश्वास है कि मनुष्यके सामाजिक आचरणके मूलमें यही भावना है। इस प्रवृत्तिके कारण व्यक्ति अपने तथा समाजके बीच अभिन्नता देखता है। वह अपनेको समाजका ही अंग मानता है। उसका सुख सामाजिक सामञ्जस्यपर निर्भर होता है। मिल साथ ही यह भी मानता है कि अत्यन्त स्वार्थी व्यक्तियोंके लिए उन्हींका स्वार्थ सबकुछ है। उनकी स्वार्थान्धता 'सजातीयताकी भावना' को दबाकर नगण्य कर देती है। किन्तु सुसंस्कृत और सुविकसित व्यक्ति उसके बारेमें पूर्ण रूपसे सचेत रहता है। वह सामाजिक एकताके सूत्रमें बँधा रहता है और दूसरोंके सुख-दुःखका ध्यान रखता है। ऐसा व्यक्ति सामाजिक सुखमें ही अपने सुखको निहित पाता है और उस भावनाका आदेश ही 'आन्तरिक आदेश अथवा नैतिक आदेश' है। उसे मिल अन्तर्बोध (conscience) का आदेश भी कहता है। आन्तरिक आदेश सामाजिक कर्त्तव्यका मार्ग दिखाता है। वह उपयोगितावादी नैतिकताका मूल आधार है। सामाजिक कर्त्तव्य न करनेपर वह व्यक्तिको आत्मग्लानि देता है और सर्वसामान्यके सुखका उत्पादन करनेपर ही व्यक्तिको अपना जीवन सुखी और सफल लगता है। मिलका आन्तरिक आदेशसे अभिप्राय अन्तर्बोध द्वारा आरोपित सुख-दुःखसे है। अन्तर्बोधके सुख (आत्मसुख) को प्राप्त करनेके लिए ही सामाजिक चेतनाशील व्यक्ति नैतिक-कर्म करता है। वह शुभ कर्म इसलिए नहीं करता कि वे अपने-आपमें शुभ और नैतिक हैं बल्कि पश्चात्ताप और आत्मग्लानिसे

बचनेके लिए ही वह इनकी ओर प्रेरित होता है। मिल कहता है कि 'मानवजातिकी संवेदनशील भावना' ही उपयोगिताका मापदण्ड है। इस स्वाभाविक भावनाके अनुरूप कर्म करना तथा अन्तर्बोधके सुखके लिए सचेत रहना ही नैतिकता है। किन्तु जिनमें अन्तर्बोधकी प्रेरणा मृतप्राय है वे बाह्य आदेशके कारण ही सर्वसामान्यके सुखकी परवाह करते हैं।

मिलने उपयोगितावादको प्रचलित तथा व्यापक रूप देना चाहा। बैंथमके सिद्धान्तके विरुद्ध जो आपत्तियाँ थीं उन्हें दूर कर उसने प्रचलित प्रथाओं और नियमोंको उपयोगितावादी साँचेमें ढालना चाहा। वह कहता है कि उपयोगितावादका मापदण्ड जनताका सुख है—अधिकतम संख्याके अधिकतम सुखका समुच्चय—न कि कर्त्ताका अधिकतम सुख है। उपयोगितावादी व्यक्ति सामाजिक दृष्टिकोणको सम्मुख रखकर ही अपने तथा दूसरोंके सुखोंका मूल्यांकन करता है। वह आत्मत्याग तथा प्रचलित नैतिकताकी आचार-विधिके उच्च आदर्शको अपनाता है। अपने तथा अन्यके सुखके वितरणके बीच वह तटस्थ दर्शककी भाँति है। उसके निर्णय निष्पक्ष होते हैं। "नजारथके ईसूके स्वर्ण सिद्धान्तमें हमें उपयोगितावादी नैतिकताकी पूर्ण आत्मा मिलती है। जैसा व्यवहार तुम दूसरोंसे चाहते हो, दूसरोंके लिए भी वैसा ही करना और अपने पड़ोसियोंके प्रति अपनी ही तरह प्रेम रखना, यह उपयोगितावादी सदाचारके आदर्शकी पूर्णता है।" उपयोगितावाद आत्मत्याग, वैराग्य तथा सत्यशीलताको शुभ मानता है; क्योंकि इनसे सर्वसामान्यके सुखकी वृद्धि होती है। मिलने वास्तवमें यहाँपर स्टोइक और ऍपिक्यूरियन विचारोंका मिश्रण कर दिया है। एक ओर वह सुखको महत्व देता है और दूसरी ओर आत्मसंयम एवं सुखके प्रति उदासीनताको। स्टोइकोंके प्रभावके वश अथवा उपयोगितावादको श्रेष्ठ सिद्धान्त सिद्ध करनेकी महत्वाकांक्षाके वश वह यहाँतक कह देता है कि मनुष्य प्रायः अपने सुखके पूर्ण त्याग द्वारा ही दूसरोंके सुखमें सहायक होता है और उसकी यह भावना (आत्मचेतना) कि वह

उपयोगितावाद: उच्च आदर्शका पोषक

बिना सुखके रह सकता है उसे उस सुखकी प्राप्ति कराती है जिसे पाना उसके लिए सम्भव है।

बैंथमका कहना था कि सुखको चुनते समय परिमाणको तौल लेना चाहिये और 'सुखका समान परिमाण होनेपर तुच्छ खेल और कविता समान रूपसे शुभ हैं।' बैंथमके विरुद्ध आलोचकोंने यह कहा कि उपयोगितावादको मान्य सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह स्थूल इन्द्रियवादको जन्म देता है। इस कटु आलोचनासे मिल उपयोगितावादको मुक्त करनेका प्रयास करता है। वह कहता है कि सुखकी वांछनीयता परिमाण और गुण (quantity and quality) दोनों पर निर्भर है। सुखोंमें जातिगत या गुणात्मक भेद है। संस्कृत और श्रेष्ठ सुख अधिक वांछनीय है और यह उपयोगितावादके सिद्धान्तके अनुरूप है कि हम कुछ प्रकारके सुखोंको अधिक वांछनीय या मूल्यवान मान लें। बैंथम यह स्पष्ट रूपसे कह चुका था कि सुख इच्छाकी वस्तु है जो उस वस्तुसे निरपेक्ष रूपसे समझा जा सकता है जो उसका कारण है और उनसे भी जो उसका अनुभव करते हैं। अथवा उसके अनुसार काव्य द्वारा प्राप्त सुख और निकृष्ट खेल द्वारा प्राप्त सुख परिमाणमें समान होनेपर समान रूपसे ही वांछनीय हैं। कानूनमें रुचि रखनेके कारण ही बैंथम ऐसे निष्कर्षपर पहुँचा। वह व्यक्तियोंके समुदायमें समान रूपसे सुखका वितरण करना चाहता था। मिल कहता है कि सुखके परिमाणको मापनेके लिए एक आयामको मानना और आवश्यक है। सुखमें गुणात्मक भेद भी होता है। यहाँपर मिलका सिद्धान्त बैंथमके सिद्धान्तकी तुलनामें अधिक श्रेष्ठ हो जाता है। किन्तु इस श्रेष्ठताको वह तभी प्राप्त कर पाता है जब वह सुखवादको छोड़ देता है।

सुखकी क्रमिक व्यवस्था : गुणात्मक भेद

मनुष्य निम्न प्राणियों एवं पशुओंकी भाँति इन्द्रियसुखका इच्छुक नहीं है। वह उच्च एवं श्रेष्ठ सुख चाहता है। श्रेष्ठ सुखके लिए दुःखको स्वीकार करता है। किन्तु प्रश्न यह है कि श्रेष्ठ सुखको कैसे निर्धारित

किया जाय ? उसका क्या मापदण्ड है ? सुखकी श्रेष्ठताको समझानेके लिए मिल 'योग्य न्यायाधीशोंके निर्णय' तथा 'गौरवकी भावना' का उदाहरण देता है। सुखवादके मूल सिद्धान्तके अनुसार सुखकी वांछनीयता उसके परिमाण और तीव्रतापर निर्भर है। किन्तु मिल 'योग्य न्यायाधीशोंके निर्णय' को परम निर्णय अथवा परम मापदण्ड मानता है। उनके निर्णयोंके विरुद्ध कुछ कहना सम्भव नहीं है। उन निर्णयोंके अनुसार सुखका मूल्य उसकी उत्पादक वस्तुपर निर्भर है। अपने कारणकी श्रेष्ठता या निम्नताके अनुरूप ही सुख वांछनीय या अवांछनीय है। 'योग्य न्यायाधीशों' से प्लेटोकी भाँति मिलका अभिप्राय उन व्यापक अनुभववाले व्यक्तियोंसे है जो अपनी आत्म-निरीक्षणकी तीक्ष्ण शक्ति द्वारा सुखोंका तुलनात्मक रूपसे मूल्यांकन करते हैं। ऐसा व्यापक एवं सर्वांगीण अनुभववाला व्यक्ति दार्शनिक चिन्तन और साधारणतम कर्म (ताश खेलना आदि) दोनोंसे प्राप्त सुखका अनुभव कर चुका है। इसके विपरीत उस मनुष्यका अनुभव जिसने केवल ताश खेलनेके सुखको प्राप्त किया है, सीमित है। व्यापक अनुभवसे रहित होनेके कारण उसका ज्ञान संकीर्ण और एकांगी है। वह दार्शनिक सुख एवं उच्च सुखका अनुभव नहीं कर पाता। अतः जब दोनों प्रकारके सुखोंका अनुभव करनेवाला मनुष्य दार्शनिक सुखको चुनता है तब दार्शनिक सुखको ही मान्य मनाना चाहिये। मिल ऐसे अनुभवी व्यक्तियोंको ही सुखका मूल्य और उसकी वांछनीयताको निर्धारित करनेका अधिकार देता है। यह अधिकार अनुभवका अधिकार है। वह कहता है कि यदि ऐसे योग्य व्यक्तियोंकी निर्णायक समितिसे पूछा जाय तो वह अवश्य ही एकमत होकर श्रेष्ठ सुखको महत्व देगी; उस सुखको जो कि उच्च भावनाओं और प्रवृत्तियोंको सन्तुष्ट कर सकता है। मिलका विचार है कि कोई भी विद्वान, अनुभवी तथा आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति अपने जीवनको दुःखपूर्ण मानते हुए भी किसी मूर्ख व्यक्ति अथवा पशुके सुखी जीवनसे अपने जीवनको बदलना न चाहेगा। यदि मिलके कथनको सत्य मान लें तो उसके सुखवादका मापदण्ड सुख नहीं बल्कि

निर्णायक समिति है। इसी प्रकार मनुष्यका ध्येय तीव्र एवं अधिक परिमाणके सुखका भोग नहीं, श्रेष्ठ सुख है। मिलका 'गुणात्मक भेद' सुखको एकमात्र शुभ नहीं मानता। वह उत्पादकके स्वरूपको महत्व देता है। सुखकी वांछनीयता उसकी श्रेष्ठतापर निर्भर है, उस श्रेष्ठता अथवा गुणको निर्णायक समिति निर्धारित करती है। मिलके विरुद्ध अनायास ही यह प्रश्न उठता है—क्या प्रमाण है कि निर्णायक समितिके सब सदस्योंका निर्णय अभिन्न होगा? अधिकतर यह देखा गया है कि योग्य और मर्मग्राही आलोचकोंका काव्यकी श्रेष्ठताके बारेमें एकमत नहीं होता है। सुखवादके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिके सुखका मापदण्ड उसके सुखकी तीव्रता है। उच्च प्रवृत्तिके मनुष्यके लिए उच्च सुख और निम्न प्रवृत्तिके व्यक्तिके लिए निम्न सुख अधिक तीव्र एवं वांछनीय है। यह कहना असुखवादी है कि उच्च सुख ही वांछनीय है। प्रत्येक मनुष्यकी प्रवृत्तिके अनुरूप ही उसके सुखका स्वरूप होता है। निम्न श्रेणीके अर्थात् इन्द्रियपर व्यक्तियोंके सुखके चुनावको मिल अनुभवहीनता और अज्ञानका चुनाव कहकर अपने विरुद्ध आक्षेपोंसे अपनेको मुक्त करनेका प्रयास करता है। किन्तु यह तर्क सुखवादके क्षेत्रमें मान्य नहीं है। मिलके 'योग्य न्यायाधीशों' को ही सुखके मूल्यांकन करनेका एकमात्र अधिकारी नहीं कहा जा सकता। यदि सुख एकमात्र ध्येय है तो निम्न प्रवृत्तिके व्यक्तिसे अधिक तीव्र एवं अधिक परिमाणके सुखका त्याग करके कम तीव्र सुखको चुननेके लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। उनसे परिमाणका त्याग करके गुण स्वीकार करनेको नहीं कहा जा सकता। गुणात्मक भेदको माननेके लिए उसे परिमाणमें परिणत करना आवश्यक है। अथया "यदि सुखवादके सिद्धान्तके साथ यह भी स्वीकार करें कि भावनाओंमें गुणात्मक भेद होता है और उस भेदको परिमाणमें परिणत नहीं किया जा सकता तो यह सापेक्षतः सुखकी उच्च और निम्न श्रेणियोंको स्वीकार करना होगा जिसका कि अधिक या कम सुखकी मान्यताओंसे कोई सम्बन्ध नहीं है।"[१] "गुण सुखवादी माप-

१. Muirhead.

दण्डके बाहर है, सुखवादी मापदण्ड केवल परिमाण या राशि है।"[1] गुणात्मक भेदको स्वीकार करना सुखवादका अप्रत्यक्ष रूपसे त्यागकर एक नवीन मापदण्डको मानना है। यह मापदण्ड गुण या श्रेष्ठताका मापदण्ड है, सुखका नहीं। मिलने इस नवीन मापदण्डको मानकर सुखवादी परिमाणको, अर्थात् बैंथमके 'नैतिक गणित' को, व्यर्थ कर दिया। सुखवादको स्पष्ट रूपसे मानते हुए भी उसे बौद्धिक रूपसे निकृष्ट कह दिया। 'योग्य न्यायाधीशोंके निर्णय' के साथ ही मिल 'गौरवके बोध' (Sense of dignity) की ओर ध्यान आकृष्ट करता है। यह मनुष्यके लिए स्वाभाविक है। यह जिनमें प्रबल होता है उनका सुख मुख्यतः इसीपर निर्भर होता है। गौरवके बोधको सुखकी इच्छाके रूपमें नहीं समझाया जा सकता। यह वह चेतना है जो मनुष्यको बतलाती है कि वह श्रेष्ठ प्राणी है और उस श्रेष्ठताके अनुरूप उसकी इच्छाओं और सुखकी भावनाको संयमित करती है। यह इस बातका निरन्तर प्रमाण है कि मनुष्य पशुवत् सुखी जीवन बितानेसे अधिक चिन्तित उच्च जीवन बितानेके लिए है। यह मनुष्यकी बौद्धिक आत्माकी पुकार है। बिना इसे सन्तुष्ट किये उसे जीवनमें शान्ति और तृप्ति प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य उन कर्मोंको करना चाहता है जो 'मानव गौरव' के योग्य और बौद्धिक आत्माके लिए वांछनीय हैं। उन कर्मोंके करनेमें वह सुख प्राप्त करता है। वह केवल सुखके लिए सुख नहीं चाहता है। सुख अपने-आपमें उच्च या निम्न नहीं है। वह अपने-आपमें गुणहीन है। मनुष्यकी बौद्धिक माँग ही उसके गुणको निर्धारित करती है। बौद्धिक आत्माकी तृप्तिकी पूर्णता अथवा अपूर्णताके अनुरूप ही वह उच्च और निम्न है। अतः मनुष्यत्वके 'गौरवका बोध' मनुष्यकी बौद्धिक श्रेष्ठताका सूचक है, न कि सुखकी इच्छाका। बुद्धि इतनी प्रभावशाली और महान् है कि मनुष्य उसका मान रखनेके लिए, बौद्धिक शान्तिकी प्राप्तिके निमित्त इन्द्रियसुखोंका त्याग करता है। मनुष्यके जीवनका ऐसा अध्ययन अथवा उसका बौद्धिक मूल्यनिरूपण सुख-

१. Seth.

वादको सह्य नहीं है। यह इन्द्रियपरक सुखवादको स्खलित कर देता है।

मिलके अनुसार नैतिक मापदण्ड सर्वसामान्यका सुख है। यहाँपर अनायास ही प्रश्न उठता है कि आत्मसुखका इच्छुक मानव सामान्य सुखको क्यों अपनाता है? किस प्रमाणके आधारपर 'अधिकतम संख्याके अधिकतम सुख' को नैतिक मापदण्ड माना जा सकता है? मिलने, जैसा कि हम देख चुके हैं, मनोवैज्ञानिक सुखवादको नैतिक सुखवादके मूलरूपमें स्वीकार किया है। दोनों प्रकारके सुखवादोंको स्वीकार करनेके कारण वह, सामान्य सुखकी खोज करनी चाहिये—अपने इस मतको दुर्बल बना देता है। अपने सिद्धान्तमें वह वैयक्तिक और सामाजिक सुखके बीच चक्कर काटता है। एक ओर तो वह बार-बार कहता है कि व्यक्ति स्वभाववश सुखकी खोज करता है और सुख ही उसके लिए शुभ एवं वांछनीय है, दूसरी ओर वह उतनी ही दृढ़तापूर्वक कहता है कि नैतिक मापदण्ड अधिकतम संख्याका सुख है। अधिकतम संख्याके सुखको समझानेकी उत्कट अभिलाषाके आवेशमें वह अपने पूर्वस्वीकृत सिद्धान्त (नैतिक-मनोवैज्ञानिक सुखवाद) को छोड़ देता है और मुक्तकण्ठसे स्टोइसिज्मकी महत्ताके गुण गाता है। मिलके लिए यह आवश्यक था कि वह या तो मनोवैज्ञानिक सुखवादको छोड़ देता और या अधिकतम संख्याके सुखके सिद्धान्तको। वह पूर्णरूपसे दोनोंमेंसे किसीका भी त्याग नहीं करता है और इस भाँति अपनी स्थिति डावाँडोल कर देता है। मनोवैज्ञानिक सुखवादको पूर्णरूपसे स्वीकार करनेके पश्चात् वह उपयोगितावाद अथवा सार्वभौमिक सुखवादका प्रतिपादन तार्किक युक्ति, सहानुभूति, विचार-साहचर्य, सजातीय-भावना, आत्मत्यागकी श्रेष्ठता तथा नैतिक आदेशके नामपर करता है। उसकी तार्किक युक्ति हेत्वाभाससे क्रान्त हो जाती है—वह एक असम्भव प्रयास करता है। वैयक्तिक सुख और सामाजिक सुखमें स्पष्ट विरोध माननेके कारण उसके अन्य प्रयास दुर्बल और शक्तिहीन हो जाते हैं। आत्मसुखको मनुष्यका ध्येय मानकर वह परसुखवादकी स्थापना नहीं कर सकता और न स्वार्थसे

परमार्थ पहुँच पाता है। मिलका यह प्रयास असफल है, इसमें सन्देह नहीं।

मिलने उपयोगितावादको 'शूकर-दर्शन' के आक्षेपसे मुक्त करना चाहा। उसने सुखमें गुणात्मक भेद माने। 'सुखका गुणात्मक भेद' निःसन्देह मिलके सिद्धान्तको श्रेष्ठता और नवीनता प्रदान करता है और साथ ही उसके सिद्धान्तको बैंथमके सिद्धान्तसे भिन्न कर देता है। मिलका गुणात्मक भेद ऍपिक्यूरसके सिद्धान्तकी याद दिलाता है। तुलनात्मक दृष्टिसे मिलका सिद्धान्त अधिक संयत और श्रेष्ठ है। ऍपिक्यूरसके मानसिक अथवा बौद्धिक सुखका सिद्धान्त अपने-आपमें श्रेष्ठ नहीं है। दीर्घकालीनता और तीव्रता (अधिक परिमाण) उसकी वांछनीयताके कारण हैं। मिलसे पूर्वके सभी सुखवादियों (ऍरिस्टिपस, ऍपिक्यूरस, पैले, बैंथम आदि) ने सब प्रकारके सुखोंको समान कहा है। सुखकी वांछनीयता परिमाणपर निर्भर है। मिल परिमाणात्मक भेदके साथ ही गुणात्मक भेदको भी आवश्यक, न्यायसम्मत तथा सत्य मानता है। उसका गुणात्मक भेदका सिद्धान्त 'गौरवके बोध' पर निर्भर है, वह बौद्धिक मापदण्ड है। सुखवादके अनुसार हम उसी बौद्धिक मापदण्डको स्वीकार कर सकते हैं जो सुखकी इच्छाके अधीन है। किन्तु मिलका मापदण्ड इन्द्रिय-आत्माके ऊपर बौद्धिक-आत्माको स्थापित करता है। 'गौरवका बोध' एवं 'गुणात्मक भेद' उस बौद्धिक आत्माकी पुकार है जो 'पूर्णतावाद' का आवाहन करती है। मिलका गुणात्मक भेद सुखवादका पूर्ण खण्डन करता है, पूर्णतावादका जाने-अनजानेमें समर्थन करता है।

मिलकी सफलता और असफलता

सुखवादका आदर्श वैयक्तिक सुख है, जो स्वार्थमूलक है। मिलने उसे सामाजिक रूप दिया, जिस रूपमें वह महान् अवश्य है, किन्तु सुखवाद नहीं है। मिल समाज-सुधारक था। वह विशद संस्कृत विचारोंसे सम्पन्न था। सामाजिक सुव्यवस्थामें उसका विश्वास था। उपयोगितावादमें रुचि थी। वह उसका प्रचार करना चाहता था। अतः उसने कहा कि उपयोगितावाद द्वारा ऐसे नियमोंका प्रतिपादन किया जा सकता है जो व्यक्ति

और समाजकी रुचियोंको संघटित कर सकते हैं। उन्नत विचार, उचित शिक्षा, सत् अभ्यास एवं शुभ नैतिक व्यवस्था मनुष्यको प्रभावित्त कर उसके चरित्रनिर्माणमें सहायक हो सकती है। मानव-चरित्रके उच्च विकास द्वारा वैयक्तिक सुख और सामान्य सुखमें सम्बन्ध स्थापित कर सकना सम्भव है। नैतिक आदेश उपयोगी हैं; वे सामाजिक शुभकी हानि करनेवाले मनुष्यको दण्डित करते हैं। धीरे-धीरे विचारोंके सहयोगके कारण रुचि-परिवर्तन होने लगता है और मनुष्यको सर्वसामान्यके सुखमें ही सुख मिलने लगता है। परमार्थको सामाजिक जीवनके लिए अनिवार्य मानकर मिल उसे आत्मसुखसे सम्बद्ध करता है। वह सामाजिक रचनाके विकास और संघटनके लिए वैयक्तिक और सामान्य सुखमें पूर्ण संगति देखता है। किन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे निष्कर्षपर पहुँचना कैसे सम्भव है? मिल इस समस्याका समाधान आत्मगत तर्क और विश्वासके आधारपर करता है, जिससे दार्शनिक तथा बौद्धिक सन्तोष नहीं होता। मिलके अनुसार सद्गुण अनिवार्य और आवश्यक हैं। किन्तु उन सद्गुणोंको मनुष्यकी व्यावसायिक बुद्धि स्वीकार करती है, न कि सम्पूर्ण आत्मा। मिल द्वारा स्वीकृत परमार्थ वास्तविक परमार्थवाद नहीं है, वह अहंपर आधारित प्रच्छन्न स्वार्थवाद है। मनुष्यकी मूल प्रवृत्ति स्वार्थी है। उसकी व्यावसायिक बुद्धि उससे सामाजिक आचरण, नैतिक आदेश और आत्मत्यागको स्वीकार करनेके लिए कहती है क्योंकि वे उसके स्थार्थसाधनके लिए कल्याणकर हैं। सम्भव है, मिल स्वयं भी यह समझता था कि स्वार्थ और परमार्थका ऐसा समीकरण, जो विचारोंके साहचर्यपर निर्भर है, अस्वाभाविक है और चिरस्थायी नहीं है। व्यक्ति कभी भी तर्कबुद्धि द्वारा इस प्रकारके परमार्थके खोखलेपनको समझ लेगा और अवसर मिलनेपर अधिकतम सुखके लालचमें उसे छोड़ देगा। इसीलिए शायद मिलने स्वार्थ और परमार्थके सम्बन्धको आन्तरिक एवं अनन्य रूप देनेके लिए शैफ्ट्सबरी, हचीसन और ह्यूमकी भाँति ही कहा कि मनुष्यमें 'सामाजिक एकता' की भावना निहित है, उसका स्वभाव पूर्ण रूपसे सामाजिक है, वह सदैव

अपनेको समाजका अंग मानता है और वैयक्तिक तथा सामाजिक सुखमें संगति एवं सामञ्जस्य है। उसके अनुसार सुखका नैतिक मूल्य सामाजिक है और सामाजिक सुख ही नैतिकताका मापदण्ड है। सुखके आदर्शको पूर्ण रूपसे सामाजिक बना देना ही, मिलके सिद्धान्तकी विशिष्टता और श्रेष्ठता है। इस विशिष्टताके कारण वह सुखवादसे दूर तो हट जाता है, साथ ही वह सरलता और स्पष्टतापूर्वक सामान्य सुखकी धारणाको भी नहीं समझा पाता है। वह सामाजिक अंगांगिभाव (Organic relation) की धारणापर पहुँचनेपर भी नहीं पहुँच पाता; परम स्वार्थवादको अपना लेनेके कारण वह साधिकार एवं निश्चयात्मक रूपसे यह नहीं कह पाता कि समाज और व्यक्तिका सम्बन्ध अंगी (Organism) की भाँति है। इस सत्यको विकासवादी नीतिज्ञ मानते हैं, वे भी व्यक्ति और समाजके सम्बन्धको भलीभाँति नहीं समझा पाये।

नैतिक सुखवादकी आलोचना

मनोवैज्ञानिक सुखवादने यह जानना चाहा कि जीवनका ध्येय क्या है? शुभ क्या है? इसी प्रश्नको नैतिक सुखवादने यह कहकर सम्मुख रखा कि व्यक्तिका क्या कर्त्तव्य है? कर्मके औचित्य-अनौचित्यको कैसे आँका जा सकता है? दोनोंका प्रश्न मूलतः एक ही है। दोनोंके उत्तर भी समान हैं और दोनोंका लक्ष्य भी एकमात्र सुख ही है। किन्तु फिर भी उनके प्रतिपादनके ढंगमें, उनकी प्रणाली और कर्त्तव्यकी रूप-रेखामें अन्तर है। उनमें प्राचीनता और अर्वाचीनताका भेद स्पष्ट है। मनोवैज्ञानिक सुखवादका अन्त निराशापूर्ण है। अभावात्मक स्थिति—सुख-दुःखके प्रति उदासीनता—ही उसे मान्य है। नैतिक सुख-वादने आशावाद और सुखके भावात्मक पक्षको सम्मुख रखा है, उचित ज्ञानके द्वारा सुखकी प्राप्तिको सम्भव बतलाया है। उसने अपने क्षेत्रको वैयक्तिक दृष्टिकोणतक ही सीमित नहीं रखा है वरन् उसे मानवतावादी

मनोवैज्ञानिक सुखवादसे अधिक व्यापक : दोहरी कठिनाई

बनाया है। मनोवैज्ञानिक सुखवादसे इस भाँति आगे बढ़नेपर भी नैतिक सुखवाद अपने सिद्धान्तमें सफल नहीं हो सका है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद-पर अपने सिद्धान्तको आधारित करनेके कारण उसने अपने सिरपर विपत्तियोंका पहाड़ ले लिया है। मनोवैज्ञानिक सुखवादकी मूलगत भूल—मनोवैज्ञानिक भ्रान्ति—के कारण वह उसीकी तरह खण्डनीय और आधार-हीन तो हो ही जाता है, उसपर वह विरोधी विचारधाराओंको मिलानेकी भी व्यर्थ प्रयास करता है। इन्द्रियजन्य ध्येयको स्वीकार करनेके पश्चात् वह उपयोगितावादके सहारे व्यक्ति और समाजके प्रश्नको उठाता है; परम स्वार्थके साथ परार्थको मिलाना चाहता है; सद्गुण और व्यावसायिक बुद्धिमें एकरूपता स्थापित करनेकी चेष्टा करता है। इन्द्रिय-ध्येयको परम ध्येय मानते हुए भी व्यक्तिकी भावनाओंको संघटित करने तथा व्यक्ति और समाजमें सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए वह बुद्धिको महत्ता देता है।

नैतिकताके उद्गमकी खोज

हॉब्स, ह्यूम, एडम स्मिथ, पैले, बेंथम और मिल, इन सभीने नैतिक नियमोंके उद्गमको जानना चाहा। हॉब्सने जड़वादी नैतिक स्वार्थ सुख-वादका प्रतिपादन किया। उसके अनुसार परमार्थी प्रवृत्तियाँ—दया, परोपकारिता आदि—स्वार्थी प्रवृत्तियोंको अभिव्यक्त करती हैं और परम स्वार्थ या आत्मप्रेम ही मनुष्यके कर्मोंका संचालक है। डेविड ह्यूम[१]ने नैतिक मान्यताओं और भावनाओंकी प्राकृतिक व्याख्या कर उनके स्वरूपको समझना चाहा। उसका सिद्धान्त सहानुभूतिमूलक प्रकृतिवाद[२] को अपनाता है। हॉब्सके विरुद्ध उसका कहना है कि नैतिकता केवल उन कर्मोंका अनु-मोदन नहीं करती है जो आत्मप्रेमके परिणाम हैं किन्तु उनका भी जो सहानुभूतिके परिणाम हैं। वह इसपर प्रकाश डालता है कि नैतिकता आत्मस्वार्थ, रीति-रिवाज और सहानुभूतिकी जटिल उपज है; वैसे वह

१. David Hume 1711–1776.
२. Sympathetic Naturalism.

सहानुभूतिको ही सामाजिक और नैतिक मान्यताओंका परम कारण मान लेता है। दूसरोंके सुख-दुःखके प्रति मनुष्यमें सजातीय भावना या सहानुभूति होती है। सहानुभूति ही सर्वसामान्य द्वारा स्वीकृत गुणोंके नैतिक-अनैतिक विभेदोंको समझा सकती है। न्याय, सत्यता, पवित्रता आदि मान्य गुण हैं। ये जनताके लिए उपयोगी अतः उचित हैं। सहानुभूति ही सार्वभौम नैतिक मापदण्ड देती है। यही सामाजिक आचरणके मूलमें है। पवित्र सहानुभूति और नैतिक मान्यताएँ समाजकी सक्रिय शक्तियाँ हैं। वह मानता था कि ज्ञान संवेदनजन्य है। सुख-दुःख ही कर्मोंके प्रवर्त्तक हैं। मनुष्य एकमात्र क्षणिक सुख खोजनेके लिए बाध्य है और उसे सुख खोजना भी चाहिये। सहानुभूति और नैतिक भावनाओंको स्थान देनेके कारण ह्यूमका मानव-स्वभावका विश्लेषण (मनोविज्ञान) हॉब्ससे श्रेष्ठ है। उसने सहानुभूति द्वारा सामान्य सुखको महत्व दिया है। किन्तु सुखकी भावनाको कर्मका एकमात्र प्रवर्त्तक मानकर वह परम स्वार्थवादको अपना लेता है। उसके परम स्वार्थवादकी प्रतिक्रिया ही कांटका शुद्ध-बुद्धिवाद (Purism) है। कांटने समझाया कि नैतिकता शुद्ध बुद्धिकी उपज है। वह उन नियमोंकी सूचक है जो भावनाओंका अतिक्रमण करते हैं। नैतिक विभेदों और नियमोंका हम अन्तर्बोध (conscience) एवं कृत्यबुद्धि (practical reason) द्वारा सहजज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अतः ह्यूमका सिद्धान्त दो पक्षोंमें प्रतिफलित हुआ : भावात्मक और अभावात्मक। उसका उपयोगितावाद उसके उपयोगिताके सिद्धान्तके भावात्मक विकासका सूचक है और कांटका सिद्धान्त उसके सिद्धान्तका अभावात्मक रूप है। हॉब्स और ह्यूम दोनोंने प्रकृतिवादको माना है। उन्होंने स्वार्थवादको अपनाया है। वे नैतिक समस्याको सुलझानेमें असमर्थ रहे। उन्होंने वर्त्तमान मान्यताओंको विगत घटनाओंके आधारपर समझाया एवं ऐतिहासिक स्पष्टीकरण करनेका प्रयास किया। किन्तु नैतिकता उन नियमोंको जानना चाहती है जो उचित और नैतिक आदर्शकी प्राप्तिमें सहायक हैं। नैतिक मान्यताओंका ऐतिहासिक स्पष्टीकरण करनेके कारण वे यह नहीं

बतला पाये कि कैसे कर्म करने चाहिये, शुभका सत्य स्वरूप क्या है, नैतिक नियम एवं नैतिक बाध्यताके क्या अर्थ हैं, नैतिक मान्यताओंका बौद्धिक आधार क्या है, इत्यादि। निःसन्देह नैतिक दृष्टिसे उनके प्रयास असफल और अनाकर्षक रहे। ह्यूमके प्रकृतिवाद एवं उत्पत्तिविषयक प्रणाली (genetic method) को बादमें स्पेंसरने व्यापक रूपसे अपनाया। प्राकृतिक हेत्वाभास (Naturalistic fallacy) के दोषसे अपने सिद्धान्तको युक्त करके वह आदर्शविधायक विज्ञानके क्षेत्रसे बहुत दूर हट गया। हॉब्स और ह्यूमके प्रकृतिवादके पश्चात् एडम स्मिथ[1]का सहानुभूति-मूलक सहजज्ञानवाद[2] मिलता है। एडम स्मिथने सहानुभूतिके द्वारा नैतिक मान्यताओंको समझाया, इसका प्रयास ह्यूमसे श्रेष्ठ है। इसने नैतिक मान्यताओंकी प्राकृतिक व्याख्या नहीं की। सहजज्ञानवादी पैलेने[3] भी नैतिक नियमोंको समझाना चाहा। उसने कहा कि हमें मनुष्यमात्रके सुखकी खोज करनी चाहिये क्योंकि यही भगवद् इच्छा है। यही हमें शाश्वत सुख देगा। नैतिकताका विषय या अन्तर्तथ्य (content) मनुष्यमात्रका सुख है और कर्मका प्रेरक हमारा अपना शाश्वत सुख है। ह्यूम, बैंथम और मिलने भी सामान्य सुखको ही ध्येय माना है। प्रकृतिवादको अपनानेके कारण ह्यूमके सिद्धान्तका अन्त परम स्वार्थवादमें हो जाता है। पैले आत्मस्वार्थको अनुभवात्मक सत्य मानते हुए भी ईश्वर एवं धार्मिक आस्थाके कारण सार्वभौमिक शुभवादको अपनाता है। वह स्वार्थ और परार्थका समन्वय करता है। बैंथम और मिल सामाजिक आचरणको उपयोगितावाद द्वारा समझाते हैं।

मिल और बैंथमके सिद्धान्तमें जो बात अत्यधिक खलती है वह है विचारोंकी असंगति। इसका कारण यह है कि उन्होंने मनोवैज्ञानिक सुखवादपर अपने सिद्धान्तको आधारित किया। मनोवैज्ञानिक सुख-

१. Adam Smith 1723-1810.
२. Sympathetic Intuitionalism.
३. Paley 1743-1805.

वादकी भ्रान्तियोंसे तो उनका सिद्धान्त क्रान्त हो ही जाता है, वह नयी विपत्तियोंको भी मोल ले लेते हैं। मनोवैज्ञानिक सुखवादके आधारपर 'अधिकतम संख्याके अधिकतम सुख' को ध्येय नहीं माना जा सकता। सर्वसामान्यके सुखको या तो मूलगत नैतिक नियमके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है, या उसे पूर्ण रूपसे अर्थहीन सिद्ध किया जा सकता है। मनोवैज्ञानिक सुखवादका अन्त हॉब्सका परम स्वार्थवाद है। परम स्वार्थवाद नैतिक नियमोंको आत्मगत मानता है, वस्तुगत नहीं। उपयोगितावादियोंने इस निष्कर्षको स्वीकार नहीं किया। उन्होंने सहजज्ञानवादियोंकी भाँति नैतिक नियमको वस्तुगत सत्यके रूपमें स्वीकार किया और कहा कि सर्वसामान्यका अधिकतम सुख ही परम वांछनीय ध्येय है और यही कर्मोंको भी शासित करता है। मनोवैज्ञानिक सुखवादके आधारपर उस ध्येयको स्वीकार करनेके लिए यह सिद्ध करना आवश्यक है कि वह कर्त्ताके अधिकतम सुखकी वृद्धि करता है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद यह बतला सकता है कि मनुष्यने किन प्रेरणाओंके वशमें होकर कर्म किये हैं किन्तु वह यह नहीं बतला सकता कि किन प्रेरणाओंसे प्रेरित होकर कर्म करना उचित है। वह घटनाओंका केवल प्राकृतिक स्पष्टीकरण कर सकता है, नैतिक औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित नहीं कर सकता। उपयोगितावादियोंने अपने निष्पक्षता अथवा न्यायका नियम सहजज्ञानवादियों और आदर्शवादियोंसे लिया। सिजविक अपने सिद्धान्तको निष्कपटतापूर्वक सहजज्ञानवादपर आधारित कर देता है। उपयोगितावाद अस्पष्ट रूपसे सहजज्ञानवादको मानता है। सुखवाद अपने मूलरूपमें स्वार्थमूलक और वैयक्तिक है। उपयोगितावादी कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिकी गणना एक है, प्रत्येक अपने लिए है। इस बातसे वे यह प्रमाणित नहीं कर सकते कि प्रत्येक सबके लिए है। उपयोगितावादी परमार्थवाद अथवा सार्वभौमिक सुखवादकी स्थापनाके लिए जिस निष्पक्षताकी आवश्यकता है वह सहजज्ञानवाद द्वारा ही उसे प्राप्त हो सकती है। परमार्थको भावनाओंपर

स्वार्थ और परार्थका विरोधपूर्ण सामञ्जस्य

आधारित नहीं कर सकते। भावनाएँ एक ओर तो आत्मगत और स्वार्थी होती हैं और दूसरी ओर परमार्थी तथा सहानुभूतिमूलक। इन दो विरोधी प्रवृत्तियोंमें बिना बुद्धिकी सहायताके सामञ्जस्य स्थापित करना असम्भव है। अनुभव यह बतलाता है कि बुद्धिसे अनिर्देशित भावनाएँ व्यक्तिको सामाजिक बनानेके बदले वैयक्तिक बनाती हैं। मिल स्वार्थसे परमार्थपर पहुँचनेके लिए भावनाओंकी सहायता लेता है। तार्किक प्रमाण, एकताकी भावना तथा सहानुभूति द्वारा अपने सिद्धान्तको स्थापित करता है। उसके प्रयास यह सिद्ध नहीं कर पाते कि परमार्थ स्वार्थके लिए हितकर है। यही नहीं, भावना द्वारा वह निष्पक्षता भी सम्भव नहीं है जो सुखका वितरण करनेके लिए आवश्यक है। उपयोगितावादियोंने अहंतावादी स्वार्थवादका प्रतिपादन किया है जो नैतिक दृष्टिसे थोथा है। स्वार्थसे परमार्थकी उपज असम्भव है। मिल 'गौरवके बोध' की शरण लेता है और अप्रच्छन्न रूपसे सहजज्ञानवादियोंकी कृत्यबुद्धि (practical reason)को मानता है। यह सुखवादका विरोध करना है। इन्द्रियों एवं भावनाओंको ही सबकुछ माननेके कारण सुखवादी न तो व्यक्तिके जीवनको संगतिपूर्ण बना सके (भावनाएँ अपने-आपमें अत्यन्त चंचल और आवेगपूर्ण हैं) और न व्यक्ति तथा समाजमें ही सामञ्जस्य स्थापित कर सके। वे स्वार्थ और परमार्थके सम्बन्धको नहीं समझा सके। न वे नैतिक कर्त्तव्यके स्वरूपको ही स्पष्ट कर पाये। उन्होंने नैतिक नियम और प्राकृतिक भौतिक नियममें एकरूपता देखी। नैतिक नियम प्राकृतिककी भाँति अनिवार्य और निश्चित नहीं हैं, न वे कर्त्ताको विशिष्ट रूपसे कर्म करनेके लिए बाधित ही कर सकते हैं। वे बाह्य शक्तियों द्वारा आरोपित न होकर आत्म-आरोपित हैं। वे यह नहीं बतलाते कि सदैवसे क्या होता आया है अथवा क्या है। वे यह बतलाते हैं कि क्या होना चाहिये। नैतिक सुखवादियोंने मनोवैज्ञानिक सुखवादको मूलगत सिद्धान्त स्वीकार करनेके कारण यह माना कि मनुष्यके स्वभावका नियम सुखकी खोज

नैतिक कर्त्तव्य तथा सद्गुणके लिए स्थान नहीं है

करना है। अतः यह नैतिक आदेश कि 'तुम्हें सुख खोजना चाहिये' अर्थशून्य हो जाता है। यह वैसा ही है जैसा कि गिरते पत्थरसे कहना कि 'तुम्हें गिरना चाहिये'। बैंथम स्पष्ट रूपसे कहता है कि सुख-दुःख ही औचित्य और अनौचित्यके मापदण्डको निर्धारित करते हैं। प्रत्येक कार्यका कारण सुख-दुःख ही हैं। प्राकृतिक घटनाओंकी भाँति मानव-कार्य-कलापोंको 'कार्य और कारण' के अन्तर्गत समझ लेनेपर मनुष्य भी अपने जीवनमें उसी प्रकार अपने निर्दिष्ट ध्येयको प्राप्त कर सकता है जिस प्रकार वनस्पतियाँ, वृक्ष, पशु-पक्षी आदि अबौद्धिक और निर्जीव प्राणी प्राप्त करते हैं। वे सचेतन रूपसे प्रयास नहीं करते, प्राकृतिक नियम उन्हें अपने-आप ध्येयकी प्राप्ति करा देते हैं। किन्तु इस विरोधके होनेपर भी सुखवादियोंने कर्त्तव्यके सापेक्ष और व्यावहारिक महत्वको समझानेका प्रयास किया। उसकी उत्पत्ति और आवश्यकताको समझाया। बैंथमके अनुसार चार बाह्य आदेश हैं जिनके कारण मनुष्य कर्त्तव्य करनेके लिए बाधित होता है। मिल, स्पैंसर और बेन (Bain) ने आन्तरिक आदेशको प्रमुखता दी। कर्मोंकी उपयोगिताका अन्तर्बोध ही आदेश देता है, जो उनके अनुसार आन्तरिक आदेश है। स्पैंसरने उसे यह कहकर समझाया कि विकासके क्रममें मनुष्य उस नियमको अपना लेता है अथवा उसका स्वेच्छासे पालन करता है जो प्रारम्भमें उसे वातावरण, परिस्थिति, एवं समाज द्वारा दिया गया था अर्थात् बाह्य नियम कालक्रममें आन्तरिक नियम प्रतीत होता है। सुखवाद इस प्रकार कर्त्तव्यके मूल कारणको नहीं समझ सकता है। उपर्युक्त सिद्धान्तके आधारपर वह कर्त्तव्यको न्यायसम्मत तथा शाश्वत नहीं ठहरा सकता है। कर्त्तव्य एक व्यावहारिक आवश्यकताकी पूर्त्ति करता है। वह अपने-आपमें मूल्यरहित है। जिस भावनाने कर्त्तव्यकी धारणाको जन्म दिया है वह आत्मगत और परिवर्त्तनशील है। वह कर्त्तव्यको उस परम आदेशके रूपमें आरोपित नहीं कर सकती जो वस्तुगत और सार्वभौम है। सुखवादके अनुसार कर्मोंका प्रेरक कर्त्तव्यका विचार नहीं है। यहाँ-तक कि यदि किसी अन्य प्रेरणासे प्रेरित होकर कर्म किये जायँ और

उसका कर्त्तव्यकी भावनासे विरोध नहीं है तो वह कर्म उचित है। "वह व्यक्ति जो दूसरोंको डूबनेसे बचाता है, नैतिक रूपसे उचित कर्म करता है। उसका ध्येय कर्त्तव्य करना है अथवा उस कर्मके लिए पुरस्कृत होना, यह महत्वपूर्ण नहीं है।" सुखवादी सिद्धान्त मानव-चेतनाके सम्मुख एक अत्यन्त तुच्छ आदर्श रखता है। वह यह न कहकर कि मनुष्यका क्या कर्त्तव्य है और वह संस्कृति और सभ्यताके किस गौरव शिखरतक पहुँच सकता है यह बतलाता है कि स्वार्थपूर्ण ध्येयकी पूर्त्तिके लिए व्यावसायिक बुद्धि किस चाणक्य-नीतिको अपनाती है। उसके अनुसार कर्त्तव्य लाभप्रद साधनोंका सूचक है। व्यावसायिक बुद्धिका नाम सद्‌गुण है। नैतिकता आत्मस्वार्थका प्रतिनिधित्व करती है। नैतिक चेतना सुखकी वह भावना है जो सदैव लाभप्रद और उपयोगी नियमोंको चुनती है। शुभ और अशुभका भेद सापेक्ष है। बैंथम तो स्पष्ट रूपसे कहता है कि अशुभ कर्मके मूलमें बौद्धिक एवं नैतिक गणनाकी भूल है। कोई भी प्रेरणा अपने-आपमें बुरी नहीं है। सब प्रेरणाएँ समान हैं। उनमें केवल मात्राओंका भेद है। परिणामसे संयुक्त होकर ही वह शुभ अथवा अशुभ कही जाती है। व्यावसायिक बुद्धिकी योग्यता और अयोग्यता ही शुभ-अशुभको निर्धारित करती है। नैतिकताका तत्त्वार्थ यह है कि शुभ और अशुभका भेद सिद्धान्तका भेद है। वह निश्चित और आन्तरिक है अथवा परिणाम-पर निर्भर है, बाह्य और अनिश्चित नहीं है। अतः सुखवाद नैतिकताको समझानेके बदले उस प्रश्नसे ही कतरा जाता है। वह मनुष्यकी स्वस्थ नैतिक चेतनाको नहीं समझा पाता। यह सत्य है कि योग्य प्रबुद्ध व्यक्तियोंने उसे सिद्ध करनेका प्रयास किया किन्तु फिर भी यह सिद्धान्त अपने वास्तविक रूपमें सरल शुद्ध सद्विचारोंको मर्मांतक पीड़ा पहुँचाता है।

सुखवादी गणना असम्भव

बैंथमने 'नैतिक गणित' को स्वीकार करके यह समझाया कि अशुभ कर्म नैतिक गणितकी भूलके सूचक हैं। उसका यह विश्वास था कि सुखको तौल सकते हैं। उसका निश्चित और समान रूपसे प्रत्येकमें वितरण किया

जा सकता है। उपयोगितावादियोंके अनुसार सुख उस भावनात्मक मुद्राके समान है जिसकी गणना की जा सकती है और जिसका अंशों एवं भागोंमें वितरण सम्भव है अर्थात् उनके अनुसार सुखका मूल्य निरपेक्ष और व्यक्तिकी रुचिसे स्वतन्त्र है। उनकी यह 'नैतिक गणना' भ्रान्तिपूर्ण है। सुख उन रुपयों-पैसोंकी भाँति नहीं है जिनका कि हिसाब रखा जा सकता है, जिनकी कि निरपेक्ष गणना सम्भव है। सुख भावनामात्र है। यह भावना सापेक्ष और आत्मगत है। इसका कोई वस्तुपरक आधार नहीं है। यह विभिन्न मानसिक और भौतिक स्थितियोंकी सूचक है और परिस्थिति, मनोदशा तथा स्वभावपर निर्भर है। एक ही वस्तु एक ही व्यक्तिके लिए दो भिन्न परिस्थितियोंके अनुरूप सुखप्रद और दुःखप्रद हो सकती है। यही नहीं, प्रत्येक व्यक्तिके सुखकी भावना भी भिन्न होती है। सुखका अपनी उत्पादक वस्तुसे तथा व्यक्तिकी रुचिसे अनिवार्य सम्बन्ध है। सुखको जोड़ नहीं सकते हैं। उसका परिमाणात्मक मूल्य आँकना अव्यावहारिक है। यदि सुखवादियोंके साथ यह मान भी लें कि सुख वांछनीय है तो भी यह मानना असम्भव है कि विभिन्न सुखोंको जोड़ सकते हैं और साथ ही यह कि सुखोंका जोड़ भी सुखप्रद है। मिलने गुणात्मक भेदको मानकर एक नयी कठिनाई उत्पन्न कर दी। गुणोंकी तुलना राशियोंसे करना तबतक संगत नहीं है जबतक कि किसी भाँति उनको राशियोंमें परिणत न किया जा सके। मिल गुण और राशि दोनोंको ही मानता है। किन्तु बालूके ढेरकी तुलना सोनेके कणसे करना सम्भव नहीं है। गुणके साथ ही परिमाण या राशिको भी महत्व देना अव्यावहारिक और अवास्तविक है। यही नहीं, सर्वोत्तम गुणकी इच्छा सुखकी इच्छा नहीं है। यह अप्रत्यक्ष रूपसे नये मापदण्डको मानना है।

नैतिक मापदण्डकी कठिनाई

सुखवाद नैतिक आचरणके लिए उचित मापदण्ड देनेमें असमर्थ रहा। उसके अनुसार अत्यन्त निकृष्ट, तुच्छ और हेय कर्मका परिणाम यदि शुभ है तो वह कर्म शुभ है। इन्द्रियसुख ही उसका ध्येय है और इन्द्रियसुख आत्मगत

है। उसके द्वारा 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख' का सिद्धान्त नहीं समझाया जा सकता। जहाँतक उच्च सुखका प्रश्न है (बौद्धिक, सांस्कृतिक, ललितकला सम्बन्धी) उसके अनेक भागी हो सकते हैं। किन्तु इन्द्रियसुखका भागी भोक्ता ही हो सकता है। मिल गुणात्मक भेद द्वारा उसे समझाता है। पर, यह सुखवाद नहीं है। मिल और बैंथम दोनों ही अपने समयके प्रचलित सद्‌गुणोंको स्वीकार करते हैं। वे निकृष्ट कर्मोंको अनुचित ठहराते हैं। सुखवादके लिए वह विरोधपूर्ण तथा असंगतिपूर्ण कथन है। मिल और बैंथमकी प्रचलित सद्‌गुणोंकी स्वीकारोक्तिके मूलमें सुखवाद नहीं, उनकी रूढ़िप्रियता है। साथ ही उनकी उपयोगितावादको प्रचलित रूप देनेकी तीव्र अभिलाषा है। उन्होंने समानता और निष्पक्षताके सिद्धान्त द्वारा सुखवादी मापदण्डसे एक उच्च मापदण्ड दिया। यहाँ भी वही कठिनाई है। उन्होंने अपने प्रबुद्ध और मानवतावादी विचारोंके कारण अनायास ही सहजज्ञानवादियों और आदर्शवादियोंकी मान्यताओंको स्वीकार कर लिया। अपने-आपमें सुखवाद प्रत्येक व्यक्तिको नैतिकताकी बागडोर पकड़ा देता है और इन्द्रियोंके उस राज्यमें पहुँचा देता है जहाँ केवल विप्लव, अशान्ति और असंगति है।

अध्याय १२

सुखवाद (परिशेष)

सहजज्ञानवादी उपयोगितावाद

सिजविक

हेनरी सिजविक[1]ने सहजज्ञानवादी उपयोगितावाद[2]का प्रतिपादन किया। उस समय उपयोगितावादकी नींव ढीली पड़ चली थी। नवीन मनोवैज्ञानिक आविष्कारों और विशेषकर मिलकी विशेषताओंके कारण उपयोगितावादकी लोकप्रियता क्षीण होने लगी थी। ऐसे समयमें सिजविकने नीतिशास्त्रपर उच्च कोटिका पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा। अध्यवसायी और चिन्तनशील होनेके कारण उन्होंने सारग्राही दृष्टिकोणको अपनाया। उनके सिद्धान्तमें विचारोंकी प्रखरता और अभिव्यक्तिकी स्पष्टता मिलती है। उन्होंने सहजविश्वासके आधारपर कुछ भी स्वीकार नहीं किया। प्रत्येक सत्यको स्वीकार करनेके पूर्व अपनी गूढ़ और गहन विश्लेषणशक्ति द्वारा उसके सब पक्षोंको समझनेका प्रयास किया। यही कारण है कि मिलसे प्रभावित होनेपर भी उन्होंने उसे पूर्णरूपसे स्वीकार नहीं किया वरन् मिलके उपयोगितावादका सहजज्ञानवादके साथ समन्वय किया।

सिजविकके पूर्व उपयोगितावादकी स्थिति

सत्रहवीं शताब्दीके अन्तमें ब्रिटेनके नीतिज्ञोंने उस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जो बादमें उपयोगितावादके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उन सैद्धान्तिकोंने यह माना कि सुख ही एकमात्र शुभ है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए उसीकी इच्छा करता है। प्राचीन सुखवादियों (ऍरिस्टिपस, ऍपिक्यूरस) के इस मनोवैज्ञानिक सत्यको मानकर

१. Henry Sidgwick 1838-1900.
२. Intuitional utilitarianism.

उन्होंने यह भी समझानेका प्रयास किया कि व्यक्तिगत सुखकी ही नहीं बल्कि सर्वसामान्यके सुखकी भी वृद्धि करनी चाहिये। सर्वसामान्यके प्रति उस कर्त्तव्यको उन्होंने भगवानकी इच्छाके रूपमें स्वीकार करनेको कहा क्योंकि उसके विपरीत कर्म करनेसे भगवान क्रुद्ध होकर दण्ड देंगे और उसके कारण व्यक्ति स्वार्थसिद्धि नहीं कर पावेगा और उसे आत्मसुख नहीं मिलेगा। इसलिए उनके अनुसार व्यक्तिके वैयक्तिक सुखके लिए भी स्वार्थी कर्मोंका परित्याग कर सर्वसामान्यके लिए हितकर आचरणको अपनाना चाहिये। अब्राहम टकर[1]ने अठारहवीं शताब्दीमें ईश्वरज्ञानके आधारपर वैयक्तिकके साथ सामान्य सुखको संयुक्त किया। उनका कहना था कि दैवी विधान सुखके समान रूपसे वितरण किये जानेका सूचक है। व्यक्ति अपने सुखकी अत्यधिक वृद्धि उसी आचरण द्वारा कर सकता है जो दैवी विधानके अनुकूल है। लॉक[2]ने भी ईश्वरज्ञानपर ही उपयोगितावादको आधारित किया। भगवद् इच्छा और शक्ति सामान्य सुखके निमित्त कर्म करनेके लिए प्रेरित करती है। पैले[3]ने लॉकके कथनको स्वीकार किया। उन्होंने कहा कि सर्वशक्तिमान् भगवानकी इच्छाके अथवा भगवद् आदेशके अनुरूप आचरण ही उचित आचरण है। उनके विचारसे वही कर्त्तव्य और स्वार्थको संयुक्त करनेकी कड़ी है। उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें बैंथमने कानूनको भागवत् अथवा दैवी आदेशके समान महत्व दिया। वह जड़वादी विचारक तथा समाज-सुधारक था और साथ ही कानूनमें उसकी रुचि थी। कानून द्वारा दण्डित करके वह स्वार्थी प्रवृत्तियोंको सामाजिक आचरणका लबादा पहनाना चाहता था। उसी शताब्दीमें मिलने बैंथमके कर्त्तव्य और स्वार्थको संयुक्त करनेके प्रयासको तार्किक और मनोवैज्ञानिक युक्तियों द्वारा पुष्ट और सफल बनाना चाहा। स्वार्थी प्रवृत्तियोंसे परमार्थी प्रवृत्तियों—न्याय, परोपकार, समानता,

१. Abraham Tucker.
२. John Locke 1632-1704.
३. William Paley.

निष्पक्षता आदि—की उत्पत्तिको समझानेके असम्भव प्रयासने उसके उपयोगितावादको निर्जीव बना दिया। उसके प्रयासकी असफलताने उपयोगितावादकी दुर्बलताओंको प्रकट कर उसकी नींवको दृढ़ बनानेके बदले हिला दिया। उसको उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तमें पुनः स्थापित करनेका श्रेय सिजविकको है। उसीने उसे सहजज्ञानवादी अमृत द्वारा पल्लवित-पुष्पित किया। शास्त्रीय एवं मूलगत उपयोगितावादने सुखको मात्राओंमें भिन्न मानते हुए भी जाति या प्रकारमें समान माना है। वह सुखोंके उस गुणात्मक भेदको नहीं समझा सका जिसका कि लोग प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। मिलने उसे समझाया किन्तु उसके सिद्धान्तकी असंगतियों तथा मनोवैज्ञानिक खोज (व्यक्ति एकमात्र सुखकी खोज नहीं करता है) ने उपयोगितावादको लोगोंकी दृष्टिमें गिरा दिया। सिजविकने इस मनोवैज्ञानिक खोजको स्वीकार कर सुखवादी मनोवैज्ञानिक मान्यताको छोड़ दिया और कहा कि व्यक्ति सदैव सुखकी प्रेरणासे कर्म नहीं करता। यह मानसकी प्रत्यक्ष अनुभूति है कि सुख ही परम वांछनीय है। सुखकी खोज करनी चाहिये क्योंकि वह विवेकसम्मत है। इस प्रकार सुखवादी ध्येयको मानकर उन्होंने उसे सहजज्ञानवादका संबल देकर सुदृढ़ बनाया।

नैतिक सिद्धान्तका लक्ष्य

सिजविकके अनुसार नैतिक सिद्धान्त उस बौद्धिक प्रणालीको अपनाता है जिसके द्वारा यह निर्धारित किया जाता है कि प्रत्येक मनुष्यको क्या करना चाहिये अथवा वह कौन-सा शुभ है जिसे मनुष्य स्वेच्छाकृत कर्मों द्वारा प्राप्त कर सकता है। नैतिक आदर्श काल्पनिक नहीं, वास्तविक जीवन-पर आधारित है। 'नैतिक चाहिये' का स्वरूप 'क्या है' पर निर्भर है। इसके लिए जीवनकी वास्तविक घटनाओंका अध्ययन आवश्यक है। इसीसे ज्ञात हो सकता है कि मनुष्यकी सम्भावनाएँ और सीमाएँ क्या हैं; वह किस ध्येयकी प्राप्ति करना चाहता है; उसकी प्राप्तिके लिए किस साधनका उपयोग किया जा सकता है; कौन-सा आचरण शुभ है, इत्यादि। आचरणके औचित्य और अनौचित्यके बारेमें जो नैतिक नियम

और बौद्धिक निदेश (precept) मिलते हैं उनकी सत्यताकी खोज और जाँच करनी चाहिये। संक्षेपमें नैतिक आदर्शकी स्थापनाके लिए मानव-जीवन एवं मानव-स्वभावका सर्वाङ्गीण ज्ञान अनिवार्य है। उसी ध्येयको 'आदर्श' मान सकते हैं जो प्रयास द्वारा प्राप्त हो सकता है और उसी नियमको नैतिक कह सकते हैं जो इस दृष्टि (व्यावहारिक) से उपयोगी हो।

सिजविक अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन मिल, कांट और बटलरके सिद्धान्तोंकी विशेषताओं और दुर्बलताओंको दिखाते हुए करता है। उसकी नैतिक आदर्शकी व्याख्या सुखवाद (उपयोगितावाद) और सहजज्ञानवादमें समन्वयकी अपेक्षा रखती है।

आलोचनात्मक पक्ष : सहजज्ञान-वाद और सुख-वादका समन्वय

सिजविक उस सिद्धान्तको सहजज्ञानवाद कहता है जिसके अनुसार वह आचरण शुभ है जो कर्त्तव्यके उन निदेशोंके अनुरूप है जिनकी निरपेक्ष अनिवार्यता (Unconditionally binding) सहजज्ञान द्वारा सिद्ध होती है। इस सिद्धान्तके आधारपर परमशुभकी धारणा उचित आचरणको निर्धारित करनेके लिए अनिवार्य रूपसे महत्व नहीं रखती। उसकी महत्ता इसपर निर्भर है कि उचित आचरण ही मनुष्यका परमशुभ है। वह चरित्रकी पूर्णता है। सिजविक यह मानता है कि सहजज्ञानवाद कर्त्तव्यरत आचरण (वह कर्म जो कर्त्तव्यके निदेशोंके अनुरूप हो) को महत्व देता है, न कि परमशुभको। वह इस तथ्यको व्यापक रूप देता है कि परमशुभकी पूर्ण-धारणा अथवा मानव-कल्याण, कर्त्तव्य और सुख दोनोंकी भावनाका समावेश करता है। कर्म करनेके लिए जब व्यक्ति प्रेरित होता है तो केवल उसके सम्मुख नैतिक विचार ही नहीं रहता, किन्तु उसकी इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ भी उसे कर्मरत करती हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि 'मैं यह क्यों करूँ ?' तो इसका उत्तर उचित आचरणका ही सूचक नहीं, कर्म करनेकी प्रबल प्रवृत्तिका भी सूचक है। सिजविक, जैसा कि हम आगे देखेंगे, मानव-जीवनके व्यापक अध्ययनकी दुहाई देकर स्वार्थ और परमार्थ, सुखवाद और सहजज्ञानवादमें सामञ्जस्य स्थापित करता है।

स्थूल दृष्टिसे लगता है कि ये दोनों दो भिन्न दृष्टिकोण हैं, पर वास्तवमें परमशुभकी धारणा इन दोनोंके बिना अपूर्ण है। "मुझे सहजज्ञानवाद और उपयोगितावादमें कोई विरोध नहीं दीखा' 'मुझे ऐसा लगा कि मिल और बैंथमके उपयोगितावादको एक आधारकी आवश्यकता है और यह आधार उसे केवल मूलगत सहजज्ञानवादसे प्राप्त हो सकता है। दूसरी ओर जब मैंने सामान्य बुद्धि-सुलभ नैतिकता (Morality of common sense) का यथाशक्ति पूर्ण निरीक्षण किया तो मुझे उन नियमोंके अतिरिक्त अन्य कोई स्पष्ट और स्वतःसिद्ध नियम नहीं मिले जिनकी कि उपयोगितावादके साथ पूर्ण संगति हो।"[1] सिजविक यह समझानेका प्रयास करता है कि उपयोगितावाद और सहजज्ञानवाद एक-दूसरेसे अलग होकर, अपने-आपमें अपूर्ण हैं। इस अपूर्णताको समझाने एवं दोनोंके समन्वयकी स्थापना करनेके लिए वे मिल, कांट और बटलरके सिद्धान्तके आंशिक सत्योंको लक्षित करते हैं। सिजविकने आचरणका मूल्यांकन करनेके लिए सुखवादी मापदण्डको ध्येय मानते हुए उसके मनोवैज्ञानिक आधारका खण्डन किया है। उन्होंने यह स्वीकार करते हुए कि सुख ही एकमात्र ध्येय है सुखवादियोंके विरुद्ध घोषित किया कि मनुष्य स्वभाववश सदैव सुखकी खोज नहीं करता। मनुष्यको सुखकी खोज करनी चाहिये, यह विवेकसम्मत है। इस प्रकार उन्होंने मनोवैज्ञानिक आधारके बदले बौद्धिक आधार दिया। अथवा मनोवैज्ञानिक सुखवादका खण्डन कर नैतिक सुखवाद एवं उपयोगितावादको स्वीकार किया। मिलने सैद्धान्तिक रूपसे सुखवादी मनोविज्ञानको उचित बतलाया। किन्तु जब वह व्यावहारिक पक्षपर पहुँचा तो उसने सामाजिक आचरण (परार्थ) को महत्व दिया। सहानुभूति द्वारा कर्त्तव्य और आत्म-स्वार्थमें ऐक्य स्थापित किया। सिजविक व्यापक सहानुभूतिपूर्ण कर्मोंकी महत्ताको स्वीकार करते हैं। मानव-स्वभावकी दुर्बलताओंके प्रति वे पूर्ण रूपसे सचेत हैं। मिलके विरुद्ध वे कहते हैं कि विरले ही व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो अपने परिवार और

१. Sidgwick-The Methods of Ethics Preface. pp XX-XXI

प्रियजनोंके आगे मानव-समाजकी चिन्ता करेंगे । मिल सुखकी इच्छाका विचारसाहचर्य द्वारा 'सद्गुणके प्रति निःस्वार्थ प्रेम' में परिवर्त्तन मान लेता है । इस प्रकार स्वार्थसे परमार्थकी उत्पत्तिको स्वीकार कर वह साधु-असाधुको एक ही श्रेणीमें रख देता है । मिलने जिस प्रकार कर्त्तव्य और स्वार्थके विरोधको दूर किया उसे सिजविक दार्शनिक रूपसे सन्तोषप्रद नहीं मानता । परमार्थी प्रवृत्तियोंकी स्वार्थी प्रवृत्तियोंसे तुलना करके मिल आत्मत्यागके गुण गाता है । आत्मत्यागकी महत्ताको शिष्ट सार्वजनीन चेतना अवश्य स्वीकार करती है और ऐसे कर्मोंसे प्रभावित होती है; किन्तु स्वभाववश किसी बातको मानना और उसकी स्पष्ट बौद्धिक व्याख्या करके बौद्धिक जिज्ञासाका समाधान करना ये दो बातें हैं । अतः सिजविक कहता है कि मिलने मनोवैज्ञानिक सुखवाद (प्रत्येक व्यक्ति अपना सुख खोजता है) और नैतिक सुखवाद (प्रत्येक व्यक्तिको जन-सामान्यका सुख खोजना चाहिये) दोनोंको ही स्वीकार कर एक आकर्षक किन्तु असंगतिपूर्ण सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है । उपर्युक्त दोनों 'वाद' परस्पर विरोधी हैं । एक आत्मसुखका पोषक है तो दूसरा आत्मत्यागका (विशेषकर जिस रूपको मिलने स्वीकार किया है) । यदि मनुष्य स्वभाववश आत्मसुख खोजता है तो परार्थ सुख उसके लिए तभी मान्य हो सकता है जब कि वह आत्मसुख-की वृद्धि करे । नैतिक सुखवाद जिस सामाजिक आचरण एवं कर्त्तव्यको मान्यता देता है वह आचरण स्वार्थप्रेमरत व्यक्तिके अनुकूल होना चाहिये । स्वार्थ और परमार्थके प्रश्नको बैंथम सांसारिक अनुभवके नामपर सुलझाता है और मिल आत्मत्यागके गुणगान द्वारा अथवा गौरव-बोध और विचार सहयोग द्वारा । यह समाधान अत्यन्त छिछला, अपर्याप्त और महत्वहीन है । कोई भी दर्शन अथवा सुव्यवस्थित सिद्धान्त यदि उसका आधार केवल वैयक्तिक विश्वास है तो वह मान्य नहीं हो सकता । स्वीकृत तथ्यका स्पष्टीकरण करनेके बदले वह उसका परिहार करता है । कर्त्तव्यका पालन करनेके लिए इस बातको भलीभाँति समझ लेना अथवा जान लेना अनिवार्य है कि व्यक्तिके लिए उस समष्टिके अर्थ आत्मसुखका त्याग करना

उचित है जिसका कि वह अंग है। उपयोगितावाद इस तथ्यको समझानेके बदले अपनी दुर्बलताओं और असंगतियोंका ही प्रदर्शन करता है। अनुभवके आधारपर स्वार्थ और परमार्थके प्रश्नको नहीं सुलझाया जा सकता। अनुभव यह बतलाता है कि सामान्य सुखकी वृद्धि करनेवाले कर्म वैयक्तिक-सुखकी भी वृद्धि करते हैं। प्रतिदिनके आत्मस्वार्थमें लीन व्यक्ति सामान्य सुखको भूलता जाता है। वह उसे अपना विरोधी पाता है। सांसारिक अनुभव स्वार्थ और परमार्थकी गुत्थी नहीं सुलझा पाता। उपयोगितावादियोंने सुखवादी गणना करनेके लिए प्रयोगज्ञानपर आधारित कर्मोंके परिणामोंके परीक्षणको पर्याप्त माना। किन्तु व्यवहार अनुभव द्वारा प्राप्त ऐसे सामान्य नियमोंकी अपूर्णता सिद्ध करता है। कर्मोंको समझनेके लिए केवल अनुभव ही पर्याप्त नहीं है। उसे सामान्यबोध (common sense) से संयुक्त करना भी अनिवार्य है। अकेला अनुभव अथवा प्रयोगज्ञान अकसर ठीक नहीं होता है। उसे उचित और निश्चित ज्ञानकी ओर ले जानेके लिए सामान्यबोधकी कसौटीपर कसना होता है। अनुभवमात्रपर आधारित सुखवादी गणना व्यर्थ है। उपयोगितावादकी असंगतियों और असामञ्जस्यको दूर करनेके लिए सिजविक उसे नैतिक सहजज्ञानसे सम्बद्ध करते हैं। सहजज्ञानकी खोजमें वे कांटके सिद्धान्तका अध्ययन करते हैं। कांटके नैतिक दर्शनसे प्रभावित होकर वे उसके मूलगत नीतिवाक्य (उस सिद्धान्तके अनुसार कर्म करो जिसके बारेमें तुम यह भी इच्छा कर सको कि वह एक सार्वभौम नियम बन जाय) की सत्यता और महत्वको स्वीकार कर लेते हैं। उनके अनुसार यह एक ऐसा नीतिवाक्य है जिसका कि बुद्धि अनुमोदन करती है। इस सिद्धान्तने उन्हें यह बतलाया कि जो कर्म एक व्यक्तिके लिए उचित है वह कर्म उसी परिस्थितिमें दूसरोंके लिए भी उचित है। ऐसे सिद्धान्तका व्यावहारिक मूल्य भी है, इसे सिजविकने स्पष्ट देखा। किन्तु फिर भी उनके चिन्तनने उन्हें बतलाया कि वह सिद्धान्त मौलिक रूपसे सत्य होनेपर भी विशिष्ट, व्यावहारिक नियमोंके प्रतिपादनमें सहायक नहीं है। वह कर्त्तव्योंके उस

विधानका निर्माण नहीं कर सकता जो स्वार्थ और कर्त्तव्यकी सीमाओंको बाँध सके। अतएव प्रश्न यह उठता है कि उसके आधारपर वास्तविक-जीवनमें जो स्वार्थ और कर्त्तव्यके बीच द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है उसे कैसे सुलझाया जा सकता है ? इसमें सन्देह नहीं कि विश्वके दृष्टिकोणसे अल्प सुखकी तुलनामें अधिक सुख विवेक-सम्मत है, चाहे अल्प सुख व्यक्तिका सुख क्यों न हो। किन्तु विवेक यह भी बतलाता है कि व्यक्तिको अपने सुखका वरण करना चाहिये। अर्थात् आत्म-त्याग और आत्म-स्नेह दोनों ही विचारसंगत हैं। इस निष्कर्षपर पहुँचनेके साथ ही सिजविक बटलर, कांट और मिलसे दूर पहुँच जाते हैं। अपने उस कथनकी पुष्टि करनेके अभिप्रायसे वे बटलरके सिद्धान्तपर पुनर्विचार कर उस परिणामपर पहुँचते हैं कि बटलरके अन्तर्बोधमें उनका सिद्धान्त ध्वनित होता है। बटलरके अनुसार चिन्तन, मनन एवं अन्तरावलोकन बतलाता है कि अन्तर्बोधका आदेश परम आदेश है। सिजविक अन्तर्बोधके आदेशको बुद्धिका आदेश कहकर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि वे अन्तर्बोध, उपयोगितावाद और विचारसंगत बौद्धिक आत्म-प्रेम (Rational self-love) में सामञ्जस्य स्थापित कर सकते हैं। वे बटलरके सिद्धान्तसे उन अंशोंको खोजते हैं जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे आत्म-प्रेमका अनुमोदन करें। बटलर एक स्थलपर यह कहते हैं, "स्वार्थ, मेरा अपना सुख, स्पष्ट कर्त्तव्य है।" उसे ही बटलर बौद्धिक आत्म-प्रेम कहते हैं। किन्तु वे आत्म-प्रेम तथा अन्तर्बोधमें विरोध मानते हैं और कहते हैं कि वह 'शासनकर्त्री शक्तिका द्वैत' (Dualism of Governing Faculty) है। सिजविक उसे 'व्यावहारिक बुद्धिका द्वैत' (Dualism of the Practical Reason) कहते हैं। उनके अनुसार वही आदेश मानने योग्य है जो बौद्धिक है। बटलरसे प्रभावित होकर वे कहते हैं कि मनुष्यके कर्म उन निःस्वार्थ (disinterested) तथा अन्य सम्बन्धी (extra-regarding) प्रवृत्तियों-से भी प्रेरित होते हैं जिनका वैयक्तिक सुखसे कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ-पर वे वास्तवमें मिलके सिद्धान्तके मनोवैज्ञानिक आधारको छोड़ देते हैं।

वे मनोवैज्ञानिक सुखवादको दोषपूर्ण बतलाकर यह कहते हैं कि यदि सुखके प्रति आवेग अत्यन्त प्रबल है तो वह अपने ध्येयको प्राप्त नहीं कर सकता। यही नहीं, उनके अनुसार सुख इच्छाका स्वाभाविक विषय नहीं है, वह उचित विषय है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद आपसमें विरोधपूर्ण हैं। यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद यह कहता है कि मेरे लिए अपने अधिकतम सुखके अतिरिक्त किसी अन्य विषयको लक्ष्य (जैसे अधिकतम संख्याका सुख) बनाना मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे असम्भव है तो उस असम्भव विषयको कर्त्तव्य बतलाना भ्रान्तिपूर्ण है। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे मेरे लिए कोई कर्म करना असम्भव है तो उस कर्मको करना मेरा कर्त्तव्य कदापि नहीं हो सकता। वही कर्म नैतिक कर्त्तव्यके अन्तर्गत आ सकते हैं जिनको करना व्यक्तिके लिए सम्भव है। मनोवैज्ञानिक सुखवाद वह सिद्धान्त है जो अन्य सब विरोधी नैतिक सिद्धान्तोंका खण्डन करता है। अतः उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह अपने अतिरिक्त किसी अन्य सिद्धान्तको मान्यता नहीं देता। यह कहना कि 'अपने अधिकतम सुखकी खोज करना व्यक्तिका कर्त्तव्य है' तभी युक्तिसंगत हो सकता है जब कि उसके लिए मनोवैज्ञानिक रूपसे अन्य विषयोंकी खोज करना भी सम्भव हो, अन्यथा उपर्युक्त कथन व्यर्थ है, पुनरुक्ति है। कर्त्तव्यके स्वरूपको समझानेके लिए यह समझाना आवश्यक है कि एकमात्र सुखकी प्रेरणासे व्यक्ति कर्म नहीं करता। प्रेरणाएँ कई हैं। उचित प्रेरणा (कर्त्तव्य) का अन्य प्रेरणाओंसे विरोध होनेपर भी व्यक्ति उसे चुनता है, उसके अनुकूल कर्म करता। मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक स्वार्थ-सुखवाद (हॉब्स) की स्थापनातक नहीं कर सकता। यदि प्रत्येक क्षण व्यक्ति अधिक सुखकी चिन्ता करे तो वह अपने ही अधिकतम सुखका नाश करेगा। सुखप्राप्तिकी तीव्र इच्छाके कारण वह उस सुखसे संयुक्त परिणामोंको नहीं समझ पायेगा और शीघ्रताके कारण उस तात्कालिक सुखका वरण कर लेगा जो कि क्षणिक और निकट है। मनोवैज्ञानिक सुखवादको त्याज्य घोषित करके तथा नैतिक सुखवादको

मानते हुए सिजविक सहजज्ञानवादी उपयोगितावादकी स्थापना करते हैं। वे इस मनोवैज्ञानिक सत्यको मानते हैं कि मनुष्यके कर्म निःस्वार्थ प्रवृत्तियों द्वारा भी प्रेरित होते हैं। उदाहरणार्थ, परोपकार (Benevolence) निःस्वार्थ प्रवृत्ति है। मनुष्यमें दूसरोंके सुखके लिए कर्म करनेकी इच्छा है। उसको सन्तुष्ट करनेके लिए वह अपने स्वार्थका निराकरण करना अपना कर्त्तव्य मानता है। यही नहीं, मनुष्यमें उचित और विवेकसम्मत कर्म करनेकी इच्छा होती है। यह इच्छा बटलरके अन्तर्बोधके आदेश अथवा कांटके नैतिक नियमके प्रति आदरकी धारणाके समान है। इस सत्यका ज्ञान सिजविकके सिद्धान्तको बटलरके सिद्धान्तसे युक्त कर देता है। मूलगत नैतिक सहजज्ञान सामान्य सुखकी वृद्धिको सर्वोच्च आदर्शके रूपमें समझा सकता है। उसे अनुभवके आधारपर नहीं समझाया जा सकता। सहजज्ञान द्वारा ही समझाया जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति सामान्य सुखके लिए कर्म करनेको क्यों बाध्य है। हेनरी मूर[1] और क्लार्क[2]के सिद्धान्तमें सिजविकको यह स्वतःसिद्ध वाक्य मिला कि "बौद्धिक प्राणी सार्वभौम सुखको लक्ष्य माननेके लिए बाध्य है।" किन्तु प्रश्न यह है कि सहजज्ञानके नियमोंके विधानको कैसे समझा जा सकता है? वह कैसे बोधगम्य होता है? सर्वसामान्यकी चेतना द्वारा प्राप्त अन्तर्बोधको स्वीकार करना दार्शनिक दृष्टिमें उचित नहीं है। सहजज्ञानके विधानको अन्तर्बोध नहीं समझा सकता है। उसको समझनेके लिए यह आवश्यक है कि सामान्य-बोधकी नैतिकताके नियमोंकी तुलना द्वारा तथा बौद्धिक चिन्तन द्वारा संगतिपूर्ण विधान बना लिया जाय। उन नियमोंको स्वीकृत कर लिया जाय जो स्पष्ट, संगतिपूर्ण और अधिकांश व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत हों। पक्ष और विपक्षका मूल्यांकन करके तथा अनेक घटनाओं और स्थितियोंका अध्ययन करके सामान्य नियमोंका अनुमान द्वारा प्रतिपादन किया जाय। इस प्रकार सामान्यबोधकी नैतिकताके निष्पक्ष परीक्षण द्वारा उसे ज्ञात

---

१. Henry More.

१. Clarke.

हुआ कि सामान्यबोधकी नैतिकता उन नियमोंका निर्माण करती है जो सामान्य सुखकी वृद्धि करते हैं। ऐसे सहज निर्णय अनायास ही यह सिद्ध करते हैं कि मानसमें कुछ परम नैतिक सत्य हैं। वे इस निष्कर्षमें पहुँचते हैं कि उपयोगितावाद और सहजज्ञानवादमें विरोध नहीं है किन्तु स्वार्थ और कर्त्तव्यमें अवश्य विरोध है। उस विरोधको यह मानकर दूर किया जा सकता है कि विश्वका विधान नैतिक है (कांट और बटलर) और स्वार्थ तथा परमार्थ दोनोंके ही लिए विधानमें समान स्थान है।

सुखवादियोंने परमशुभके स्वरूपको समझानेका प्रयास किया। उसको भावनाके रूपमें समझाया। उनके अनुसार जीवनका चरम ध्येय बौद्धिक या विवेकसम्मत नहीं है, वह इन्द्रियशुभ है। वह शुभ चाहे व्यक्तिका हो अथवा समाजका, अपने मूल रूपमें वह भावनात्मक है। मिल और बैंथमने व्यक्ति और समाजके शुभको एक ही बतलाना चाहा तथा स्वार्थ और परमार्थमें सामञ्जस्य स्थापित करना चाहा। विकासवादियोंने सहानुभूति और विकासके नियम द्वारा उस कठिनाईको हल करना चाहा। सिजविक यह कहते हैं कि भावना द्वारा उस द्वन्द्वको दूर नहीं किया जा सकता। बुद्धि द्वारा ही उस विरोधकी निवृत्ति हो सकती है। वे उपयोगितावादको बौद्धिक आधार देकर स्वार्थ और परमार्थके विरोधको दूर करते हैं। बुद्धि व्यवस्थापक तत्व (Regulative principle) है। वह शुभका वितरण करती है। पूर्वके उपयोगितावादियोंकी भाँति सिजविकने सहानुभूति, विचार-साहचर्य आदिकी शरण लेकर मनोवैज्ञानिक प्रमाण नहीं दिये, किन्तु तार्किक प्रमाण दिये। वे प्रमाण कहाँतक सफल हैं इसे सिजविकके सिद्धान्तका अध्ययन ही बतलायेगा। मिल और बैंथमके सिद्धान्तकी तुलनामें सिजविकका सिद्धान्त बौद्धिक उपयोगितावाद (Rational Utilitarianism) का पोषक है। उपयोगितावादको बौद्धिक आधार देनेके प्रयासमें उन्होंने उसे सहजज्ञानवादसे संयुक्त किया। सहजज्ञानवादके अन्तर्गत वे तीन प्रकारके 'वादों'को लेते

बौद्धिक उपयोगितावाद : दार्शनिक सहजज्ञानवाद

हैं। (१) प्रत्यक्ष सहजज्ञानवाद (Perceptional Intuitionism): यह वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार किसी कर्मके औचित्यका प्रत्यक्ष होता है। (२) रूढ़िगत सहजज्ञानवाद (Dogmatic Intuitionism): यह सामान्यबोधके साधारण नियमोंको स्वतःसिद्ध अथवा प्रामाणिक मान लेता है। (३) दार्शनिक सहजज्ञानवाद (Philosophical Intuitionism): यह प्रचलित (सर्वसम्मत) नियमों और धारणाओं की गूढ़ व्याख्या करनेका प्रयास करता है। चिन्तन, मनन और बौद्धिक विश्लेषण द्वारा उनका व्यवस्थित और उचित ज्ञान प्राप्त करता है। रूढ़िगत और प्रत्यक्ष सहजज्ञानवादको दार्शनिक आधार देकर उन परम सत्योंको समझना चाहता है, जो अकाट्य हैं; जिनपर सन्देह करना असम्भव है। दार्शनिक सहजज्ञानवाद सामान्यबोधकी नैतिकताका समुचित ज्ञान देता है। वह व्यावहारिक दृष्टिसे उपयोगी है और बौद्धिक जिज्ञासाका पूर्ण समाधान करता है। यह उन प्रश्नोंको उठाता है जिन्हें अन्य सहजज्ञानवादके सिद्धान्त अछूता छोड़ देते हैं और बिना उनके मूलरूपको समझे स्वीकार कर लेते हैं।

सुख ही परम-शुभ है

दार्शनिक सहजज्ञानवादी उपयोगितावादके आधारपर सिजविक यह मानता है कि वांछनीय चेतना (Desirable consciousness) ही परम शुभ है। वांछनीय चेतनाके द्वारा वह सामान्य शुभ या सामान्य सुखको महत्व देता है। विकासवादियोंके विरुद्ध वह कहता है कि शुभ 'सामाजिक स्वास्थ्य' नहीं है और बुद्धिपरतावादियोंसे कहता है कि शुभ 'सद्गुण' नहीं है। अपने उस कथनकी पुष्टिमें वह कहता है कि यदि शान्तिपूर्वक विचार करें तो मालूम होगा कि उन आदर्शोंका मूल्य जिन्हें अधिकांश व्यक्ति महत्व देते हैं, सापेक्ष है। उन्हें महत्व इसलिए नहीं दिया जाता कि वे अपने-आपमें शुभ हैं वरन् इसलिए कि वे भावजीवी प्राणी (Sentient being) के सुखका किसी-न-किसी रूपमें उत्पादन करते हैं। अधिकतर यह समझा जाता है कि चेतनाकी कुछ स्थितियाँ—सत्यका बोध, सौन्दर्यकी भावना,

स्वतन्त्रता या सद्गुणकी प्राप्तिका संकल्प—अपने आपमें वांछनीय है किन्तु वास्तविकता यह है कि ज्ञान, सौन्दर्य, सद्गुण, सत्य, स्वतन्त्रता आदि सुखकी प्राप्तिके लिए साधनमात्र है। वह अपने-आपमें वांछनीय नहीं है। यदि कोई व्यक्ति सद्गुण और सौन्दर्यकी भ्रान्तिपूर्ण धारणाके लिए सुखका त्याग करता है तो वह अविवेकी है। सद्गुण, सौन्दर्य, ज्ञान आदिको सामान्यबोधका भी अनुमोदन प्राप्त है, किन्तु वह उसी मात्रामें है जिस मात्रामें वे सुखका उत्पादन करते हैं। सिजविकके अनुसार सरसरी दृष्टिसे यह लगता है कि सामान्यबोध सुखके प्रति विरक्ति अथवा बिलगावके भावका संवरण करता है। किन्तु गम्भीर अध्ययन उस तथ्यको भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध करता है। उस बिलगावके भावका कारण यह है कि प्रचलित अर्थमें सुखका प्रयोग स्थूल और सस्ती भावनाओंके लिए होता है। सुखवादमें आन्तरिक विरोध भी है। संस्कृत, उच्च सुखकी प्राप्ति तभी होती है जब कि सुखको भूले रहते हैं। यदि कोई चित्रकार चित्र बनाते समय कलापर ध्यान केंद्रित न करके सुखप्रद ध्येयकी प्राप्तिके लिए पूर्णरूपसे सचेत हो जाय तो उसे सुख नहीं मिल सकता। अधिकांशके मानसमें यह धारणा अज्ञात रूपसे कार्य करती है कि निःस्वार्थ परोपकारिता और बौद्धिक आत्म-प्रेममें पूर्ण सामञ्जस्य नहीं है। सिजविक यह कहते हैं कि उनमें सामञ्जस्य तो है ही, साथ ही वह विवेकसम्मत भी है। बुद्धि अन्य व्यक्तियोंके सुखको भी व्यक्तिगत सुखके समान ही वांछनीय कहती है, किन्तु जनसामान्य सुखका यह अर्थ नहीं लेते। उन्होंने यह धारणा बना ली है कि सुखका ध्येय माननेवाला व्यक्ति आवश्यकता पड़नेपर दूसरोंके सुखकी उपेक्षा करता है, उनके सुखका विनाश करके अपना सुख खोजता है। सुखकी ऐसी स्थूल धारणा जनसाधारणके बौद्धिक और सहानुभूतिमूलक स्वभावको ठेस पहुँचाती है। सुखको सामान्य वैयक्तिक सुखसे संयुक्त कर वे उसके नामसे घृणा करते हैं। सिजविकका यह विश्वास है कि यह घृणा मूल रूपमें सुखकी भावनाके प्रति नहीं है। वास्तवमें, सामान्यबोधका विरोध स्वार्थसुखसे है, न कि सार्वभौमिक सुखसे।

निःसंदेह वैयक्तिक सुख अपने आपमें निकृष्ट, अरक्षित और क्षणिक है। किन्तु सार्वभौमिक सुखके लिए यही बात नहीं कही जा सकती। सार्वभौम सुख, अनन्त भावजीवी प्राणियोंकी वांछनीय चेतना या भावनाको अपनी व्यापकता, महत्ता और स्थिरताके कारण अनायास ही आकृष्ट करता है। अपनी विशालताके कारण वह कल्पनाको पूर्ण तृप्त करता है। उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सार्वभौम सुख वैयक्तिक सुखका निराकरण करता है। बुद्धि बताती है कि व्यक्ति—जो विश्वका एक अंग होते हुए भी अपना निजत्व रखता है—का अपना सुख उसका चरम ध्येय है। साथ ही वह अनन्त भावजीवियोंके सुखका निराकरण नहीं कर सकता है क्योंकि विश्वमें वही एकमात्र भावजीवी नहीं है। अतः उसके लिए वास्तविक रूपसे विवेकसम्मत यह है कि वह अपने सुखका दूसरोंके अधिकतम सुखके लिए त्याग करे। जीवनका ध्येय एक ही है और वह सुख है। किन्तु बुद्धि बतलाती है कि उस सुखको वैयक्तिक दृष्टिकोण और समष्टिके दृष्टिकोणसे समझना चाहिये। उन दोनोंमें भेद नहीं है। दोनों ही समान रूपसे विवेकसम्मत हैं। सिरेनैक्स, ऍपिक्यूरियन्स, मिल, बटलर आदिने बौद्धिक समानताके आधारको न समझ सकनेके कारण भेद देखा। यह उनकी भूल है। बुद्धि बताती है कि शुभ सुख है। सब प्राणियोंका सुख गुणात्मक रूपसे समान और विवेकसम्मत है। जहाँतक उस सुखकी प्राप्तिका प्रश्न है, यह सच है कि सुख भलीभाँति तभी प्राप्त हो सकता है जब कि उसकी अथवा ध्येयकी प्राप्तिके लिए चेतन प्रयास नहीं किया जाय। सुखको खोजना उसे खोना है। व्यक्तिको चाहिये कि वह अन्य विषयोंमें रुचि ले। सद्‌गुण, सौन्दर्य, स्वतन्त्रता आदि आदर्श विषयोंको उन्हींके लिए खोजना विवेकसम्मत है। सुखवादका आन्तरिक विरोध बतलाता है कि सद्‌गुण आदिकी निःस्वार्थ खोज सुखप्राप्तिमें सहायक है। किन्तु फिर भी यदि हम मनुष्यकी उत्साहपूर्ण खोजोंके विभिन्न विषयोंके तुलनात्मक मूल्यके मापदण्डका पता लगायें, अथवा उन विषयोंका जो अपनी सीमाओंके अन्दर उसे आकर्षित करते हैं तो मालूम होगा कि उनका मूल्य उनके सुखके उत्पादनकी

शक्ति (कम या अधिक मात्रा) पर निर्भर है। अन्तमें सिजविक कहते हैं कि भावजीवियोंके परम शुभकी व्यवस्थित संगतिपूर्ण व्याख्या यही कह कर दी जा सकती है कि सार्वभौम सुख ही सामान्य ध्येय है। सामान्यबोधको यदि दार्शनिक सहजज्ञानवादकी कसौटीपर कसा जाय तो सुख ही सर्व-स्वीकृत ध्येय ठहरता है। अथवा सहजज्ञानवादकी प्रणालीके सुदृढ़ प्रयोग-का परम परिणाम सार्वभौम सुखवाद या उपयोगितावाद है।

सुखवितरणकी समस्या : न्याय, आत्मप्रेम, परोपकारिता

जीवनका ध्येय भावनात्मक ध्येय एवं सुख है। सुख शुभ है। व्यक्ति-योंके शुभका ज्ञान बतलाता है कि वह समष्टिका सार्वभौम शुभ (Total or Universal Good) है। व्यक्ति और उसके अनुभव उस शुभके निर्माणात्मक अंग हैं। मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह शुभकी परम संख्यातक वृद्धि करे। उसके लिए उन नियमोंके पालन करनेकी आवश्यकता है जो अधिकतम परिमाणमें सार्वभौम शुभके उत्पादनमें सहायक हों। सिजविक यहाँपर उन नियमोंकी ओरसे सावधान करते हैं जो कि सर्वसामान्यके बोधका समर्थन पानेके कारण प्रायः नैतिक लगते हैं। स्वतःसिद्ध नैतिक नियमोंके विधानको समझनेके लिए दार्शनिक सहजज्ञान आवश्यक है। सामान्यबोधसुलभ नैतिकताने और अधिकतर विचारकोंने उन नीतिवाक्योंको स्वीकार कर लिया है जिनकी प्रामाणिकता छलनामात्र है। ये नीतिवाक्य तथ्यको समझानेके बदले उसे दूसरे शब्दोंमें कह देते हैं। स्टोइक्सका यह कहना कि 'बुद्धि प्रकृतिके अनुरूप कर्म करने-को कहती है' और यह कि 'सद्गुणके अनुरूप कर्म करना है', व्यावहारिक यथार्थ ज्ञान नहीं देते। दार्शनिक सहजज्ञानवाद ऐसी भ्रमपूर्ण पुनरुक्तियोंसे ऊपर है। वह उन परम व्यावहारिक नियमोंको देता है जिनकी सत्यता उनकी स्पष्ट व्याख्या व्यक्त कर देती है। यह तत्काल नहीं बताया जा सकता कि विशिष्ट कर्मोंके औचित्यको कैसे निर्धारित किया जाय क्योंकि उनका स्वरूप गूढ़ और क्षेत्र सार्वभौमिक है। चिन्तन, मनन, आलोचनात्मक परीक्षण द्वारा ही विशिष्ट कर्त्तव्योंको समझा जा सकता है। स्वार्थ और

परमार्थके प्रश्नको 'दैवी आदेश' (ईश्वरज्ञान), 'सहानुभूति', 'सामाजिक स्वास्थ्य' आदिकी धारणाएँ हल नहीं कर सकतीं। नैतिक सहजज्ञान अत्यन्त स्पष्ट रूपसे उस कठिनाईको सुलझा देता है। सिजविकके अनुसार सामान्यबोधके परीक्षण और सहजज्ञान द्वारा स्वतःसिद्ध और अकाट्य नैतिक नियमोंको प्राप्त कर सकते हैं। भावना द्वारा दिये हुए ध्येयके लिए बुद्धि नियम देती है। यह जीवनमें व्यवस्था स्थापित करती है। सिजविक यह कहते हैं कि जब अत्यन्त स्पष्ट और निश्चित सहजलब्ध नैतिक नियमोंपर चिन्तन करता हूँ तब मुझे जितने स्पष्ट और निश्चित रेखा गणित या गणितके स्वतःसिद्ध वाक्य लगते हैं उतने ही स्पष्ट और निश्चित, निःस्संदेह, यह भी लगता है कि मेरे लिए यह उचित और बौद्धिक है कि मैं दूसरोंके प्रति वैसा ही व्यवहार करूँ जैसा कि मैं समान परिस्थितिमें सोचता हूँ कि मेरे प्रति होना चाहिये, और मुझे वही करना चाहिये जो सार्वभौम शुभ या सुखका उत्पादन करे। यह सिजविकको न्याय या समानताका स्वतःसिद्ध सिद्धान्त (The axiom of Justice or Equality) देता है। न्यायका अर्थ केवल नियमके अनुसार कर्म करना नहीं है। वह उससे भी व्यापक तथा समानताका पोषक है। न्याय अन्ध-समानतामें विश्वास नहीं करता। उसकी समानता निष्पक्षताकी सूचक है। मनुष्यमें उचित कर्म करनेकी इच्छा है। जब वह किसी कर्मको अपने लिए उचित निर्धारित करता है तब वह अप्रत्यक्ष रूपसे उस कर्मको वैसी ही परिस्थितिमें अपने समान सभी व्यक्तियोंके लिए उचित निर्धारित करता है। न्यायका सिद्धान्त उसे बताता है कि सामान्य नियमोंके आरोपणके लिए निष्पक्षता अनिवार्य है। वह बताता है कि व्यक्ति समान हैं और एक ही वर्गकी समग्रताके अंग हैं। व्यक्तिका सम्पूर्ण शुभ उस वर्गकी समग्रताके शुभको प्रस्तुत करता है। न्याय बताता है कि व्यक्ति अथवा जातिके सम्पूर्ण सुख अथवा अधिकतम सुखको अपना लक्ष्य बनाना चाहिये तथा जीवनके सब क्षणोंको समान महत्व देना चाहिये। व्यक्तियोंको उनकी अधिक या कम सुख भोगनेकी योग्यताके अनुरूप सुख भोगनेका अवसर मिलना

चाहिये। सिजविकमें दूसरा नीतिवाक्य बौद्धिक आत्मप्रेम या व्यावहारिक विवेक (Rational Self-love or Prudence) का मिलता है। इसके अनुसार व्यक्तिको अपने शुभको ध्येय बनाना चाहिये। व्यक्तिको अपने चेतन जीवनके सब अंगोंको निष्पक्ष रूपसे समान महत्व देना चाहिये। आगामी प्रत्येक क्षणको उतना ही महत्व देना चाहिये जितना कि वह वर्तमानको देता है। क्षुद्र वर्तमान सुखको भविष्यके अधिक सुखके बदले नहीं चुनना चाहिये और न निश्चित वर्तमान सुखको अनिश्चित भविष्यके सुखके लिए ही छोड़ना चाहिये। सुखको चुनते समय भलीभाँति हित-अहितको समझ लेना चाहिये। अपने जीवनके कार्य-कलापोंको निष्पक्ष रूपसे समझना, अपना सुख चुनते समय वर्तमान और भविष्यके सुखोंको बराबर मूल्यवान् मानना, यह बौद्धिक आत्म-प्रेमका सन्देश है। यदि सिरेनैक्सके सिद्धान्तको स्वीकार करें तो भावना वर्तमान जीवनको ही सब-कुछ मानती है किन्तु सिजविकके अनुसार जीवनमें बुद्धिके स्थानको नहीं भूलना चाहिये। बुद्धि ही जीवनमें सुखका उचित वितरण करती है। व्यक्तिको समस्त जीवनके सुख अथवा पूर्ण शुभकी खोज करनी चाहिये। जब हम व्यक्तिके पूर्ण शुभके बारेमें सोचते हैं तो हमें तीसरा नीतिवाक्य मिलता है। यह बौद्धिक परोपकारिताका स्वतःसिद्ध कथन (The axiom of Rational Benevolence) है। व्यक्तियोंके शुभकी तुलना और उनका जोड़ 'सार्वभौम शुभ' की धारणाको देता है। समग्रता और उसके अंशोंका सम्बन्ध यह बतलाता है कि विश्वके दृष्टिकोणसे किसी एक व्यक्तिका सुख वैसा ही है जैसा कि किसी अन्य व्यक्तिका। अन्य व्यक्तियोंकी तुलनामें किसी व्यक्तिके सुखको तभी महत्व दे सकते हैं जब कि उससे अधिक सुख प्राप्त होनेके असाधारण कारण हों। बुद्धि बतलाती है कि व्यक्तिके जीवनका ध्येय उसका अपना ही सुख नहीं है वरन् सामान्य सुख है। बुद्धि स्वार्थ और परमार्थको युक्त करती है। सिजविक मिलकी भाँति उपयोगितावादका मनोवैज्ञानिक प्रमाण नहीं देते, तार्किक प्रमाण देते हैं। बुद्धिके लिए प्रत्येक व्यक्ति भावजीवी है। प्रत्येकको सुख भोगनेका अधि-

कार है। बुद्धिके सम्मुख 'मेरा-तेरा'का भेद नहीं है। प्रत्येक सार्वभौम शुभका अंग है। उसके सुखका उतना ही महत्व है जितना कि किसी दूसरे अंगका। वैयक्तिक और सामाजिक सुख दोनोंकी समान रूपसे वृद्धिकी आवश्यकता है। बुद्धि बतलाती है कि व्यक्तिका सुख उसके लिए प्रमुख रूपसे शुभ है। इससे यह उपलक्षित होता है कि दूसरोंका शुभ भी समान महत्वका है।

व्यावहारिक बुद्धि

सिजविक यह सोचते हैं कि न्याय, आत्म-प्रेम और परोपकारिता स्वतः-सिद्ध हैं। बुद्धि उनका अनुमोदन करती है। ये सिद्धान्त समग्रता और अंशोंके सम्बन्धको अथवा अंशोंके पारस्परिक सम्बन्धको व्यक्त करते हैं और उन्हींपर आधारित हैं। ये बतलाते हैं कि बौद्धिक प्राणीके लिए समस्त जीवनके सुखके सम्मुख क्षणिक सुख तुच्छ है; विश्वकी दृष्टिसे व्यक्तिविशेषका सुख जन-सामान्यके सुखसे तुच्छ है। सिजविक बुद्धिकी सहायतासे मानव-जीवनको संगतिपूर्ण इकाईके रूपमें देखना चाहते हैं एवं स्वार्थ और परमार्थमें ऐक्य स्थापित करना चाहते हैं। वह कहते हैं कि नीतिशास्त्रकी सबसे गूढ़ समस्या स्वार्थ और परमार्थकी है। आत्म-सुख और पर-सुखके द्वैतको वे बुद्धिके सेतुसे मिलाते हैं। उनके अनुसार दोनों प्रेरणाओंमें संगति स्थापित करना तर्ककी आवश्यक मान्यता है और इस संगतिको समझानेके लिए वे कहते हैं—"मैं स्पष्ट और निश्चित रूपसे देखता हूँ कि मुझे दूसरोंके प्रति वही व्यवहार करना चाहिये जो मैं अपने लिए चाहता हूँ।" बुद्धि बताती है कि व्यक्तिका सुख उसके लिए प्रमुख शुभ है। बुद्धि यह भी बताती है कि सामान्य सुखकी वृद्धि करनी चाहिये। यह दूसरा सत्य प्रथम सत्यका खण्डन नहीं करता। व्यक्तिके लिए उसका सुख ही शुभ है। बुद्धिके इन दो आदेशोंको वे 'व्यावहारिक बुद्धिका द्वैत' (Dualism of Practical Reason) के नामसे समझाते हैं। व्यावहारिक बुद्धिका यह द्वैत स्वार्थ और सद्गुणमें सामञ्जस्य स्थापित करता है। बौद्धिक आत्म-प्रेम और बौद्धिक परोपकारिता, दोनोंको वे समान रूपसे वांछनीय तथा विवेक-

सम्मत कहते हैं। उन दोनोंको बौद्धिक संबल देकर वे यह समझाते हैं कि दैवी आदेश, सहानुभूति, विचार-साहचर्य आदि द्वारा व्यक्ति और समाजके शुभमें सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया जा सकता। वह यह मानते हैं कि समाजके लिए व्यक्तिको कल्याणप्रद उच्च भावनाओं तथा सहानुभूतिके द्वारा ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि उसकी उन इच्छाओंको प्रोत्साहन मिले जो सामान्य सुखके उत्पादनमें सहायक नियमोंका पालन करनेके लिए उसे प्रेरित करें। वैसे, व्यक्तिका व्यावहारिक विवेक उसे उन कर्त्तव्योंका पालन करनेके लिए निश्चित रूपसे प्रेरित करता है जिनका कि आत्म-स्वार्थसे विरोध नहीं है। ऐसी स्थितियाँ बहुत कम होती हैं जहाँ स्वार्थ और कर्त्तव्यमें भेद दीखता है और जहाँ स्पष्ट विरोध आ जाता है वहाँ व्यावहारिक विवेक निष्क्रिय पड़ जाता है। वह विशिष्ट मार्गको अपनानेके लिए प्रेरित नहीं कर सकता। वह अपने बनाये हुए दो मार्गोंमें बँट जाता है। ऐसी स्थितिमें स्वार्थ और कर्त्तव्यके विरोधको, तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन कर, दूर करना पड़ेगा। तुलनात्मक दृष्टिसे जो अधिक प्रभावशाली हो उसे स्वीकार करना होगा।

सहजज्ञानवादी उपयोगितावादके साथ सुखवादकी आलोचना

सिजविकके सिद्धान्तमें नैतिक निष्ठा मिलती है। वे मुक्त हृदयसे सच्चे नैतिक नियमोंको समझानेके लिए उद्यत हैं, जिनके लिए उन्होंने गम्भीर आलोचनात्मक पद्धतिको अपनाया है। उत्तर-प्रत्युत्तर द्वारा नैतिक प्रश्नोंकी गहराई और व्यापकता दोनोंको ही समझना चाहा है। विभिन्न सिद्धान्तोंका परीक्षण करके उन्होंने नैतिक सत्यको समझनेकी चेष्टा की है। अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करते समय एक ओर तो वे कांटके निष्पक्षता (समानता) के सिद्धान्तसे प्रभावित हुए हैं, दूसरी ओर बटलरके आत्मप्रेम और तीसरी ओर उपयोगितावादसे। इन तत्वोंको एकताके साँचेमें ढालनेके लिए

सिजविकके सिद्धान्तका मूल्य

उन्होंने सामान्यबोधको सहजज्ञानवादकी कसौटीपर कसा। महद् दार्शनिक चिन्तनकी तूलिकाको इस मिश्रित रंगमें डुबोकर उन्होंने जिस नैतिक सत्यका चित्र बनाया है वह अपनी सर्वग्राही प्रवृत्तिके कारण अपना सन्तुलन खो बैठा है। इसमें संदेह नहीं कि सिजविकका सिद्धान्त पूर्ववर्ती नैतिक सिद्धान्तोंसे अधिक व्यवस्थित, व्यापक तथा गूढ़ है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि जिस गम्भीर सतर्कताके साथ तथा नैतिक पूर्वग्रहोंसे मुक्त होकर, वे अपने दर्शनका प्रारम्भ करते हैं और उसके विभिन्न विषयों और सूक्ष्मतम पहलुओंको उठाते हैं, अन्तमें वे अपने विचारोंके पारस्परिक विरोधोंके कारण पाठकोंको उतना ही निराश भी कर देते हैं।

दार्शनिक सहजज्ञानवादको माननेके कारण वे यह स्वीकार करते हैं कि नैतिकताका आधार बौद्धिक या अनुभवनिरपेक्ष निर्णय है। जहाँतक

स्वार्थ-परमार्थका अनमेल मिलाप

व्यक्तिके नैतिक कर्मकी प्रेरणाका सम्बन्ध है, सिजविक 'सहजज्ञानवादी' या 'बुद्धिवादी' हैं। वे सुखवादी वहींतक हैं जहाँतक कि उनकी परम या सार्वभौम शुभके स्वरूपकी धारणाका प्रश्न है और तदनुसार ही उनके नैतिक मापदण्डका दृष्टिकोण है।[1] वास्तवमें उनका सिद्धान्त बुद्धिवाद और सुखवाद अथवा सहजज्ञानवाद और उपयोगितावादका असंगतिपूर्ण मेल है। वह इन दोनोंके विरोधको दूर नहीं कर पाया। सुखवाद और बुद्धिवादकी तार्किक अनुरूपताको सिद्ध करनेके प्रयासमें सिजविक असफल रहे। उनके सिद्धान्तकी मूल कठिनाईका तब पता चलता है जब कर्त्तव्यकी बौद्धिक धारणा (परमार्थ) और मनुष्यके वास्तविक शुभ (स्वार्थ) के सामञ्जस्यकी व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न होती है। 'व्यावहारिक विवेकका द्वैत' स्वार्थ और परमार्थके वृत्तमें घूमता है। सुखवादको माननेपर परोपकारिताके उच्च आदर्शको प्राप्त करना समतल भूमिमें चक्कर लगाकर पर्वतशिखरपर आरूढ़ होनेके समान असम्भव है।

1. Rashdall—The Theory of Good & Evil, Vol I P-53.

सिजविकने वांछनीय चेतनाकी स्थितिको परम स्थिति माना है। वांछनीय चेतनासे उनका अभिप्राय सुखकी चेतनासे है। वह जीवनके ध्येयको भावात्मक मानते हैं और उस मानसिक सत्यको भूल जाते हैं कि मनुष्यकी आत्मा त्रिगुणात्मिका है। मानव चेतनाके तीन अंग हैं—विचार, भावना और संकल्प। ये अंग अपनी विशिष्टता रखते हुए मनुष्यकी चेतनामें घुले-मिले हुए हैं। इनको समझना, एक ही सत्य—चेतना—को भिन्न दृष्टिकोणोंसे समझना है। चेतनाकी एक ही स्थितिको भावना, संकल्प और विचारकी दृष्टिसे देखा जा सकता है। किसी इच्छाके प्रादुर्भाव होनेपर जब हम उसे विषयीके अनुभवकी विशिष्ट स्थितिके दृष्टिकोणसे देखते हैं, तो वह भावना है; जब इच्छाके विशिष्ट ध्येयके दृष्टिकोणसे देखते हैं, तब वह विचार है; और ध्येयकी प्राप्तिके रूपमें या इच्छाके क्रियात्मक रूपमें, वही संकल्प है। चेतनाकी स्थिति बिना इन तीनोंके सम्मिश्रणके सम्भव नहीं। यह अवश्य है कि किसी विशिष्ट क्षणमें किसी एक अंगको अधिक महत्व दे दें, पर वह अंग अपने अन्दर अन्य दो अंगोंका समावेश किये रहता है। उन अंगोंका पूर्ण विभाजन असम्भव है। किसी एक अंगको यदि अन्य अंगोंसे असम्बद्ध करके समझना चाहें तो ऐसा प्रयास उस अंगको निरर्थक बना देगा। ये एक दूसरेसे सम्बद्ध होकर ही बोधगम्य होते हैं। सिजविकने सुखवादी भ्रान्त धारणाको अंगीकार करके भावनाका स्वतन्त्र अस्तित्व मान लिया। उन्होंने यह स्वीकार कर लिया कि वांछनीय चेतना या अनुभवका अनिवार्य निर्माणात्मक अंग सुख है और इसलिए सुख ही अनुभवकी वांछनीयताके मूलमें है। इस भाँति वह त्रिरूपात्मिका चेतनाके केवल एक अंग—भावना—को महत्व देते हैं। चेतनाको उसके अन्य दो निर्माणात्मक अंगोंसे अलग करना वैसा ही है जैसा कि रस्सीकी तीन डोरियोंसे उसकी दो डोरियोंको अलग करना। ये अंग आपसमें अपृथक् हैं। आपसमें मिलकर ही ये चेतनाकी स्थितिको उत्पन्न करते हैं। कोई एक अंग बिना अन्य दो की सहायताके निरर्थक है। चेतनाकी शुभ अथवा अशुभ स्थिति उन

चेतनाका स्वरूप

तीनोंकी सूचक है। सुख अपने आपमें न शुभ है और न अशुभ है। वह अर्थहीन और मूल्यरहित है। सुखवादी सुखको अन्य अंगोंसे पृथक् करके उसे शुभ कहते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि सुखका सदैव एक विशिष्ट अर्थ या भाव है। यह भाव, विचार और संकल्पसे युक्त होकर ही सार्थक अथवा अर्थगर्भित होता है। कमसे-कम बौद्धिक प्राणियोंमें उस अर्थ अथवा भावके कारण ही चेतना सुखप्रद या दुःखप्रद प्रतीत होती है। नीतिशास्त्र उस चेतनाका मूल्यांकन करता है जो बुद्धि, भावना, संकल्पका योग है; जो अर्थगर्भित है, अर्थहीन नहीं। मनुष्यकी आत्म-सन्तोषकी स्थिति उसकी पूर्ण चेतनाकी स्थिति है। चेतना त्रिरूपात्मिका है; मनुष्यके लिए आदर्श स्थिति वह है जहाँ उसके स्वभावके तीनों तत्वोंका आदर्श रूपसे समीकरण हो। आत्म-सन्तोष उस आत्माका सन्तोष है जो तीन तत्वोंका योग है। ऐसी आत्माका ध्येय सुख नहीं है, किन्तु पूर्णता है। चेतनाकी उच्च एवं पूर्ण स्थिति उसे सुख देती है। सुख मान्यताका भाव है, न कि स्वयं मान्यता है।

सिजविक इस विरोधपूर्ण उक्तिको मानते हैं कि बुद्धि उस शुभका अनुमोदन करती है जो अबौद्धिक है। वे यह भूल जाते हैं कि वह अबौद्धिक ध्येय उस आत्माको तृप्त नहीं कर सकता जो बौद्धिक और अबौद्धिक दोनों है। यह पूर्ण आत्म-सन्तोष नहीं दे सकता। सुखवादका इतिहास इस तथ्यका स्वयं प्रमाण है कि शुद्ध इन्द्रियपरक नीतिशास्त्र नहीं ठहर सकता है। ऍपिक्यूरसने बुद्धिकी आवश्यकताको माना था और सिजविक तो यह कहता ही है कि बिना बौद्धिक आधारके उपयोगितावाद नहीं ठहर सकता। यह सत्य है कि अपने-आपमें भावना अन्धी है। वह मानव जीवनको सुनिर्देशित नहीं कर सकती। न तो वह व्यक्तिके जीवनमें संतुलन स्थापित कर सकती है और न उसके और समाजके बीच। बिना बौद्धिक संघटनकी शक्ति रूपी सेतुके भावनामय जीवन नदीके टूटते हुए कगारोंकी भाँति मूल्यरहित है। सिजविक बुद्धिको नियामक तत्वके रूपमें मानता है किन्तु ध्येयको

ध्येय बौद्धिक है, न कि भावनात्मक

भावनात्मक कहकर अपने पूर्वकथनका खण्डन भी कर देता है। यह अवश्य है कि इन्द्रियाँ ही नैतिकताका आधारतत्व हैं पर नैतिकता इस सत्यपर निर्भर है कि भावनाओंका संघटन और उन्नयन सम्भव है। नैतिक जीवन बुद्धि द्वारा सुनिर्देशित जीवन है। नैतिक दृष्टिसे मनुष्यका बौद्धिक शुभ वही है जो उसकी सम्पूर्ण आत्मा—बुद्धि और भावना—को सन्तुष्ट करता है। शुभ जीवन विरोधी तत्वोंके सामञ्जस्यका जीवन है। सामञ्जस्यकी कुंजी बुद्धिके पास है, न कि भावनाके पास। भावनाओंके अपरिपक्व उपादान एवं अव्यवस्थित रूपको व्यवस्थित तथा संघटित करनेकी शक्ति बुद्धिके पास है। वही उनका संघटन तथा एकीकरण करती है। इन्द्रियाँ नैतिक जीवन और जीवन दोनोंका ही अनिवार्य अंग हैं। बिना इन्द्रियोंके जीवन आकर्षणरहित तथा यंत्रवत् है। वह रहने योग्य नहीं है। किन्तु इन्द्रियोंको जीवनका मूल्य बुद्धिके ही सहयोगसे प्राप्त होता है। अथवा बुद्धि और भावना एक दूसरेकी पूरक हैं। सुखवादी इस सत्यको समझानेके बदले एकांगी हो गये हैं और सिजविक भी इस दोषसे मुक्त नहीं है।

शुभके वस्तुगत और गुणात्मक भेदको नहीं समझा पाये

भावनाओंको परम महत्व दे देनेके कारण एवं परम ध्येय (शुभ) को भावनात्मक मान लेनेके कारण सिजविक प्रयास करने पर भी स्वार्थ-परमार्थके प्रश्नको हल नहीं कर पाया। कमसे-कम, यदि भावजीवीको नहीं तो बुद्धिजीवीको यह समझा सकते हैं कि परम और वस्तुगत रूपसे उसका व्यक्तिगत सुख समष्टिके सुखसे अधिक महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि उसका सुख भी सामाजिक संघटनपर ही निर्भर है। भावनात्मक ध्येयको माननेके कारण उसके 'व्यावहारिक बुद्धिका द्वैत' उसे दो दृष्टिकोण देता है,—एक, व्यक्तिका दृष्टिकोण या आत्म-प्रेमका दृष्टिकोण और दूसरा, विश्वका या परार्थका दृष्टिकोण। वस्तुगत सार्वभौम शुभकी स्थापना बुद्धि ही कर सकती है। उसीसे यह ज्ञात होता है कि व्यक्तिका वास्तविक शुभ परार्थ-शुभका अंग है, उसका विरोधी नहीं। व्यक्ति और समाज, दोनोंका शुभ अनन्य रूपसे परमशुभमें निहित है।

जीवनके ध्येयको भावनात्मक कहकर, सिजविकने नैतिकताको सुखप्राप्तिका आधार मान लिया है। नैतिकता केवल सुखोंकी प्राप्ति नहीं है। वह यह जानना चाहती है कि उचित रूपसे सुखी होना क्या है और किस समय, किस विषयसे, किस सीमातक सुखी होना उचित है। नैतिकता वस्तुपरक और सार्वभौम है। वह व्यक्तिकी आत्मगत भावनाओंतक सीमित नहीं है। नैतिकता परम शुभके उस मापदण्डको खोजती है जो रुचिके परम योग्य है, न कि वह जो मनुष्यको रुचिकर है। वह बतलाती है कि विषयीका विषयके प्रति, आत्माका अनात्माके प्रति, व्यक्तिका विश्वके प्रति क्या भाव होना चाहिये। यह मानव-चेतनाके आत्मगत और वस्तुगत दोनों पक्षोंको समझना है। किन्तु वस्तुगतको बुद्धि ही समझा सकती है। सिजविक उस वस्तुगत पक्षको समझनेपर भी बुद्धिको ह्यूमकी भाँति 'वासनाकी दासी' ही मानता है। ध्येयका विषय बुद्धिकी अभिव्यक्ति है। बुद्धि द्वारा अनुमोदित ध्येय ही शुभके वस्तुगत स्वरूपको समझा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि सुख शुभका अंग तथा उसका आत्मगत रूप है। जब व्यक्ति शुभको चुनता है तब वह उसे अवश्य सुख देता है। सुखवादी सिद्धान्त शुभके आत्मगत रूपतक ही सीमित है। उसके वस्तुगत रूप (शुभका क्या विषय है) को न तो सुखवादी स्वयं समझे और न समझा ही सके। इसका कारण यह है कि उन्होंने नैतिक विश्वका आधिपत्य भावनाको दे दिया। सुखवादके अनुसार उसीके लिए सब कुछ किया जाता है। वही ध्येयको निर्धारित करती है और उसीको सम्राट्का गौरव प्राप्त है। वास्तवमें यह प्रभुता बुद्धिकी है। वही चयनके वास्तविक विषयके स्वरूपको निर्धारित करती है कि किसे चुनना चाहिये एवं किस ध्येयको प्राप्त करना उचित है। वह नैतिक मान्यताओंको निर्धारित कर, उनका वर्गीकरण करती है। नैतिक विश्व मान्यताओंकी एक श्रेणी है। मनुष्योंकी रुचियोंको उनके विषयोंके अनुरूप ही उच्च अथवा निम्न माना गया है। नैतिक चिन्तन द्वारा रुचियोंके वस्तुगत केन्द्रको समझनेका प्रयास तथा उनका मूल्यांकन किया जाता है। सुखवादी इस प्रयासमें

भी असफल रहे। सुखवाद अपने बुद्धिवादी रूपमें भी उच्च और निम्न श्रेणीके सुखको नहीं समझा पाता। वह अधिकतम परिणामके सुखको समझाता है। नैतिकता सर्वश्रेष्ठ शुभको समझना चाहती है, वह उस विधानको निर्धारित करती है जिसमें गुणोंके आधारपर विभिन्न शुभोंका वर्गीकरण किया जाता है। उसका सम्बन्ध गुणसे है, न कि मात्रासे। सुखवाद श्रेष्ठताके बदले परिमाणको महत्व देता है। सिजविकके आत्म-प्रेम, परोपकारिता और न्यायके नियम परिमाणको महत्व देनेवाले नियम हैं।

चरित्रकी अपूर्ण व्याख्या

सिजविकने अन्य सुखवादियोंकी भाँति चरित्रकी अपूर्ण व्याख्या की है। चरित्र और आचरणको भिन्न मानकर उसने चरित्रको अप्रमुख तथा आचरणको प्रमुख माना है और उसीको नैतिक निर्णयका विषय चुना है। उसके अनुसार वही आचरण और कर्म उचित है जिसका परिणाम सुखप्रद है; जो परिस्थिति-विशेषमें अपने या दूसरोंके लिए अधिकतम सुख प्राप्त करता है। कर्मका बाह्यरूप (परिणाम) महत्वपूर्ण है। प्रेरणा, उद्देश्य, चरित्र आदिका नैतिकता-से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। वे परिणामसे संयुक्त होकर ही नैतिक मूल्य रखते हैं। ज्ञान, सद्गुण, शुभसंकल्पशक्ति आदि सब ध्येय(सुख)की प्राप्तिके लिए साधनमात्र हैं। सद्गुण अपने-आपमें शुभ नहीं है, वह सुख प्राप्तिका सहायक है। वास्तवमें वह व्यावसायिक बुद्धि है। किन्तु नैतिक चेतना बतलाती है कि सद्गुण अपने-आपमें शुभ है। वही व्यक्ति सद्गुणी है जो बौद्धिक आदर्शके अनुरूप अपनी इच्छाओंको बुद्धि द्वारा नियमित रखता है। सद्गुण चरित्रकी पूर्णता है। वह अपने-आपमें साध्य है, साधन नहीं। विशिष्ट चरित्रकी प्राप्ति ही नैतिक ध्येय है। चरित्र मनुष्यके पूर्ण व्यक्तित्वको अभिव्यक्ति देता है। अतः मनुष्यका परम ध्येय न तो केवल बौद्धिक स्थितिकी प्राप्ति है और न केवल भावनात्मक; वह संकल्पशक्तिकी वह स्थिति है जो अपनेमें उन दोनोंका समावेश करती है। उस रूपमें वह क्रियात्मक है। चरित्र और आचरण एवं कर्म अभिन्न हैं। यह कहना मूर्खता है कि चरित्र आचरणके लिए साधनमात्र है। यह उल्टी व्याख्या

करना है। पहले चरित्र है, फिर वही कर्त्ताके रूपमें अभिव्यक्ति पाता है। सच तो यह है कि कर्म और कर्त्ता, आचरण और चरित्र एक ही हैं। नैतिक दृष्टिसे चरित्र ही सब-कुछ है, उसकी पूर्णता ही परम ध्येय है। आचरणका महत्व गौण है, वह चरित्रको व्यक्त करता है। अथवा वह नैतिक कर्म जो चरित्रसे एकरूप है, अपने आपमें पूर्ण है; किसी ध्येयके लिए साधन नहीं है।

सुख और आनन्द

सुखवादियोंने नैतिक ध्येयको सुख (Pleasure) और आनन्द (Happiness) शब्दोंके द्वारा समझाया है। इन्हें वे पर्यायवाची मानते हैं। अरस्तूने इसपर अच्छी तरह प्रकाश डाला है कि सुख और आनन्द एक नहीं हैं। उसने कहा कि इसमें मतभेद नहीं कि ध्येय आनन्द है; किन्तु आनन्दकी परिभाषामें अवश्य मतभेद है। कुछ लोगोंने आनन्दकी व्याख्या सुखके अर्थमें की है जो अनुचित है। सुख वह भावना है जो विशिष्ट इच्छाओं, सहजप्रवृत्तियों तथा आवेगोंकी सन्तुष्टिके साथ रहता है। "आनन्द वह भावना है जो उस बोधके साथ आता है जो कि क्षणिक इन्द्रिय सुखोंकी पूर्तिके अतिरिक्त उनको सन्तुष्ट न कर सकनेकी असफलता अथवा अस्वीकृतिके दुःखके साथ होते हुए भी साधारणतः आत्माकी समग्रताकी पूर्ति करता है।"[1] सब इच्छाओंकी सामञ्जस्यपूर्ण प्राप्ति ही आनन्द है। वह आत्म-प्राप्ति (Self-realisation) की स्थिति है। इसे ही ग्रीन आत्म-संतोष (Self-satisfaction) की स्थिति कहता है। उसे प्राप्त करनेके लिए व्यक्ति अधिकतम परिमाणके सुखके प्रति उदासीन होकर असह्य कष्ट उठाता है। आनन्द अपने-आपमें कल्याण (Wealfre) का सूचक है। यह कल्याण भावजीवीका कल्याण नहीं, सम्पूर्ण आत्माका कल्याण है। सुखवादियोंके अनुसार सुख भावनाओं और इच्छाओंकी तृप्तिका सूचक है। इस अर्थमें वह क्षणिक और सापेक्ष है। उसका सम्बन्ध विशिष्ट कर्मसे है। आनन्द समग्र सक्रिय आत्मा (Total active self)

१. म्योरहेड, पृ० १०९.

का कल्याण है। वह नित्य और सार्वभौम है। उसका ध्येय केवल भावनात्मक सुख नहीं, किन्तु बौद्धिक सुख भी है। वह सम्पूर्ण आत्मा एवं उस कर्मरत संकल्पशक्तिका कल्याण है जो बुद्धि और भावनाका योग है।

जीवनका ध्येय आत्मसन्तोष या आत्मकल्याण है। वह सुखद अवश्य है, किन्तु सुख नहीं है। सिजविकने अन्य सुखवादियोंकी भाँति सुखद और सुखको एक ही ले लिया। वे मिलकी उस भूलसे अपनेको मुक्त नहीं कर पाये जिसके कारण वह कहता है कि 'शुभ सुखद है इसलिए वह सुख है।' सिजविक अथवा अन्य सुखवादियोंके विरुद्ध प्रश्न यह उठता है कि क्या सुख ही एकमात्र वांछनीय ध्येय है? क्या वस्तुओंका मूल्य इसपर निर्भर है कि वे सुखके उत्पादनमें कितनी सहायक हैं? मनुष्यका वास्तविक स्वरूप क्या है? उसकी श्रेष्ठता और गौरवका आधार क्या है? उसके जीवनमें सुखका क्या स्थान है? उस शुभका क्या स्वरूप है जिसे प्राप्त करना उसके लिए उचित है? प्राचीन सुखवादने जीवनके ध्येयको समझना चाहा किन्तु अर्वाचीन सुखवादने उस ध्येयको स्वीकार करते हुए कर्त्तव्यके प्रश्नको भी उठाया। मूलतः दोनोंका प्रश्न एक ही है। दोनोंने जानना चाहा कि जीवनमें सुखका क्या स्थान है। वास्तवमें चरम ध्येयका प्रश्न आत्माका प्रश्न है। उस आत्माका क्या स्वरूप है जिसकी पूर्णता और कल्याणके लिए प्रयास किया जाता है? मनुष्यकी वास्तविक रुचि क्या है? उसे किन वस्तुओं में सुख लेना चाहिये? शुभका क्या स्वरूप है—बौद्धिक या भावनात्मक? सुखवादियोंने मनुष्यको भावजीवी मानते हुए सुखको शुभ कहा है। उन्होंने विभिन्न नियमोंकी, कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यकी, कर्त्तव्य-अधिकार एवं मानव जीवनके सम्पूर्ण कार्य-कलापोंकी व्याख्या इसी आधारपर की है। वस्तुओंका मूल्य उनकी सुखोत्पादन शक्तिपर निर्भर है। सद्गुण, ज्ञान, शुभ और चरित्र आदि सुखके लिए साधनमात्र हैं और अपने-आपमें मूल्यरहित हैं। इसमें संदेह नहीं कि परम ध्येयकी ऐसी स्पष्ट स्वाभाविक व्याख्या प्रथम दृष्टिमें आकर्षक लगती है। यही कारण है कि कई प्रबुद्ध विचारकों—पैले, बैंथम, मिल, स्पेंसर,

सिजविक आदि—का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ और उन्होंने सुखको पूर्ण आधिपत्य देना चाहा। किन्तु आत्माके भ्रान्तिपूर्ण मनोवैज्ञानिक ज्ञानको अपनानेके कारण एवं उसके गूढ़ दार्शनिक रूपको नहीं समझ सकनेके कारण उनका सिद्धान्त खण्डनीय और असिद्ध हो गया। उसने अपनी दुर्बलताओंको स्वयं व्यक्त कर दिया। मिल और सिजविकके सिद्धान्तकी असंगतियाँ उसका स्पष्ट प्रमाण हैं। सिजविकने उसे बौद्धिक आधार देनेका प्रयास किया किन्तु वह असफल रहे। वह उन भूलोंसे अपनेको मुक्त नहीं कर पाये जो मूलगत सुखवादने की हैं। आत्मा सुखप्रद अनुभवोंका समुदाय नहीं है। वह क्षणिक स्थितियोंका संघटनमात्र नहीं है। उसका स्थायी अस्तित्व है। वह नित्य सत्य है। यही नहीं, स्वार्थ और परमार्थमें व्यापक दृष्टिसे कोई विरोध नहीं है। आत्माका ही पूर्ण रूप विश्वात्मा है। आत्माके सत्यस्वरूपका ज्ञान पूर्णतावादकी स्थापना करता है। वह सुखवादकी संकीर्ण दीवार को तोड़ विश्ववादमें प्रवेश करता है। उसके अनुसार जीवनका ध्येय आत्म-पूर्णता है। आत्म-पूर्णता विश्वात्माकी प्राप्ति है। पूर्णतावादियोंने इस सत्यको माना है। आत्माके स्वरूपका ऐसा ज्ञान व्यावसायिक बुद्धि और सद्गुण, बुद्धि और भावना, स्वार्थ और परमार्थके द्वैत को मिटा देता है। परार्थ सुखवादका प्रश्न आत्म-त्यागका प्रश्न है। जीवात्माको विश्वात्माके लिए त्याग करना चाहिये। यह प्रश्न 'मैं और तेरे' का प्रश्न नहीं है। यह संकीर्ण क्षुद्र आत्मा और पूर्ण आत्माका प्रश्न है। आत्माके सत्यस्वरूपको न समझ सकनेके कारण ही सुखवादी, व्यक्ति और समाजके अभिन्न सम्बन्धको नहीं समझ पाये। उन्होंने स्वतः एक काल्पनिक रोग उत्पन्न किया और फिर उसका उपचार खोजना चाहा। सुखवादके पोषक जितने भी विचारक हैं उन्होंने सबसे भयंकर भूल श्रेय (Good) और प्रेय (Pleasure)के सम्बन्धमें की है। इसमें सन्देह नहीं कि श्रेय प्रेय अवश्य है किन्तु प्रेय श्रेय नहीं है। श्रेय प्रेय होनेपर भी प्रेयसे ऊँचा है। इन्द्रियसुख मात्र प्रेयके अधीन है। श्रेय प्रेयसे अधिक उच्च और व्यापक है। वह परम शुभ है।

सुखवादकी विकासवादी सुखवादमें परिणति

सुखवादने मानव-जीवनकी अनुभववादी (empirical), प्राकृतिक (natural) एवं वैज्ञानिक व्याख्या की। अन्य सिद्धान्तोंकी तुलनामें उसने आदर्शवाद (Idealism), अध्यात्मवाद (Spiritualism), परात्परवाद (Transcendentalism) को नहीं अपनाया बल्कि यथार्थवाद अथवा नैतिक वस्तुवादको अपनाया। वास्तवमें उसे आदर्शवादका विपरीत सिद्धान्त कह सकते हैं। उसने आदर्शको यथार्थका प्रतिबिम्बमात्र माना है। उसने 'क्या करना चाहिये' या 'क्या उचित है' का निगमन 'क्या है' से किया और नीतिशास्त्रको आदर्शका आधार देनेके बदले तथ्योंका आधार दिया। नैतिक नियमोंको प्राकृतिक नियमोंके धरातलपर स्थापित कर आचरणके नियमोंको समझानेके लिए अनुभव, वास्तविकता और विज्ञानको प्रमुखता दी और उन्हींके अनुरूप नैतिक नियमोंका प्रतिपादन किया। अपने उस प्रयासके आवेशमें यथार्थवादी, मनुष्यके स्वतन्त्र बौद्धिक अस्तित्वको भूल गये। उसे उन्होंने प्रकृतिका अंग मान लिया। वे नैतिक और बौद्धिक मनुष्यको भूलकर बढ़ते गये और उसीकी अन्तिम परिणतिके रूपमें विकासवादी सुखवाद (Evolutionary Hedonism) सम्मुख आया। यह सुखवादके प्रकृतिवाद और अनुभववादकी पराकाष्ठा है। उसने नैतिक नियमों और प्राकृतिक नियमोंमें समानता देखी तथा नैतिक मनुष्यको पूर्ण रूपसे प्राकृतिक बना दिया। सिरेनैवससे सिजविकतकके सिद्धान्तोंको यदि उनके मुख्यतः अनुभववादी दृष्टिकोणके कारण अनुभववादी सुखवाद (Empirical Hedonism) कहा जा सकता है तो विकासवादी सिद्धान्तको उसकी विशिष्टता (जैव विकासके आधारपर नैतिक विकासकी स्थापना) के कारण विकासवादी सुखवाद कहा जा सकता है। अनुभववादी सुखवाद और विकासवादी सुखवाद, दोनों ही सुखवादके अन्तर्गत आते हैं और

विकासवादी सुखवाद : प्रकृतिवाद

दोनोंने सुखको ही परम ध्येय माना है। किन्तु उसके आगे दोनोंमें महान अन्तर है ; यहाँतक कि विकासवादी सुखवाद नीतिशास्त्रकी प्रमुखता (आदर्शविधायक विज्ञान) को बिलकुल ही भूलकर प्राकृतिक विज्ञानोंके समीप आ गया। नैतिक दृष्टिसे इसका तिरस्कार करते हुए ग्रीनने इसे 'नैतिकताका प्राकृतिक विज्ञान' (Narural science of morals) कहा है।

अध्याय १३

प्रकृतिवाद

सामान्य परिचय

प्रकृतिवादका अनिश्चित प्रयोग

प्रकृतिवाद (Naturalism) का प्रयोग अनेक अर्थोंमें हुआ है। सामान्य रूपसे यह 'वाद' प्राकृतिक जगतके तथ्योंकी दुहाई देकर अपने सिद्धान्तकी पुष्टि करता है। प्रकृतिवादी विचारकोंने प्रकृतिके अनुरूप रहनेको नैतिक मापदण्ड कहा है। प्रकृतिके नामपर कुछ लोगोंने अधिकतम सुखको महत्व दिया, कुछने शक्तिशालीके शासनको, कुछने बुद्धिके अनुरूप कर्मको, कुछने प्राकृतिक नियमोंको और कुछने प्राचीन बर्बर सभ्यताको उचित कहा है। इसका कारण यह है कि 'प्रकृति' शब्द एकार्थी नहीं है। कुछ विचारकोंने 'समरथको नहिं दोष गुसाँई' अथवा शक्तिकी महत्ताको उचित कहकर विश्वमें सर्वत्र उन कर्मोंका समर्थन किया जो शक्तिशाली व्यक्ति करते हैं। उन्होंने शक्तिशाली द्वारा दुर्बलोंके शोषणको उचित कहा। उनके अनुसार प्रकृतिमें 'योग्यतमकी विजय'का नियम मिलता है जो समर्थ व्यक्तिके व्यवहारके औचित्यका सूचक है। समर्थ व्यक्ति अपने स्वार्थके लिए दूसरोंका गला घोंट सकता है। अर्वाचीन बुद्धिवादियों तथा स्टोइक्सने प्रकृतिके अनुरूप कर्म करनेको उचित कहा है। किन्तु उनके अनुसार प्रकृति बौद्धिक पूर्णता है। अतः उनके नैतिक निदेशका अर्थ हुआ : सार्वभौम विवेकके अनुरूप कर्म करना चाहिये। सुखवादियोंने मनुष्यकी प्रकृतिको भावनात्मक मानकर अधिकतम सुखकी खोजको नीतिवाक्य माना। उपर्युक्त प्रत्येक विचारकके सिद्धान्तके मूलमें यह कथन है कि 'जो कुछ भी प्राकृतिक है वह उचित

और शुभ है।' प्रकृतिकी व्याख्या उन्होंने इस भाँति की कि वह उनके पक्षका समर्थन कर सके। इतिहास इस बातका साक्षी है कि स्वाभाविक प्रेरणाओं (इच्छाओं, भावनाओं, सहज-प्रवृत्तियों आदि), बुद्धि, जडप्रकृति, सरलजीवन, आदर्शजीवन, मुक्त भोगविलासपूर्ण जीवन, आदिम सभ्यता, शक्ति और वस्त्रहीनताको महत्व देनेवाले विभिन्न विचारकोंने 'प्रकृति'को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर अपने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक विचारोंका प्रतिपादन किया है। उनकी दृष्टिमें प्रकृति उसकी सूचक है जो स्वाभाविक और मौलिक है। अतः इसकी आड़में कई विरोधी सिद्धान्तोंको जन्म देकर इन विचारकोंने विभिन्न ध्येयोंको सम्मुख रखा।

प्रकृतिवादके अन्तर्गत स्पेंसर, लैसूली स्टीफेन, और नीत्से[1]के सिद्धान्त-पर हम विचार करेंगे। ये वे जड़वादी विचारक हैं जिन्होंने विकासवादके साथ अपने नैतिक सिद्धान्तको संयुक्त किया है। इन्होंने यह माना कि प्रकृतिमें सर्वत्र विकास पाया जाता है और यह विकास यांत्रिक नियमोंसे संचालित है। इस विकासके क्रमकी एक अन्तिम स्थिति है जिसे प्राप्त करना ही व्यक्तिका ध्येय है। उस स्थितिका क्या स्वरूप है, इसे प्रकृतिका अध्ययन बताता है।

प्रकृतिवादका विशिष्ट अर्थ डार्विनके पूर्व विकासकी धारणा

विकास-की धारणाने प्राचीन कालसे ही दार्शनिकोंका ध्यान आकृष्ट किया है। दर्शनके जनक, प्रथम यूनानी दार्शनिक थेलीज़ (Thales) ने जलको सभी वस्तुओंका उद्गम माना। जलसे विभिन्न वस्तुओंकी उत्पत्ति समझाना विकासवादको मानना है। यह कथन इस बातका पोषक है कि विश्वके मूलमें गति है, विश्व क्रियाशील है। इस क्रियाशीलताकी ओर ईसासे पाँच शताब्दी पूर्व हिरेक्लिटसका ध्यान गया और उसने विश्वकी गतिशील व्याख्या की। उसका कहना था कि विश्वकी प्रत्येक वस्तु निरन्तर चलायमान है। इसी बीच यहूदियोंमें भी यह धारणा मान्य हो चली कि मनुष्यका इतिहास उस ध्येयकी ओर सक्रिय रूपसे अग्रसर हो रहा है जिसकी प्राप्ति

१. नीत्से, देखिए—भाग ३, अध्याय २.

वर्तमानमें सम्भव नहीं है। विश्वके क्रियात्मक स्वरूपके बारेमें प्राचीन और मध्य युगोंमें भी धारणाएँ मिलती हैं। किन्तु ये धारणाएँ प्रसिद्धि प्राप्त न कर सकनेके कारण अन्धकारमें ही रहीं। इसका मुख्य कारण यह है कि प्लेटोके इस कथनने कि 'शाश्वत प्रत्ययों द्वारा वास्तविकताका समर्थन होता है', विचारकोंका ध्यान इतना अधिक आकर्षित कर लिया कि वास्तविकताकी गतिशील धारणा पीछे रह गयी। आधुनिक युगमें कांटके अज्ञेयवाद (Agnosticism)[1] ने विश्वकी गतिशील व्याख्याके लिए फिरसे अनायास ही मार्ग खोल दिया। उसके पश्चात् ही हीगल और कौंते[2] ने भी इस धारणाको प्रमुखता दी। हीगलने द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा यह समझाया कि कुछ भी निष्क्रिय नहीं है। इतिहास यह बताता है कि एक विशिष्ट प्रवृत्ति अपने विकासमें सदैव अपनी विरोधी प्रवृत्तिको जन्म देती है और यह उत्तरप्रवृत्ति पूर्वप्रवृत्तिका समावेश करती हुई पुनः दूसरी विरोधी प्रवृत्तिको जन्म देती है। इस प्रकार सदैव द्वन्द्वात्मक रीतिसे विकास होता रहता है। कौंतेने यह समझाया कि इस विकासमें क्रम भी है। उदाहरण देते हुए उसने यह प्रमाणित किया कि धार्मिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक जगतमें सर्वत्र क्रमिक विकास मिलता है। इसी समय फ्रांसमें अध्यात्मवादने जोर पकड़ा। मैं द बिराँ (Main De Biran) से प्रभावित अध्यात्मवादियोंके समुदायने बुद्धिको महत्व नहीं दिया वरन् यह कहा कि प्राणशक्तिकी चेतना (Vital spirit) विश्व और मनुष्यकी सत्ताका सारतत्व है। ऐसे समयमें समाजकी वे उन्नतिशील और विकासशील व्याख्याएँ उद्भूत हुईं जिन्होंने प्राचीन चिन्तन, विचार और कर्मकी पद्धतियोंको नयी परिस्थितियोंके आधारपर जीर्ण-शीर्ण कह दिया। बर्गसाँका सृजनात्मक विकासवाद[3] इसी रूपमें विश्वकी गतिशील व्याख्या करता

१. पारमार्थिक जगत एवं स्व–रूप–सत्ताको बुद्धि नहीं समझ सकती है। वह अज्ञेय है।

२. Auguste Comte 1798–1857.

३. Henry Bergson 1859–1941—Creative Evolution.

है। इस धारणाकी स्थापनाके लिए अनेक कारण उत्पन्न हो गये। इस अनुकूल परिस्थितियोंवाले सिद्धान्तको डार्विनने अपनी पुस्तक, 'ओरिजिन ऑफ स्पिसीज़'[१] द्वारा पुष्ट वैज्ञानिक आधार दे दिया। विश्वकी गतिशील धारणाको सबसे अधिक प्रेरणा इसीसे मिली। चिन्तनके क्षेत्रमें एक प्रकारसे क्रान्ति मच गयी। चिन्तकोंको यह भासित होने लगा कि विकास ही विश्वके रहस्यकी कुञ्जी है। कई नीतिज्ञोंने इस सिद्धान्तका स्वागत किया और यह घोषणा की कि नैतिकताकी मूल समस्याओंका हल विकासवाद कर सकता है। उन्होंने यह समझाना चाहा कि उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ आदि नैतिक मान्यताएँ परम और निष्क्रिय नहीं हैं किन्तु इन गुणोंका मूल्य गतिशील जीवनशक्तिकी प्रणालियाँ निर्धारित करती हैं।[२]

विकासवाद यह मानता है कि विकास उन्नतिकी एक क्रमिक शृंखला है, जिसमें आरम्भ, पद्धतिक्रम और अन्त मिलता है। विकसित होती हुई

विकासकी प्राकृतिक और आदर्शवादी व्याख्या

वस्तुका एक विशेष स्थितिसे आरम्भ होता है, फिर वह विकासकी अनेक जटिल स्थितियोंसे गुजरती है और इस भाँति अपनी अन्तिम स्थितिको प्राप्त करनेके लिए आगे बढ़ती है। विकासका आरम्भ अतीतके गर्भमें छिपा हुआ है, अन्तिम स्थिति भविष्यमें अदृश्य है, केवल पद्धतिक्रम (मध्यकी स्थिति) को ही समझा जा सकता है। जीवनमें सर्वत्र विकास मिलता है। वह एक विश्वव्यापी नियम है। नैतिक जीवनमें भी विकासका क्रम मिलता है जिसे हम दो प्रकारसे समझा सकते हैं; एक प्राकृतिक और दूसरा आदर्शवादी। डार्विन, स्पेंसर और उसके अनुयायियोंने विकासको प्राकृतिक ढंगसे समझाना चाहा, इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक पद्धतिको अपनाया और नीतिशास्त्रको पूर्ण रूपसे वैज्ञानिक आधार देनेका प्रयास किया। उन्होंने कहा कि नैतिक जीवनको मानव-जातिके प्रारम्भिक जीवनके सम्बन्धमें ही समझ सकते हैं। नैतिक मान्यताएँ प्राकृतिक घटनाओंकी

१. The Origin of Species (1859)
२. Hill—pp. 117–18

भाँति पूर्वकी घटनाओंसे कार्य-कारण रूपसे सम्बन्धित हैं। इसके विपरीत हीगल, ग्रीन, ब्रैडले, बोसैंके आदिने कहा कि नैतिक जीवनको ध्येय या नैतिक आदर्श द्वारा समझाया जा सकता है। उन्होंने नीतिशास्त्रको आदर्श-विधायक विज्ञान माना, उसे यथार्थ विज्ञानका रूप नहीं दिया। वास्तवमें नीतिशास्त्रका उद्गमसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, उसका सम्बन्ध आदर्शसे है। वह 'क्या करना चाहिये' को जानना चाहता है, न कि 'क्या है' को।

नीतिशास्त्रको डार्विनकी देन

अठारहवीं शताब्दीके अन्ततक वैज्ञानिक और दार्शनिक जगतमें विकसित विचारधाराओंसे परिचित व्यक्तियोंमें विकासकी धारणा प्रच्छन्न अथवा अप्रच्छन्न रूपसे जन्म ले चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दीमें लमार्क[1] तथा डार्विनने[2] जीवयोनियोंकी उत्पत्तिको विकास द्वारा समझाया। डार्विन जडवादी विचारक था, उसकी जीवशास्त्रमें रुचि थी। जैव सिद्धान्तोंको समझनेके लिए उसने खोज की और उन प्राणिशास्त्रीय अनुसन्धानोंको दो पुस्तकोंके रूपमें संकलित किया। उसने उन पुस्तकोंमें[3] जैव प्रश्नोंकी समीक्षात्मक विवेचना की और जानना चाहा कि जीवयोनियोंमें जो परिवर्तन मिलता है उसे कैसे समझा जा सकता है। उनके जन्म और वृद्धिको कौन नियम नियन्त्रित करते हैं। इन प्रश्नोंके समाधानके रूपमें ही उसने विकासवाद-को वैज्ञानिक रूपसे प्रमाणित किया। डार्विनने विकासका प्रयोग बढ़ने या वृद्धिके अर्थमें किया। यह वृद्धि नवीन सृष्टि नहीं है, अकारण कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। वह उत्पत्तिका ही अनिवार्य परिणाम है। सरल आकारोंकी जटिल आकारोंमें परिणति ही विकास है। उदाहरणार्थ, अंकुरकी वृक्षके रूपमें परिणति विकास है। डार्विनने यह समझाया कि जीव-योनियोंमें परिवर्तन होते रहते हैं। वे स्थिर और अपरिवर्तनशील नहीं हैं। बहुत-सारी जीवयोनियाँ जो आज भिन्न लगती हैं वे एक ही मूलसे उत्पन्न

१. Lamark.

२. Charles Darwin 1809-1882.

३. The Descent of Man (1861) The origin of species (1859)

हुई हैं। उनके पूर्वज एक ही थे। आज जीवन्त जीवयोनियोंके तथा वृक्षों, पशु-पक्षियों, मनुष्योंके रूपमें जो आकार-प्रकार मिलते हैं वे प्रारम्भके कम विकसित आकारोंके जीवोंका ही जटिल रूप है। क्रमविकास इन्हें एक-रूपता (homogeneous) से अनेकरूपता (heterogeneous) की ओर ले जाता है। पहिले न तो इतने अधिक वर्ग थे और न उनका रूप ही इतना जटिल था। विकासने उनकी प्रारम्भिक, सरल और समरस स्थितिको जटिलतामें परिणत कर दिया। वर्षोंका जैव इतिहास बताता है कि मनुष्यका जनक मनुष्य नहीं है, वह क्रमशः एक प्रकारके बन्दरसे विकसित हुआ है। उसकी एक जीवयोनिसे दूसरी जीवयोनिमें क्रमपरिणति हुई है। इतिहास यह भी बतलाता है कि विकास एक विश्वव्यापी नियम है। व्यक्तियों, जातियों, संस्थाओं एवं भौतिक विधानोंमें सर्वत्र यह पाया जाता है। प्रश्न यह है कि विकासका नियम क्या है? सरल आकार जटिल आकारोंमें कैसे परिणत होते हैं? जीवयोनियोंमें इस परिवर्तनको कैसे समझाया जा सकता है? डार्विनने अपने विकासवादमें भौतिक परि-स्थितियों और प्राकृतिक नियमोंको महत्व दिया। वह जीवशास्त्री था। उसकी रुचि जीवनके जैव पक्षमें थी। उसका उत्तर जडवादी उत्तर था। उसने तत्वदर्शकों अथवा धार्मिक विचारकोंकी भाँति ईश्वर, परमतत्व, जीवनी-शक्ति और विश्व-प्रयोजनको महत्व नहीं दिया। उसने प्राकृतिक नियमोंका निरीक्षण तथा वृक्ष, पशु-पक्षियोंके जीवनका अध्ययन करके उसके आधारपर क्रम-विकासको समझाया। डार्विनके सिद्धान्तके जिस पक्षसे नीतिज्ञ प्रभावित हुए, यह वही पक्ष है। डार्विनने विकासके क्रमको 'प्राकृतिक चयन', जीवन-संघर्ष, परिस्थितियोंके अनुकूल परिवर्तन, योग्य-तमकी विजय और आनुवंशिकता द्वारा समझाया। उसका कहना है कि जीवयोनियोंमें परिवर्तन होते रहते हैं। उसका कारण यह है कि जीवित रहनेके लिए उन्हें परिस्थितियोंसे संघर्ष करना पड़ता है। प्राकृतिक जगतमें सर्वत्र जीवित रहनेके लिए निरन्तर संघर्ष मिलता है। प्रत्येक प्राणीको जीवित रहनेके लिए अपने परिवेश तथा अन्य प्राणियोंके साथ संघर्ष करना

पड़ता है। इसमें वही जीव बच पाते हैं जो वातावरणके अनुरूप अपनेको बदल सकते हैं। 'अनुकूल परिवर्तनवाली जीवयोनियाँ सुरक्षित रहती हैं और प्रतिकूलवाली नष्ट हो जाती हैं।' अनुकूल परिवर्तनवाली योग्यतम जीवयोनियाँ जीवन-संघर्षमें जीवित रहती हैं और परिवर्तनों द्वारा नयी जातियोंको भी उत्पन्न करती हैं। ऐसे जीवोंकी सन्तानोंमें अनुकूल परिवर्तनके गुण विद्यमान रहते हैं। डार्विन वंशपरम्पराके शरीरशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तको मानता है। वह जातियोंके गुण, स्वरूप और स्वभावको निर्धारित करनेके लिए आनुवंशिकताकी सहायता लेता है। आनुवंशिकताके कारण ही पिताके जीवन-रक्षणके लिए उपयोगी अवयव और योग्यताएँ बच्चोंमें स्वतः प्रेषित हो जाती हैं। माता-पिताके मानसमें जो बदलाव आते हैं उन्हें सन्तति आनुवंशिकताके रूपमें ग्रहण करती है। इस भाँति वह सिद्ध करता है कि जीवनका विकास संघर्षके रूपमें होता है। प्राकृतिक चयनमें योग्यतम जीवित रहते हैं और उन्हींकी वृद्धि होती है। इस भाँति जीवयोनियोंके परिवर्तन और क्रम-विकास द्वारा उसने विकासके सिद्धान्तको प्रमाणित किया। वास्तवमें देखा जाय तो इस सिद्धान्तका नीतिशास्त्रसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह प्राकृतिक नियम और घटनाओंका विश्लेषण कर उनपर तथ्यमूलक निर्णय देता है और दूसरी ओर नीतिशास्त्र जीवनके उद्देश्यको समझाता है। उसके निर्णय मूल्यपरक होते हैं। नीतिशास्त्रकी मान्यताओंका भूतसे अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। उसका प्रत्यक्ष क्षेत्र वर्तमान और भविष्य है। फिर भी यह मानना होगा कि डार्विनके सिद्धान्तने नीतिशास्त्रके दृष्टिकोणमें भारी परिवर्तन ला दिया। यह परिवर्तन कितने स्थायी मूल्यका है, इसका ज्ञान नैतिक विकासवादका अध्ययन देगा। डार्विनकी रुझान मुख्यतः जातियोंके शारीरिक एवं भौतिक विकासकी ओर थी। किन्तु उसने यह भी इंगित किया कि इसी भाँति नैतिक प्रवृत्तियोंको भी समझा सकते हैं। मनुष्यके विकासको समझाते हुए उसने कहा कि पशु और मनुष्यके जीवनमें पूर्ण अविच्छिन्नता मिलती है। जिस भाँति जीवनके अन्य क्षेत्रोंमें वर्तमान स्थितियोंकी प्राचीन स्थितियोंके क्रम-विकासके

रूपमें उत्पत्ति हुई है उसी भाँति मानवका पूर्वज निराचारी पशु (non-moral animal) अनेक मध्यवर्ती स्थितियोंको पार कर नैतिक पशु हो गया है। डार्विनका कहना था कि अन्य नियमोंकी भाँति नैतिक नियमोंका निर्माण भी प्राकृतिक चयनके अनुरूप होता है। उसने नैतिकता एवं सामान्य शुभकी जैव व्याख्या की। सामान्य शुभकी परिभाषा देते हुए वह कहता है कि सामान्य शुभ वह है 'जिसमें अधिकतम संख्यक व्यक्तियोंका संपोषण पूर्ण शक्ति और स्वास्थ्यके साथ उन परिस्थितियोंमें होता है जिनमें कि वे हैं।"[1]

डार्विनने अपने विकासवाद द्वारा मुख्यतः यह बताया कि जीवयोनियोंमें परिवर्तन होता है और इस परिवर्तनको उसने प्राकृतिक चयन द्वारा समझाया। उस समयके विचारकोंने डार्विनके जैव सिद्धान्तको ज्योंका त्यों ग्रहण नहीं किया। अपने समयकी प्रचलित धारणाओंके साथ डार्विनके सिद्धान्तको उन्होंने अनायास अनजानेमें संयुक्त कर लिया, जिसने विकासवादके नामसे प्रसिद्धि पायी। डार्विनके समयमें दो धारणाएँ प्रचलित थीं: वैश्व एकताकी धारणा और उन्नतिकी धारणा। वैश्व एकताकी धारणा एकत्ववादकी पोषक है जो विकासके क्रमको एक तथा अभिन्न मानती है। सब जीवयोनियोंका मूलस्रोत एक है। कुछ जीवयोनियोंसे अन्य जीवयोनियोंकी उत्पत्ति नहीं हुई है किन्तु वे असंख्य जीवयोनियाँ जो वनस्पति, पशु-पक्षी आदिके रूपमें वर्तमान हैं, उनका अन्ततः एक ही मूलस्रोत है जिसे प्रोटोप्लाज्म (Protoplasm) कहते हैं। यह युग (उन्नीसवीं शताब्दीका मध्यकाल) विज्ञान और उद्योगकी तीव्र उन्नतिका युग था। विचारकोंको इस उन्नतिसे यह विश्वास हो गया था कि दुनिया उन्नतिकी ओर बढ़ रही है। इस विश्वासके साथ जब उन्होंने डार्विनके सिद्धान्तका अध्ययन किया तो उन्हें स्पष्ट रूपसे इस विश्वासका अनुमोदन करनेवाले तत्व दीखे। मनुष्यका मूलस्रोत प्रोटोप्लाज्म

विचारकों द्वारा विकासवादकी व्याख्या

---

1. Hill–p. 119,

है और विकासके क्रममें जीव प्रोटोप्लाज्मकी स्थितिसे मनुष्यकी स्थितितक पहुँच गया है। यह तथ्य महान उन्नतिका सूचक है। मनुष्यकी यह श्रेष्ठता यह सिद्ध करती है कि मनुष्यका विकास निम्नस्थितिसे उच्चस्थितिकी ओर उन्नतिके रूपमें हुआ है—जैव विकासमें नैतिक विकास भी रहा है।[२] नीतिज्ञ—स्पेंसर, लैस्ली स्टीफेन, एलेग्जैंडर आदि—डार्विनके ऐसे सिद्धान्तसे अत्यधिक प्रभावित हुए। उन्होंने विकासवादका व्यापक प्रयोग करना चाहा और नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, संस्थाओं आदिकी उत्पत्ति और उन्नतिको उसके द्वारा समझाना चाहा। नैतिकताको उन्होंने विकासका परिणाम माना। उसे विकासकी सहायतासे समझाना चाहा। स्पेंसर तो स्पष्ट रूपसे कहता है कि 'मैं इसे नैतिक विज्ञानका कार्य मानता हूँ कि जीवनके नियमों और अस्तित्वकी परिस्थितियोंसे यह निगमन किया जाय कि किस प्रकारके कर्म अनिवार्य रूपसे सुखकी उत्पत्ति करते हैं और किस प्रकारके कर्म दुःखकी।' स्पेंसर तथा अन्य विकासवादी सुखवादियोंने अपने सिद्धान्तमें जैव नियमोंसे नैतिक नियमोंके निगमनपर इतना अधिक महत्व दिया है कि सिजविकने उनके सिद्धान्तको निगमनात्मक सुखवाद (Deductive Hedonism) कह दिया। विकासवादी सुखवादियोंका यह विश्वास था कि नैतिक भावनाओं, निर्णयों, अभ्यासों, मान्यताओं और नियमोंके उद्गम तथा उनकी प्रकृति और अभिप्रायको विकासवाद भली-भाँति समझा सकता है। इस विश्वासके आधारपर उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि विकासवाद नीतिशास्त्रको वैज्ञानिक और प्राकृतिक आधार दे सकेगा। डार्विनका यह कहना था कि केवल वस्तुओंको समझना पर्याप्त नहीं है, यह जानना भी आवश्यक है कि उनकी उत्पत्ति कैसे हुई। डार्विनके इस कथनको महत्व देते हुए विकासवादियोंने कहा कि नैतिक मूल्योंके सार एवं भावार्थको समझनेके बदले यह समझनेका प्रयास करना चाहिये कि उनकी उत्पत्ति कैसे हुई। नैतिकताके उत्पत्तिविषयक दृष्टिकोणको सम्मुख रखकर हॉब्स और रूसोने डार्विनसे पूर्व नैतिकताकी उत्पत्तिके बारेमें

२. Wheelright—pp. 112-114.

बतलाया। किन्तु उनकी व्याख्या वैज्ञानिक अथवा प्राकृतिक न होकर काल्पनिक थी।

विकासवादी सुखवाद[1]

स्पेंसर[2] प्रथम विचारक था जिसने कि जैव विकासवादका व्यवस्थित रूपसे नीतिशास्त्रमें प्रयोग किया। दर्शनके क्षेत्रमें हीगल और कौंतेने विकासवादके लिए स्थान बना दिया था किन्तु नीतिशास्त्रमें विकासवादके लिए स्थान बनानेका श्रेय स्पेंसरको ही है। स्पेंसरसे प्रभावित होकर लैस्ली स्टीफेन और एलेग्जैण्डरने उसके मूलगत सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए तथा उससे थोड़ी भिन्नता रखते हुए नैतिक सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। तीनों ही यह मानते हैं कि परम ध्येय सुख है, नैतिक नियमोंको समझनेके लिए जीवशास्त्रका ज्ञान अनिवार्य है और जैव नियमों द्वारा ही नैतिक नियमोंका निगमन किया जा सकता है। अतः इनका सिद्धान्त विकासवादी सुखवादके नामसे विख्यात है।

विकासवादी नीतिज्ञ

पूर्वविचारकोंके विपरीत स्पेंसर नीतिशास्त्रको सृष्टिविज्ञान (Cosmology) की शाखा मानता है। मानवता विस्तृत वैश्व विधानका अंगमात्र है, वह उन्हीं नियमोंसे संचालित हैं जिनसे विश्व संचालित है। मनुष्यका स्वतन्त्र रूपसे विकास नहीं हुआ है। उसकी वर्तमान स्थिति विश्व-विकासका ही अनिवार्य परिणाम है। मनुष्यमें विवेकके जन्मको एक आकस्मिक घटना या संयोगके रूपमें नहीं समझना चाहिये। वह विकासकी एक आवश्यक स्थिति है। यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि सभ्यता मनुष्य-स्वभावके कलापक्षकी सूचक है। सभ्यता, संस्कृतिका विकास, नैतिक चेतनाकी जागर्ति आदि प्राकृतिक विकासके

विकासकी धारणाका नीतिमें प्रवेश: नैतिकता विश्व प्रकृतिका अंग

१. Euolutionary Hedonism.

२. Herbert Spencer 1820-1903.

ही अंग हैं। यह वैसा ही है जैसा कि फूलका प्रस्फुटन या भ्रूणका विकास। मनुष्यमें जो नैतिकताकी भावना मिलती है वह उसका परिस्थितियोंके साथ क्रमशः संयोजित होनेका और जीवनके विकासका परिणाम है। मनुष्यकी मानसिक और भौतिक प्रकृतियाँ अर्जित हैं। असंख्य पीढ़ियों द्वारा अर्जित ज्ञान और अनुभवको ही उसने अपने वंशानुगत गुणोंके रूपमें पाया है। उसके वास्तविक नैतिक स्वभावको समझनेके लिए उसके पूर्वजोंके इतिहासका अध्ययन कर उनके और वातावरणके बीचके सम्बन्धको समझना होगा तथा जानना होगा कि उन्होंने जीवन-संघर्षके अनुभवसे क्या सीखा है। उपयोगितावादियोंने सामाजिक और वैयक्तिक जीवनकी विकासहीन स्थिर व्याख्या की है। व्यक्तियोंमें उन्होंने जो परिवर्तन देखे हैं वे उनके अनुसार शिक्षा, परिस्थिति और जन्मके कारण हैं एवं आकस्मिक और व्यक्तिगत हैं। उन्होंने उनको उस विश्वव्यापी विकासजन्य परिवर्तनके रूपमें नहीं समझा जो कि अनवरत रूपसे विश्वमें हो रहा है। मनुष्य-स्वभावका जो अनुभव-सापेक्ष ज्ञान मिलता है, उसकी योग्यताके बारेमें जितना पता है उसीके आधारपर नैतिक ध्येय (सुख) के स्वरूप, और उसकी प्राप्ति तथा वितरणकी रूपरेखा बनायी जा सकती है। विकासवादियोंने समझाया कि नैतिक जीवन विकास और उन्नतिका जीवन है। नैतिक भावनाएँ परिवर्तित होती रहती हैं। नैतिक जीवन विश्व-विकासका ही अंग है। इसका भी आदि, मध्य और अन्त है। जीवनकी महत्ता अन्तिम स्थितिकी क्रमिक उपलब्धिमें है। स्पेंसरका विश्वास था कि मनुष्यका विकास नीची स्थितिसे ऊँची स्थितिकी ओर उन्नतिके रूपमें हुआ है और वह अपनेको धीरे-धीरे वातावरणके अनुरूप संयोजित कर रहा है। अन्तिम स्थिति पूर्ण सामञ्जस्य (Complete adjustment) की स्थिति होगी। नैतिक विकासके ध्येयको समझानेके साथ ही विकासवादियोंने व्यक्ति-समाज, स्वार्थ-परमार्थ एवं सुख-कर्त्तव्यके विरोधको जैव व्याख्या द्वारा दूर करनेका प्रयास किया। शुभ-अशुभ, सुख-दुःख और नैतिक मापदण्डके स्वरूपको जैव रूप दिया।

स्पेंसरका विश्वास था कि विकासवाद नैतिक समस्याओंको सुलझा सकता है। नीतिशास्त्र जिस ध्येय (सुख) के लिए प्रयास कर रहा है वह उसका प्रयोजन समझा सकता है। अथवा विकास द्वारा शुभ-अशुभ आचरणका अर्थ निर्धारित किया जा सकता है। स्पेंसरने आचरणको यह कहकर समझाया कि वह कर्मोंका ध्येयोंके साथ सामञ्जस्य है। जीवन-संघर्षके क्रममें जीवयोनियाँ जीवन-संरक्षणके लिए आवश्यक विभिन्न ध्येयोंके साथ अपने कर्मोंको संयोजित करनेका प्रयास करती हैं और यह क्रिया ही आचरण है। वही प्राणी जीवित रह सकता है जिसका कि प्रकृति या वातावरणके अनुकूल आचरण हो। जीवनका सार इसपर निर्भर है कि आन्तरिक सम्बन्धोंका बाह्य सम्बन्धोंसे निरन्तर सामञ्जस्य हो। यह अंगी (Organism) का वातावरणके साथ संयोजित होनेका अनवरत प्रयास है। सभी प्रकारके आचरणका अध्ययन बतलाता है कि आचरण दो प्रकारके हैं—(१) सामञ्जस्य स्थापित करनेमें सहायक, (२) उसमें असहायक। सामञ्जस्यकी वृद्धि करनेवाले आचरण शुभ हैं और उसका ह्रास करनेवाले अशुभ। वह आचरण जिसे शुभके रूपमें पुकारते हैं, सापेक्ष रूपसे अधिक विकसित आचरण है और उस आचरणका नाम अशुभ है जो सापेक्ष रूपसे कम विकसित है। निरपेक्ष रूपसे शुभ आचरण वह है जो अंगी और वातावरणके बीच पूर्ण समत्व स्थापित करता है। ऐसा आचरण उस सुखको उत्पन्न करेगा जिसमें दुःखका मिश्रण नहीं है। प्राकृतिक विकासका जो आदर्श ध्येय है वही नैतिक दृष्टिसे आचरणका मापदण्ड है। इससे यह पता चलता है कि जीवनका विकास और संरक्षण ही आचरणका सार्वभौम ध्येय है। अर्थात् जो आचरण जीवनके संरक्षण और विकासमें सहायक है वह शुभ है। इसके विपरीत अशुभ है। शुभकी ऐसी परिभाषा देकर स्पेंसरने यह सिद्ध किया कि शुभ-अशुभ परम और शाश्वत नहीं हैं अथवा इनका रूप वस्तुगत और सार्वभौम नहीं है। शुभका अर्थ सदैव केवल अपने वर्ग या जातिका शुभ है। कोई भी वस्तु शुभ है, यदि वह अपने वर्गमें अपना निर्धारित व्यापार

शुभ-अशुभ और सुख-दुःखके अर्थ

उचित रूपसे करती है। शुभ ध्येयकी पूर्तिके लिए साधन, सहायक और निमित्तमात्र है। ध्येयके सम्बन्धमें जीवशास्त्रसे प्रमाण देकर वह कहता है कि पूर्ण सामञ्जस्यकी स्थितिको प्राप्त करना ही ध्येय है। शुभ आचरण अंगी और वातावरणके बीच सामञ्जस्य स्थापित कर सुखका उत्पादन करता है। पूर्णरूपसे शुभ आचरण पूर्ण समत्वकी स्थापना करनेवाला आचरण है, जो विकासकी अन्तिम स्थितिका सूचक है। विकासक्रमके सब आचरण लगभग आंशिक रूपसे शुभ और आंशिक रूपसे अशुभ हैं। वे दुःखसे युक्त सुखका उत्पादन करते हैं। सापेक्ष रूपसे वह आचरण शुभ है जो अन्ततः दुःखसे अधिक सुख देता है। उदाहरणार्थ, शल्यचिकित्साके दुःख और सुरापानके सुखको यदि उनके परिणामके सम्बन्धमें देखें तो शल्य-चिकित्सा सुरापानसे अधिक शुभ है। इसी प्रकार अच्छा भोजन करना, विवाहित होना, सन्ततिका संवर्धन करना अपनी अपूर्णताओंके बावजूद शुभ और लाभप्रद हैं। इस प्रकार सुखवादियोंकी भाँति स्पेंसर भी शुभ कर्मको सुखप्रद परिणामसे युक्त करता है। पूर्ण विकसित समाजमें सुख और स्वास्थ्य परस्पर सम्बन्धित हैं। सुख जीवनवृद्धिका सूचक है, दुःख ह्रासका। अपने-आपमें सुख शारीरिक प्राणक्रियाका सूचक है। प्रश्न यह है कि सुख शुभ क्यों है? इसका उत्तर यह है कि वह व्यक्ति और वाता-वरणके बीच सामञ्जस्यका सूचक है। विकासके ऐसे व्यापार जो जीवन-संरक्षण और सन्तति उत्पादनमें सहायक होते हैं, वे सुखप्रद हैं। यदि वे सुखप्रद नहीं होते तो अंगी उन्हें नहीं करता। यही नहीं, प्राणी तबतक जीवित रहनेके लिए संघर्ष नहीं करते जबतक उन्हें दुःखसे अधिक सुखकी प्राप्ति नहीं होती। सुख प्राणशक्तिकी वृद्धि और सबलताका परिणाम है। वह सामञ्जस्यका सूचक है। दुःख अंगीके वातावरणके साथ असामञ्जस्य-का सूचक है। इसमें अंगीको जीवन-धारणकी आशा कम होती है। वैसे, सुख वह भावना है जिसका कि चेतनामें आना और रहना अच्छा लगता है और दुःख इसके विपरीत भावना है। जीवशास्त्र और अनुभव बतलाता है कि सुखप्रद जीवन शुभ है। यह जीवन-संरक्षणमें सहायक है।

सुखके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी इच्छा करना अपने विनाशकी इच्छा करना है।

सन्निकट ध्येय और परम ध्येय : नैतिक मापदण्ड

स्पेंसरने सुखवादियोंके साथ यह स्वीकार किया कि नैतिक ध्येय सुख है। किन्तु जीवशास्त्री होनेके नाते वह यह भी मानता है कि प्राकृतिक ध्येय शारीरिक स्वास्थ्य है। ये दोनों ही विरोधी कथन हैं। इस विरोधको दूर करनेके लिए वह अपने सिद्धान्त-को सन्निकट ध्येय और परम ध्येयकी धारणासे युक्त करता है। वह कहता है, परम ध्येय सुख है; किन्तु सन्निकट अथवा तात्कालिक ध्येय शारीरिक स्वास्थ्य है। परम ध्येयकी प्राप्ति भलीभाँति तभी सम्भव है जब उसे भूले रहें और अपना सम्पूर्ण ध्यान उन परिस्थितियोंपर केन्द्रित करें जिनसे वह प्राप्त होता है। इस आधारपर स्पेंसर सुखको परम ध्येय मानते हुए शारीरिक स्वास्थ्यको महत्व देता है। जीवशास्त्र बतला सकता है कि कौन-से कर्म सुखका उत्पादन करते हैं और कौन-से कर्म दुःखका। जीवशास्त्रके आधारपर आचरणके उन नियमोंका प्रतिपादन कर लेना चाहिये जिनका सुख-दुःखसे प्रत्यक्ष रूपसे कोई सम्बन्ध नहीं है। स्पेंसर बैंथमके साथ स्वीकार करता है कि नैतिक मान्यताओंका मूल्यांकन करनेके लिए वस्तुगत मापदण्डकी खोज करनी चाहिये। किन्तु वह उसके विरोधमें कहता है कि सुखको मापदण्ड नहीं माना जा सकता क्योंकि वह भावनामात्र एवं आत्मगत है। वह वस्तुगत नहीं, उसे तौल नहीं सकते। नैतिकताका मापदण्ड व्यक्तियोंकी सुख-दुःखकी भावनामें नहीं मिल सकता बल्कि एक ऐसे परिमाण (राशि)में जिसकी कि बाह्य जगतमें वस्तुगत रूपसे जाँच की जा सके। इस दृष्टिसे नैतिक मान्यताओंकी आधार-शिला शारीरिक जीवन (Physical life) है। जीवशास्त्री होनेके कारण स्पेंसरको शारीरिक स्वास्थ्यकी चिन्ता थी। अतः उसने शारीरिक जीवनको नैतिक मापदण्ड माना। बैंथमके विरुद्ध वह कहता है कि व्यक्ति-का कर्त्तव्य 'अधिकतम संख्याका अधिकतम सुख' नहीं है, किन्तु मानव-समाजके जीवनकी रक्षा करना है। शुभ आचरण वह नहीं जो केवल

वैयक्तिक जीवनको ही महत्व देता है बल्कि वह जो समाजके सम्पूर्ण जीवनको ध्यानमें रखता है। स्पेंसरके सिद्धान्तमें परमस्वार्थवादके लिए स्थान नहीं है। उसके अनुसार अहंतावाद (Egoism) और परमार्थवाद दोनों ही समान रूपसे शुभ हैं। विकासवाद बताता है कि आत्मत्याग और आत्मसंरक्षण दोनों ही प्राचीन हैं। शुभ आचरण वह है जो अपने और दूसरोंके जीवनकी उन्नतिमें समान रूपसे सहायक है। प्रश्न उठता है कि जीवनको कैसे नाप सकते हैं? स्पेंसर कहता है कि जीवनको उसकी लम्बाई और चौड़ाईसे नाप सकते हैं। जीवनकी लम्बाईसे उसका अभिप्राय दीर्घस्थायी जीवनसे है, जो अधिकतम संख्याके दीर्घायुका सूचक है। चौड़ाईसे अभिप्राय उन विभिन्न व्यापारोंसे है जिन्हें सम्पादित करनेकी उच्च (अधिक विकसित) पशु योग्यता रखता है। मानव-जीवनकी जटिलता तथा विस्तारका अध्ययन करनेसे पता चलता है कि व्यक्तिकी अभिरुचियों तथा इच्छाओंकी विकासजन्य वृद्धिके कारण समाजगत सामञ्जस्य दुरूह होता जा रहा है। किन्तु इस दुरूहताके साथ उसकी सफलतापूर्वक संयोजित होनेकी योग्यता और शक्तियाँ क्रमशः बढ़ती जा रही हैं। जब यह योग्यता अपनी पूर्णताको प्राप्त कर लेगी तब व्यक्ति और वातावरणके बीच पूर्ण समत्व स्थापित हो जायगा। इस वृद्धिको प्राप्त होती हुई सामञ्जस्यकी शक्तिको ही स्पेंसर चौड़ाई कहता है। इस प्रकार बैंथमके इस कथनके बदले कि व्यक्तिको जीवनमें 'दुःखके ऊपर सुखका संतुलन रखना चाहिये' उसने 'मानव-समाज या मानव-जातिके संरक्षण' की वस्तुगत धारणा दी। उसके अनुसार कर्म और आचरणके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित करनेके लिए यह जानना आवश्यक नहीं कि उनका परिणाम सुखप्रद है या दुःखप्रद; किन्तु उसके लिए यह जानना आवश्यक है कि वे जीवनके परिमाणकी वृद्धिमें कितने सहायक हैं। स्पेंसरके अनुसार जीवनके परिमाणकी लम्बाई-चौड़ाईको प्राप्त करना ही ध्येय है। सार्वभौम आचरणका अध्ययन बतलाता है कि चेतन प्राणियोंके कर्म विकासके क्रममें इस ध्येयसे अधिकाधिक संयोजित हो रहे हैं और साथ ही

वह यह मानता है कि जीवनमें सुखकर भावना पर्याप्त मात्रामें वर्तमान है। स्पेंसर यह कहता है कि वही आचरण एकमात्र शुभ है जो जीवनके संरक्षणमें सहायक है। उसके अनुसार नैतिक उद्देश्यके लिए यह मान लेना अनिवार्य है कि जो कर्म जीवन-परिमाणके अधिकसे अधिक संरक्षणमें सहायक होते हैं और जो अधिकसे अधिक परिमाणमें अनुकूल या आनन्द-कर भावनाओंको देते हैं उनका आपसमें सामञ्जस्य है।

मिलने वैयक्तिक और सामाजिक रुचियोंकी एकताको सिद्ध करनेका प्रयास किया किन्तु उसका प्रयास स्वप्न बनकर रह गया। वह इसे सिद्ध करनेमें असफल रहा। स्पेंसरने यह समझानेकी चेष्टा की कि प्राकृतिक नियमों तथा वैश्व विकास द्वारा उस पूर्णताकी स्थितिकी क्रमशः स्थापना हो जायगी जिसमें कि रुचियोंकी एकता अपने आप प्राप्त हो सकेगी। यह अवश्य है कि इस दूरस्थ आदर्शको प्राप्त करनेके लिए अविराम उद्यम करनेकी आवश्यकता है। इसे मानवताको अपना ध्येय बनाना होगा। समान जीवयोनियोंके प्राणी होनेके नाते श्रेष्ठतम प्रकारके समाजकी स्थापनाके लिए प्रयास करना होगा। वैसे, चाहे व्यक्ति चाहें अथवा न चाहें, चाहे वे प्रयास करें या न करें, ऐसे श्रेष्ठ एवं शुभ समाजकी स्थापना प्राकृतिक नियम और क्रमविकासका अनिवार्य परिणाम है। ऐसे पूर्ण विकसित समाजमें स्वार्थ-परमार्थका विरोध मिट जायगा। नैतिक कर्त्तव्य करनेमें जो बाध्यता अनुभव होती है वह नहीं रहेगी। स्वार्थ और परमार्थका विरोध परम और चिरस्थायी नहीं है। जहाँतक अपूर्ण तथा अर्ध-विकसित समाजका प्रश्न है, स्वार्थ और परमार्थ दोनोंका ही मूल्य है। जब हम विकसित होते हुए मानव-जीवनका अध्ययन करते हैं तब मालूम पड़ता है कि आत्मत्याग आत्मसंरक्षणके समान ही मौलिक है। सर्वत्र स्वार्थके साथ परमार्थका विकास हुआ है। जीवनके अभ्युदयके समयसे स्वार्थ और परमार्थ एक दूसरेपर निर्भर रहे हैं। विकासके क्रममें इनका पारस्परिक आदान-प्रदान वृद्धि कर रहा है। स्वार्थ और परमार्थको यदि एक दूसरेसे अलग करके देखें तो मालूम होगा कि

स्वार्थ और परमार्थ

स्वार्थ प्रकृतिका प्रथम नियम है। आत्मसंरक्षण प्रथम कर्त्तव्य है और आत्मप्रेम सर्वश्रेष्ठ गुण है। यदि आत्मसंरक्षणकी प्रवृत्ति नहीं होती तो परमार्थ अर्थशून्य हो जाता। बिना आत्मसंरक्षणकी प्रवृत्तिके कोई भी नहीं बचता। नैतिक और जैव दृष्टिसे स्वार्थ परमार्थके पहिले है, क्योंकि व्यक्ति ही सुखका परम आधार है। जहाँतक उसकी विशिष्ट योग्यताओं और शक्तियोंके प्रयोगका प्रश्न है वह केवल व्यक्तिके सुखका ही उत्पादन नहीं करतीं बल्कि उसके चारों ओरके वातावरणका भी निर्माण करती हैं। सामाजिक परिस्थितियों द्वारा मान्य सीमाओंके अन्दर यदि व्यक्ति अपने सुखको खोजता है तो वह अधिकतम सामान्य सुखकी प्राप्तिकी प्रथम आवश्यकता है। यही नहीं, यदि माँ-बाप सन्ततिको अपनी मूल्यवान् देन देना चाहते हैं (उन्हें दृढ़ अंगोंवाला, स्वस्थ और प्रसन्न प्रकृतिवाला बनाना चाहते हैं) तो उनके लिए अपने सुख और स्वास्थ्यकी चिन्ता करना आवश्यक है। यह भी सत्य है कि अच्छे स्वास्थ्य और प्रसन्नचित्तवाला व्यक्ति उन लोगोंपर भी सुखप्रद प्रभाव डालता है जिनके सम्पर्कमें वह आता है। स्वार्थी व्यक्ति उन शक्तियों और योग्यताओंको धारण करता है जो समाजके लिए हितकर हैं। स्वार्थ परमार्थका विरोधी नहीं, सहायक है। परम परमार्थ हानिप्रद है। यदि परमार्थ द्वारा केवल दूसरोंके स्वार्थकी वृद्धि हो तो ऐसे परम परमार्थी व्यक्तिकी जीवनशक्तिका ह्रास हो जायगा। प्राकृतिक चयनमें उसका विनाश अवश्यम्भावी है। ऐसा परमार्थ परमार्थी प्रवृत्तियोंके नाशकी ओर अग्रसर होता है। प्राकृतिक चयन परमार्थी व्यक्तिके विनाशके साथ ही परमार्थी प्रवृत्तियोंको लुप्त कर देगा। जो प्रवृत्तियाँ आत्म-संरक्षणमें सहायक नहीं होतीं वे विकासके क्रममें नष्ट हो जाती हैं। इस भाँति स्वार्थ, परमार्थ, दोनों ही विशिष्ट सीमातक जीवयोनियोंके संरक्षणके लिए आवश्यक हैं। अतः शुद्ध स्वार्थ और शुद्ध परमार्थ दोनों ही नीतिविरुद्ध और मिथ्या हैं। अथवा 'आत्माके लिए जियो' और 'दूसरोंके लिए जियो', दोनों ही सूत्र-वाक्य हानिप्रद और अनुचित हैं। दोनों ही समानरूपसे आत्मघातक हैं।

व्यक्तिको अधिकतम संख्याके अधिकतम सुखकी खोज नहीं करनी चाहिये बल्कि इन दोनोंके बीच पूर्ण समझौता स्थापित करनेका प्रयास करना चाहिये। विकासका क्रम बतलाता है कि ऐसा समझौता धीरे-धीरे स्थापित हो रहा है। प्राकृतिक विकास आंशिक रूपसे सहानुभूतिकी वृद्धि और और आंशिक रूपसे सामाजिक परिस्थितियोंके एकीकरण द्वारा अनवरत रूपसे स्वार्थ और परमार्थकी माँगोंमें अधिकाधिक अनुकूलता ला रहा है। प्राकृतिक चयन और विश्व-विकास वैयक्तिक और सार्वभौम अभिरुचिमें पूर्ण तादात्म्य स्थापित करेगा। यह तादात्म्य प्राकृतिक विकासका अनिवार्य परिणाम रहेगा। व्यक्ति चाहे कैसा ही जीवन क्यों न व्यतीत करे, ऐसे परिपूर्ण समाजकी स्थापना अवश्य होगी; क्योंकि यह विकासका लक्ष्य तथा उसकी पूर्णता है। इस भाँति प्राकृतिक नीतिशास्त्र नैतिकता और कर्तव्यमें सामञ्जस्य स्थापित करता है और कहता है कि यद्यपि मनुष्यको ऐसी नैतिक आदर्श स्थितिकी स्थापनाके लिए प्रयास करना चाहिये तथापि वह वास्तवमें प्राकृतिक नियमों द्वारा ही स्थापित होगी। ऐसी विकसित स्थितिमें व्यक्तियोंको आत्मत्याग और परमार्थका सहज आनन्द आकर्षित करेगा। प्रत्येक व्यक्ति आत्मसुखको भूलकर आत्मत्यागके लिए तत्पर हो जायगा। उसके परमार्थी कर्म उतने ही स्वाभाविक और अनायास रूपसे सम्पन्न होंगे जितने कि सहजप्रेरित, संवेदनजनित कर्म होते हैं। सामान्य रूपसे सन्ततिका जीवन माता-पिताके त्यागपर निर्भर है। निम्न प्राणियों (चिड़ियों) में यह त्याग सहजप्रवृत्तिके रूपमें है और मनुष्यमें सचेत भावनाके रूपमें। सन्ततिके प्रति यह अपत्य-परमार्थ धीरे-धीरे समाज और जातिकी जीवनरक्षाका व्यापक रूप ग्रहण कर सामाजिक परमार्थमें परिणत हो जायगा। आत्मत्यागमें व्यक्तिको प्रसन्नता मिलेगी। दूसरोंके सुख-दुःखके साथ वह अपने सुख-दुःखको युक्त कर लेगा। परमार्थ द्वारा वह स्वार्थ-सुखका आनन्द उठायेगा।

स्पेंसर नैतिक चेतनाके मूलगत लक्षणको किसी एक या बहु भावनाओं द्वारा किन्हीं अन्य भावनाओंके नियंत्रणमें देखता है। विकसित और

नैतिक चेतनाकी उत्पत्ति परिवर्तित होता हुआ आचरण यह बतलाता है कि जीवनके उत्तम संरक्षणके लिए आदिम, सरल और प्रस्तुत (Presentative) करनेवाली भावनाओंका, बादमें, विकसित जटिल (संयुक्त) प्रतिनिधि (Representative) भावनाओं द्वारा नियंत्रण आवश्यक है। स्पेंसर यह मानता है कि चेतनाके परम तत्व भावनाएँ और संवेदनाएँ हैं। भावनाएँ या तो वर्तमानसे अथवा तात्कालिक संवेदनाओंसे सम्बन्धित हो सकती हैं, या वे आदर्श (प्रतिनिधि) भावनाएँ हो सकती हैं जिनका कि भविष्यसे सम्बन्ध है, जैसे—आशा, भय आदि। विकासक्रममें तात्कालिक सरल संवेदनाएँ (वर्तमानसे सम्बन्धित भावनाएँ) जटिल विचारों या भविष्यसे सम्बन्धित प्रतिनिधि भावनाओंपर आधृत बन जाती हैं। ये विकसित जटिल भावनाएँ प्रधानता प्राप्तकर भविष्यके बारेमें बोध देती हैं। विकास बताता है कि भविष्य (दूरस्थ शुभ) के बारेमें सोचनेकी शक्ति जीवनके संरक्षणमें सहायक होती है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक और जैव दृष्टिकोणोंमें परस्पर संगति मिलती है। ये जटिल और विकसित भावनाएँ ही आचरण और उसके बीच सामञ्जस्य स्थापित करनेमें सहायक होती हैं। सरल भावनाओं-को जटिल भावनाओं द्वारा नियन्त्रित करनेके लिए स्पेंसर तीन प्रकारके नियन्त्रणोंकी चर्चा करता है—राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक। ये नैतिक नियमके जन्मके लिए प्रारम्भिक भूमि प्रस्तुत करते हैं। इन नियन्त्रणों-के ही भीतर नैतिक नियन्त्रण विकसित होता है और इन्हींके द्वारा नैतिक कर्त्तव्य या बाध्यताके स्थायीभाव (Sentiment) की उत्पत्ति होती है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक नियन्त्रणोंसे पैदा होनेके कारण कर्त्तव्यकी भावनामें आदेश और बाध्यताके तत्त्व वर्त्तमान रहते हैं। किन्तु वे चिरस्थायी नहीं हैं। इसका कारण यह है कि व्यक्ति और समाज़के बीच अपूर्ण सामञ्जस्य है। व्यक्ति और समाजके अधिकाधिक सामञ्जस्यके साथ तथा नैतिक चिन्तनकी उन्नतिके साथ नैतिक बाध्यताकी भावना लुप्त हो जायगी। उचित कर्मको व्यक्ति सरल आत्मसन्तोषकी भावनाके

साथ करेंगे, नैतिक कर्म अभ्यासजन्य कर्म हो जायँगे। उन कर्मोंको करते समय यह भावना या चेतना नहीं रह जायगी कि उन कर्मोंको करना कर्त्तव्य है, उन्हें करना ही चाहिये। नैतिक कर्मोंको लोग प्रकृतिवश अनायास ही करेंगे। जिस प्रकार अब संवेदनाएँ मनुष्यको परिचालित करती हैं उसी प्रकार नैतिक स्थायीभाव भी पर्याप्त और सहजरूपसे मानव-कर्मोंका सञ्चालन करेंगे। वास्तवमें बाध्यता और कर्त्तव्यकी भावनाके मूलमें समाज और व्यक्तिकी विरोधी रुचियाँ हैं। विकास बतलाता है कि यह विरोध परम नहीं है। विकासकी अन्तिम स्थितिमें इनके बीच पूर्ण समत्व स्थापित हो जायगा। ऐसी पूर्ण समत्वकी स्थितिमें अपने-आप ही बाध्यताकी भावना दूर हो जायगी। नैतिक आचरण प्राकृतिक आचरण है। विकास व्यक्तियोंको उस स्थितिमें पहुँचा देगा जहाँ उन्हें आत्मत्यागमें आनन्द मिलेगा।

उपयोगितावादियोंके विरुद्ध स्पेंसर कहता है कि नैतिक नियम सुख-दुःखके अनुभवोंपर आधारित अनुमानोंका सामान्यीकरणमात्र नहीं हैं।

नैतिक नियम अनुभवनिरपेक्ष नहीं हैं

इन परमार्थी प्रवृत्तियोंको 'विचार-सहयोग' द्वारा नहीं, 'प्राकृतिक चयन' और विश्व-विकास द्वारा ही समझाया जा सकता है; अथवा नैतिक नियम अपने मूल रूपमें उद्भूत सत्य है। इनका जैव और समाजशास्त्रीय आवश्यकताओंके अनुरूप निर्माण हुआ है। उचित नैतिक नियमोंका प्रतिपादन करनेके लिए भी जीवशास्त्र और समाजशास्त्रसे सहायता लेनी चाहिये। उनके नियमोंसे नैतिक नियमोंका निगमन करना चाहिये। नैतिक नियमोंकी उत्पत्ति बतलाती है कि वे अनुभवसापेक्ष नियम हैं। धीरे-धीरे विकासक्रममें ये अनुभवसापेक्ष नियम ही अनुभवनिरपेक्ष नियमोंका रूप ग्रहण कर लेते हैं। विगत जीवनका इतिहास बतलाता है कि विकासक्रममें सरल और निम्न आदर्शकी भावनाएँ अधिक जटिल उच्चादर्शोंकी भावनाओं द्वारा नियन्त्रित होती आ रही हैं। बर्बर सभ्यताके युगमें मनुष्यकी प्रवृत्तियाँ भौतिक आवश्यकताओं तथा भय (जीवन-

संरक्षणकी प्रवृत्ति) से नियन्त्रित हुईं। धीरे-धीरे झुण्ड, समाज, जाति, धर्म, राजनीति आदिके नियमोंने इन्हें शासित किया। जीवन-संघर्षमें नये गुणोंका प्रादुर्भाव हुआ। व्यक्ति तथा जातिके जीवनके संरक्षणके लिए उपयोगी और सहायक गुण ही नैतिक मान्यताओं, उच्च भावनाओं, सहानुभूति, आत्मत्याग आदिके रूपमें मिलते हैं। जीव-रचना (अंगी) को वातावरणके साथ संयोजित करनेवाला आचरण जिन व्यक्तियोंका अभ्यास बन जाता है वही प्राकृतिक चयनमें जीवित रहते हैं। पिता जिन गुणोंको अभ्यासगत विशेषताओंके रूपमें पाता है उन गुणोंको उसकी सन्तति स्वाभाविक प्रवृत्तिके रूपमें पाती है। वंशानुगत होनेके कारण वे गुण स्वाभाविक, सहजप्रेरित एवं सहजात विचारों (अनुभवनिरपेक्ष) का रूप प्राप्त कर लेते हैं। अपने मूलगत रूपमें वे अनुभवसापेक्ष तथा असंख्य पीढ़ियों द्वारा अर्जित अनुभवोंके परिणाम हैं। जीव-रचना और वातावरणकी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा जीवनके प्रत्येक अंगका विकास होता है। जो कुछ भी आज व्यक्ति है, उसका शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, कलात्मक, नैतिक व्यक्तित्व उसे दायरूपमें प्राप्त हुआ है। पैतृक सम्पत्तिके रूपमें पानेके कारण उसके विचार अनुभवनिरपेक्ष लगते हैं। पूर्वजोंके अनुभवोंने जिन गुणोंको उपयोगी और अनिवार्य (व्यक्ति अथवा जातिके जीवनके लिए) पाया उन्हींको उनकी आगामी पीढ़ीने मौलिक नैतिक सद्गुणोंके रूपमें पाया। नैतिक सहजज्ञान वंशानुगत गुण है। सामाजिक, पारमार्थिक और सहानुभूतिमूलक प्रवृत्तियाँ परम्परागत हैं। स्पेंसरका यह कहना है कि विकासके क्रममें उन नियमोंका प्रादुर्भाव होता है जो जीवन-संरक्षणके लिए अनिवार्य हैं। न्यायकी धारणाकी भी उत्पत्ति हुई है। न्यायकी धारणाके मूलमें भी जैव नियम है। प्रतिकार सम्बन्धी न्यायका सिद्धान्त (The formula of retributive justice) अयोग्य जातियों और व्यक्तियोंका नाश कर देता है। यह साम्यवादी समानताके विरुद्ध है। स्पेंसर यह मानता है कि न्याय सबको कर्म करनेके लिए समान परिस्थिति (समानता) देता है; किन्तु साथ ही वह यह कहता है कि

व्यक्ति अपनी क्षमताके अनुसार ही सुख भोगते हैं, जीवित रहते हैं (असमानता)। जहाँतक नैतिक आदेशोंका प्रश्न है, स्पेंसर उन्हें स्वीकार करता है। पर, उपयोगितावादियोंके विरुद्ध वह कहता है कि नैतिक आदेश, उदाहरणार्थ 'चोरी नहीं करना चाहिये', 'झूठ नहीं बोलना चाहिये' आदि, इसलिए उचित नहीं हैं कि वे सुखप्रद हैं किन्तु इसलिए कि वे सामाजिक जीव-रचनाके जीवनका संरक्षण करते हैं। स्पेंसर जब विशिष्ट व्यावहारिक नियमोंकी व्याख्यापर पहुँचता है तब वह अपने समयके लगभग सभी प्रचलित नियमोंको स्वीकार कर लेता है—यथा, सच बोलना चाहिये, झूठ नहीं बोलना चाहिये, चोरी नहीं करना चाहिये, अश्लील पुस्तकें नहीं पढ़नी चाहिये आदि। इसका कारण यह है कि वह कट्टरपन्थी स्वभावका था। वह नैतिक नियमोंका जैव स्पष्टीकरण करता है और प्रचलित नियमोंको इसलिए स्वीकार कर लेता है कि उनके प्रतिकूल आचरण विकासके लिए बाधक तथा सामाजिक स्वास्थ्यके लिए हानिप्रद है।

समाजकी व्याख्या

विकासवादियोंसे पूर्वके विचारकोंने व्यक्ति और समाजके सम्बन्धको समझाना चाहा। इस सम्बन्धको बाह्य मान लेनेके कारण अथवा स्वार्थ और परमार्थमें विरोध मान लेनेके कारण वे नैतिक धारणाओंके आदि कारणको नहीं समझा सके। हॉब्सने कहा कि व्यक्तिके स्वार्थ और उसकी आवश्यकताओंने उसे सामाजिक जीवन बितानेके लिए बाध्य किया। सामाजिक आचरणके मूलमें स्वार्थ है। ह्यूम और ऐडम स्मिथने कहा कि सहानुभूति या परस्परकी भावनाने ही नैतिकताकी धारणाको जन्म दिया है। वह सामान्य भावना है। नैतिकताका उद्गम हृदयकी सामान्य भावना है। नैतिक गुण वह गुण है जो समाजके लिए हितकर है। मिल और बैंथमने 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख'को नैतिक ध्येय बतलाया। एक बार यह स्वीकार कर लेनेपर कि व्यक्ति और समाज एक-दूसरेसे भिन्न हैं, सामाजिक आचरणको समझाना असम्भव हो जाता है। उपयोगितावादियोंने समाजको व्यक्तियोंके उस समुदायके रूपमें देखा जिसमें वैसी ही यान्त्रिक संगति है

जैसी कि अणु-परमाणुओंसे संघटित जड पदार्थमें । किन्तु जब यह प्रश्न उठाया जाता है कि समाजके आत्मचेतन अणुओंने अपनेको एक दूसरेसे कैसे युक्त किया तो उपयोगितावादियोंका स्पष्टीकरण काल्पनिक स्पष्टीकरण-मात्र रह जाता है । इस अणुवादी धारणाके बदले नृतत्वशास्त्रने जीव-रचना एवं अंगी (Organism) की धारणा दी है । उसने यह समझाया है कि मनुष्य और समाजका सम्बन्ध अनन्य है । यह जीव-रचनाका सम्बन्ध है । यह सम्बन्ध बाह्य नहीं है । सामाजिक जीव-रचनाका विकास हो रहा है । यह विकास एकता और विभिन्नतासे सम्बद्ध एक अविभाजित पद्धतिक्रम है जहाँ कि समाजका विधान अथवा उसकी बनावट अधिक जटिल होती जा रही है और व्यक्ति एक-दूसरेपर अधिकाधिक निर्भर होते जा रहे हैं । डार्विनने विकासकी धारणाको जीवयोनियोंके पृथक्करणके रूपमें समझाया था । स्पेंसरने इस धारणाको स्वीकार करते हुए उसका सामान्यीकरण कर दिया । उसने विकासको उस पद्धतिक्रमकी भाँति लिया जो एकरूपतासे अनेकरूपता एवं सरलसे जटिलकी ओर बढ़ रहा है । प्रत्येक स्थितिमें प्रारम्भिक और सरल इनी-गिनी आवश्यकताओंकी परिणति संख्यामें अधिक जटिल आवश्यकताओंमें हो जाती है जो जीवन-संघर्षका परिणाम है और जिसमें परिस्थितियोंके अनुकूल अपनेको बदलनेकी अधिक क्षमता सदैव लाभप्रद होती है । वह कहता है कि वातावरणके साथ सफलतापूर्वक सामञ्जस्य स्थापित करनेपर ही जीवनका क्रम चलता है । इस विकासके सम्पूर्ण पद्धतिक्रमको उसने सामञ्जस्यकी बढ़ती हुई जटिल शक्तिके रूपमें समझा । निम्न प्राणियोंकी ध्वनि, रंग और गंधके संवेदनोंके प्रति तत्क्षण सीधी और प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया होती है । उनके अनुभव सरल होते हैं । प्रकृति जिस प्रकार प्रेरित करती है उसी प्रकार वे कर्म करते हैं । किन्तु स्तनपायी जीवोंमें, विशेषकर मनुष्यमें, चुनाव और अलगावके सामञ्जस्यकी शक्तियाँ अत्यन्त सूक्ष्म और सूझबूझसे भरी अथवा जटिल होती हैं । मनुष्यकी इच्छाओं और आकांक्षाओंकी वृद्धिके साथ सामञ्जस्य अत्यन्त कठिन और दुरूह होता जा रहा है । इस दुरूहताके साथ ही वह

युगपत् रूपसे, दिन प्रतिदिन, वातावरणपर अधिकाधिक निर्भर होता जा रहा है। विकास यह भी बतलाता है कि उसका पद्धतिक्रम अपूर्ण सामञ्जस्य-से पूर्ण सामञ्जस्यकी ओर है। सीधी, सरल भावनाओंसे क्रम-विकास द्वारा अत्यन्त जटिल भावनाओंतक पहुँचना अर्थात् पूर्ण विकसित नैतिक भाव-नाओंका विकास ही इसका ध्येय है। भावनाओंकी पूर्ण विकसित स्थितिमें बाध्यताकी भावना, कर्त्तव्यकी चेतना सहजप्रवृत्तिका रूप ग्रहण कर लेती है। यह नैतिक पूर्णता (Moral Perfection) की स्थिति है। नैतिकता-का विकास मनुष्य और वातावरणके बीच पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित कर देगा। नैतिकता 'वह रूप है जिसे सार्वभौम आचरण अपने विकासकी अन्तिम स्थितियोंमें प्राप्त करता है।' अतः आचरण 'कर्मोंका ध्येयोंके साथ सामञ्जस्य है।' नैतिक विकास मनुष्य और परिस्थितियों एवं जीवन-संरक्षणकी सर्वांगपूर्ण स्थितिके एक पूर्ण और जटिल विकासका सूचक है। नैतिक पूर्णताकी स्थितिमें व्यक्ति और वातावरणके बीच पूर्ण सामञ्जस्य स्थापित हो जायगा तथा जीवन-संरक्षणके लिए व्यापक और स्वस्थ वाता-वरण उपस्थित हो जायगा।

स्पेंसरने पूर्ण सामञ्जस्य और अपूर्ण सामञ्जस्यकी स्थितियोंके आधारपर दो प्रकारके नीतिशास्त्रोंको माना है। विकासके पद्धतिक्रममें मध्यकी

सापेक्ष और निर-पेक्ष नीतिशास्त्र

स्थिति अपूर्ण सामञ्जस्यकी स्थिति है। इसमें दुःख-रहित सुखकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस स्थितिके लिए आचरणके नियमोंका प्रतिपादन सापेक्ष नीति-शास्त्र (Relative Ethics) करता है। वास्तवमें यह स्थूल और अनु-भवात्मक रूपसे निर्धारित करता है कि निरपेक्ष नीतिशास्त्र (Absolute Ethics) के नियमोंको मानव-प्राणियोंकी वर्तमान स्थितिसे कैसे सम्बद्ध किया जा सकता है। जहाँतक निरपेक्ष नीतिशास्त्रका प्रश्न है, उसके नियम उस पूर्ण विकसित समाजके लिए हैं जो कि स्थायी सन्तुलन (Stable equilibrium) प्राप्त कर चुका है। इस समाजका मानव पूर्णरूपसे संयोजित मानव है। यहाँ न तो दुःखके लिए स्थान है और न

किसी प्रकारके विरोधके लिए। ऐसा आचरण जिसका परिणाम अमिश्रित एवं शुद्ध सुख है, पूर्णरूपसे उचित है। उचित आचरणवाला व्यक्ति सहानुभूतिमूलक कर्मों और नैतिक कर्त्तव्यको स्वाभाविक तथा अनायास रूपसे करेगा। वह सद्गुणोंको आत्मसात् कर लेगा। नैतिक विज्ञान उन सत्योंको व्यक्त करता है जो पूर्णरूपसे उचित हैं। ऐसा शास्त्र वर्तमान जगतके वास्तविक व्यक्तियोंके आचरणसे सम्बन्ध नहीं रखता। निरपेक्ष नीतिशास्त्रके नियम उस जगतके लिए नहीं हैं जिसमें कि व्यक्तियोंका वास्तविक अस्तित्व है, जो उन्हें चिरपरिचित है तथा जिसमें वे क्रिया-कलाप करते हैं। वह उस आदर्श जगतके आदर्श व्यक्तियोंके लिए हैं जिनके कर्म पूर्णरूपसे उचित तथा दुःखसे अमिश्रित हैं।

लैस्ली स्टीफेन

लैस्ली स्टीफेन[1]ने स्पेंसरके विकासात्मक सुखवादको अपनी विशेषताएँ रखते हुए अपनाया। इनकी सबसे प्रमुख विशेषता अथवा स्पेंसरके सिद्धान्तको महत्वपूर्ण देन समाजकी जीव-रचना एवं अंगी (Organism) की धारणा है। इसमें सन्देह नहीं कि स्पेंसरने इस विचारधाराकी नींव डाली, किन्तु उसकी नींव कच्ची और खोखली है। उसे इस धारणाका संस्थापक कहना उचित नहीं होगा। केवल इतना मानना पर्याप्त होगा कि उसने इस शब्दका प्रयोग किया। 'जीव-रचना' के प्रयोग द्वारा वह व्यक्ति और समाजके सम्बन्धका व्यापक और यथार्थ चित्र नहीं खींचता, किन्तु उसे अधिकतर रुचिकर सादृश्य या रूपकके रूपमें लेता है। स्टीफेन उसे निश्चित रूपसे मुख्य नैतिक तत्व मानता है। उसका कहना कि सत्यका पूर्ण दर्शन यह बतलाता है कि समाज समुदायमात्र नहीं है, जीव-रचनाका विकास है। व्यक्ति और जातिका अध्ययन यह बतलाता है कि व्यक्ति एकाकी अणुकी भाँति नहीं रह सकता। वह उसी भाँति समाज पर निर्भर है जैसे कि अवयव देहपर हैं। व्यक्तिको सदैव समाजके ही

१. Leslie Stephen.

सम्बन्धमें समझ सकते हैं। उसकी इच्छाओं, आकांक्षाओंकी तृप्ति समाजमें ही सम्भव है। जो कुछ भी वह है, समाजके कारण है। समाज़की पूर्व-स्थितिसे आनुवंशिकताके रूपमें उसने अपनी मौलिक प्रवृत्तियों और स्वाभाविक प्रकृतिको पाया है। उसका बौद्धिक और मानसिक व्यक्तित्व उसे समाजकी देन है। उसके व्यक्तित्वका निर्माण सामाजिक संस्थाओं, भाषा, शिक्षा एवं वातावरणपर निर्भर है। अथवा समाज एक जीव-रचनाकी भाँति है जिसपर उसके व्यक्तिरूपी अवयव परस्पर निर्भर हैं; बिना समाजके वे नहीं रह सकते। वे समाजसे संयोजित होनेका निरन्तर प्रयास करते रहते हैं। समाज केवल इस अर्थमें जीव-रचना नहीं है कि व्यक्तियोंके जीवनका स्वरूप समष्टिके सम्बन्धमें निर्धारित होता है अथवा जैसे कि विभिन्न अवयव देहसे संयोजित हैं; किन्तु यह अन्य जीव-रचनाओं-की तरह परिस्थितियोंपर अपनी प्रतिक्रियाओंसे वर्धित और विकसित होता है। सामाजिक तन्तु (social tissue) का क्रमशः अनेक प्रकारसे सुधार हो रहा है ताकि उसके अवयव अधिक पूर्णतासे संयोजित होकर जीव-रचनाके विभिन्न व्यापारोंको समष्टि रूपसे परिपूर्ण कर सकें। सामाजिक रचनाकी गतिका ध्येय सामाजिक "प्रकार"(social "type") का विकास है। अथवा उस प्रकारके समाजको उत्पन्न करना है जो कि सामाजिक जीवनमें दिये हुए साधन और साध्यकी अधिकतम कार्यक्षमता (efficiency) का प्रतिनिधि हो सके। सामाजिक विकासका अर्थ दृढ़ सामाजिक तन्तुका विकास है, सर्वश्रेष्ठ प्रकार वह है जो दृढ़तम तन्तुके प्रकारसे उपलक्षित होता है। समाजके विकासमें जो समस्या धीरे-धीरे हल हो रही है वह उस 'सामाजिक तन्तु' या मूलगत विधानकी है जो जीवन्त और सक्षम है।

समाजके स्वरूपको जैवरूपसे समझनेके पश्चात् लैस्ली स्टीफेन कहता कि जीवनके ध्येयका वैज्ञानिक मानदण्ड स्वास्थ्य है, सुख नहीं। स्पेंसर-

नैतिक ध्येय : स्वास्थ्य

का कहना था कि जब वैयक्तिक जीवन लम्बाई और चौड़ाईमें अधिकतम हो जाता है तब विकास अपनी सीमाको प्राप्त कर लेता है। किन्तु लैस्ली स्टीफेन

स्पेंसर तथा बैंथम और मिल एवं उपयोगितावादियोंके 'अधिकतम संख्याका अधिकतम सुख'के विरुद्ध कहता है कि नैतिक ध्येय जीव-रचना अथवा सामाजिक तन्तुका स्वास्थ्य या कार्यक्षमता है। अतः सामाजिक विकास-क्रमकी अन्तिम स्थितिको वह 'अभिवृद्धि', 'उन्नति', जीवनकी 'अधिकतम परिपूर्णता' आदि विभिन्न शब्दों द्वारा समझाता है। वह यह बतलाता है कि उपयोगितावादी और विकासवादी मानदण्डोंमें वास्तविक अन्तर यह है कि उपयोगितावाद सुखको मानदण्ड मानता है और विकासवाद सामाजिक स्वास्थ्यको। वैसे, सुख और स्वास्थ्य भिन्न नहीं हैं। वे एक दूसरेके अनुरूप हैं। किन्तु फिर भी कर्मोंके बाह्य (सुखप्रद अथवा दुःखप्रद) परिणामसे उनके औचित्यको नहीं आँका जा सकता। वही कर्म शुभ हैं जो सामाजिक स्वास्थ्यके लिए लाभप्रद हैं। सामाजिक जीवन जीव-रचनाका विकास है। कर्मके परिणामका तभी भलीभाँति गुणगान किया जा सकता है जब कि वह उसकी मूलगत बनावटका उन्नयन और सुधार करे, न कि जब वह उसकी क्षणिक स्थितिको प्रभावित करे। सामान्यतः हानिकारक कर्म दुःखप्रद होते हैं और लाभकारक कर्म सुखप्रद। नैतिकता सामाजिक जीव-रचनाके कुछ महत्वपूर्ण गुणोंकी परिभाषा है। नैतिक नियम सामाजिक तन्तुके गुणोंकी व्याख्या है। वे सामाजिक कल्याण एवं स्वास्थ्यकी स्थितिका वर्णन करते हैं। जीवनकी आवश्यकताओंके अनुरूप ये नियम बदलते रहते हैं। नैतिकता समाजकी रक्षा करनेवाली सहज-प्रवृत्तियोंका जोड़ है। नैतिक आदेशोंका औचित्य इसपर निर्भर नहीं है कि उनके पालन करनेसे सुख प्राप्त होता है बल्कि वे जीव-रचनाकी कार्यक्षमता और प्राणशक्तिसे मूलतः सम्बद्ध हैं। वस्तुगत दृष्टिसे नैतिक नियमोंका सामाजिक प्राणशक्तिकी स्थितियोंसे एकीकरण किया जा सकता है। नैतिक नियम वे नियम हैं जो जीवनकी आवश्यकताओंको व्यक्त करते हैं। वही नियम शुभ है जो सामाजिक स्वास्थ्यके संरक्षणमें सहायक है। विकासके साथ ही नैतिक नियम अधिक स्पष्ट होते जायँगे और सामाजिक प्रकार अधिक व्यापक होता जायगा। सामाजिक प्रकारकी व्यापकता नैतिक

नियमोंकी प्राप्तिके साधनोंको स्पष्ट रूपसे समझा देगी। नैतिक दृष्टिसे वस्तुगत ध्येय सामाजिक स्वास्थ्य या सामाजिक कल्याण है। इसीका आत्मगत रूप सहानुभूति या सामाजिक प्रवृत्ति है। समाजका विकास सामूहिक भावना या सहानुभूतिका विकास करता है। यह उपयोगी भावना है। यही वास्तवमें अन्तर्बोध है। यह अनुभवनिरपेक्ष नहीं है। यह जनसाधारणकी वाणीकी व्यक्तिमें प्रतिध्वनि है। अथवा अन्तर्बोध जातिकी सार्वजनिक चेतनाकी वह पुकार है जो हमें उसके कल्याणकी प्रमुख आवश्यकताओंकी पूर्तिकी आज्ञा देती है। इसी भाँति नैतिक अनुमोदन उस स्थायी भावका नाम है जिसका विकास व्यक्तिमें सामाजिक माध्यमसे हुआ है और जो उसके चरित्रका इस भाँति उन्नयन करता है कि वह सामाजिक तन्तुका योग्य सदस्य बन जाता है। स्वस्थ समाजका प्रत्येक सदस्य अपनेको सामाजिक रचनाका अंग मानता है और सामाजिक कल्याणके लिए तत्पर रहता है। लैस्ली स्टीफेन यह समझानेका प्रयास करता है कि नैतिक नियम निरपेक्ष नहीं हैं। इनकी उत्पत्ति विकासके क्रममें हुई है। उसके अनुसार मानसिक दबाव ही नैतिकताको उत्पन्न करता है और उसकी रक्षा एवं पालन करता है। मनुष्यकी चेतनामें वही नैतिकताका प्रतिनिधि है। वह यह भी मानता है कि विकासके क्रममें एक प्रकारका आचरण ही नहीं बल्कि एक प्रकारका चरित्र भी विकसित होगा। विकासके क्रममें मनुष्य नैतिकताके बाह्य रूप 'यह करो' से उसके आन्तरिक रूप 'यह बनो' में पहुँच जायगा। अर्थात् नैतिक विकासके क्रममें बाह्य कर्त्तव्यबुद्धिसे कार्य करनेसे वह अन्ततः कर्त्तव्यपूर्ण बन जायगा।

निरपेक्ष नीतिशास्त्रकी आलोचना

लैस्ली स्टीफेन स्पेंसरके निरपेक्ष नीतिशास्त्रकी आलोचना करता है। स्पेंसरने यह कहा कि सरल आकारोंसे जटिल आकारोंके क्रम-विकासको अथवा अपूर्ण संयोजनसे पूर्ण संयोजनकी स्थितिको प्राप्त करना विकासका ध्येय है। यह नैतिक पूर्णताकी स्थिति है। विकासके परम ध्येयको मानकर स्पेंसरने

हेतुवादको स्वीकार किया। उसने निरपेक्ष नीतिशास्त्रकी श्रेष्ठताको माना। निरपेक्ष नीतिशास्त्रका सम्बन्ध वर्तमान जगतसे नहीं, किन्तु सुदूर भविष्यसे है। लैस्ली स्टीफेनने समाजकी तथ्यात्मक व्याख्या की। उसने समाजको जैसा देखा और समझा उसका वैसा ही वर्णन किया और समाजके संरक्षण, स्वास्थ्य और सन्तुलनको परम ध्येय बतलाया। नैतिक नियम समाजके स्वास्थ्यका वर्णन है और सामाजिक सन्तुलनकी रक्षाकी क्षमता सद्गुण है।

अलेग्जैण्डर

अलेग्जैण्डर[1] वस्तुतः लैस्ली स्टीफेनके सिद्धान्तको मानता है। वह अपने सिद्धान्तको सामाजिक जीव-रचना या सामाजिक विधानकी धारणा द्वारा समझाता है। उसके अनुसार शुभ और कुछ नहीं, वह केवल सन्तुलित समष्टिमें संयोजन है। उसके अनुसार आचरणके औचित्य-अनौचित्यको एक विशिष्ट मानदण्ड द्वारा निर्धारित किया जाता है। इस मानदण्डका ही नाम नैतिक आदर्श है। नैतिक आदर्श आचरणका सन्तुलित विधान है। यह विरोधी प्रवृत्तियोंपर आधारित है और उनके बीच सन्तुलन स्थापित करता है। अतः परम शुभ आचरणका पूर्णरूपसे संयोजित शुभ एवं सामाजिक जीव-रचनाका सन्तुलन है।

सामाजिक सन्तुलन

डार्विनने पशु जीवयोनियोंके विकासको प्राकृतिक चयन (जीवन-संघर्ष और योग्यतमकी जीवनविजय) द्वारा समझाया। अलेग्जैण्डर ने नैतिक मान्यताओं और पशु-जीवनके विकास और उन्नतिमें प्राकृतिक चयनका सादृश्य पाया। उसने कहा कि नैतिक जीवनमें प्राकृतिक चयनका क्रम मिलता है। लैस्ली स्टीफेनके साथ उसने स्वीकार किया कि प्राकृतिक चयनके कारण विकासके क्रममें आचरणका वह प्रकार सुरक्षित रह जाता है जो अधिकतम योग्य और पूर्णरूपसे सन्तुलित है। प्राकृतिक चयन वह पद्धतिक्रम है जिसके कारण विभिन्न जीवयोनियाँ प्रभुत्वके लिए संघर्ष करती हैं और जो विजयी होती हैं वे सापेक्षतः स्थायी हो जाती हैं। पशु-जगतमें कुछ जीवयोनियाँ

नैतिकताके क्षेत्रमें प्राकृतिक चयन

१. Samuel Alexander.

विशिष्ट प्राकृतिक गुणोंके कारण अन्य जीवयोनियोंकी तुलनामें जीवित रहनेके अधिक योग्य होती हैं। प्राकृतिक चयनमें उनका जीवन सुरक्षित रहता है। उनकी सन्तति आनुवंशिकताके रूपमें इन विशिष्टताओंको प्राप्त कर लेती हैं। जो जीवयोनियाँ इन विशिष्टताओंसे रहित हैं, विकासके क्रममें उनका अस्तित्व मिट जाता है। पशु-जीवन और नैतिक जीवनमें प्रमुख भेद यह है कि नैतिकताका क्षेत्र मानसका क्षेत्र है, न कि पशुताका। पशु-जीवनमें सबल और सशक्तका संघर्ष दुर्बल और निःशक्तके साथ होता है और नैतिक जीवनमें आदर्शों या जीवनप्रणालियोंका संघर्ष मिलता है। प्राकृतिक चयनमें वे प्रणालियाँ जीवित रहती हैं जो सामाजिक कल्याणकी वाहक हैं। उदाहरणार्थ, जब विकासक्रममें कुछ व्यक्ति मनन-चिन्तनके परिणामस्वरूप आचरणका एक नवीन आदर्श—उच्च सामाजिक मान्यताओंके रूपमें—प्रस्तुत करते हैं तो वे विरोधी मतवालोंकी आलोचनाका विषय बन जाते हैं। यदि कोई समर्थ बुद्धिमान् व्यक्ति समाजके लिए कल्याणकारी विचारोंका प्रतिपादन करता है—दासप्रथा, निर्दयता, अविनय, असमानता आदिके विरुद्ध आवाज उठाता है तो अन्य व्यक्ति उसकी कटु आलोचना करते हैं। फिर भी ऐसे व्यक्तिके विचार तथा जीवन-प्रणाली अपनी उच्चताके कारण अन्तमें विजयी होती है। प्रारम्भमें सम्भव है कि वह अकेला ही, अथवा अपने दो-चार मित्रोंके साथ, इस आदर्शकी स्थापनाके लिए प्रयास करते-करते मर जाय या लोग उसे मार डालें; किन्तु धीरे-धीरे उसका आदर्श जीवन्त हो उठता है। अधिकतम लोग इस विचाराधाराको स्वीकार कर लेते हैं। उन्हें उसमें अपने विचारोंका प्रति-बिम्ब मिलता है। यह विचारधारा प्रबोधन और शिक्षा द्वारा धीरे-धीरे प्रचलित होकर विश्वव्यापी प्रसिद्धि पा लेती है। वास्तवमें प्रबोधन और शिक्षा नैतिक जीवनमें बिना विनाशके उस प्रणालीको दूसरे रूपमें स्थापित करते हैं जिसके द्वारा प्राकृतिक जगतमें समान जीवयोनियोंकी उत्पत्ति और विरोधी जीवयोनियोंका विनाश होता है। प्रबोधन द्वारा विरोधियोंका विनाश होता है अथवा एक मानसकी दूसरे मानसपर विजय प्रबोधनपर

ही निर्भर है। अतः जीवयोनियोंकी उत्पत्तिकी भाँति ही नैतिक आदर्शोंकी उत्पत्तिको भी प्राकृतिक चयनकी पद्धतिसे समझाया जा सकता है।

आलोचना

विकासवादी सुखवादियोंने नैतिक मान्यताओंके उद्‌गम और विकासको समझना चाहा। नैतिकताको वैज्ञानिक आधार देनेके प्रयासमें उन्होंने उसे जीवशास्त्रसे सम्बद्ध किया। नैतिक विकासको विश्व-विकासका अंग मानकर नैतिकताको समझनेके लिए विकासके पद्धतिक्रमको समझना आवश्यक बतलाया। उनका सिद्धान्त वास्तवमें प्रकृतिवाद है। नैतिक मान्यताओंके उचित मूल्यको समझानेके बदले वे केवल यह समझानेका प्रयास करते हैं कि नैतिक मान्यताओंकी उत्पत्ति कैसे हुई और मानव-जातिके जीवनकी वृद्धि या ह्रासमें वे कहाँतक सहायक हुई हैं। प्राकृतिक घटनाओंमें कार्य-कारणका सम्बन्ध मिलता है। वर्तमान घटनाको समझनेके लिए भूतकालीन घटनाका ज्ञान अनिवार्य है। अथवा जहाँतक प्राकृतिक घटनाओंका प्रश्न है, वे ध्येय (आदर्श) की ओरसे उदासीन हैं। नीतिशास्त्र आदर्शोंको निर्धारित करता है। यह पता लगाता है कि आदर्श आचरणको कैसे प्रभावित कर सकते हैं। प्राकृतिक घटनाओंका सम्बन्ध 'क्या है' (वास्तविकता) से है और नीतिशास्त्रका सम्बन्ध 'क्या होना चाहिए' (आदर्श) से है। पहलेका सम्बन्ध भूतकालसे और दूसरेका भविष्यसे है। विकासवादियोंने नीतिशास्त्रकी व्याख्या प्राकृतिक विज्ञानकी भाँति की। इसे आदर्शविधायक विज्ञान नहीं माना। उन्होंने नैतिक जीवनके विकासका प्राकृतिक इतिहास दिया। नैतिक आदर्शके स्वरूपको नहीं समझाया। नीतिशास्त्रकी ऐसी व्याख्या ऐतिहासिक जिज्ञासाकी तृप्ति है, न कि नैतिक जिज्ञासाकी। नैतिक जिज्ञासाका समाधान तभी सम्भव है जब कि आचरणके औचित्य और अनौचित्यपर प्रकाश डाला जाय; यह बतलाया जाय कि क्यों किसी विशेष प्रकारके आचरणको शुभ कहते हैं। अलेग्जैण्डरका सिद्धान्त इस ओर थोड़ा अग्रसर हुआ है। वह कहता है कि

नैतिकताका प्राकृतिक विज्ञान

जीवनकी वह प्रणाली अच्छी है जो समाजमें सन्तुलन स्थापित करती है। जीवशास्त्रसे अत्यधिक प्रभावित होनेके कारण वह इस प्रश्नके महत्तर पहलूको छोड़ देता है। वह यह नहीं बतलाता कि यह सन्तुलन महत्वपूर्ण क्यों है। नैतिक आदर्शके स्वरूपको समझानेके बदले विकासवादी कहते हैं कि विकासक्रममें वे नियम रहते हैं जो जीवनके संरक्षणमें सहायक हैं। ये नियम उचित क्यों हैं, मनुष्यका क्या कर्त्तव्य है, आत्म-चेतन प्राणी किस आदर्शको प्राप्त करना चाहता है, उसे आत्म-सन्तोष कैसे प्राप्त हो सकता है, इन सब प्रश्नोंसे विकासवादी उतने ही दूर हैं जितनी कि निम्न जीवयोनियाँ हैं। उन्होंने नैतिकताकी ऐतिहासिक और वैज्ञानिक व्याख्या की। मनुष्यके बौद्धिक, आध्यात्मिक स्वभावको भूलकर उसे जीवनका तटस्थ दर्शकमात्र मान लिया। उनके सिद्धान्तको प्राकृतिक सिद्धान्त कहना उचित होगा। नैतिकताकी धारणा मूल्यपरक है, न कि वस्तुपरक। नीतिशास्त्र अनुभवात्मक और यथार्थ विज्ञान नहीं, इसका भूतकालीन घटनाओं अथवा नैतिकताके इतिहाससे प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। एक नीतिज्ञके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह नैतिक विकासके इतिहासपर प्रकाश डाले, ठीक जिस प्रकार एक ज्यामितिके विशेषज्ञके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह ज्यामिति सम्बन्धी देश और उसके विविध रूपोंका नृतत्वशास्त्र या मनोविज्ञानकी दृष्टिसे निरूपण करे। नैतिक दार्शनिकका कार्य केवल नैतिक चेतनाके तत्वोंका ज्योंका त्यों विश्लेषण करना है। नैतिक चेतनाके सच्चे स्वरूपका वर्णन उसके उद्गमके सच्चे वर्णनसे विकृत नहीं हो सकता है।[1]

इसे सुखवाद कहना भ्रान्तिपूर्ण है

स्पेंसर सुखको परम ध्येय मानता है किन्तु साथ ही स्पष्ट रूपसे कहता है कि सुख अपने-आपमें मानदण्ड नहीं है। नैतिक दृष्टिसे कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यका मानदण्ड शारीरिक स्वास्थ्य है। शारीरिक स्वास्थ्य एवं जातिका जीवन ही सन्निकट ध्येय है। सन्निकट ध्येय और परम ध्येयके बीच वह यह कहकर सामञ्जस्य स्थापित करता है कि नैतिक उद्देश्यके लिए यह मान

1. Rashdall—The Theory of Good & Evil, Vol. II, p. 357.

लेना चाहिये कि अधिकतम परिमाणके जीवनका और अधिकतम परिमाण-के सुखका उत्पादन करनेवाले कर्मोंमें सामञ्जस्य है। स्पेंसरकी उपर्युक्त मान्यता क्या अपनेको सिद्ध करती है? उसका यह कथन, सम्भव है, इस विश्वासपर आधारित है कि आदर्श समाज (पूर्ण सामञ्जस्यकी स्थिति) का निरपेक्ष नीतिशास्त्र उन आचरणके नियमोंका प्रतिपादन करता है जो कि दुःखरहित पूर्ण सुखका उत्पादन करते हैं। ऐसे आशापूर्ण भविष्यसे सम्बन्धित नियम वर्तमान स्थितियोंका समाधान नहीं कर सकते, वे वास्त-विक जगतके लिए व्यावहारिक नियम नहीं दे सकते हैं। वे सुखप्रद और स्वास्थ्यप्रद कर्मोंमें एकत्व स्थापित नहीं कर सकते। सच तो यह है कि सुख और दुःखकी मानसिक-कायिक खोज यह व्यावहारिक ज्ञान नहीं दे सकती कि किस परिस्थितिमें सुख—विशेषकर उच्च सुख—प्राप्त हो सकता है। यह कहना कि वस्तु कब और किसे सुख दे सकती है, यह परिस्थिति—मानसिक और भौतिक—के व्यापक ज्ञानकी अपेक्षा रखती है।

वास्तविक जगतका अनुभव बतलाता है कि सुखप्रद कर्म अनिवार्य रूपसे स्वास्थ्यवर्धक नहीं होते। सुख जीवन-वृद्धिका सूचक नहीं है। स्पेंसर-के अनुसार भी सुख अपने-आपमें मानदण्ड नहीं है, उसका महत्व गौण है। जीवन-संरक्षण ही सब कुछ है, वही सुखदाता है। स्पेंसरके ऐसे सिद्धान्तको सुखवादी कहना उतना ही अनुचित है जितना कि उस विद्याको नक्षत्रविद्या कहना जो कि नक्षत्रोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखती। सुखको साम्राज्यच्युत और शक्तिहीन करके स्पेंसरने अपने सिद्धान्तको सुखवादी कहा, यह विचित्र है। लैस्ली स्टीफेन उन कर्मोंको उचित कहता है जो सामाजिक रचना और प्राणशक्तिके संरक्षण और विकासमें सहायक हैं। अतः वह व्यावहारिक दृष्टिसे सुखको मानदण्ड नहीं मानता। वह नैति-कताके वैज्ञानिक मानदण्डकी खोज करता है और फलस्वरूप कहता है कि नैतिकताका वैज्ञानिक मानदण्ड स्वास्थ्य है, न कि सुख। जीवनका विस्तार और संरक्षण ही परम और सत्य ध्येय है। सुख इसका सहचारीमात्र है। सामाजिक स्वास्थ्यको इस भाँति महत्व देकर वह बैंथमके कथन कि कर्मों

द्वारा 'दुःखके ऊपर सुखका सन्तुलन रखना चाहिये' को भी एक वस्तुगत जैव रूप दे देता है : जीवनके परिणाममें सहायक कर्म शुभ हैं अथवा सुख अपने-आपमें मानदण्ड नहीं है। कुछ कर्म सुखके लिए मानदण्ड बन जाते हैं। जो कर्म सामाजिक रचनाकी प्राणशक्तिकी वृद्धि करते हैं, वही सुखप्रद हैं। नैतिक नियमोंका मूल्य उनके सुखप्रद होनेपर नहीं बल्कि उनके सामाजिक रचनाके संरक्षणके लिए उपयोगी होनेपर निर्भर है। विकासवादियोंने यह बतलाया कि नैतिक जीवनमें सुखका उचित स्थान क्या है। सुख, जैसा कि सुखवादकी आलोचनाके अन्तर्गत कह चुके हैं, आत्म-चरितार्थताकी भावना है। सुखकी यह परिभाषा विकासवादियोंके इस सिद्धान्तके अनुरूप है कि परिस्थितियोंके अनुरूप कार्यव्यापार होने चाहिये। यह उनके इस कथनको भी स्वीकार करता है कि सुखका प्रभाव प्राणशक्तिको जीवित रखता है और उसकी वृद्धि करता है। यही सुखकी जीवनके सब अंगोंको महत्वपूर्ण देन है। सुखको आत्म-चरितार्थताकी भावना माननेवाला सिद्धान्त विकासवादियोंकी इस देनको सहर्ष स्वीकार करता है। वास्तवमें यह अरस्तूके उस कथनका स्मरण दिलाता है जिसके अनुसार सुख विकसित प्राणशक्तिका सूचक है और उसकी पूर्णताकी वृद्धि करता है। विकासवादियोंने प्राचीन सिद्धान्तके आगे यह भी कहा कि सामाजिक जीवविधानके संरक्षणके लिए सहायक कर्म सुखप्रद हैं और उसके विपरीत दुःखप्रद हैं। यह वास्तवमें फिरसे सच्चे और मिथ्या सुखके प्राचीन सिद्धान्तका पुनरावर्तन है। अर्थात् सच्चा सुख वह है जो कि समस्त-के संरक्षणमें सहायक है और मिथ्या वह, जो अंगके लिए है। विकास-वादियोंकी यहाँपर एकमात्र त्रुटि यह है कि वह यह नहीं देख पाये कि कर्मव्यापार ही भावनाको महत्व देता है, न कि भावना व्यापारको।[१] अथवा कर्मव्यापार इसलिए शुभ नहीं है कि वह सुखद है बल्कि उसका शुभ होना ही उसे सुखप्रद बनाता है। इस त्रुटिके कारण विकासवादने अपनेको सुखवादी भ्रान्तियोंसे युक्त कर लिया। स्पेंसरके सिद्धान्तसे यह

१. **देखिए,** Muirhead—pp. 154-155.

भ्रान्त धारणा उत्पन्न होती है कि सुखवादी मान्यताको जीवशास्त्रका अनुमोदन प्राप्त है। वास्तविकता यह है कि जीवशास्त्र सुखवादी सिद्धान्तका समर्थक नहीं है। जीवशास्त्र बतलाता है कि इच्छा और प्रवृत्ति सुखकी पूर्वगामिनी हैं। सुखकी भावना इच्छित क्रियाके घटित होनेका परिणाम तथा सफलताका चिह्न है। अथवा सुखकी भावना कर्म करनेकी प्रवृत्तिसे पहले नहीं है। निर्णीत कर्मका विश्लेषण यह बतलाता है कि किसी भी विषयका सुखप्रद होना इसपर निर्भर है कि उसकी इच्छा की जाती है। और यदि व्यक्ति सुखको अपना ध्येय बना ले तथा इन्द्रियोंको उसकी प्राप्तिका साधनमात्र मान ले तो जीवशास्त्र उसको यह कहकर सचेत करता है कि अत्यधिक सुख जीवनके लिए घातक है और परिमित सुखका ही भोग उचित है। यदि व्यक्ति एकमात्र स्वादके लिए भोजन करने लगेगा तो उसकी पाचनशक्तिके साथ ही उसकी रसेन्द्रियका भी नाश हो जायगा। यही स्थिति अन्य प्रकारके सुख और उनसे सम्बन्धित इन्द्रियोंकी होगी। अत्यधिक सुख पूर्ण जीवनका विनाश करेगा। जीवशास्त्रकी दृष्टिसे यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्यमें अनेक प्रकारकी इच्छाएँ हैं (केवल सुखकी ही इच्छा नहीं) और यह सम्भव हो सकता है कि वास्तविक अनुभव उसे जीवन एवं जाति-संरक्षणके लिए उस आदर्शको अपनाना उचित बतलाये जो विकास-क्रममें सुखकी खोज न करके स्टोइक आदर्श एवं आत्म-संयमका प्रतिरूप हो।

स्पेंसरका विश्वास है कि विकास अपनी अन्तिम स्थितिमें एक ऐसे आदर्श समाजको स्थापित कर देगा जहाँ कि दुःखरहित सुख होगा। सुख

अनावश्यक आशावाद

दुःखके स्पर्शसे दूषित नहीं होगा। उसके अनुसार जीवन-संरक्षणके लिए अनिवार्य नियम ही नैतिक नियम हैं और वह सुखप्रद भी हैं। पद्धतिक्रमकी स्थिति अपूर्ण सामञ्जस्यकी स्थिति है, इसमें पूर्ण सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु पूर्ण सामञ्जस्य अवश्य ही पूर्ण सुख देगा। इस स्थितिमें निरपेक्ष नीतिशास्त्रके नियम व्यावहारिक हो जायँगे। मनुष्य उन परम नैतिक

कर्मोंको करने लगेंगे जो दुःखरहित सुखका उत्पादन करेंगे। किन्तु इस तथ्यको कैसे सिद्ध किया जा सकता है? स्पेंसरका यह कहना था कि विश्वका इतिहास बतलाता है कि विकासका क्रम अनिश्चित, असंगत एकरूपतासे निश्चित, वैचित्र्यपूर्ण संगतिमय अनेकरूपताकी उन्नतिका क्रम है। विकासमें यही क्रम सदैव रहेगा। जहाँतक मानव-समाजका प्रश्न है ऐसे विकासकी अन्तिम स्थिति दुःखरहित पूर्ण सामञ्जस्यकी सूचक है। किन्तु स्पेंसरके विरुद्ध कहा जा सकता है कि यदि पदार्थविज्ञानके क्षेत्रमें ऐसे निश्चित निर्णयका अधिकार उसीके विशेषज्ञोंके हाथमें छोड़कर केवल मानव-समाजके इतिहासको ही लें तो भी विकासके ऐसे क्रमके बारेमें कहना कठिन है। और यदि इस स्थितिको स्वीकार कर लें तो इससे यह अनुमान करना दुर्लभ है कि दुःखरहित पूर्ण सामञ्जस्यकी स्थिति सम्भव है। अभीतक तो ऐसे किसी प्राणीका प्रादुर्भाव नहीं हुआ जो मनुष्य और वातावरणके बीच पूर्ण सामञ्जस्यका आभास दे सके। यही नहीं, विकासवादियोंके इस कथनके समान ही महत्वपूर्ण निराशावादियोंका भी कथन मिलता है। वास्तविक अनुभव यह नहीं कह सकता कि उनके कथनकी अवहेलना करना सम्भव है। अथवा इन कथनोंमें कि 'अज्ञान सुखप्रद है' और 'ज्ञानकी वृद्धि, दुःखकी वृद्धि है'—जो आंशिक सत्य मिलता है, उससे मुँह मोड़ लेना सम्भव नहीं। स्पेंसरका विश्वास था कि जीवनकी वृद्धि सुखकी वृद्धि है। किन्तु क्या अधिक विकसित राष्ट्र और व्यक्ति अधिक सुखी हैं? इसमें सन्देह नहीं कि उनकी विभिन्न शक्तियाँ और योग्यताएँ बढ़ गयी हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उनकी सुख भोगनेकी शक्ति भी बढ़ गयी है। बल्कि इसके विपरीत यह देखा जाता है कि वे बौद्धिक और मानसिक अशान्तिसे ग्रस्त हैं। वर्तमान जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

स्पेंसरने कहा कि मानव-जाति अपूर्ण सामञ्जस्यसे पूर्ण सामञ्जस्यकी ओर अग्रसर हो रही है। विकासकी अन्तिम स्थिति पूर्ण सामञ्जस्य एवं स्थायी सन्तुलनकी स्थिति होगी। क्या विकास स्थायी सन्तुलनको स्वीकार

सामञ्जस्य

कर सकता है ? क्या पूर्ण संयोजित व्यक्ति सम्भव है ?

विकास और पूर्ण सन्तुलन, ये दो विरोधी धारणाएँ हैं। विकास एक बहती हुई नदीके समान है जो अनेक नये कगारोंरूपी इच्छाओं और भावनाओंको उत्पन्न करती रहती है। यदि स्थायी सन्तुलन-रूपी सेतुकी स्थापना कर भी दी जाय तो वह पुनः नवीन शक्तियों द्वारा विच्छिन्न हो जायगा। विकास परिवर्तनशील जीवनका सूचक है, स्थायी सन्तुलन स्थिर जीवनका तथा स्थिर जीवन मृत्युका ही दूसरा नाम है। ऐसा पूर्ण सुख अथवा परम शान्ति मरघटमें ही सम्भव है। यह कहनेमें कोई संकोच नहीं हो सकता कि स्पेंसरकी जैव सामाजिक पूर्णताकी स्थिति अनाकर्षक और अकार्य सिद्ध है। जिस सामञ्जस्यकी धारणापर विकास-वादी सिद्धान्त निर्भर है, क्या उसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्यके सम्मुख कुछ ध्येय हैं और वह उनको प्राप्त करना चाहता है ? जब वह दो वस्तुओं-के बारेमें यह कहता है कि वे आपसमें संयोजित हैं, तो उसके कहनेका अर्थ यही होता है कि उसके मानसमें उनके सम्बन्धमें जो धारणा है वह उसके अनुकूल अथवा प्रतिकूल है। जहाँतक अचेतन वस्तुओं—पत्थर, वृक्ष आदिका सम्बन्ध है वे बिना प्रयासके अपने अस्तित्वके साथ ही प्रकृतिसे संयोजित हैं और इस अर्थमें प्रत्येक वस्तु अपनी स्थितिसे संयोजित है। किन्तु मनुष्यमें संयोजन उस अनिवार्य प्राकृतिक सम्बन्धके रूपमें प्रकट नहीं होता है जिसके लिए वह सचेत न रहे। मनुष्यमें संयोजन प्राकृतिक स्थितिमात्रका सूचक नहीं है, वह अर्थगर्भित है। संयोजनको अर्थ मनुष्यका मानस देता है। उसके मानसमें कुछ अप्राप्य ध्येय अथवा आदर्श हैं और उनकी प्राप्तिके लिए वह परिस्थितिके साथ विशिष्ट प्रकारसे संयोजित होना चाहता है। वैज्ञानिक, दार्शनिक और चिन्तक अपने आदर्शके अनुरूप ही जगतको देखना चाहते हैं। वे जगतको अपने आदर्श-से संयोजित करना चाहते हैं। आत्मचेतन प्राणी वातावरण और परिवेशमें कमियाँ पाता है। वह उसे अपने मानसिक आदर्शके अनुरूप नहीं पाता है। कमियोंको निर्धारित करनेवाला मानदण्ड उसे वातावरण नहीं देता

बल्कि उसका मानस देता है। वह इस मानदण्डके अनुरूप अपनेको तथा अपने वातावरणको देखना चाहता है। मनुष्यके लिए सामञ्जस्य कोरा शब्दमात्र नहीं है। यह उसके आदर्शसे संयुक्त होकर अर्थगर्भित हो जाता है। ऐसे सामञ्जस्यको समझनेके लिए ध्येय या अन्तको समझना चाहिये, न कि उद्गमको। मनुष्य बौद्धिक और चिन्तनशील है। उसका अप्राप्य ध्येय उसके वास्तविक स्वभावका प्रतिबिम्ब है। मानव-समाजका अध्ययन बतलाता है कि विकास व्यक्ति और वातावरणके बीच सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर रहा है बल्कि आत्मचेतन स्वतन्त्र व्यक्ति अपने आदर्शके अनुरूप वातावरणको संयोजित कर रहे हैं। दृढ़ संकल्प और नैतिक अन्तर्ज्ञानवाले व्यक्तियों—ईसा, बुद्ध, गान्धी—ने अपने व्यक्तित्वमें अपने आदर्शोंको मूर्तिमान् किया और वातावरणको भी अपने आदर्शोंके अनुरूप ढाला। नैतिकता यह जानना चाहती है कि समाजकी कौन-सी स्थिति आदर्श स्थिति है। वह जीवशास्त्रकी भाँति सामाजिक विकासके तथ्यात्मक वर्णनको ही सब कुछ नहीं मान सकती। विकासवादी यह भूल गये कि नैतिकता अचेतन सामञ्जस्यसे ऊपर है। वह उस सामञ्जस्यको समझना चाहती है जो कि समझ-बूझकर उच्चतम भविष्यके लिए स्वीकार किया जाता है। ऐसा सामञ्जस्य यान्त्रिक नहीं है, न वह प्राकृतिक विकासका अनिवार्य अंग ही है। इस सामञ्जस्यके बारेमें यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य चाहे अथवा न चाहे, प्राकृतिक विकासपूर्ण सामञ्जस्यकी स्थितिको अपने-आप स्थापित कर देगा। विकासवादियोंने वातावरणको स्थिर स्थितियोंका विधानमात्र माना है जिससे जीव-रचना अपने जीवन-संरक्षणके लिए संयोजित होती है। वे यह भूल गये कि मनुष्य तो मनुष्य ही है, निम्न प्राणियों और उनके वातावरणतकमें यह पाया जाता है और वे दोनों ही एक-दूसरेपर निर्भर हैं। व्यक्ति ही समाजपर पूर्णतया निर्भर नहीं है, समाज भी व्यक्तियोंपर निर्भर है। वास्तवमें वही समाज जीवित रह सकता है जिसे व्यक्तियोंका सक्रिय सहयोग प्राप्त है। जिस समाजके सदस्य समझ-बूझकर स्वेच्छासे अपने कर्त्तव्योंका पालन करते हैं वही उन्नत और जीवित

समाज है। मनुष्य और पशुके आचरणमें यही प्रमुख भेद है कि पशुके कर्म बौद्धिक आत्मा द्वारा संचालित नहीं होते। मनुष्य आत्मप्रबुद्ध प्राणी है। वह तर्क द्वारा सत्योंको ग्रहण करता है। मनुष्य समाज एवं प्रकृतिके हाथका खिलौना नहीं है। प्रकृति उसे कठपुतलीकी तरह नहीं नचा सकती। उसका प्रकृतिके साथ अन्धसामञ्जस्य नहीं है। जबसे उसमें ध्येय-निहित बुद्धि (Purposive Intelligence) का प्रादुर्भाव हुआ और पारस्परिक सहयोगकी भावना एवं मानवताकी भावनाने जन्म लिया तबसे उसके सामञ्जस्यके दृष्टिकोणके क्षितिजमें महान् अन्तर आ गया है। वह अब बाह्य जगतके साथ अपने आन्तरिक जगतको संयोजित करनेका प्रयास नहीं करता है। बाह्य जगतको अपने आन्तरिक जगत—आदर्शों और मान्यताओंके अनुरूप बनाना चाहता है। यदि यह मान लें कि ध्येयनिहित बुद्धिको प्रकृतिने जन्म दिया है तो यह भी स्पष्ट है कि प्रकृतिका यह शिशु अब उसका स्वामी बन गया है। समाजने उसे जड प्रकृतिकी दासतासे मुक्त कर उसे इस योग्य बना दिया है कि वह भौतिक प्रकृतिको ही अपने परिवेशका सबसे महत्वपूर्ण अंग नहीं मानता। समाजकी सुविधाएँ उसे अनायास ही भौतिक प्रकृतिसे संयोजित कर देती हैं और फिर वह उन नैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि गुणोंको प्राप्त करनेके लिए अपनेको स्वतन्त्र पाता है जो कि उसे सामाजिक समग्रतामें विशिष्ट स्थान दे सकते हैं। समाज केवल भौतिक सामञ्जस्यका सूचक नहीं है। वह आत्मचेतन प्राणीके लिए वह स्थान है जहाँ उसे उच्च गुणोंके उपार्जनके लिए सुविधा मिल सकती है। इससे प्रकट होता है कि स्थिर समाजकी धारणा असत्य है। विकासवादी जीवशास्त्रके आधारपर इस धारणाको स्वीकार करते हुए कहते हैं कि विकासके क्रममें व्यक्ति अपूर्ण सामञ्जस्यसे पूर्ण सामञ्जस्यकी ओर अग्रसर हो रहा है। उसे अपनेको समाजसे संयोजित करना चाहिये। वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्य स्वतन्त्र नैतिक प्राणी है। वह अपने वातावरणको स्वयं बना सकता है। जैव क्षेत्रके संवेदनशील जीव और नैतिक क्षेत्रके बुद्धिजीवीमें अन्तर है। इस अन्तरके कारण मनुष्य-

जीवनमें शक्त और अशक्तका विरोध अल्प एवं नगण्य है। यहाँ निर्बलके ऊपर सबलकी विजय नहीं है। मनुष्यकी सब आवश्यकताओंको भौतिक एवं जैव नहीं कह सकते। जातियोंके संघर्षको कायिक समुदायोंका संघर्षमात्र नहीं कह सकते। यह, जैसा कि अलेग्जैण्डरने माना है, उच्च और निम्न तथा नैतिक और सामाजिक विचारोंका संघर्ष है। जैव विकासमें जो योग्यतमकी विजय एवं प्राकृतिक चयनका नियम मिलता है उसे कुछ हदतक सामाजिक विकासकी आदिम अवस्थाओंके समान कह सकते हैं। ध्येयनिहित बुद्धिके प्रादुर्भावसे इस नियमका सामाजिक और नैतिक क्षेत्रमें रूपान्तर हो गया है। अब विजयी राष्ट्र पराजित राष्ट्रके अस्तित्वका विनाश करना नहीं चाहते। वे उन्हें अपने आदर्शोंका पालन करनेके लिए बाध्य करते हैं। सच तो यह है कि आत्मप्रबुद्ध मानव अपनी नैतिक चेतना, बौद्धिक दृष्टि और सत्य प्रेम द्वारा समाजको परिवर्तित करना चाहता है। वह समाजको अपने नैतिक, नन्दतिक (सौन्दर्य बोध जनित) और बौद्धिक आदर्शोंके अनुरूप ढालना चाहता है। समाजकी सभ्यता, कला तथा संस्कृतिकी उन्नति एवं समाजके सर्वांगीण अभ्युदयके लिए यह अनिवार्य है। विकासवादी इस मूल सत्यको नहीं समझ पाये कि यद्यपि मनुष्य प्रकृतिसे उत्पन्न होता है फिर भी वह प्रकृतिका दमन करके उससे ऊपर उठना चाहता है। जबतक व्यक्ति अपनी इन्द्रियोंके वशीभूत रहता है तबतक सामाजिक नियम उसका परिचालन कर उसकी नैतिक चेतनाको सदसत्का बोध करानेमें सहायक होते हैं। पर जब उसकी नैतिक चेतना जाग्रत हो उठती है और सामाजिक नैतिक चेतनाका परिचय मिलने लगता है तब वह एक महान् व्यक्तिके रूपमें उन नियमोंका अतिक्रम करके उनके उन्नयन अथवा विकासमें सहायक होता है।

विकासवादियोंने समाज और जीव-रचनामें सादृश्य दिखलाकर यह बतलाया कि उनके पूर्वके सिद्धान्त नैतिक दृष्टिके साथ ही जैव दृष्टिसे भी निर्बल और त्याज्य हैं। जिस आत्माकी तृप्तिके लिए उन्होंने प्रयास किया वह समाजसे असम्बद्ध नहीं है। उसका और समाजका अनिवार्य और

सामाजिक जीव-रचनाका रूपक सन्देहजनक है

अनन्य सम्बन्ध है। आत्माको उन्होंने इकाई अणु माना। वे उसके सामाजिक पक्षको नहीं समझ पाये। सुखवादके विभिन्न सिद्धान्तोंका अध्ययन यह बतला चुका है कि वे व्यक्ति और समाजके अनन्य सम्बन्धको समझानेमें असमर्थ रहे। इसी भाँति बुद्धिपरतावादियों (सिनिक्स, स्टोइक्स, कांट) का सिद्धान्त इस सम्बन्धको नहीं समझ पाया। उन्होंने भी समाजको विरोधी शक्तियोंकी बाह्य-एकताके रूपमें देखा। विकासवादियोंने यह समझाया कि व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध संयोगमात्र नहीं है। वे आकस्मिक रूपसे सम्बन्धित नहीं, अनन्य रूपसे सम्बद्ध हैं। समाजको जीव-रचना (अंगी) कहकर उन्होंने यह समझाया कि व्यक्ति समाजपर निर्भर है। किन्तु इस वाक्यखण्ड—जीव-रचना—की व्याख्या सन्देहजनक है। विकास-वादियोंने स्वयं माना है कि समाज और जीव-रचनामें समानताके साथ ही स्पष्ट भेद भी है। अतः जीव-रचनाके रूपकको परम रूपसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। उसे सादृश्यके रूपमें ही स्वीकार करना होगा। जीव-रचनाके अवयव स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर जीवन नहीं बिता सकते। वे जीव-रचनाके जीवन द्वारा उसीमें रहते हैं। समाजमें-व्यक्तिका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसके सुख-दुःख व्यक्तिगत और सापेक्ष हैं। सिजविकने भी इस तथ्यको स्वीकार किया है कि सुख-दुःखका अनुभव व्यक्ति करता है, न कि सामाजिक जीव-रचना। जैव जीव-रचनाके अनुभवका केन्द्र एक ही होता है किन्तु समाज प्रत्येक व्यक्तिके द्वारा चिन्तन तथा अनुभव करता है। समाज व्यक्तियोंमें रहता है। उनकी बौद्धिक या सामाजिक आत्माके रूपमें ही उसका अस्तित्व है। व्यक्ति पारस्परिक रूपसे एक दूसरेपर निर्भर अवश्य है किन्तु प्रत्येकका अपना निजत्व है। वे सामाजिक जीव-रचनाके निर्माणात्मक अंग हैं। जीव-विधान या रचनाशास्त्रके अनुसार समान होनेपर भी उनके कर्त्तव्य, कर्म एवं व्यापारोंमें भिन्नता है। जैव जीव-रचना और सामाजिक जीव-रचनामें यहाँ-पर स्पष्ट भेद है। जैव जीव-रचनाके निर्माणात्मक अंग अथवा जीवाणु

जीव-रचनाशास्त्रानुसार न तो एकरूप (समान) हैं और न उनके व्यापार ही समान हैं। जीवाणु जीव-रचनापर निर्भर हैं। उनका जीवन आत्म-निर्भर और स्वतन्त्र नहीं है। किन्तु व्यक्ति समाजपर निर्भर होते हुए भी स्वतन्त्र है। समाज उन आत्मप्रबुद्ध आत्माओंका संघटन है जिनके कर्म स्वेच्छाकृत हैं। वह वैयक्तिक अणुओंका यांत्रिक समुदायमात्र नहीं है। अतः जीव-रचनाका रूपक समुचित सादृश्य नहीं है। इसे दूरतक नहीं ले जा सकते। जीव-रचनाके रूपकको पूर्णरूपसे मान लेनेपर व्यक्तिका निराकरण हो जाता है। इस अर्थमें शुभ एकमात्र सामाजिक है। किन्तु नीतिशास्त्र वैयक्तिक शुभको भी मानता है। सुखवादी दृष्टिकोणसे व्यक्ति समाजमें खो नहीं जाता। उसका अपना व्यक्तित्व है, वह आत्मसुखकी खोज करता है। वास्तवमें नैतिक जीवनमें स्वार्थ और परमार्थ दोनोंके ही लिए समुचित स्थान है। वे एक दूसरेको विलीन नहीं कर देते बल्कि एक महत्तर सत्यका अंग बन जाते हैं। वही उचित परमार्थ है जो स्वार्थका समावेश करता है और वही उचित स्वार्थ है जो परमार्थका समावेश करता है। वे एक दूसरेका अतिक्रमण नहीं करते। प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति एक अहंता भी है। अहंताको नष्ट करना नैतिक जीवनको निर्मूल करना है। नैतिकताकी सम्पूर्ण समस्या अहंताके ही क्षेत्रके अन्दर है, उससे परे नहीं। इस समस्याको प्रत्येक व्यक्ति अहंताके सच्चे ज्ञान द्वारा समझ लेता है। नैतिक जीवनका केन्द्रबिन्दु अहंताके भीतर है। अहंताका ज्ञान ही परमार्थका ज्ञान देता है। फिर भी विकासवादियोंके 'जीव-रचना'के रूपकका महत्व है। यह समाज और व्यक्तिकी वास्तविक पारस्परिक निर्भरताको बतलाता है।

सहजज्ञानवादका विरोध : नैतिकताकी उत्पत्ति

सहजज्ञानवादियोंके अनुसार नैतिक प्रत्यय सहज, परम और निरपेक्ष होते हैं। विकासवादियोंने अन्तर्बोधको ऐतिहासिक पद्धतिसे समझाकर सहजज्ञानवादियोंकी आलोचना की। उन्होंने यह बतलाया कि अन्तर्बोधके निर्णय सहजात और अनुपार्जित नहीं होते हैं। वे सामाजिक जीव-रचनासे सापेक्ष रूपसे सम्बन्धित हैं और अपने समयके समाज-

की विकसित स्थितिको अभिव्यक्त करते हैं। वे परिस्थितिविशेषसे सक्रिय-रूपसे सम्बद्ध हैं। नैतिक नियम सार्वभौम और अनिवार्य नहीं हैं। वे देश और कालकी भिन्नताके अनुरूप भिन्न हैं। वास्तवमें ज्ञान अनुभवसापेक्ष है। जीवन-संघर्षके क्रममें मनुष्य विभिन्न अनुभवोंको प्राप्त करते हैं। मानव-जातिके लिए जो अनुभवजन्य ज्ञान है वही व्यक्तिके लिए अनुभव-निरपेक्ष हो जाता है। आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त ज्ञान ही सहजात लगता है। आचरणके औचित्य और अनौचित्यका ज्ञान अनुभवजात ज्ञान है। सत्य बोलना, चोरी न करना, जातिके कल्याणकी भावना आदि सहजात इस अर्थमें हैं कि मानव-जातिने अनुभवसे सीखा है कि ये जाति और व्यक्तिके संरक्षणमें सहायक होते हैं। स्वयंसिद्ध नैतिक सत्य अनुभव द्वारा अर्जित सत्य है। यदि सहजात विचार वास्तवमें जीवन-संघर्षके क्रममें पूर्वजों द्वारा अर्जित अनुभवजन्य ज्ञान है तो क्या विकास द्वारा संरक्षणकी स्थितियोंके बदलनेपर भी वह मान्य रहेगा? प्राचीन युगमें जो नियम जातिके लिए जैव दृष्टिसे अनिवार्य थे वे आज हानिप्रद हो गये हैं। यही नहीं, विकसित नैतिक चेतना संरक्षणमें सहायक नियमोंको सदैव उचित ही नहीं समझती। नैतिक मनुष्य सुखके परिमाणकी वृद्धिको महत्व नहीं देता। वह श्रेष्ठ गुणात्मक जीवनका आकांक्षी है। यदि नैतिकताका अस्तित्व जीवनकी वृद्धिके लिए है तो यह अवश्य ही श्रेष्ठ जीवन है, न कि केवल सुखद जीवन। नैतिक प्रत्ययोंको यदि आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त आक-स्मिक अनुभवका ही प्रतिरूप मान लिया जाय तो क्या ऐसे प्रतिरूपोंको पूर्णतया मान्य कहा जा सकता है? क्या ऐसे सहजात विचार आचरणके उचित मार्गदर्शक बन सकते हैं? क्या अनुभवजन्य ज्ञानको सार्वभौम और अनिवार्य कह सकते हैं? अनुभव अपूर्ण और एकदेशीय ज्ञान देता है। वह विशिष्ट काल और विशिष्ट देशके व्यक्तिविशेष अथवा जाति-विशेषके अनुभवतक सीमित है। ऐसी स्थितिमें आचरणके औचित्य और अनौचित्यको कैसे निर्धारित किया जा सकता है? क्या यह निश्चित, स्पष्ट और सार्वभौम ज्ञानका निराकरण करना नहीं है? क्या यह ज्ञानके क्षेत्रमें

सन्देहवादको स्वीकार करना नहीं है ? चिन्तनके अनिवार्य नियमोंको भुला देना नहीं है ? और यदि यह मान लें कि मानव-चेतना शुभ एवं मान्यताकी छायासे भी अछूती है तो क्या उसे अनुभव उत्पन्न कर सकता है ? वास्तवमें स्पेंसर नैतिक नियमके परम आदेशको समझानेके बदले उससे निकल भागता है। विकास अव्यक्तको ही व्यक्त कर सकता है। यदि मान्यताकी धारणा मानसमें है तो मानव-जातिके विभिन्न अनुभव, उसका बौद्धिक और मानसिक विकास यह अवश्य समझा सकता है कि कुछ प्रकारके आचरण क्यों मान्य हैं। ये मान्यताएँ अथवा गुण प्रारम्भमें जातिके लिए कल्याणकारी होनेके कारण मान्य थे और बादमें वे अपने-आपमें मूल्यवान् माने गये। विकासवादियोंके इस कथनको सभी स्वीकार करेंगे। विकासवादियोंने यह समझाया कि विकास-क्रममें जातिके लिए उपयोगी आचरणको अपनानेवाली जातियाँ ही जीवित रहीं, अन्य नष्ट हो गयीं। सन्ततिने मान्यताओंको आनुवंशिकता द्वारा भी पाया, न कि केवल शिक्षा और वातावरणजन्य प्रभावसे। क्या विकसित नैतिक मान्यताओंको सन्तति बिना शिक्षा और वातावरणजन्य प्रभावके प्राप्त कर सकती है ? आनुवंशिकताका नियम यह बतलाता है कि ऐसे विकसित पिताकी सन्तति उन मान्यताओंको शिक्षा द्वारा समझ और ग्रहण कर सकती है। यह सत्य है कि नैतिकताके इतिहासको मानना और यह कहना कि उसका पूर्ण-रूपसे प्राकृतिक एवं तथ्यात्मक घटनाओंकी तरह स्पष्टीकरण हो सकता है ये भिन्न बातें हैं। किन्तु नैतिक नियमके उद्गमको समझना और उनकी प्रामाणिकताके आधारका ज्ञान प्राप्त करना, दो पृथक् क्रियाएँ हैं।

वास्तवमें स्वार्थ और परमार्थके प्रश्नको उपयोगितावादियोंने उठाया था और उन्होंने भावना द्वारा उन दोनोंमें सामञ्जस्य स्थापित करनेका असम्भव प्रयत्न किया था। इस प्रश्नको विकास-वादियोंने फिरसे उठाया। स्पेंसरने इनके विरोधके मूलमें अपूर्ण सामञ्जस्य देखा। लैस्ली स्टीफेन स्पष्ट रूपसे मानता है कि कर्त्तव्य और सुखमें पूर्ण संगति

कर्त्तव्यकी भावना; स्वार्थ-परमार्थका प्रश्न

नहीं है। कुछ पारमार्थिक कर्म दुःखप्रद भी हैं। पर साथ ही वह कहता है कि व्यक्तिका अपना सुख ही परम ध्येय नहीं है। उसके लिए यह अनिवार्य है कि जीवनकी सामान्य परिस्थितियोंके योग्य होनेके लिए वह पारमार्थिक प्रवृत्तियोंको अर्जित करे। सामाजिक जीव-रचनाका सदस्य होनेके कारण व्यक्ति समाजके सुख और कल्याणके लिए अपने सुख को भूल जाता है। स्पेंसरका सिद्धान्त लैस्ली स्टीफ़ेन और अलेग्जैण्डरकी तुलनामें अधिक व्यक्तिवादी है। वह कहता है कि प्रत्यक्ष ध्येय आत्मसंरक्षण है और अप्रत्यक्ष ध्येय जाति-संरक्षण। किन्तु लैस्ली स्टीफेन और अलेग्जैण्डर सामाजिक स्वास्थ्य अथवा सामाजिक विधानकी साम्यावस्थाको ही परम शुभ मानते हैं। ऐसी स्थितिमें सुखवाद (वैयक्तिक सुख) के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। नैतिकता भी, जैसा कि कह चुके हैं, वैयक्तिक शुभका निराकरण नहीं करती है। कर्त्तव्य और सुखमें संगति मानती है। स्पेंसरने तो निरपेक्ष नीतिशास्त्रकी स्थितिमें कर्त्तव्यकी भावना एवं नैतिकताको समूल उखाड़ दिया है। उसने नैतिक नियमोंको भौतिक नियमोंके आधारपर समझाते हुए यह कहा कि विकासके पद्धतिक्रममें स्वार्थसे परमार्थकी उपज एवं मानव नैतिकताकी उत्पत्ति हुई है। राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक नियन्त्रण ही कर्त्तव्यकी भावनाको उत्पन्न करते हैं। यह भावना अस्थायी है। पूर्णताकी स्थितिमें यह भावना लुप्त हो जायगी। अथवा इस भावनाकी अस्तित्वशून्यता ही नैतिक पूर्णताकी स्थिति है। बाह्य नियन्त्रण अनिवार्यताकी भावनाको जन्म देते हैं, औचित्यकी भावनाको उत्पन्न नहीं करते। नैतिक कर्त्तव्यकी भावना अनिवार्य और चिरस्थायी है। वह नैतिक चेतनाका अनिवार्य अंग है। उसका अतिक्रमण सम्भव नहीं है। नैतिक प्रगति उसे अधिक अगाध और तीव्र कर देती है। वास्तवमें ये नियन्त्रण भौतिक बाध्यताके सूचक हैं। इनके द्वारा नैतिक कर्त्तव्यका स्पष्टीकरण असम्भव है। नैतिक जीवन कर्त्तव्यकी धारणापर ही केन्द्रित है। नैतिक जीवनका विकास उसका व्यापक बोध देकर उसकी अखण्डनीयता और परम पुष्टताको प्रमाणित करता है। उसके पूर्ण बोधके साथ ही मनुष्य

उसीको अपना एकमात्र ध्येय मानकर पूर्ण आत्मसमर्पण कर देता है। यह कहना मूर्खतापूर्ण है कि नैतिक विकास कर्त्तव्यके दुःखसे मुक्त करता है। नैतिक व्यक्तिके लिए कर्त्तव्य दुखःदायी नहीं, आनन्द है और आनन्दसे मुक्त होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। वास्तवमें विकासवादियोंने भी सुखवादियोंकी भाँति सुख-कर्त्तव्य, स्वार्थ-परमार्थ एवं शुभ और सद्गुणमें विरोध मान लिया। सुखवादियोंने भावना द्वारा उनमें संगति स्थापित करनी चाही और विकासवादियोंने जैव विकास द्वारा इस कठिनाईको दूर करना चाहा। अपने इस प्रयासमें उन्होंने नैतिक विकासको प्राकृतिक चयन द्वारा समझाया जिसके अनुसार योग्यतमकी विजय ही विभिन्न नैतिक नियमोंकी जन्मदात्री बन जाती है एवं नैतिकता निर्नैतिकतासे उत्पन्न होती है। वे यह भूल गये कि जैव और नैतिक नियमोंमें अनुरूपता नहीं है। जैव नियम योग्यतमकी विजय एवं दुर्बलके दमनके सिद्धान्तके पोषक हैं। वे समर्थ तथा शक्तिशाली व्यक्तित्वकी वृद्धि करते हैं, प्रभुत्वभाव तथा निर्मम आत्मभावका समर्थन करते हैं। नैतिक विकास दुर्बलको आश्रय देता है। उसके कारण सबल दुर्बलकी रक्षाके लिए आत्मत्याग करता है। स्नेह, दया, त्याग, सहयोगकी भावना और सेवाभाव ही उसमें मान्य हैं और स्वार्थी, अहंतावादी व्यक्तित्व घृणास्पद समझा जाता है। नैतिक विकास, जैसा कि अलेग्जैण्डरने अंगीकार किया, क्षुद्र विचारोंके ऊपर उच्च विचारोंकी विजय है। अलेग्जैन्डरका यह कथन यह स्वीकार करनेके समान है कि जैव धारणा नैतिक मूल्योंको नहीं समझा सकती। इसमें सन्देह नहीं कि नैतिक विकास आंशिक रूपसे वातावरण और परिवेशपर निर्भर है। किन्तु प्रमुख रूपसे वह शुभ संस्थाओं, शिक्षा, भाषा, स्वतन्त्र संकल्प और नैतिक अन्तर्ज्ञानपर निर्भर है। नैतिक आचरण सम्यक् ज्ञानकी क्रमिक वृद्धिका सूचक है। वह आकस्मिक परिवर्तनोंसे ऊपर है। वह प्राकृतिक चयन द्वारा निर्देशित न होकर विवेकसम्मत और स्वेच्छाकृत है। प्रकृतिकी अनुकूलता देखकर आचरण करनेवाला व्यक्ति अवसरवादी है, न कि नैतिक। वह गिरगिटकी भाँति रंग बदलता है। नैतिक मनुष्य

सत्यके लिए अडिग होकर आचरण करता है। यही उसके लिए शोभन है। परिस्थितिके अनुकूल आचरण उच्च आचरण नहीं है, वह पशु-धरातलका सूचक है। ऐसा आचरण मनुष्य और राष्ट्रको उन्नत नहीं बना सकता।

विकासवाद एवं नैतिक मान्यताओंका प्राकृतिक इतिहास विभिन्न जीव योनियोंके जीवनके बारेमें बोध देता है। वह बतलाता है कि जीवन-संघर्षने आचरणके किन रूपोंको जन्म दिया है। नैतिक मान्यताओं, नियमों और प्रत्ययोंके मूलमें कौन-सी भौतिक परिस्थितियाँ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी ऐतिहासिक पद्धतिका कुछ सीमातक निराकरण नहीं किया जा सकता। किन्तु साथ ही इस सत्यको भी नहीं भुलाया जा सकता कि वह ज्ञानको तथ्यात्मक जगततक सीमित कर देता है। अतः पूर्णरूपसे उस पद्धतिको अपनाना, मूल्यको भूलकर तथ्यको महत्व देना है। नैतिकता सामाजिक विकासके तथ्यात्मक वर्णनको महत्व नहीं देती। वह जानना चाहती है कि समाजकी कौन-सी स्थिति आदर्श स्थिति है। नैतिक जीवन आदर्शसे शासित है, न कि भूतकालीन घटनाओं और तथ्योंसे। वह साभिप्राय जीवन है और हेतुवाद द्वारा समझाया जा सकता है। वह ध्येय एवं आदर्श द्वारा निर्देशित है। विकासवादियोंने उसे वैज्ञानिक रूप देनेकी आकांक्षासे जीवशास्त्रपर आधारित कर दिया और इस भाँति वास्तविकतासे आदर्शकी उत्पत्ति तथा निर्नैतिकतासे नैतिकताके विकासको समझाना चाहा। उन्होंने प्राकृतिक चयन एवं पशुजीवनके नियमों द्वारा उस आदर्श स्थितिको समझाना चाहा जो बौद्धिक प्राणीके लिए वाञ्छनीय है और उसे पूर्ण आत्म-सन्तोष देती है। विकास-क्रमका अन्धानुकरण करनेमें व्यक्तिके जीवनकी सार्थकता नहीं है। व्यक्ति अथवा समाजकी नैतिक प्रगति वैश्व क्रमका अनुकरण करनेमें नहीं है और न उससे मुँह मोड़ लेनेमें ही है; किन्तु उससे संघर्ष करनेमें है। विकासवाद यह नहीं समझा पाता कि जीवनका क्या अर्थ है। वह केवल यह कहता है कि जीवन-संरक्षण अनिवार्य है, जिसके लिए

नैतिक कठिनाई

प्राकृतिक नियमोंका अनुकरण भी अनिवार्य है। इसमें सन्देह नहीं कि कोई भी नीतिज्ञ उन नियमोंकी अवहेलना नहीं करेगा जो सामाजिक संरक्षणके लिए आवश्यक हैं। सच तो यह है कि बिना समाजके नैतिक नियम व्यर्थ हैं। किन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि क्या एकमात्र ध्येय संरक्षण ही है? क्या मानवताकी स्थापनामात्रसे सन्तोष प्राप्त हो सकता है? क्या उसके अस्तित्व एवं जीवनको अधिक वाञ्छनीय बनाना नहीं है? क्या जीवनकी लम्बाई और चौड़ाईकी वृद्धिसे आत्म-सन्तोष मिल सकता है? नैतिक दृष्टिसे ऐसा जीवन अपने-आपमें वाञ्छनीय नहीं है। बौद्धिक प्राणी अजगर-का-सा जीवन नहीं बिता सकता। यही नहीं, लम्बाई और चौड़ाई संगतिपूर्ण भी नहीं है। चौड़ाई (जटिलता) की वृद्धि कठिनाइयोंकी वृद्धि है और वह दुःखप्रद है। दुःखप्रद जीवन और लम्बाई अथवा दीर्घायु एक दूसरेके प्रतिकूल हैं। फिर भी यदि यह मान लें कि यह जैव ध्येय है तो नैतिक ध्येयके रूपमें यह किसी स्थितिमें भी मान्य नहीं है। नैतिक ध्येय गुणविहीन ध्येय नहीं है। नैतिक मान्यताएँ गुणात्मक भेदकी अपेक्षा रखती हैं। कर्त्तव्यकी भावनाको विकासवादियोंने भौतिक नियमोंके आधारपर समझाया। मनुष्य चाहे अथवा न चाहे, प्रकृति उसके आचरणको एक विशिष्ट रूप दे देगी, उसकी प्रकृतिको एक विशिष्ट प्रकारका बना देगी। ऐसी स्थितिमें मनुष्यके लिए नैतिक ध्येयकी प्राप्तिका प्रयास करना मुख्य वस्तु नहीं है। स्वार्थका परमार्थमें अनायास ही रूपान्तर हो जाता है और प्राकृतिक चयन कर्त्तव्यकी भावनाका प्रादुर्भाव कर देता है; ऐसे सिद्धान्तोंको अपनाकर मनुष्यका जीवनके प्रति, नैतिक एवं बौद्धिक मान्यताओंके प्रति वैसी ही भावना हो जायगी जैसी कि अन्य प्राकृतिक प्राणियों—पशु, वृक्ष, अचेतन वस्तुओं—की होती है। उसका आचरण स्वशासित और आत्मप्रबुद्ध होनेके बदले यान्त्रिक हो जायगा क्योंकि प्रकृतिरूपी रेलगाड़ी उसे तथा अन्य वस्तुओं—पशु, सामान, खाद्यपदार्थ आदि—को अपने-आप ही अपने ध्येयकी ओर ले जाती है। विकासवादी भूल गये कि मनुष्य और पशुमें भेद है। मनुष्य उस ध्येयको देख और समझ सकता है जिसकी

ओर प्रकृतिरूपी गाड़ी बढ़ रही है। यही नहीं, दृढ़ संकल्प और प्रबल व्यक्तित्ववाला मनुष्य प्राकृतिक दिशाके विमुख भी जा सकता है। प्रश्न यह है कि भौतिक नियमों को वह शक्ति प्राप्त कहाँसे हुई जिसके द्वारा वे नैतिक बन जाते हैं? वह कौन-सी प्रेरणा-शक्ति है जिसके कारण स्वार्थका परमार्थमें रूपान्तर हो जाता है और प्रकृति अपने ऊपर उठनेके लिए प्रेरित हो जाती है? नीतिशास्त्र जीवनका अर्थ समझना चाहता है। उस नियमको निर्धारित करना चाहता है जो सब कर्मोंमें एकत्व स्थापित कर सकता है। उस मानदण्ड या नियामकको जानना चाहता है जो विभिन्न कर्मोंको उचित रूपसे सम्बन्धित कर सकता है। नैतिक मनुष्य यह जानना चाहता है कि कौन-से आचरणका विकसित होना वाञ्छनीय है। किस प्रकारके आचरणको उचित कह सकते हैं। कौन-सा मानदण्ड नैतिक-विकासको निर्धारित करता है। नैतिक प्रगति किस ओर है? क्या नैतिक और वैश्व पद्धतिक्रम एक ही हैं या समान्तर हैं? इस अन्तिम प्रश्नको वैज्ञानिक विकासवादके प्रमुख प्रतिनिधि, हक्सले (T. H. Huxley) ने उठाया है और इसका नकारात्मक उत्तर दिया है। उनके अनुसार यह सम्बन्ध न तो तादात्म्यका है और न अनुरूपताका। वास्तवमें जैव समस्या नैतिक समस्याको हल नहीं कर सकती। एक तथ्यकी विशिष्ट स्थिति और उसका कालक्रममें विकास या उत्पत्ति उसके अस्तित्वके कारणपर प्रकाश नहीं डालते हैं। किसी वस्तुका होना यह सिद्ध नहीं करता कि वह उचित है, न्यायसम्मत है। जैव नियमोंसे नैतिक नियमोंका निगमन करनेके कारण वे व्यावहारिक नियमोंका प्रतिपादन नहीं कर पाये। वे कर्त्तव्यको नहीं समझा पाये। उस परम शुभको नहीं समझ सके जिसमें सद्गुण और सुख दोनोंका ही समावेश है। नैतिक सामञ्जस्यको उन्होंने पशु-सामञ्जस्यके रूपमें समझा। पशुओंको कर्ममें प्रेरित करनेवाली प्रवृत्तियोंके अनुमानजन्य ज्ञानतक ही उन्होंने अपनेको सीमित रखा। मानव सामञ्जस्य-की प्रेरणाओं और परिणामके उस ज्ञानको समझनेका उन्होंने प्रयास नहीं किया जो ज्ञात और नैतिक अर्थसे युक्त है। ज्ञानके इस स्तरपर ही

नैतिक अन्वेषण एवं अनुसन्धान सम्भव हो सकता है। विकासवादियोंका सिद्धान्त विचित्र है। वे नैतिक प्रत्ययोंको प्राकृतिक चयन एवं जीवन-संघर्ष द्वारा समझाते हैं। उनके न्यायका सिद्धान्त तथा कर्त्तव्यकी भावना इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनके सिद्धान्तमें असंगत सिद्धान्तोंका समन्वयमात्र है। उन्होंने नैतिक सुखवादके साथ उपयोगितावादको संयुक्त करना चाहा एवं प्रकृतिवाद और सहजज्ञानवादको एक मान लिया और नैतिक शुभ और प्राकृतिक शुभ तथा जैव शुभमें तादात्म्य देखा। उन्होंने स्वार्थ-परमार्थ, कर्त्तव्य और सुखमें विरोध मानकर उसे दूर करना चाहा। आदर्शविधायक विज्ञान और यथार्थविज्ञानको समान रूपसे समझना चाहा तथा स्वतन्त्र नैतिक प्राणी और अप्रबुद्ध प्राणियोंको एक ही स्तरपर मान लिया।

अध्याय १४

प्रकृतिवाद (परिशेष)

फ्रेडरिक नीत्से

जीवनी

फ्रेडरिक नीत्से (Friedrich Nietzsche) का जन्म १६ अक्टूबर १८४४ में हुआ। उनके पिता पादरी थे। उनका पालन-पोषण ईसाई-धर्मके वातावरणमें हुआ। स्वभावतः छुटपनसे ही उनकी पादरी बननेकी उत्कट अभिलाषा थी। किन्तु विधाताने उनको अनीश्वरवादी बना दिया। वह एक मधुर प्रकृतिके, विनम्र, सहृदय तथा आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति थे। किन्तु अत्यन्त उच्चाभिलाषी और तर्कप्रधान होनेके कारण वह दुष्टबुद्धि हो गये। उनकी महत्वाकांक्षाएँ विषम परिस्थितियों द्वारा बुरी तरह कुचली गयीं। उनके जीवनकी घटनाओंका अध्ययन करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका जीवन निराशा और कटुतापूर्ण था। वे सेनाके किसी उच्च पदपर होना चाहते थे। पर अपनी क्षीण चक्षुशक्ति, अस्वस्थता और घोड़ेसे गिर पड़नेकी दुर्घटनाके कारण उन्हें सेनामें स्थान नहीं मिला। वह जिस स्त्रीको चाहते थे उसे भी न पा सके और आजन्म अविवाहित रहे। वह बौद्धिक मित्रताके इच्छुक थे, वहाँ भी उन्हें सफलता न मिली। अन्तमें अपनी ही मोल ली हुई विपत्तियों द्वारा, अपनी उच्चाभिलाषा और असहिष्णुताके कारण, उनके जीवनमें असह्य एकाकीपन आ गया। वह इतने आक्रान्त हो गये कि उनकी क्षुब्ध मनःस्थितिने उन्हें पागल बना दिया और २५ अगस्त १९०० में वे निमोनियासे पीड़ित होकर चल बसे।

नीत्सेके सिद्धान्तको उचित रूपसे समझनेके लिए उनके जीवनका

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आवश्यक है। केवल पुस्तकोंके अध्ययनमात्रसे

सिद्धान्तका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

उनके स्वभाव और दर्शनके सम्बन्धमें भ्रान्त धारणा हो सकती है। उनकी धर्म-विषयक धारणाओंमें जो एक भयंकर अनैतिकता और असमानताकी झलक मिलती है उसके लिए उनके अवचेतनके संस्कारोंको ही दोषी बतलाना उचित होगा। उनकी तर्कबुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण और घातक थी।[1] उसने मनुष्योंके एकमात्र अवलम्ब ईश्वरको भी छीन लिया।[2] उनके अनीश्वरवादके कारण अधिकांश लोग उन्हें बौद्धिक दानव समझने लगे हैं। उनकी जीवनीका सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन और उनकी पुस्तक 'बियॉंड गुड ऐण्ड इविल' (Beyond good and evil) के मननसे स्पष्ट हो जाता है कि उनका उद्देश्य लोगोंको धर्मसे स्खलित करनेका नहीं था। उन्होंने धर्मको एक बौद्धिक और तार्किक स्तरपर उठानेका प्रयास किया, जिससे वह अनीश्वरवादी बन गये। पूर्ण विकसित, बौद्धिक जनसत्ता राज्य (intellectual aristocracy) को समझानेके हेतु उन्होंने नैतिकताको, जैसा कि हम आगे देखेंगे, दो विरोधी वर्गोंमें बाँट दिया : प्रभुओंकी नैतिकता और दासोंकी नैतिकता। प्रभुओंकी नैतिकताकी श्रेष्ठता समझानेके अभिप्रायसे उन्होंने दासोंकी नैतिकता (प्रचलित नैतिकता) को संघ

१. अपनी सत्यानासी महत्त्वाकांक्षाके कारण ही वह इस तथ्यपर पहुँचे कि पृथ्वीमें अतिमानव (पूर्ण विकसित व्यक्ति अथवा प्रभुत्व प्राप्तिकी महेदाकांक्षावाला प्राणी) से महान् कुछ नहीं है। अपनी घातक तर्कबुद्धि द्वारा उन्होंने भगवान्की सत्ता तथा मानवीय गुणोंकी वास्तविकतापर सन्देह किया और वे इस परिणामपर पहुँचे कि सत्यका ज्ञान इस बातका साक्षी है कि अतिमानव (अति दानव ?) को ही जीवित रहनेका अधिकार है।

२. "एक पूर्ण व्यक्तिको मित्रोंकी आवश्यकता होती है, अथवा उसे ईश्वर पर अनन्य विश्वास होना चाहिये। मेरे पास न तो ईश्वर है और न मित्र ही······!"

सदाचार (herd morality) तथा उपयोगितावादी नैतिकता (Utilitarian morality) कहकर उसकी खिल्ली उड़ायी। उसी आधारपर उन्होंने ईसाई धर्मके सदाचारकी भी कड़ी आलोचना की। किन्तु यह मानना ही होगा कि उन्होंने दुर्बुद्धिके कारण ही अनीश्वरवादको महत्व देकर उसका प्रचार किया। एक असम्भव महत्वाकांक्षाके कारण ही वे जीवनभर स्नेह, शान्ति, सम्मान और कीर्तिको न पा सके। उनके भाग्य और स्वभावने उन्हें सर्वत्र निराशा और झुँझलाहट ही दी। उनके जीवनकी निराशा और कटुताका एक और कारण था—उनका सन्मित्रोंके साथ अन्तरतम सम्बन्धका अभाव। उन्हें जीवनमें सहानुभूति और प्रेम-सी कोई वस्तु प्राप्त न हो सकी। वे समचित्तवृत्ति एवं समबुद्धि मित्रताके लिए आजन्म तरसते रहे। उनका जीवन मित्रों तथा बन्धुओंसे हीन था। बौद्धिक समानता तथा बौद्धिक मित्रताका आनन्द न उठा सकनेके कारण उनके अतिमानवका सिद्धान्त[१] विषैले डंक[२]के समान हो गया। यहाँपर यह कहना आवश्यक होगा कि उनके जीवनके कटु क्षणों तथा दारुण अनुभूतियोंके लिए केवल परिस्थितियोंको ही दोष देना अनुचित है। विधाताने उन्हें इतना स्वाभिमानी, उच्चाभिलाषी तथा कुतर्की बनाया कि उन्हें आजन्म अकेला[३] ही रहना पड़ा। जीवनके एकाकीपनके साथ मनचाही

१. देखिए—Thus Spake *Zarathustra*, In Beyond Good & Evil, The Will to Power.

२. उनका कहना था कि मनुष्यमें सम्भावित शक्तियाँ हैं। इन शक्तियोंको वास्तविकता देकर वह अतिमानवीय व्यक्तित्व प्राप्त कर सकता है। अतिमानवीय व्यक्तित्वसे उनका अभिप्राय उस नृशंसता तथा निर्ममतासे है जो दूसरोंपर प्रभुत्व प्राप्त करना चाहती है। अतिमानव अपने सुखके लिए मानवताका रक्त पीता है तथा पड़ोसीके शवपर खड़ा होकर अट्टहास करता है।

३. उनकी बहिनने उनका आजन्म साथ दिया। किन्तु उससे उन्हें विशेष सान्त्वना न मिल सकी।

ख्यातिकी कमी उनके लिए असह्य हो गयी। उनकी पुस्तकें उनके जीवन-की कटुतापूर्ण विषम मनःस्थितिकी द्योतक हैं। अपनी पुस्तक 'एंटी क्राइस्ट (Anti Christ) में उन्होंने ईसाई धर्मका बुरी तरहसे खण्डन किया। उनकी अन्तिम पुस्तक 'एक्के होमो' (Ecce Homo)—जो कि एक प्रकारसे उनकी आत्मकथा है—में कई भाव ऐसे हैं जो उनकी प्रगल्भता तथा मानसिक अतिभावनाके उदाहरण हैं। यह पुस्तक अत्यन्त अपसामान्य[1] है।

अति मानवका सिद्धान्त

नीत्सेको डारविनके दर्शनकी पीठिकामें सरलतापूर्वक समझा जा सकता है[2]। डारविनके अनुसार योग्यतमकी ही जीवन-विजय होती है। नीत्सेने इस सिद्धान्तको नैतिकरूप देकर यह कहा कि सामर्थ्यवानको ही जीवित रहना चाहिए। इस प्रकार नीत्सेका मूल नैतिक नियम डारविनके जैव विकास-

---

१. उसके कुछ परिच्छेदोंके शीर्षक ये हैं :—
'Why I am so wise', 'Why I write such excellent books', 'Why I am so clever', आदि।

२. नीत्सेने स्वयं अपने मतको डारविनके विरुद्ध कहा। उसका कहना था कि मैंने 'जीवन-संघर्ष' के बदले 'शक्ति-संघर्ष' (Struggle for power) माना है। डारविनके अनुसार प्रकृतिका मूल नियम जीवन-संघर्ष है। प्राणी जीवित रहना चाहता है, उसमें जीवित रहनेकी सक्रिय इच्छा है। जीवित रहनेके लिए उसे संघर्ष करना पड़ता है और विकास-क्रममें योग्यतमकी ही जीवनविजय होती है। नीत्से उसके विरुद्ध कहता है कि इच्छाशक्ति जीवित रहनेके लिए नहीं, शक्तिशाली बननेके लिए है। 'अस्तित्वकी इच्छा' के सिद्धान्तको माननेवालोंने जीवन-सत्यको नहीं समझा। इच्छा जीवित रहनेके लिए नहीं है; किन्तु अबाध रूपसे प्रभुत्वप्राप्तिके लिए अथवा विजयी होनेके लिए है। विजयी होने एवं प्रभुत्व प्राप्त करनेकी इच्छाशक्ति मौलिक और नैतिक इच्छा है।

वादसे लिया गया है। नीत्सेका विश्वास था कि समर्थको जीवित रहना चाहिये। विकासवादको स्वीकार करते हुए वह कहता है कि विकासका ध्येय साधारण मानवको उत्पन्न करना नहीं है बल्कि अतिमानवीय व्यक्तित्वको। इस विश्वासके आधारपर उसने अतिमानवीय व्यक्तित्व एवं अतिमानवको महत्ता दी। अतिमानव एवं समर्थ व्यक्ति ही विकासका ध्येय है अतएव उसे ही जीवित रहना चाहिये। नीत्सेके अनुसार विकास (प्रगतिका क्रम) केवल बौद्धिक स्तरपर ही नहीं होता, वह मानसिक स्तरपर भी होता है। 'समर्थ' से अभिप्राय केवल शक्तिशाली स्थूल व्यक्तित्वसे ही नहीं, बल्कि बौद्धिक व्यक्तित्वसे भी है। मनुष्यमें जीवनका प्रसार उच्च मनुष्यत्वके प्रादुर्भावके लिए होता है, अथवा यह कहना चाहिये कि शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुणोंके विकासके लिए होता है। विकासका ध्येय अतिमानव है जो स्वस्थशरीर, तेजस्वी, व्यक्तित्ववान्, नैतिक और आध्यात्मिक गुणसम्पन्न व्यक्ति है। इन गुणोंसे नीत्सेका तात्पर्य 'शक्तिकी आकांक्षा' (Will to power) वाले व्यक्तित्वसे है। अथवा वह व्यक्तित्व जो सदैव अपनी इच्छाशक्ति तथा अपने दृढ संकल्प द्वारा अपने सजातियोंपर शासन करता है; जो शक्तिशाली, प्रभावशाली, साहसिक तथा निर्भीक है; जिसमें स्वाभिमान, धृष्टता, उच्छृंखलता, प्रगल्भता आदि गुण भलीभाँति विकसित हैं। उपर्युक्त गुणोंवाला व्यक्ति ही सुसंस्कृत, शिष्ट, दृढ संकल्प-वाला स्वस्थ शरीरका मानव है, जो अतिमानव है।

डारविनके प्राकृतिक चयन और योग्यतमकी ही विजयके सिद्धान्तको नीत्सेने अतिमानवोंके प्रादुर्भावके रूपमें समझाया। विकासकी अन्तिम स्थिति नैतिक, आध्यात्मिक गुणसम्पन्न बलिष्ठ मानवोंकी है, क्योंकि प्रकृतिमें सर्वत्र निष्ठुर, निर्भीक, शक्तिशाली तथा शासन करनेवाले प्राणी ही विजयी और जीवित रहते हैं। असमर्थपर समर्थकी विजय ही जीवन-का नियम है। उसकी अवहेलना करना पाप है। उस प्राकृतिक विजयके आधारपर ही नैतिक नियमोंका निर्माण सम्भव है : समर्थ (शक्तिकी महत्वाकांक्षावाले व्यक्तित्व) को ही जीवित रहना चाहिये।

नीत्सेका अतिमानवका सिद्धान्त प्राचीन यूनानियोंकी 'व्यक्तिके व्यक्तित्व विकास' सम्बन्धी धारणाका दानवीय रूप है। आदिकालीन

यूनानी सभ्यताका प्रभाव : समस्त मान्यताओंका पुनर्मूल्यीकरण

यूनानी संस्कृतिका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग व्यक्ति एवं नागरिकके चरित्रके उत्थानके लिए अच्छी परिस्थितियोंका निर्माण करनेमें विश्वास करते थे। नीत्से बाल्यकाल ही से इस बातसे प्रभावित था कि व्यक्तिको महत्ता देनी चाहिये। बड़े होकर उसने अपने दर्शनमें इसी विचारधाराको एक नवीन एवं पाशविक रूप दिया। उसके अनुसार "मनुष्य-जातिको सदैव महापुरुषोंको उत्पन्न करनेका प्रयास करना चाहिये—इसके अतिरिक्त उसका और कोई दूसरा कर्त्तव्य नहीं है।" उसका कहना था कि मानवको अतिमानव बनानेके लिए, अतिमानवोंके उत्थापन और संवर्धनके लिए अनुकूल परिस्थितियोंका निर्माण करना चाहिये ताकि अधिकसे अधिक और श्रेष्ठसे श्रेष्ठ अतिमानवोंका प्रादुर्भाव हो सके। अतः वह कहता है कि 'अतिमानव-संवर्धन' (The rearing of the Superman) करना मनुष्यका कर्त्तव्य है और उसके लिए 'समस्त मान्यताओंका पुनर्मूल्यीकरण' (Transvaluation of all Values) आवश्यक है। समर्थकी जीवन-विजयके प्राकृतिक एवं जैव नियमको नैतिक रूप देनेके लिए मनुष्यको पुराने आदर्शोंको छोड़ देना चाहिये। मानवोंको अतिमानव बनानेके लिए उन्हें नवीन और उच्च आदर्शों द्वारा शिक्षित करना चाहिये। नैतिक और शिष्ट गुणोंको वास्तविक रूप देनेके लिए मानव-जातिको अपना अतिक्रमण तथा रूपान्तर करनेका प्रयास करना चाहिये और उसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य संघसदाचार तथा मध्यवर्गीय विचारधाराका त्यागकर नवीन मान्यताओंको स्वीकार करे। मान्यताओं एवं नैतिक नियमोंका मूल आधार 'प्रभुत्वप्राप्तिकी महदाकांक्षा' है। इसीकी अभिवृद्धिके लिए अथवा अतिमानवोंके संवर्धनके लिए नीत्सेने नवीन मान्यताओंकी ओर मानव-जातिका ध्यान आकृष्ट किया। उसका कहना था

कि प्राचीन मान्यताएँ अतिमानवके संवर्धनमें सहायक नहीं होतीं । उन मान्यताओंके जीर्ण मृत रूपको समझानेके लिए उसने धर्म और नीतिके मूलतत्वोंकी उपेक्षा और उपहास किया और ईसाईधर्म, उपयोगितावादी नैतिकता तथा सोद्देश्य नैतिकताकी आलोचना कर अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन किया । नीत्सेका नैतिक सिद्धान्त प्रमुख रूपसे इसे उसकी पुस्तक, 'शुभ अशुभसे परे' (Beyond Good and Evil) में मिलता है । इस पुस्तक द्वारा उसने नीतिशास्त्रको एक नवीन सिद्धान्त दिया है । इसमें उसके नैतिक दर्शनके महत्वपूर्ण अंश वर्तमान हैं । उसने अपनी पूर्वगामी सिद्धान्तोंकी चिन्तनप्रणालियोंकी आलोचना द्वारा अपने 'शक्तिकी आकांक्षा' के सिद्धान्तका निर्माण तथा उसका स्पष्टीकरण किया । उसने सत्यके सापेक्ष रूपको समझानेका प्रयास किया; सद्गुणोंके ऐतिहासिक मूल्यको समझाया; नैतिकताके प्राकृतिक इतिहास एवं नैतिकताके उद्गमका परीक्षण किया और दास-नैतिकता तथा प्रभुओंकी नैतिकताकी संहिताओंके द्वैतकी स्थापना की । यह कहना उचित होगा कि उसने 'शक्तिकी आकांक्षा' के विरोधी सभी सिद्धान्तोंकी ध्वंसात्मक आलोचना की और अतिमानवोंकी विशेषताओं और महानताओंका मुक्त कंठसे गान किया । उसने अतिमानवोंके प्रादुर्भावके लिए समस्त मान्यताओंके पुनर्मूल्यीकरणको महत्व दिया है । अब हम नीत्सेके सिद्धान्तके आलोचनात्मक पक्षको समझनेका प्रयास करेंगे ।

'प्रभुत्वप्राप्तिकी महदाकांक्षा' में जीवनके मूल स्रोतको ढूँढ़नेवाले नीत्सेने ईसाईधर्म अथवा किसी भी अन्य धर्मको महत्ता नहीं दी । उसने

ईसाईधर्मका खण्डन

ईसाईधर्मका खण्डन किया और कहा कि उस धर्मने शोभन, सुसंस्कृत, निर्भीक गुणोंका तथा अहंताका विरोध किया है । अपनी पुस्तक, एंटी क्राइस्ट[1] में उसने यह समझानेकी चेष्टा की कि ईसूको सत्यका ज्ञान नहीं था । नीत्सेके

१. Thus Spake Zarathustra और Beyond Good & Evil को भी देखिये । वैसे उसने सर्वत्र आलोचना की है ।

अनुसार शक्तिकी भावनाकी वृद्धि ही सत्यका मानदण्ड है। इस कसौटीपर कसकर वह ईसाईधर्म, जो कि शक्तिहीनताके गुणगान करता है, की बुरी तरह आलोचना करता है। उसका कहना है कि ईसाईधर्मने जीवनके निर्माण और विकासमें सहायक शक्तियोंको महत्व नहीं दिया है। अतः यदि मनुष्य अपनी रक्षा करना चाहता है तो उसे अपनी जातिमें शुभ गुणोंकी वृद्धि और उन्नति करनी चाहिये। ईसूको रक्षक मानकर उनका आश्रय लेना भूल है, क्योंकि उन्होंने सद्गुणोंको नष्ट करनेका भरपूर प्रयत्न किया है। उन्होंने सदाचारके नियमों द्वारा कायरोंको आश्रय तथा उन्हें जीवित रहनेका अधिकार दिया है। प्रभुत्वकी इच्छा-शक्तिके प्रचारकके लिए यह असह्य था कि ईसाईधर्ममें माने जानेवाले गुणोंको लोग स्वीकार करें। नीत्से यह कहता है कि विनम्रता, सहिष्णुता, समानता तथा दान, दया आदि कायरोंके गुण हैं। ईसाईधर्मके एकता और विश्वप्रेम आदिके सिद्धान्त पशुताभरे तथा मूर्खता पूर्ण हैं। भगवान्के नामपर सबको समानताकी श्रेणीमें रखना अतिमानवका तिरस्कार करना है। समानताका विचार काल्पनिक है। अतिमानवमें जो शक्तिकी महदाकांक्षा है, वह असमानताका लक्षण है। ईसाईधर्म समानताके साथ प्रत्येक व्यक्तिको अपने-आपमें परिपूर्ण मानता है। नीत्से उसके विपरीत कहता है कि अतिमानव अपने ध्येयकी पूर्तिके लिए मानवको साधन बना सकता है। ईसाई धर्म निष्क्रिय, अयोग्य तथा असमर्थ व्यक्तिका धर्म है। वह असफल जीवनवालोंको यह कहकर सान्त्वना देता है कि दूसरे जीवनमें उन्हें सफलता मिलेगी। दुर्बलोंको यह कहकर धीरज बँधाता है कि पौरुषीय गुणोंसे सम्पन्न, आत्माभिमानी, दृढ़ तथा आत्मनिर्भर व्यक्तित्वसे भगवान् घृणा करते हैं। नीत्सेका कहना है कि भगवान् अथवा ईसूमसीहपर आस्था नहीं रखनी चाहिये। क्योंकि इससे हम अतिमानवको भूल जाते हैं। अथवा 'सब देवता मर गये हैं : अब हम चाहते हैं कि अतिमानव जीवित रहे।' अतिमानवको विकासका ध्येय माननेके लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि 'पुराना ईश्वर मर गया है'। यह मानते ही मनमें

आकांक्षा, आश्चर्य तथा स्वतन्त्रताकी भावना जाग्रत हो जायगी और तब सब लोग जीवनकी प्रगतिकी ओर सन्नद्ध हो जायँगे। उस समय पौरुषीय, मानवीय, नैतिक गुणोंका विकास ही जीवनका लक्ष्य हो जायगा।

नीत्सेने उपयोगितावादी नैतिकताको अनैतिक कहा है; क्योंकि वह समानतामें विश्वास करती है और जनसाधारण—अविवेकी, शक्तिहीन, अनैतिक, ह्रासोन्मुख व्यक्तित्व—को जीवित रहनेका अधिकार देती है। नीत्सेके दर्शनका ध्येय अतिमानवोंको प्रतिष्ठित करना था। वह उन सभी विचारोंके विरुद्ध है जो समानताका सर्वकल्याणकारी मार्ग अपनाते हैं। उसका कहना था कि उपयोगितावादी नैतिकताकी नींव झूठी और थोथी है। यह समताकी धारणापर आधारित है। वास्तविकता यह है कि मनुष्य समान नहीं है। मानव और अतिमानवकी असमानता प्रत्यक्ष है। उपयोगितावादी नैतिकताको वह दलकी नैतिकता अथवा संघनैतिकता कहता है जो भयसे उत्पन्न होती है। उसे माननेवाला व्यक्ति कायर है। वह वही कार्य करता है जो कि संघ द्वारा समर्थित है। संघसदाचारके अनुसार व्यक्तिको जो कुछ भी समूहसे ऊपर उठाकर, उसे शक्तिशाली तथा पड़ोसियोंके भयका कारण बनाता है वह पाप है। संघनैतिकतामें सहनशीलता, विनय, यथानुकूलता और समानताकी प्रवृत्तिका आदर किया जाता है। नीत्सेका दृढ़ विश्वास था कि संस्कृतिका एकमात्र ध्येय मानवस्वभावका उन्नयन करना है। हम अधिकतम संख्याके हितके कारण महान् कवि, कलाकार, महान् संत तथा विशिष्ट व्यक्तित्वके स्त्री-पुरुषोंका तिरस्कार नहीं कर सकते। अधिकतम संख्याके सुखमें विश्वास करना संस्कृतिका पतन करना है। सुखभोगका अधिकारी केवल अतिमानव है।

उपयोगितावादी नैतिकता

नीत्सेके अनुसार संकल्पस्वातन्त्र्यकी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। यह कल्पनामात्र है। व्यक्तिके कर्म आत्म-निर्णीत नहीं होते, वह अपने कर्मोंके लिए उत्तरदायी नहीं है। जिस प्रेरणासे वह कर्म करनेके लिए प्रेरित होता है वह वातावरण और परिस्थितिजन्य होती है। विश्वमें हमें भौतिक और

सोद्देश्य नैतिकता : संकल्प स्वतन्त्र नहीं है

देह-व्यापार-सम्बन्धी कार्य-कारणका अनवरत प्रवाह मिलता है। हमारी प्रेरणा एवं संकल्प इस शृंखलासे मुक्त नहीं है। हमारे कर्म भी इसी शृंखलाके अंग हैं। वे अपने पूर्वकारणोंसे ही अनिवार्यतः निर्धारित होते हैं। उनके स्वरूपको वातावरण और आनुवंशिकता निर्धारित करती है। अतः कर्म स्वतन्त्र संकल्पके परिणाम नहीं हैं और न वे सोद्देश्य ही होते हैं। कार्य-कारणकी शृंखलाका अंग होनेके कारण कर्म, उद्देश्य एवं प्रेरणाएँ अपने-आपमें न तो सत् हैं और न असत् हैं; न नैतिक हैं, न अनैतिक ही।

नीत्से सापेक्षतावादी है। वह कहता है कि नैतिक प्रत्यय सापेक्ष होते हैं, शाश्वत नहीं। उसके अनुसार नैतिक प्रत्यय एवं सत् असत्‌की धारणाएँ

नैतिक सापेक्षता

देश, काल, परिस्थितियोंपर निर्भर होती हैं। वे समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं। इतिहास इस बातका साक्षी है कि विभिन्न जातियों, देशों और कालोंमें भिन्न-भिन्न नैतिक नियम मिलते हैं। जो एक विशिष्ट कालमें शुभ है वह दूसरे कालमें अशुभ है; जो एक जातिके लिए उचित है वह दूसरी जातिके लिए अनुचित है। कालक्रममें अपनी उपयोगिता एवं अनुपयोगिताके अनुसार सत् असत् और असत् सत् बनता जाता है। नैतिक विभक्तियाँ शाश्वत नहीं हैं। वे जैव, भौगोलिक और ऐतिहासिक परिस्थितियोंपर निर्भर हैं। जहाँतक प्रकृतिका प्रश्न है उसमें किसी प्रकारका नैतिक उद्देश्य दृष्टिगोचर नहीं होता। वह न सत् है और न असत्; वह निर्नैतिक है। प्राकृतिक घटनाएँ नैतिक मान्यताओंसे परे हैं। इनका महत्व मनुष्यके सम्बन्धमें है। वह घटनाओंकी नैतिक व्याख्या करता है। नीत्सेके कथनानुसार विश्व प्रकृति नैतिकतासे शून्य है। नैतिकता केवल मानव-जगतकी उपज है। सत् और असत्‌की धारणाएँ प्राकृतिक जगतमें मनुष्यने अपनी सुविधानुसार स्थापित की हैं। वे परिवर्तनशील हैं। उन्हें भौतिक परिस्थितियों और सामाजिक वातावरणके सम्बन्धमें ही समझ सकते हैं। अपने-आपमें वह निरर्थक हैं। उसके अनुसार अतिमानव अपने सुख और सुविधाके अनुसार नैतिक नियमोंका

निर्माण और ध्वंस करनेका पूर्ण अधिकार रखता है। अतिमानव सत्यकी रूपरेखा निर्धारित कर सकता है। वह विकासकी पूर्णताका सूचक है।

शुभ और अशुभकी नीत्से नवीन परिभाषा देता है। वह नैतिक मान्यताओंको जैव और दैहिक तत्वोंपर आधारित बतलाता है। उसके अनुसार

शुभ अशुभकी परिभाषाएँ : सुख दुःखके अर्थ

शुभ वह है जो कि शक्तिकी इच्छाकी वृद्धि करता है तथा जीवनको प्रगति देता है और अशुभ वह है जो शक्तिकी लालसा तथा प्रभुत्वप्राप्तिकी महदाकांक्षाको दुर्बल तथा शक्तिहीन बनाता है। अथवा 'वह सब जो शक्तिसे आता है शुभ है और वह सब जो दुर्बलतासे आता है अशुभ है।' नीत्सेने प्रभुत्वप्राप्तिकी महदाकांक्षाको मौलिक नैतिक गुण कहा है। वह अन्य सभी नैतिक गुणों और प्रत्ययोंको इसीके आधारपर समझाता है। सुखवाद यह मानता है कि व्यक्ति अपने कर्मोंको सुख और दुःखकी भावनासे प्रेरित होकर संचालित करता है। नीत्से इसकी आलोचना करते हुए कहता है कि मानव-स्वभावको सुख और दुःख शासित नहीं करते हैं। मानव स्वभाव, मानव-कर्म तथा मानव-मान्यताएँ सब-कुछ 'प्रभुत्वप्राप्तिकी महदाकांक्षा'पर निर्भर हैं। उसीकी प्रेरणाके परिणाम हैं। शक्तिकी तीव्र इच्छाको जब हम सन्तुष्ट नहीं कर पाते तब दुःख मिलता है और जब सन्तुष्ट कर लेते हैं तब सुख मिलता है। सुख-दुःखकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वे शक्तिकी महदाकांक्षाके परिणाममात्र हैं।

अतिमानवके सिद्धान्तकी स्थापना करनेके अभिप्रायसे नीत्से मानव-स्वभावका विश्लेषण करता है। प्रभुत्वप्राप्तिकी महदाकांक्षा सर्वसामान्य-

नीत्सेके सिद्धान्तका भावात्मक पक्ष : अतिमानवका सिद्धान्त; उसकी पुष्टि

प्रवृत्ति है। यह मौलिक सहजप्रवृत्ति है। वह कहता है—"जहाँ कहीं भी मैंने चेतन प्राणी देखे, वहाँ मैंने प्रभुत्वप्राप्तिकी इच्छा पायी······मनुष्यको आप सब-कुछ सम्भव दे दीजिये—स्वास्थ्य, भोजन, आश्रय, भोग—किन्तु वह दुःखी और झक्की ही रहेगा क्योंकि दानव निरन्तर प्रतीक्षामें रहता है और उसे सन्तुष्ट

करना पड़ता है।" यदि प्रभुत्वप्राप्तिकी इच्छा सर्वसामान्यप्रवृत्ति है तो अतिमानव और साधारण लोगोंमें क्या भेद है? अतिमानवकी क्या पहचान है? कैसे उसकी श्रेष्ठताको स्थापित कर सकते हैं? कैसे कह सकते हैं कि वह पौरुषीय सामर्थ्यसम्पन्न तथा संस्कृत और नैतिक गुणोंकी चरम सीमा है? नीत्से अतिमानवको 'संस्कृतिका अभिजात' (Aristrocrat of Culture) कहता है। उसके अनुसार अतिमानव ही संस्कृतिकी गौरव-पूर्ण चरम सीमा है। व्यक्तिमें शक्तिके लोभका चरम विकास ही उसके संस्कृतिके अभिजात होनेका द्योतक है। 'शक्तिलोभ' नैतिक, अध्यात्मिक और संस्कृत गुण है। अतिमानवोंमें यह अपने पूर्ण रूपमें प्रस्फुटित होता है। वे इसके बारेमें सचेत होते हैं। उनकी प्रभुत्वप्राप्तिकी इच्छा उनका मार्गदर्शक बनती है। उनकी सार्थकता, उनकी अहम्मन्यता उनमें उनके अधिकारोंके विषयमें आत्मदृढ़ता उत्पन्नकर प्रतीकारकी भावना और संघर्षकी इच्छाको पूर्ण रूपसे जाग्रत करती है। ऐसी वैयक्तिक स्वतन्त्र आध्यात्मिकता (Independent Spirituality) अर्थात् अतिमानिव, विकासका चरम लक्ष्य तथा उसकी अन्तिम स्थिति है।[1] वही पृथ्वीकी भी सार्थकता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्यमें अपनेको विकसित करनेकी शक्ति है। उस शक्तिका हनन नहीं करना चाहिये। उसे महत्ता न देना सभ्यताका निरादर करना है। अतः मनुष्यको चाहिये कि अपनी सम्भावित भौतिक और आध्यात्मिक शक्तियोंको वास्तविक रूप दे। अपनेको अतिक्रम कर अतिमानवकी स्थितिमें पहुँचे। अतिमानव मानवका अतिक्रमण उसी प्रकार कर सकता है जिस प्रकार कि मानव बन्दरका। 'मनुष्यके सम्मुख बन्दर क्या है? एक हास्यास्पद वस्तु, एक लज्जाकी वस्तु; अतिमानवके

---

१. नीत्सेने अपनी पुस्तक Thus Spake Zarathurstra में जरथुस्त्रको अतिमानवके रूपमें देखा। इस प्रकार उसने पहिले अतिमानवको व्यक्तिके रूपमें अंकित किया। बादको इसी अतिमानवकी धारणाको विकासकी अन्तिम स्थिति मानकर अतिमानवोंकी एक जातिकी कल्पना की।

सम्मुख मनुष्यकी भी यही स्थिति होगी, एक हास्यास्पद तथा लज्जाकी वस्तु।' मनुष्यकी सम्भावित शक्तियोंके साथ ही नीत्सेको यह भी विश्वास था कि अतिमानवोंका प्रादुर्भाव आजके युगके मानवोंके लिए सम्भव है। उसके लिए उन्हें नयी मान्यताओंकी सूची (Table of new Valuations)को स्वीकार करना चाहिये। समस्त मान्यताओंके पुनर्मूल्यीकरणमें विश्वास करना चाहिए। जनसाधारण इन मान्यताओंका तिरस्कार इसलिए करता है कि वह स्वतन्त्र व्यक्तित्वसे डरता है। वह जानता है कि जीवन संघर्षमें उसी श्रेष्ठ व्यक्तिके विशेषाधिकार होंगे तथा उसीको सफलता मिलेगी। दुर्बल अपनी दुर्बलताओंको छिपानेके अभिप्रायसे सृष्टिके नियम (योग्यतमकी ही विजय होती है और वही शासन करता है) की अवहेलना करते हैं। वे अनैतिक, अशुभ, कायर प्रवृत्तियों (विनम्रता, सुशीलता, दयार्द्रता और निःस्वार्थता)का यशगान करते हैं। राजनीतिक क्षेत्रमें दुर्बल लोग अपनी दुर्बलताएँ समानताकी पुकारके पीछे छिपानेका विफल प्रयास करते हैं। नीतिके क्षेत्रमें ईसाइयतको महत्व देकर अनैतिकता और पापका प्रचार करते हैं। उपयोगितावादी 'अधिकतम संख्याका अधिकतम सुख'के घृणित और जघन्य विचारको महत्ता देते हैं। नीत्से इन सब धारणाओंकी आलोचना करता है। उसके अनुसार मध्यवर्गीय तृप्ति हेय है। मनुष्यका कर्त्तव्य है कि विकासके लक्ष्य और सभ्यताकी परिपूर्णताको समझे। वह विशिष्ट व्यक्तित्वके स्त्री-पुरुषोंको महत्ता प्रदान करे। उनको सभ्यताका प्रतीक मानकर उनका शासन स्वीकार करे।

नीत्से वर्गभेदमें विश्वास करता है। अतिमानव और मानवमें महान् अन्तर है। अतिमानव श्रेष्ठ व्यक्तित्वका है अतः उसे जीने और सुख भोगनेका अधिकार है। मानव साधारण व्यक्ति है, उसका जीवन कीड़े-मकौड़ेका जीवन है जिसका एकमात्र अर्थ यही है कि वह अतिमानवोंकी सेवा करे। उसके अनुसार दो वर्ग हैं:—एक शासक का, दूसरा शासितोंका। नैतिकता दो भिन्न प्रकारकी है: दासोंकी नैतिकता (Slave-morality)

प्रभुओं और दासोंकी नैतिकता

और प्रभुओंकी नैतिकता (Master-morality)। विशिष्ट व्यक्तित्वको धार्मिक और नैतिक बन्धनोंसे, अथवा उन बन्धनोंसे जो जीवनकी प्रगतिमें अहितकर हैं, मुक्त करनेके अभिप्रायसे ही उसने नैतिकताका दो वर्गोंमें विभाजन किया। अतिमानवोंकी उन्नति और सफलताके लिए ही उसने आत्मविनाशक सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। उसका विचार जनसाधारण-को धर्मसे स्खलित करनेका नहीं था। उसने अन्य अनीश्वरवादियोंकी कटु आलोचना की। उसका कहना था कि जनसाधारणको धर्ममें विश्वास करना चाहिये। साधारण मानवको जीवनमें वैधानिक आश्वासनकी आव-श्यकता होती है। जनसाधारणकी आवश्यकताके लिए ही नीत्सेने दासोंकी नैतिकताका प्रतिपादन किया। यहाँपर नीत्से शुभकी वही परिभाषा देता है जो ईसाई धर्म, उपयोगितावादी नैतिकता अथवा प्रचलित नैतिकता द्वारा स्वीकृत है। साधारण मानव शक्ति और असमानतामें विश्वास नहीं कर सकते। उनके लिए शुभ आचरण वही है जो समानतापर आश्रित तथा सुखप्रद है। दासोंका धर्ममें विश्वास होना चाहिये। यह उनके लिए एक निश्चयात्मक आवश्यकता है। प्रभुओंका कर्त्तव्य है कि दासोंको नैतिकता माननेके लिए प्रोत्साहित करें। उनमें धार्मिक विश्वास रहना आवश्यक है। इसीके द्वारा प्रभु उन्हें शिक्षित और सरलतासे अपने अधीन कर सकते हैं। धार्मिक विश्वास होनेपर वे शासकवर्गकी राजसत्ताके लिए साधन बन सकेंगे। अतिमानवोंकी भलाईके लिए, उनके प्रादुर्भाव और विकासके लिए यह आवश्यक है कि दास उनकी सेवा करें। प्रभुओंकी नैतिकता अतिमानवोंकी नैतिकता है। यह अतिमानवोंके संवर्धन तथा प्रभुत्वशक्ति-की इच्छाके विकासकी नैतिकता है। अतिमानव दासोंसे उच्च हैं। उन्हें प्रचलित नैतिक मान्यताओं (दासोंकी नैतिकता) को नहीं मानना चाहिये। आजकी विकसित परिस्थितियों एवं सामाजिक स्थितियोंका अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि त्याग, दया, विश्वबंधुत्व, सेवा आदि गुण निकृष्ट और अयोग्य हैं। मानव-विकासके साथ गुणोंका रूप बदलता है। अतिमानवोंके लिए विलासिता, शक्तिका मोह और स्वार्थता गुण हैं; क्योंकि यही उन्हें

जीवनमें सफलता देंगे। प्रभुओंकी नैतिकताके अनुसार क्रूरता, प्रतिशोध, उच्छृंखलता, उद्दण्डता और स्वायत्तीकरण शुभ गुण हैं। दासोंको हेय समझना, उनपर शासन करना उचित है। अतिमानवोंका दासोंके प्रति व्यवहार कठोर होना चाहिये। उनकी महत्ता तथा विशालताके सम्मुख साधारण मानवकी सत्ता उतनी ही निरर्थक है जितनी कि दूधकी मक्खी-की। अतिमानव संस्कृतिकी थाती है, विकासका ध्येय है। वह जीवनका प्रयोजन है। उसके लिए यह अनैतिक और अनुचित है कि वह दासोंपर दया दिखाये। प्रभुओंकी नैतिकताकी कसौटी कठोरताकी कसौटी है। जो सबसे उत्तम है वही सबसे कठोर है। श्रेष्ठता और उत्तमताके अर्थ हैं:- दासोंपर शासन करना। दया एवं पड़ोसीके स्नेहवश काम करना अनुचित है। कार्य केवल भावी मानवके प्रेमसे प्रेरित होने चाहिये। अतिमानवोंका संवर्धन ही एकमात्र ध्येय होना चाहिये। उन्हें अपने-आपको और दूसरोंको भी अतिमानवके आगमनके लिए साधन बनाना चाहिये। यहींपर वह मानता है कि अनुकूल परिस्थितियोंके निर्माणके लिए, अतिमानवके प्रादुर्भावके लिए त्याग और सहनशीलता उचित है। इसीसे भलाई सम्भव है।

आलोचना

नीत्सेने जीवनसत्यको जीवविकासक्रमके रूपमें देखा। 'योग्यतमकी विजय' अथवा 'प्राकृतिक संकलन' ने उसे अपने बचपनके आदर्श, जरथुस्त्रको अतिमानवके रूपमें साकार करनेके लिए प्रेरित किया। उसने लोगोंका, नवीन सांस्कृतिक आदर्शोंको स्वीकार करनेके लिए, आह्वान किया।

मानवताके ध्वंसकी ओर

उसका कहना था कि मानव-जाति अपना अतिक्रमण करके ही अपना संरक्षण कर सकती है। उसका विश्वास था कि मानव अपने एकमात्र कर्त्तव्यका पालन (अतिमानवोंका संवर्धन) उसकी बनायी हुई मान्यताओंकी सूचीको स्वीकार करनेपर ही कर सकता है। उसने कहा कि मनुष्यको क्षुद्र गुणों, क्षुद्र नीतियों, खोखले विचारों तथा दयनीय सुखकी

भावनाओं अथवा 'अधिकतम संख्याके अधिकतम सुख'के विचारका त्याग करना चाहिये। उसे नवीन मान्यताओंको अपनाना चाहिये। मानवकी उन्नतिके लिए अथवा अतिमानवोंके प्रादुर्भावके लिए उसने जिन गुणोंको महत्ता दी है उनको यदि वास्तविक और व्यावहारिक रूप दिया जाय तो यह कहना अनुचित न होगा कि मनुष्यको मूर्तिमान् नृशंसता तथा निर्ममताका पूजन करना होगा। यह ऐतिहासिक और राजनीतिक सत्य भी है कि नीत्सेके सिद्धान्तने फासिस्तवाद, डिक्टेटरशिप तथा दो भयंकर विश्वयुद्धोंको जन्म दिया। नीत्से युद्धका समर्थक था। वह अतिमानवोंकी शक्तिके प्रदर्शनके लिए इसे आवश्यक मानता था। उसके अनुसार युद्ध एक शुभ और आवश्यक कर्म है। उसके द्वारा अतिमानव अपने नैतिक गुणों (साहस और शक्ति) का प्रदर्शन करता है। युद्ध श्रेष्ठ व्यक्तियोंकी उन्नति और विकासमें सहायक होता है। दुर्बल और अयोग्य व्यक्ति तथा जातियोंका इसके द्वारा नाश होता है। यह दौर्बल्य और निर्वीर्यताको समूल नष्ट कर देनेकी एकमात्र औषधि है। इसके द्वारा अच्छे कर्म सम्पन्न होते हैं। नीत्सेके युद्धके यशगानने जर्मनीवालोंको प्रभावित किया। वहाँके नेताओंने युद्धको संस्कृति और सभ्यताके लिए आवश्यक समझा और अपनेको छोटा-मोटा अतिमानव समझकर विश्वमें एक अनियन्त्रित हाहाकार मचाकर उसे आतंकित और ध्वंस किया।

श्रेष्ठताके नामपर दानवता

नीत्से मानव उत्कर्षविषयक शास्त्र (Eugenics) से काफी प्रभावित था। उसका विश्वास था कि वैज्ञानिक रीतिसे श्रेष्ठ व्यक्तियों और जातियोंकी उत्पत्ति हो सकती है। उसने कहा, अतिमानवके प्रादुर्भावके लिए निरन्तर प्रयास करना मनुष्यका एकमात्र कर्त्तव्य है। प्रभुत्वप्राप्तिकी लालसा सर्वसामान्य गुण होनेपर भी व्यक्ति समान नहीं हैं। व्यक्तियोंकी श्रेणीमें अन्तर होता है। प्रभुत्वप्राप्तिकी लालसा सबमें समान रूपसे प्रस्फुटित नहीं होती। केवल अतिमानवमें ही वह पूर्ण रूपसे प्रस्फुटित होती है। अतः वह पुरुषत्व-प्रधान व्यक्ति है। नीत्सेने अपने अतिमानवके सिद्धान्त द्वारा पौरुषीय

गुणोंको प्रधानता दी। पुरुषत्व क्षत्रियों और आर्योंका भी धर्म है। प्रश्न यह उठता है कि नीत्सेने पुरुषत्वके क्या अर्थ लिये। वीरता, कठोरता, स्वार्थता, शक्तिप्रेम, युद्धप्रेम, तानाशाही, विलासिता, अहंता, सत्य और न्यायको अपने स्वभावानुसार समझना, अपनेको ही सृष्टिकर्ता समझकर मनमानी करना, यही अर्थ नीत्से पौरुषीय गुणको देता है। उसकी दृष्टिमें शुभ, परमार्थता, समानता, आत्मत्याग, अहिंसा, सत्यके शाश्वत रूपको मानना, जनतन्त्रवादमें विश्वास करना कायरता और अनैतिकता है। नीत्सेका अतिमानव स्वतन्त्र व्यक्तित्वका, स्वार्थी, मर्यादाहीन तथा उच्छृंखल व्यक्ति है। वह मनुष्यत्व तथा मानवीय भावनासे शून्य, प्रभुत्वशक्तिका स्फुलिंग है। अपनेको प्रसन्न करनेके लिए, अपनी दानवताको तुष्ट करनेके लिए वह मानवको पशुसे भी गया-बीता समझता है।

नीत्सेकी नैतिकता अपने मूल रूपमें अनैतिक है। वह शुभ कर्म उसे कहता है जो प्रभुत्वप्राप्तिकी महदाकांक्षाकी अभिवृद्धि तथा सुखकी भावना-शक्तिकी अभिलाषाकी तृप्ति करता है। नैतिक प्रत्ययोंके चिरन्तन और शाश्वत रूपको वह स्वीकार नहीं करता और साथ ही संकल्पकी स्वतन्त्रताको भी अस्वीकार करता है। उसके अनुसार मनुष्य अपने कर्मोंके लिए उत्तरदायी नहीं है। सुप्रसिद्ध नीतिज्ञ कांटके अनुसार नैतिकताके तीन स्वतःसिद्ध प्रमाण हैं: संकल्पकी स्वतन्त्रता, भगवान्की सत्ता, आत्माकी अमरता। नीत्से इन तीनोंका विरोधी है। उसके सिद्धान्तानुसार संकल्पकी स्वतन्त्रता मिथ्या कल्पना है, कर्म सोद्देश्य नहीं होते और भगवान् मर चुका है। उसकी सत्तामें विश्वास करना अतिमानवका उपहास करना है। आत्माकी अमरता धर्मकी कायरताकी सूचक है। आत्मा मृत्युके साथ ही समाप्त हो जाती है। नरक कुछ नहीं है। जितनी भी नैतिक और धार्मिक धारणाएँ, और संस्थाएँ हैं उनका मूल्य तभीतक है जबतक कि वे अतिमानवका संवर्धन कर सकती हैं। जीवनकी आवश्यकताएँ यह सिद्ध करती हैं कि प्रचलित नैतिकताके रूपको बदलना पड़ेगा। सहानुभूति, प्रेम, सेवा, त्याग, बान्धव-

असमानता अनैतिक है

स्नेह तथा परार्थ भावनाएँ आजके युगमें असंगत हैं। मानव-विकासकी वर्तमान आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिए द्वैतात्मक नैतिक संहिता नीत्सेके नैतिक दर्शनके प्रमुख आधारस्तम्भोंमेंसे एक है। यही समस्त मान्यताओंका पुनर्मूल्यीकरण करनेके लिए कहती है। प्रभुओंकी श्रेणीके मनुष्योंके लिए नीत्से उन प्रवृत्तियोंको सद्गुण कहता है जो मनुष्यके कठोर और पाशविक स्वभावके लक्षण हैं। अहंमन्यता, निर्दयता, धृष्टता, प्रति-शोध, स्वायत्तीकरण आदि उसके अनुसार कोमल प्रवृत्तियोंसे श्रेष्ठ हैं। इन्हें प्रभुओंकी नैतिकता वांछनीय सद्गुण मानती है। किन्तु जब वह दासोंकी नैतिकताका वर्णन करता है तब सहानुभूति, दया, क्षमा, विनम्रता तथा प्रभुभक्तिको दासोंके लिए आवश्यक गुण बतलाता है। शक्तिशाली व्यक्तियोंको वह उपयोगितावादी नैतिकता और धर्मके बन्धनसे अपनेको मुक्त रखनेको कहता है; क्योंकि ये उनकी प्रगतिमें बाधक हैं। पर दुर्बलोंके लिए वे आवश्यक हैं। जनसाधारणको उनके धार्मिक विश्वासके द्वारा ही अतिमानव उन्हें अपने राज्यके लिए साधन बना सकता है। अतः उनके धार्मिक विश्वासकी रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इसके द्वारा ही उन्हें शिक्षित और अनुशासित किया जा सकता है। इस भाँति एक ओर तो नीत्से 'शुभ और अशुभसे परे'के सिद्धान्तका पोषक है और दूसरी ओर उपयोगितावादी नैतिकता तथा धार्मिक विश्वासको स्वीकार करता है। उसके 'शुभ और अशुभसे परे'का सिद्धान्त केवल शक्तिशालियोंके लिए है; शक्तिशाली जो कुछ भी करता है वह उचित है। प्रचलित मान्यताएँ और धार्मिक विश्वास, जो प्रभुओंकी नैतिकताकी दृष्टिसे तुच्छ, हेय और त्याज्य हैं, अशक्तके लिए अनिवार्य है। इनके द्वारा अति-मानव अशक्तोंको अपने हाथका खिलौना बना सकता है। नैतिकताको इस भाँति दो वर्गोंमें विभाजित करके नीत्से शासकवर्ग और शासितवर्ग अथवा प्रभुओं और दासोंको पूर्ण रूपसे विभक्त कर देता है। मानव मानवका विरोधी है। किन्तु नैतिकता मानव-मानवमें कोई भेद नहीं देखती है। नैतिकताके क्षेत्रमें ऐसी असमानताके लिए कोई स्थान नहीं है। वह

वस्तुगत, सार्वभौम और सार्वजनीन है। नीत्सेकी नवीन मान्यताओंकी सूची नैतिकताके नाममें भयानकता, अमानुषीयता और कुरूपताकी सूची है। तत्वज्ञानकी दृष्टिसे नीत्से सत्तात्मक एकतामें विश्वास नहीं करता। नैतिकताकी दृष्टिसे वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का विरोधी है। धर्मोंकी मूल, आधारभूत समानताकी भावनाको वह भ्रमात्मक कहता है। संस्कृतिके आदर्शस्तम्भ, करुणा और प्रेमको वह हेय समझता है। नैतिकताको दो विरोधी वर्गोंमें बाँटकर वह मनुष्यताका गला घोंटता है। द्वन्द्वात्मक नैतिक नियमको मानवीय विकास और गुणोंका मुख्य आधारस्तम्भ मानना बर्बर सभ्यताका वीभत्स और नग्न प्रदर्शन करना है। नीत्सेका सिद्धान्त असम्भव, अवास्तविक और अव्यावहारिक है। वह सार्वजनीन भी नहीं है। किन्तु नीत्सेको इन सब बातोंकी परवाह नहीं है। वह एक विशिष्ट जातिकी वृद्धिके लिए पागलकी भाँति चिल्लाता है। और इस जातिकी दानवप्रवृत्तिकी महत्ताको समझानेके अभिप्रायसे कहता है कि एक वासनापूर्ण स्त्रीके स्वप्नपाशमें बँधनेसे अच्छा एक बधिकके हाथमें पड़ना है।

नीत्सेका सिद्धान्त तार्किक भी नहीं है। उसकी बुद्धिकी अहंमन्यता उसके विश्वासों और धारणाओंको दृढ़तापूर्वक स्थापित कर देती है। बिना

तर्कहीन असंस्कृत सिद्धान्त

अपने सिद्धान्तके वास्तविक पक्षको सोचे, बिना उचित तर्क दिये वह अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करता है। वह अपने मतको स्वयं महत्ता देता है और अपने मित्रोंको अपने आदर्शकी कसौटीपर कसनेका विफल प्रयास करता है। उसके सिद्धान्तके मूलमें उसके जीवनका अकथनीय सूनापन, कुण्ठा तथा दारुण अनुभव है। यह अनुभव उसकी असम्भव महत्वाकांक्षाकी देन है।

नीत्सेके विचारोंमें स्थिरता नहीं है। वे एक दूसरेके विरोधी हैं। वह विकासमें विश्वास करते हुए भी विकासकी एक अन्तिम स्थिति—अतिमानवोंके प्रादुर्भावकी स्थिति—की कल्पना करता है। उसके विचार भ्रमात्मक और दुराकांक्षी हैं। वे उसके मानसिक और दार्शनिक पतनका कारण हैं। उसका कहना था कि वह नैतिक दानव नहीं है,

उसका अतिमानव संस्कृतिका साकार रूप है। क्या सचमुच नीत्सेका दर्शन संस्कृतिका दर्शन है? नीत्सेका दर्शन विषैले बिच्छूके डंककी भाँति है। बिच्छूको क्षमा कर सकते हैं किन्तु आत्म-चेतन मनुष्यको नहीं। नीत्सेके विचार सत्यानासी हैं। ये संस्कृति और सभ्यताका अभिशाप हैं। नीत्सेने शोभन, मानवोचित संस्कृतिके बदले पाशविक विचारोंका प्रतिपादन किया है। वह अपनी अहंताके उन्मादमें कहता है कि जीवनका ध्येय सर्वकल्याणकारी नहीं है। क्या नीत्सेका स्वार्थी-मानव समाजमें रह सकता है? क्या समाजको रौंदकर वह अपनी उन्नति कर सकता है? मनुष्य चेतन, आत्मप्रबुद्ध, संस्कृत प्राणी है। वह जानता है कि संस्कृति और सभ्यताकी सार्थकता वसुधैव कुटुम्बकम् है। किन्तु इन सबके विरुद्ध नीत्सेका कहना है कि स्वाभाविक शिष्टजनसत्ताराज्य (Natural aristocracy) की नैतिक संहिताके आवश्यक निर्माणात्मक अंग पौरुषीय गुण, प्रभुत्वप्राप्तिकी महदाकांक्षा और स्वार्थ हैं। नीत्सेके दर्शनमें नैतिकताका निराकरण मिलता है अथवा उसका 'समस्त मान्यताओंका पुनर्मूल्यीकरण' अन्य सब नैतिक मानदण्डोंको असत्य कर देता है। उसके एक आलोचक[1] के शब्दोंमें "नीत्सेने कहा कि मैं संस्कृतिका समर्थक हूँ किन्तु इसके विपरीत उसने संस्कृतिका सर्वनाश किया। जिस प्रकार उसके व्यक्तिगत जीवनका अन्त पागलपनमें हुआ, उसी प्रकार उसके दर्शनकी अन्तिम परिणति भी एक विरोधाभासमें हुई। क्योंकि संस्कृतिका दर्शन होते हुए भी उसके भीतर संस्कृतिके विरोधी बीज वर्तमान हैं।"

---

१. F. Nietzsche by Frederick Copleston (Second impression) p. 203.

अध्याय १६

बुद्धिपरतावाद

सामान्य परिचय

बुद्धिपरतावाद वह सिद्धान्त है जो यह मानता है कि मनुष्यका मौलिक स्वरूप बौद्धिक है, भावनात्मक नहीं। इसका सुखवादसे प्रत्यक्ष विरोध है। यह उसके बिलकुल ही विपरीत है। इसके अनुसार जीवनका ध्येय बौद्धिक है, वह भावनासे स्वतन्त्र है। सुखका निराकरण करते हुए बुद्धिपरतावाद कहता है कि सुखकी प्रेरणासे किया हुआ कर्म अनैतिक है। बुद्धिपरतावादने इन्द्रियोंके हननको अनिवार्य बतलाते हुए बुद्धिकी प्रधानता सिद्ध की है। यदि सुखवादने 'सुख सुखके लिए' कहा तो बुद्धिपरतावादने 'कर्त्तव्य कर्त्तव्यके लिए' कहा। सुखवादियोंने सुख, व्यावसायिक बुद्धि और लाभप्रद साधनको महत्व दिया और बुद्धिपरतावादियोंने कर्त्तव्य, सद्‌गुण और नियमोचित कर्मको। एकने नैतिकताका सम्बन्ध कर्मके परिणाम-(सुख दुःख) से जोड़ा तो दूसरेने प्रेरणाकी पवित्रतासे। सुखवादका अध्ययन बतला चुका है कि उसने नैतिक मनुष्यको प्रकृतितक सीमित रखा एवं उसका प्रकृतिकरण कर दिया। बुद्धिपरतावादियोंका अध्ययन बतलाएगा कि उसने मनुष्यको आदर्श और अध्यात्मके स्तरपर उठानेके प्रयासमें उसको अस्वाभाविक बना दिया, उसका अध्यात्मीकरण और आदर्शीकरण कर दिया। बुद्धिपरतावाद और सुखवाद दोनोंने ही अपने सिद्धान्तको सुकरातके सिद्धान्तपर आधारित किया। सुखवादियोंने यह बतलाया कि सद्‌गुण अथवा शुभसे सुकरातका तात्पर्य सुखसे था। उनके विरुद्ध बुद्धिपरतावादियोंने यह कहा कि सुकरात सुखके प्रति बौद्धिक उदासीनतामें विश्वास करते थे। मनुष्यका सत्य स्वरूप बौद्धिक है, उसे बुद्धिके अथवा नियम या विधिके

अनुसार कर्म करना चाहिये। जीवनका ध्येय आत्म-तृप्ति नहीं, किन्तु कर्त्तव्यका पालन करना है। नैतिक कर्त्तव्य बौद्धिक आत्मा द्वारा आरोपित है जिसमें परम आत्म संगति है और जो अनुभवात्मक तत्वों (अभ्यास, प्रकृति, इच्छा आदि)से स्वतंत्र तथा व्यावहारिक विचारोंसे युक्त है। बुद्धि ही मनुष्यको निम्न प्राणियोंसे ऊपर उठाती है और उसे कर्त्तव्यका आदेश देती है। यदि पूछा जाय कि उचित कर्मकी क्या पहिचान है, अथवा नैतिक नियमको कैसे समझा जा सकता है, तो बुद्धिपरतावादी कहेंगे कि उचित कर्म और नैतिक नियमको बुद्धिकी सहायतासे समझ सकते हैं। वास्तवमें आचरणके लिए नियम बुद्धि देती है। बौद्धिक नियमके अनुसार कर्म करना ही नैतिक तथा उचित है। उचितको उचितके लिए ही करना चाहिये। सभी बुद्धिवादियों—हिरेक्लिटससे लेकर कांटतक—ने नैतिकताका परम मानदण्ड नियमको माना है। यह नियम बौद्धिक है। बुद्धिपरतावादियोंका कहना है कि मानव-चेतनामें कुछ सार्वभौम नैतिक सत्य हैं जो बोधगम्य हैं। उचित चिन्तन द्वारा उनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्यकी इच्छाएँ, प्रवृत्तियाँ और आवेग इस बौद्धिक विधानके अधीन हैं। बुद्धि ही नैतिकताके परम मानदण्डके रूपमें नियम, विधि या आदेश देती है। उसके अनुरूप कर्म करना ही उचित है, न कि शुभ एवं सुखके।

दो रूप

सुखवादकी भाँति बुद्धिपरतावादका भी नीतिज्ञोंने भिन्न-भिन्न समयमें प्रतिपादन किया। उसके दो रूप मिलते हैं : उग्र और नम्र। उसके उग्र रूपके समर्थक हैं सिनिक्स, स्टोइक्स और कांट। सहजज्ञानवादी एवं कडवर्थ, क्लार्क, शैफ्ट्बरी, हचीसन और बटलर उसके नम्र रूपको अपनाते हैं। उग्र विचारकोंका कहना है कि शुद्ध बुद्धिमय जीवन बिताना चाहिये। इन्द्रियोंका पूर्ण रूपसे उन्मूलन कर देना चाहिये। नम्र विचारक यह कहते हैं कि इन्द्रियाँ जीवनका अंग हैं पर जीवन मूल रूपमें बौद्धिक है। अतः बुद्धि द्वारा निर्देशित जीवन व्यतीत करना चाहिये। बुद्धिपरतावादके दोनों ही पक्षोंका अध्ययन बतलाता है कि सभी विचारकोंने बुद्धिको अत्यधिक महत्व दिया। बुद्धिपरतावाद निर्मम

अनुशासनवादी (rigoristic) है। उसके अनुसार इन्द्रियोंपर बुद्धिका कठोर नियन्त्रण होना चाहिये। बुद्धि ही एकच्छत्र साम्राज्ञी है। उसके राज्यमें इन्द्रियोंका या तो निष्कासन कर दिया जाता है, या उन्हें निष्क्रिय समर्पण-की स्थितिमें डाल दिया जाता है। कालक्रमके अनुसार यदि बुद्धिपरता-वादका विभाजन किया जाय तो प्राचीनकालमें सिनिक्स और स्टोइक्स मिलते हैं और अर्वाचीन कालमें कांट तथा सहजज्ञानवादी। प्राचीनकालके उग्र विचारकों और अर्वाचीनकालके विचारकोंने अपने व्यावहारिक दर्शनको विश्वकी प्रकृतिसे सम्बद्ध कुछ विश्वासोंपर आधारित किया। किन्तु कांटका नीतिशास्त्र विश्वनिर्माण सम्बन्धी सिद्धान्तोंसे मुक्त है।

प्राचीन उग्र बुद्धिपरतावाद : सिनिक्स और स्टोइक्स

सुकरातकी मृत्युके पश्चात् एण्टिस्थीनीज[1] ने एथेन्सकी एक व्यायाम-शालामें एक पाठशाला खोली। यह पाठशाला सिनोसर्जेस[2]के नामसे प्रसिद्ध थी। जिसके कारण एण्टिस्थीनीज और उसके अनुयायियोंको सिनिक्स[3]के नामसे पुकारा गया। सिनिक शब्द यूनानी भाषाके उस विशेषणसे मिलता है जिसका अर्थ 'कुत्तेके समान' होता है। अतः सिनिक शब्दमें श्लेष है। एण्टिस्थीनीज और विशेषकर उसके शिष्य डायोजिनिस[4]के अशिष्ट और उद्दण्ड स्वभावके कारण व्यंग्यमें लोगोंने उसके पंथके अनुयायियोंको सिनिक अथवा कुत्ता कहा। सिनिकने बौद्धिक स्वतन्त्रताके नामपर कठोर वैराग्यवादको अपनाया, सामाजिक मान्यताओंके प्रति विद्वेषात्मक भाव रखा, सामान्य सामाजिक मर्यादाओंकी उपेक्षा की। अपनी इन विलक्षण-ताओंके कारण वह सिद्धान्त अत्यन्त अनाकर्षक और अप्रिय बन गया एवं

सिनिक्स : विद्वेषवाद

१. Antisthenes जन्म 436 ई० पू०
२. Cynosarges.
३. Cynics.
४. Diogenes.

निर्लज्जता और विद्वेष (सामाजिक सदाचारका तिरस्कार) के अर्थमें 'सिनिक' शब्द प्रचलित हो गया।

मनुष्य बौद्धिक है। जीवनका परम ध्येय सद्‌गुण है। वह अपने-आपमें परिपूर्ण है। सद्‌गुणी व्यक्तिको किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। अपनेमें सम्पूर्ण होना और आवश्यकताओंसे ऊपर उठना ईश्वरीय गुण है। ऐसा व्यक्ति अपने चारों ओरके वातावरण और विभिन्न नियमों—सामाजिक, राजनीतिक आदि—से स्वतन्त्र है। वह विश्वका नागरिक है। वह आत्मनिर्भर है। उसका कल्याण उसीपर निर्भर है। सद्‌गुणयुक्त जीवन व्यतीत करनेके लिए ज्ञान अनिवार्य है। केवल सैद्धान्तिक ज्ञानसे आत्मकल्याण सम्भव नहीं है। तर्कशास्त्र, पदार्थविज्ञान एवं विभिन्न विज्ञानोंका ज्ञान आवश्यक है, पर इनका मूल्य गौण है। आत्मकल्याणके लिए ज्ञानका क्रियात्मक पक्ष मूल्यवान् है जिसके लिए विवेक (Wisdom) आवश्यक है।

ध्येय : सद्‌गुण

सिनिक्स सुकरातके जीवनके उस पक्षसे प्रभावित हुए जो आत्म-निर्भरता और इच्छाओंसे स्वतन्त्रताका सूचक है। इसीको उन्होंने अपने सिद्धान्तका मूल आधार माना। सुकरातका जीवन आत्म-संयमका जीवन था। वह परिस्थितियोंसे स्वतन्त्रता, पूर्ण आत्म-निर्भरता और आत्म-पर्याप्तताके आदर्शोंका मूर्त रूप था। इन आदर्शोंको सिनिक्सने अपनाया और उन्हें अपनानेमें वैराग्यवादको स्वीकार कर लिया। उन्होंने सुखवादकी तीव्र आलोचना की। सुखवादकी असत्यता, अज्ञान एवं मूर्खताको समझानेके लिए इसके संस्थापक, एण्टिस्थीनीजने यहाँतक कहा कि 'सुखके वशमें होनेसे अच्छा पागल हो जाना है'। अपनेको सुकरातका मतावलम्बी बतलाते हुए उसने सुखवादका खण्डन किया। उसके कथनानुसार मनुष्य-को भावनाओं और इच्छाओंके अधीन नहीं रहना चाहिये। उसे इन्द्रिय-जित् या आत्मविजेता होना चाहिये। सुख पाप है, वह जीवनका ध्येय नहीं है। आत्मविजयीको वासनाओंसे मुक्त होना चाहिये। सद्‌गुण ही

सुखवाद का खण्डन

उसका ध्येय है, अन्य वस्तुएँ सहायकमात्र हैं। सुखका सबसे कम स्थान है। सद्गुणके लिए आत्म-संयमी होना आवश्यक है। विवेकी व्यक्तिका जीवन वासनाशून्य शुद्ध बुद्धिमय जीवन है। यह आनन्द (Happiness) का जीवन है। विवेक और आनन्द पर्यायवाची शब्द हैं। आनन्द मनुष्यके बाहर न होकर भीतर है और सुखमें न होकर चरित्रकी पूर्णतामें है। अतः विवेकी व्यक्ति अपने भाग्यके अधीन नहीं है। वह परिस्थितियोंका दास नहीं है। वह अपने भाग्यका निर्माता तथा परिस्थितियोंसे स्वतन्त्र है। परिस्थितियोंके प्रति उदास रहकर ही वह आत्मनिर्भरता सीखता है। इच्छाओंको निर्मूल कर वह बाह्य वस्तुओंके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। इच्छाओंसे मुक्त होना उसके लिए अनिवार्य है। इच्छाएँ मनुष्यको उन वस्तुओंसे युक्त करती हैं जो आत्माके बाहर तथा विजातीय हैं। "प्रत्येकके लिए वही एकमात्र शुभ है जो उसका है, और वह वस्तु जो केवल मनुष्यकी है, मानस या बुद्धि है।" बुद्धिसे शासित व्यक्तिको पाप, दोष, बुराई, दुर्गण आदि छू भी नहीं सकते हैं। वह सद्गुणी है। बिना सद्गुणके कुछ भी शुभ नहीं है।

सिनिक जीवन

विद्वेषपूर्ण विवेक (Cynic wisdom) बौद्धिक आत्माके स्वामित्वके उच्च स्वाभिमानका सूचक है। वह मानव-चेतनाकी परिस्थितियोंके ऊपर पूर्ण विजयका ज्ञापक है। वह वासनाओंके ऊपर बुद्धिकी राजोचित श्रेष्ठताको स्थान देता है। वह आत्म-आरोपित नियमके अतिरिक्त किसी अन्य नियमको नहीं मानता। ऐसा विवेकयुक्त व्यक्ति इच्छाओंकी दासताके विश्वका राजा है। इस तथ्यको आधार मानते हुए जिन आचरणके नियमोंको सिनिक्सने स्वीकार किया वे अत्यन्त अभावात्मक और अव्यावहारिक हैं। आत्माकी पूर्णता आत्म-वर्जन (Self-denial) में है। इच्छाओंको न्यूनतम कर देना चाहिये। अस्वाभाविक ऐश्वर्य और लोकरीतिगत आवश्यकताओंका त्याग कर देना चाहिये। प्रकृतिके अनुरूप सरल और स्पष्ट जीवन बिताना चाहिये। ऐसा जीवन पूर्ण मानसिक शान्ति देता है, इसे कोई क्षुब्ध नहीं कर सकता।

इस सत्यको समझनेवाला विवेकी है। वह भ्रम और अविद्यासे ऊपर है। सिनिक्सको इस बातका गर्व था कि मनुष्यमें बुद्धि है और बुद्धिके अनुरूप कर्म करनेवाला व्यक्ति स्वतन्त्र है। बुद्धिके गर्वने उन्हें भ्रान्त तथा हठधर्मी बना दिया। प्राकृतिक आचरणके नामपर उन्होंने लोकमतका तिरस्कार किया, सजातियोंके प्रति घृणा प्रदर्शित की और रीति-रिवाजको उपेक्षासे देखा। एण्टिस्थीनीजका शिष्य डायोजिनिस अपने विचित्र आचरण, झक्की-पन और बेवकूफीके लिए विख्यात है। 'प्रकृतिके अनुसार रहो' यह उसका मुख्य नीतिवाक्य था। यदि उसके आचरणके आधारपर इसका अर्थ समझनेका प्रयास करें तो प्रतीत होगा कि इसका अर्थ लौकिकरीति अथवा आचार-विधिको न मानना तथा व्यक्तिके सामाजिक सम्बन्धोंको तिलाञ्जलि देना है। यह परम व्यक्तिवादको अपनाना है। डायोजिनिसके समकालीन लोगोंने उसे एक बार मूर्तिसे इसलिए भीख माँगते देखा कि उसे भीख न मिलनेका अभ्यास हो जाय। डायोजिनिस जब बहुत बूढ़ा हो चुका था और यूनानभरमें जब उसकी ख्याति फैल चुकी थी तब अलेग्जैण्डरने उसके बारेमें सुना और वह उससे मिलने गया। वहाँ पहुँचकर उसने डायोजिनिससे पूछा कि क्या मैं आपके लिए कुछ कर सकता हूँ? डायो-जिनिस, जो कि टबमें बैठकर सूर्य-स्नान कर रहा था, बोला कि आप केवल धूपके सामनेसे हट जायँ। डायोजिनिसके जीवनके ऐसे उदाहरण नैतिक और सामाजिक जीवनकी व्यर्थताके सूचक हैं। ये बतलाते हैं कि सद्गुण-सम्पन्न व्यक्ति पूर्ण स्वावलम्बी तथा भौतिक विलासितासे विरक्त है। सिनिक्सने आत्मसंयमको महत्व देनेके नामपर दारिद्रय और भिक्षुक-जीवन को अपनाया। यह वास्तवमें उन भिक्षुक शिक्षकोंका सिद्धान्त है जिन्होंने कि नैतिक निदेशोंको अपने आचरण द्वारा समझाया। नीतिवाक्योंको व्याव-हारिक रूप देनेके लिए निर्लज्जता, अशिष्टता और भद्देपनको स्वीकार किया। पायरो[1]के आचरणमें एक विचित्र व्यक्तित्व मिलता है। उसे तर्क-शास्त्र और विज्ञानसे घृणा थी क्योंकि उसके अनुसार वे आत्मोन्नतिमें सहा-

१. Pyrrho.

यक नहीं हैं। उसकी नैतिक धारणाएँ सन्देहवादकी पोषक हैं। उसके अनुसार सन्देह सद्गुणकी प्राप्तिमें सहायक है। यदि किसी प्रकार यह विश्वास हो जाय कि न शुभ है और न अशुभ, तो वस्तुओंके प्रति स्वतः ही विरक्ति उत्पन्न हो जायगी। पायरोका सन्देहवाद अपनी पराकाष्ठामें पहुँच जाता है जब वह आनन्दका भी परित्याग कर देता है और व्यावहारिक सद्गुणमें भी विश्वास नहीं रखता। वह मानता है कि विरक्ति ही इच्छाओं और वासनाओंसे मुक्त करती है। यही विवेक है। पायरोमें हमें एक विरक्त और वैरागी व्यक्तिके दर्शन होते हैं।

सिनिक सिद्धान्त अपने प्रारम्भिक रूपमें वैराग्यवादी था। इसका सारवाक्य था: सुख पाप है और दुःख शुभ है। इसके अनुगामियोंने अपने आचरण द्वारा इसे निर्लज्जताका बाना पहिना दिया। इसके संस्थापकका कहना था कि वह सुकरातका अनुगामी है। पर एण्टिस्थीनीजको सुकारातका सच्चा शिष्य नहीं मान सकते। सुकरातके सिद्धान्तकी महत्ता एण्टिस्थीनीजके हाथमें आते ही हीन और तुच्छ हो जाती है। दोनोंके प्रमुख ध्येयमें भेद है। सुकरातके मानव-कल्याणकी धारणा एण्टिस्थीनीज द्वारा अहंतावाद और वैराग्यवादमें परिणत हो जाती है। उनकी आत्मनिर्भरता अपने सजातीयोंके अपमानका साधनमात्र है। उसमें नीतिशात्र और तत्वदर्शन, सद्गुण और ज्ञानको भिन्न-भिन्न मान लिया गया है। सुकरातने ज्ञानको ही सद्गुण माना और सिनिक्सने, दर्शनके व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक पक्षोंमें विभाजन कर, व्यावहारिक पक्षको महत्व दिया। उनके अनुसार दर्शनका प्रमुख ध्येय व्यावहारिक है, न कि सैद्धान्तिक (चिन्तन, मनन)। सद्गुण विवेकपर निर्भर नहीं, वह कृतिशक्ति एवं कर्मरत संकल्पशक्तिपर निर्भर है। वही व्यक्तिके नैतिक सामर्थ्यका सूचक है। आत्म-संयम उनकी दृष्टिमें कर्मपर निर्भर है। कला-सौन्दर्यप्रेमी, सांसारिक सुख और ऐश्वर्यमें लीन यूनानियोंको सिनिक्सने कठोर परिश्रम और कष्टका सन्देश दिया। किन्तु वे इस सन्देशको स्वीकार नहीं कर पाये

आलोचनात्मक परीक्षण: सुकरातसे थोथा साम्य

और उससे प्रभावित नहीं हो सके। अतः यह सिद्धान्त प्रचलित और लोकप्रिय नहीं हो सका।

विश्वनागरिकतावाद स्वार्थवाद है

सिनिक्सने विश्वनागरिकतावाद (Cosmopolitanism)की नींव डाली। उनके अनुसार नियम ही नैतिकताका मानदण्ड है, यह नियम बुद्धि देती है और यह बौद्धिक नियम सार्वभौम है। सिनिक साधुका जीवन उन नियमों और प्रचलित रीति-रिवाजोंसे संचालित नहीं जिनका एकमात्र मूल्य उनके परम्परागत होनेपर है। वह केवल विवेकजन्य नियमोंको अनिवार्य मानता है और उन्हींके अनुरूप कर्म करता है। विवेकजन्य नियम सब बौद्धिक प्राणियोंके लिए समान रूपसे अनिवार्य हैं। यदि सब व्यक्ति विवेकी हो जायँ तो राजनीतिक नियमों और राष्ट्रीय भेदोंका कोई मूल्य नहीं रह जायगा। स्वामी-सेवक, स्त्री-पुरुष, एकराष्ट्र और दूसरे राष्ट्र आदिके भेद टूटकर विश्वराष्ट्रकी स्थापना हो जायगी और सब एक ही सार्वभौम नियम (विवेकदृष्टि द्वारा दिये हुए)का पालन करेंगे। ऐसे नियमका पालन करनेवाला प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर है। किन्तु सिनिक्सका विश्वनागरिकतावाद व्यवहारमें इस सिद्धान्तसे बहुत दूर है। वह शुद्ध स्वार्थवादको मानता है। 'विश्वका नागरिक' अपने आचरणमें अपने सामाजिक सम्बन्धको भूल जाता है। सामाजिक शुभके बदले वह वैयक्तिक आत्मनिर्भरताको खोजता है। देशपर आपत्ति पड़नेपर वह[1] बिना हिचकिचाहटके स्वाभिमानके साथ कहता है कि 'मैं विश्वका नागरिक हूँ'; किन्तु नागरिकका कुछ कर्त्तव्य भी है, इसे वह भूल जाता है। आत्मनिर्भरता और आत्मपर्याप्तताका इच्छुक सिनिक पारिवारिक झंझटोंमें नहीं फँसता है। इसे वह दासताकी दशा मानता है। वास्तवमें सिनिक्स अपने सिद्धान्तको अहंतावादसे नहीं बचा पाये। व्यक्तिगत आत्मनिर्भरताको अत्यधिक महत्व देनेके कारण वे विश्व-वादको नहीं समझा पाये। वह व्यक्ति जो कि अपने सजातीयोंसे घृणा करता है, विश्वऐक्य अथवा विश्वप्रेमके गीत कैसे गा सकता है? वह

१. डायोजिनिस

वास्तवमें पूर्ण अहंतावादी है।

सिनिक सिद्धान्तके दो रूप हैं: भावात्मक और अभावात्मक। इस सिद्धान्तके प्रारम्भिक विचारकोंने अपने समयकी भावात्मक (यथार्थ) नैतिकताको स्वीकार किया। प्रचलित व्यावहारिक सद्‌गुणों—न्याय, संयम आदि—को अपने-आपमें शुभ माना। यह सत्य है कि उन्होंने सद्‌गुणोंको समझनेका प्रयास नहीं किया—उनके सामान्य आधारभूत तत्वोंकी खोज नहीं की। कल्याण अथवा सद्‌गुणका वास्तविक स्वरूप क्या है और इनके मूलमें क्या सत्य है—इन प्रश्नोंपर मनन नहीं किया। उन्होंने बिना आलोचनात्मक विश्लेषणके प्रचलित सद्‌गुणोंको स्वीकार कर लिया। सिनिक्सके अभावात्मक रूपकी प्रचण्डताने उनके सिद्धान्तके भावात्मक पक्षको अप्रमुख बना दिया। फलतः जनताके सम्मुख उनके सिद्धान्तका प्रस्फुटन अभावात्मक रूपमें हुआ। नैतिकताको स्पष्ट रूपसे समझानेके बदले, नैतिक नियमोंको पुष्ट अथवा दोषमुक्त करनेके बदले वह विद्वेषी, अहंतावादी और असामाजिक हो गया। सिनिक्सका आत्मसंयमका सिद्धान्त कठोर वैराग्यवादपर आधारित है। उनके लिए यह कहना उचित होता कि अनावश्यक इच्छाओं और प्रवृत्तियोंको रोकना चाहिये अन्यथा व्यर्थकी निःसार वस्तुओंके लिए शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाना पड़ता है। सद्‌गुणको जीवनका ध्येय बतलाते हुए सिनिक्सने जीवनके अभावात्मक पक्षको महत्व दिया। उनके अनुसार बौद्धिक व्यक्ति सुख दुःखकी भावनासे अछूता है। उसे जीवन भर शारीरिक और मानसिक कष्ट उठाने चाहिये। अकीर्ति, दरिद्रता और कठोर परिश्रम नैतिक और आध्यामिक उन्नतिमें सहायक होते हैं। शारीरिक तथा प्राकृतिक आवश्यकताओंका अधिकसे अधिक त्याग तथा आत्मनिर्ममता ही जीवनका ध्येय है। अनुराग, आसक्ति, भावना या तीव्रभावना पाप हैं, वे बीमारीके सदृश हैं, उनका दमन अनिवार्य होना चाहिये। सद्‌गुणी व्यक्ति आत्मनिर्भर व्यक्ति है। आत्मनिर्भरताके ये उपासक सैद्धान्तिक व्यक्तिके सामाजिक सम्बन्धको भूल गये। इन्होंने व्यक्तिकी पृथक्

अभावात्मक पक्ष प्रमुख है

अथवा वैयक्तिक सत्ताको इतना अधिक महत्व दिया कि वह असामाजिक हो गयी। वैयक्तिक स्वतन्त्रताको ही सबकुछ माननेवाला सिद्धान्त सामाजिक कल्याणको भूलकर परम स्वार्थवादको अपना लेता है। वह समाज और उसके जीवित नियमोंके प्रति विद्वेषात्मक भाव रखता है और बुद्धिके गर्वसे दर्पित होकर अमनोवैज्ञानिक हो जाता है। वह भावनाओंको पाप और रोग मानकर उन्हें आमूल नष्ट करनेका प्रयास करता है। वह जिस विवेक-पूर्ण जीवनको अपनाता है वह वासना, इच्छा एवं भावनारहित तथा शुद्ध बुद्धिमय है। विवेकी व्यक्ति वासनाओंके उन्मूलन द्वारा आत्मनिर्भरता प्राप्त करता है। भावनाओंका विनाश ही आनन्द है। आत्म-वर्जन ही पूर्ण शान्ति है। किन्तु भावनाशून्य आत्माको शान्ति और आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है यह नहीं कहा जा सकता।

अनेक दुर्बलताओंसे युक्त: वैराग्यवादकी प्रथम अभिव्यक्ति

सिनिक सिद्धान्त प्रमुख रूपसे अभावात्मक और विधिवत् (Formal) है। विधिपालनको अथवा नियमानुवर्तिताको उसने विशेष महत्व दिया है। नियमका पालन करना उचित है पर साथ ही यह जानना भी अवश्यक है कि नियमका अन्तर्तथ्य (Content)क्या है? नियमका क्या अर्थ और सार है तथा विवेक, सद्गुण और कल्याणसे क्या अभिप्राय है? विवेक, सद्गुण अथवा कल्याणके अर्थको स्पष्ट किये बिना विवेकको सद्गुण कहना अथवा सद्गुणको कल्याण या विवेक बताना व्यर्थ है। सिनिक्सने जीवनके अन्तर्तथ्यको समझाये बिना ही वैयक्तिक और सामाजिक शुभकी अभावात्मक और विधिवत् व्याख्या की है। ऐसी व्याख्याका व्यावहारिक और वास्तविक मूल्य सामाजिक दृष्टिसे घृणित और हेय है। उनके सिद्धान्तने जिस रूपमें प्रसिद्धि प्राप्त की है वह अनाकर्षक और गर्हित है। सिनिक सिद्धान्तके नामके साथ प्रकृतिके प्रति आकर्षण, लोकमतकी उपेक्षा, वैयक्तिक प्रतिष्ठाकी कमी तथा सजातीयोंके प्रति घृणा प्रसिद्ध हो गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जिन उच्च मान्यताओंको लेकर वे प्रारम्भमें चले, अन्तमें उनका उतना ही कुत्सित रूप उन्होंने सम्मुख

रखा। संक्षेपमें, विवेक बतलाता है कि उन व्यर्थकी प्रवृत्तियों और इच्छाओं-से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिये जो परिश्रम और चिन्ताका कारण हैं और सामाजिक लोकरीतियों तथा अबौद्धिक पूर्वग्रहोंके प्रति उदासीन रहना चाहिये। व्यवहारमें सिनिक्स अत्यन्त असामाजिक और अव्यावहारिक हो गये। उन्होंने कलाशून्यता, रूढ़िविरोध, अहंता, विद्वेषभाव और कुत्सित व्यवहारको अपना लिया। दूसरोंकी श्रेष्ठताके प्रति उपेक्षाका भाव, उनसे विद्वेष और घृणा करना, यही उन्होंने वास्तवमें सिखाया। उनका व्यवहार अत्यन्त विलक्षण, अशिष्ट और विरूप हो गया। किन्तु फिर भी उनके सिद्धान्तकी नैतिक दर्शनको एक देन है। उसने सर्वप्रथम यूनानियोंमें उस प्रवृत्तिको दार्शनिक अभिव्यक्ति दी जो बुद्धिमय जीवनको ही बौद्धिक प्राणीके योग्य मानती है और इन्द्रियोंको आत्माके फँसानेके लिए फन्दा मानती है। उनके जालसे मुक्त होनेके लिए आवश्यक है कि विवेकी मनुष्य इन्द्रियोंका सर्वथा त्याग कर दे। सिनिक सिद्धान्त वैराग्यवादका प्रथम और अत्यधिक उग्र रूप है।

सिनिक सिद्धान्त अत्यन्त व्यक्तिवादी और नकारात्मक हो गया था। इस कारण उसका अपने-आप ही पतन हो गया। वह यूनानियोंको प्रभावित नहीं कर पाया। विनोदप्रिय, ललितकला और सौन्दर्यके प्रेमी होनेके कारण वे सिनिक्सके आत्म-संयमको स्वीकार नहीं कर सके। उन्हें नैतिकता आकर्षित नहीं कर सकी क्योंकि उनके लिए जीवन सौन्दर्यका क्षेत्र था, न कि शुभका। उस समय यूनानमें नगरराज्य थे जो समृद्धि-शाली थे। उनकी नागरिक व्यवस्था उत्तम थी, अतः जीवन सुखद था। किन्तु समयके साथ यह व्यवस्था टूट गयी, जीवन अव्यवस्थित हो गया जिससे विरोध और कलह बढ़ गया। कलहने यूनानियोंकी नैतिक चेतना-को जागरित कर दिया। नागरिक व्यवस्थाके टूटनेके पूर्व ही प्लेटो और अरस्तू सांसारिक जीवनके परे एक जीवनके बारेमें कह चुके थे। उन्होंने बतलाया कि बुद्धिनिर्देशित इन्द्रियपरक जीवनसे परे एक और भी उच्च

स्टोइककालकी स्थिति

जीवन है जो शुद्ध बुद्धिमय है। यह दार्शनिक, चिन्तनशील तथा बौद्धिक जीवन है। उनके इस कथनकी ओर आनन्दप्रिय यूनानी तब आकृष्ट हुए जब उनका जीवन अव्यवस्थित हो गया। वास्तवमें उच्च जीवनके जिस सन्देशको यूनानियोंने सुना वह उन्हें स्टोइक्स[१]से प्राप्त हुआ।

स्टोइक सिद्धान्तके प्रचारक ज़ीनो[२]ने अपना भाषण देनेके लिए एथेन्समें एक पाठशाला खोली। इसके लिए उसने जिस बरसातीको किरायेपर लिया वह रंगीन बरसाती[३]के नामसे पुकारी गयी। स्टोइक (Stoic) शब्द स्टोए (Stoa) शब्दसे उद्भूत किया गया है। ज़ीनोके शिष्य 'स्टोएके लोग' अथवा स्टोइक्स कहलाये। इस सिद्धान्तका प्रचार कर इसको प्रसिद्धि क्रिसिपस[४]ने दी। क्रिसिपस ज़ीनोका शिष्य था।

स्टोइक्स

स्टोइक्सने सिनिक सिद्धान्त 'सद्गुण ही परम शुभ है' को संवर्धित और विकसित किया। वास्तवमें सिनिक सिद्धान्त दो दिशाओंमें विकसित हुआ। उसकी एक शाखा परम स्वार्थवादकी ओर बढ़ी और दूसरी स्टोइसिज्मकी ओर। स्वार्थवादने वैराग्यवादकी मिथ्या श्लाघामें कुटिल आनन्द पाया और अपने सिद्धान्तका थोथा प्रदर्शन कर उसे लोगोंकी दृष्टिमें गिरा दिया। आत्माकी स्वतन्त्रताके नामपर समाजके प्रति घृणा और विद्वेषको महत्व देकर उसने अपने सिद्धान्तको निम्न और हास्यास्पद कर दिया। स्टोइक्सने आत्मनिर्भरताका अर्थ अविचल रूपसे उन कर्त्तव्योंका पालन माना जो स्वभावतः व्यक्तिकी सामाजिक और विश्वजनित स्थितिसे उत्पन्न होते हैं। इन दोनों सिद्धान्तोंके मूलमें आत्माके सन्दिग्ध अर्थ हैं। स्वार्थवादियोंने आत्माको असम्बद्ध इकाई माना और स्टोइक्सने उसकी सामाजिक एकताको महत्व दिया।

सिनिक्सकी भाँति स्टोइक्सने भी सद्गुणको परम शुभ कहा है।

---

१. Stoics.
२. *Zeno.* 340–265 ई० पू०
३. Stoa Poikilē
४. Chrysippus 280–209 ई० पू०

सिनिक्सने इस कथनके अभावात्मक पक्षको ही समझाया। सद्गुणका अर्थ

सद्गुण

उन्होंने प्रचलित नियमों और लोकरीतियोंको न मानना, लिया। स्टोइक्सने इसकी भावनात्मक व्याख्या करते हुए कहा कि वह अपने आपमें संगतिपूर्ण तथा प्रकृतिके अनुरूप जीवन है। सिनिक्सके अनुसार विवेकी व्यक्तिके लिए कुछ भी असामान्य नहीं है। उसे लोकरीतियोंकी परवाह नहीं करनी चाहिये और भौतिक आवश्यकताओंको न्यूनतम कर देना चाहिये। स्टोइक्सने सिनिक्सके ऐसे दृष्टिकोणको दार्शनिक जीवन और सामाजिक जीवनके विभाजन द्वारा समझाया। उन्होंने यह बतलाया कि सिनिक्सका कथन दार्शनिक ध्येय और सामान्य एवं निम्न इच्छाओंके विरोधको समझाता है। आचरणकी ऐसी रीति अनिवार्य रीति नहीं है किन्तु वह यह इंगित करती है कि वैरागी साधु विशिष्ट परिस्थितियोंमें इस रीतिको अपना सकता है। सिनिक्सका लोकरीतियोंके प्रति विद्वेषात्मक भाव था। स्टोइक्सने इसको कर्त्तव्यके यथार्थ नियमोंमें परिवर्तित कर दिया। उनका कहना था कि विश्व जीवन्त बौद्धिक पूर्णता (living rational whole) है और मानव-आचरण उसका सूक्ष्म दर्शन है। कर्त्तव्यके नियमोंका आधार विश्वका संचालन करनेवाले वास्तविक नियम हैं। विवेकका अर्थ प्रकृतिकी अगाध चेतनाके साथ संगति है। 'जो कुछ भी प्राकृतिक है वह शुभ है', मनुष्यको केवल प्रकृतिके अनुरूप रहना चाहिए। स्टोइक्स दो प्रकारके जीवन मानते हैं,—प्रकृतिके अनुसार और बुद्धिके अनुसार। दोनों ही परस्पर निर्भर हैं। दोनों एक-दूसरेके अनुकूल हैं। प्रकृतिके अनुसार जीवन इन्द्रियपरक जीवन है। वह मनुष्य और पशुका सामान्य जीवन है। उसमें व्यवस्था और नियम है। उसके कर्म अनायास और सहज प्रेरित हैं। वह अपने-आपमें न शुभ है, न अशुभ। किन्तु यदि यह पूछा जाय कि आचरणपर नैतिक निर्णय कैसे देते हैं, क्या कर्मोंका नैतिक मूल्यांकन सम्भव है, अथवा जीवनमें नैतिकताको कैसे आरोपित किया जा सकता है तो स्टोइक्स कहते हैं कि जब प्राकृतिक जीवनका निर्देशन स्वतन्त्र संकल्पशक्ति और बुद्धि करती है तब उनके द्वारा सञ्चालित आचरण शुभ कहलाता है।

अथवा स्टोइक्सके अनुसार प्रकृतिके अनुरूप जीवन अंधप्रवृत्तियों और आवेगोंका सूचक नहीं है बल्कि वह स्वतन्त्र संकल्प और बुद्धिके अनुरूप जीवन है। सिनिक्स अपनी विद्वेषात्मकके प्रवृत्तिके कारण व्यावहारिक कठिनाइयोंको सुलझानेमें असमर्थ रहे। नैतिक जीवनको अपनानेके लिए मनुष्य कई प्रश्न करता है : जैसे, व्यक्तिगत नैतिक नियमोंको कैसे जाना जा सकता है ? शुभ आचरणको कैसे निर्धारित किया जा सकता है ? व्यावहारिक नैतिकता क्या है ?...आदि। सिनिक्स ने इन समस्याओं की अभावात्मक व्याख्या की है। उनका कहना है कि साधुका कल्याण उसके शारीरिक स्वास्थ्य, सौन्दर्य, कीर्ति, सुख और दुःखसे मुक्तिका सूचक है। स्टोइक्सने भावात्मक अर्थको समझाते हुए कहा कि स्टोइक साधु आत्मा-की प्रसन्नताका और शुभ आनन्दका भोक्ता है। एकमात्र सद्‌गुणको ही कल्याणके लिए अनिवार्य मानते हुए वे सुखवादियोंकी आलोचना करते हैं और उनके विरुद्ध यह कहते हैं कि सुख जीवनका ध्येय अथवा इच्छाका विषय नहीं है। विवेकी व्यक्ति या सद्‌गुणी व्यक्ति सुखकी ओरसे विरक्त होता है। सद्‌गुण सुख नहीं हैं किन्तु सद्‌गुणके प्रयोगमें सुख संयोगवश कल्याणका एक अविच्छिन्न अंग है। यह सद्‌गुणका अनिवार्य निर्माणा-त्मक अंश नहीं, उसका परिणाम है। अतः सुख न तो स्वाभाविक (बौद्धिक) ध्येय है और न यह कर्मकी प्रेरणा ही है। उसका सम्बन्ध कर्मकी क्रियासे है। वह क्रियाका परिणाम है। इस आधारपर स्टोइक्स यह कहते हैं कि सुखका नैतिक मूल्य उन कर्मोंपर निर्भर है जिनका कि वह परिणाम है। यही कारण है कि मूर्खोंके सुख और विवेकी व्यक्तिके शान्त आनन्दमें भेद है। विवेकी व्यक्तिका आचारण सद्‌गुण द्वारा निर्दे-शित होता है; उसे दुःख या क्लेश व्याकुल और क्षुब्ध नहीं कर सकते; वह संयम और विवेकको अपनाता है; वह जानता है कि असंयम और सुखका अत्यधिक मोह उचित बुद्धिपर आवरण डाल देता है। वह व्यक्ति-को संयम और विवेकके मार्गसे हटा देता है। अतः स्टोइक्सने भावहीनता अथवा 'एपेथी' (Apathy) को ही विवेकी व्यक्तिका प्रमुख गुण कहा

है। यह ध्यान देने योग्य है कि 'एपेथी' का प्रयोग स्टोइक्सने भावहीनता-के अर्थमें नहीं किया है। इस शब्दसे उनका अभिप्राय अधिकतर पूर्ण रूपसे भावनारहित या भावनाशून्य स्थितिसे नहीं है बल्कि बुद्धि द्वारा भावनाओंपर नियन्त्रणकी स्थितिसे है। यही, वास्तवमें, स्वतन्त्रताकी स्थिति है। ऐसा स्वतन्त्र व्यक्ति शान्त बौद्धिक संवेगोंके आनन्दका भोक्ता है। विवेक अथवा सद्गुणोंके साथ अविचल शान्त प्रसन्नताकी स्थिति संयुक्त है। अतः आनन्द विवेकी व्यक्तिके जीवनका ध्येय नहीं है, पर वह सत्कर्मोंका अनिवार्य परिणाम है। यही कारण है कि सद्गुण आनन्द है और सद्गुण द्वारा ज्ञान अपने रूपको व्यक्त करता है।

भावहीनता या सुख-दुःखके प्रति विरक्तिको आदर्श मानकर स्टोइक्सने कहा कि साधु एक विकारशून्य वैरागी (Impassive sage) है। उसका विवेक निम्न प्रवृत्तियोंकी ओर से उदासीन है। वास्तवमें, सभी जीवित प्राणियोंकी मूलप्रवृत्ति सुखकी ओर नहीं, आत्मसंरक्षणकी ओर होती है। विवेकी व्यक्ति यह जानता है कि तीव्र वासना और भावना अस्वाभाविक और अबौद्धिक है; संवेग अपनी अत्यधिक स्थितिमें निरंकुश हो जाते हैं। वे मानसकी अबौद्धिक और अस्वाभाविक विकृति हैं। वासना बुद्धिकी वह प्रतिक्रिया है जो अबौद्धिक और प्रकृतिके विपरीत है। शुभके स्वरूपका अज्ञान ही वासनाको उत्पन्न करता है। वासना आत्माका रोग है। सद्गुण ज्ञानके प्रकार हैं; किन्तु वासनाएँ लोकमतकी प्रकार हैं। अतः वासनाएँ सत्यपर आधारित नहीं हैं। मनुष्य उनके प्रवाहमें बह जाता है और इस-लिए आत्मसंमय नहीं रख पाता। मनुष्यको वासनाओंके प्रति विरक्तिका भाव रखना चाहिये। उसे विवेक द्वारा भावनाओंपर नियन्त्रण रखना चाहिये। धन, कीर्ति, कामुकता, अहंकार अथवा उन मिथ्या विषयोंके प्रति, जो सामान्य रूपसे इच्छाके पोषक हैं, विरक्ति रखनी चाहिये।

स्टोइक्सने भावहीनताको महत्व दिया है। क्या इसका यह अर्थ है कि स्टोइक्स सभी प्रकारके भावोंके त्यागमें विश्वास करते हैं? क्या भाव-हीनताकी स्थिति अचेतना (Insensibility)की स्थिति है? भावहीनता

द्वारा, जैसा कि हम कह चुके हैं, स्टोइक्सने आत्मसंयम एवं भावनाओंके बौद्धिक नियन्त्रणको महत्व दिया है। भावनाके बारेमें स्टोइक्समें मतभेद मिलता है। कुछ मानते हैं कि वह पाप है और कुछ मात्राओंका भेद मानते हुए कहते हैं कि शान्त भाव बुरे नहीं हैं। किन्तु फिर भी सब यही मानते हैं कि वह शुभ नहीं हैं। वैसे स्टोइक्स यह मानते हैं कि सुख, दुःख, इच्छा और भय यह मूल भाव हैं। उनका त्याग अनिवार्य है क्योंकि वह मानसको क्षुब्ध कर देते हैं। वे आनन्द, पूर्वज्ञान और संकल्पशक्तिको अच्छा कहते हैं क्योंकि ये मानसकी शान्ति और शक्तिका अपहरण नहीं करते।

व्यावहारिक नैतिकता: ज्ञान, सद्गुण, शुभ-अशुभ

सुकरातके अनुसार सद्गुण एक ही है और वह ज्ञान है। इस कथनकी व्याख्या करते हुए स्टोइक्सने कहा कि ज्ञान सद्गुण है। वह शुभ और सक्रिय है और वह व्यावहारिक चेतना देता है। ज्ञानी अवश्य ही शुभ कर्म करता है। मनुष्यकी आत्मा आत्मचेतन सक्रिय विवेक है इसलिये वह विवेक द्वारा सद्गुणोंको समझकर उन्हींके अनुरूप कर्म करता है। जहाँतक सद्गुणोंका प्रश्न है उनमें एक्य है। वे अपृथक् हैं। इसका कारण यह है कि वे एक ही बुद्धिके परिणाम हैं जो कि कर्मों द्वारा अभिव्यक्ति पा रही है। सद्गुणोंका ध्येय एक है और उनका सैद्धान्तिक पक्ष भी एक है। वे वास्तवमें ज्ञानकी व्यावहारिक चेतनाके प्रकार हैं। व्यावहारिक विवेक बतलाता है कि कौन कर्म शुभ हैं, कौन अशुभ हैं और कौन उदासीन हैं (न शुभ और न अशुभ)। जैसा कि पहिले कह चुके हैं, प्रकृतिके अनुरूप कर्म उदासीन हैं। नैतिक दृष्टिसे वे कर्म जो न लाभप्रद हैं, न हानिप्रद, उदासीन कर्म कहलायेंगे। जीवन, मृत्यु, स्वास्थ्य, रोग, शक्ति, दुर्बलता, सुख, दुःख, शोभन, अशोभन, धन, दरिद्रता, यश, कुयश आदि इस वर्गके अन्तर्गत आते हैं। जिस परिस्थितिमें ये उत्पन्न होते हैं उसके अनुसार उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करते हैं। स्वास्थ्य, धन, जीवन, शक्ति आदि अपने-आपमें शुभ न होनेपर भी उपयोगी हैं। ये प्राणीके संरक्षण और विकासमें सहायक हैं। रोग, दुर्बलता, दरिद्रता आदिसे वे

अधिक वाञ्छनीय हैं। ये अशुभ नहीं हैं, किन्तु असुविधाजनक हैं। अतः उन्हें पसन्द न करना और उनसे दूर रहना ठीक है। जहाँतक शुभ-अशुभका प्रश्न है, या तो वस्तुएँ शुभ ही होती हैं और या अशुभ ही, उनमें मात्राओंका भेद नहीं है। मूर्खता, अन्याय, कायरता, असंयम अशुभ हैं। वे स्वभावतः हानिप्रद हैं। अपने आपमें अवाञ्छनीय हैं। व्यावहारिक विवेक, संयम, पराक्रम और न्याय शुभ हैं। ये सद्गुण हैं। व्यावहारिक विवेक कर्त्तव्यका ज्ञान देता है। वह वस्तुओंके शुभ, अशुभ और उदासीन स्वरूपोंके बारेमें बताता है और विश्वकी उस सार्वभौम व्यवस्थाका ज्ञान देता है जिसे दैवी बुद्धिने स्थापित किया है। उसके अनुसार दैवी विधानके अनुरूप कर्म करना ही उचित है। संयमका सम्बन्ध आवेगोंसे है। यह आवेगों, सहज-प्रवृत्तियों, भावनाओं और इच्छाओंपर बौद्धिक नियन्त्रण रखनेकी आवश्यकताका ज्ञान देता है। पराक्रम सहनशीलता देता है एवं भय, बीमारी, मृत्युको अविचलतापूर्वक सहनेकी शक्ति देता है। न्याय बतलाता है कि व्यक्तिका समाजके प्रति कर्त्तव्य है। उसे सामाजिक सद्गुणोंको स्वीकार करना चाहिये। समाज और न्यायका आधार नियम है। नियमका मूल-स्रोत प्रकृति है। यह सार्वभौम बुद्धिका परिणाम है। इसके द्वारा स्टोइक्सने विश्वप्रेमवादको समझाया। मनुष्य विश्वका नागरिक है। उसका मानवताके लिए कर्त्तव्य है। स्टोइक्सका यह विश्वास था कि विवेकी व्यक्ति सद्गुणोंके अनुसार कर्म कर सकता है। और जो व्यक्ति एक सद्गुणका ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह सभी सद्गुणोंका ज्ञान प्राप्त कर लेगा। अतः जिसके पास एक शुभ गुण है उसके पास सभी शुभ गुण होते हैं। विवेक द्वारा कर्मोंको सञ्चालित करनेवाला व्यक्ति दुर्गुणोंसे मुक्त होता है।

स्टोइक्सके अनुसार भावहीनताकी स्थितिको साधु ही प्राप्त कर सकता है। वास्तवमें यह स्थिति साधुके स्वभावको प्रकट करती है।

भावहीनताकी स्थिति

स्टोइक्सका कहना है कि भावशून्य साधु प्रकृतिके अनुसार कार्य करता है। उसके जीवन और जनसाधारणके जीवनमें महान् अन्तर है। उसका जीवन आध्यात्मिक

और कल्याणप्रद है। बिना अन्य साधुओंका भला किये साधु अपनी उँगली-तक नहीं उठा सकता। वह स्वतन्त्र होनेपर भी भावनाओं और वासनाओंके वशमें नहीं है। वासना बौद्धिक आत्माकी उच्छृङ्खल (नियमविरुद्ध) और दूषित स्थिति है। ऐसी स्थितिमें आत्माके औचित्य-अनौचित्यके निर्णय भ्रामक होते हैं। विवेकी व्यक्ति ऐसी भ्रान्तियोंसे मुक्त है। वह विकारशून्य वैरागी है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं कि साधुको जनसाधारणकी भाँति शारीरिक और मानसिक कष्ट नहीं होता। वह भूख-प्यास, रोग आदिके प्रति सचेत होते हुए भी उनकी ओरसे विरक्त है। वह भलीभाँति जानता है कि ये शुभ नहीं हैं। आशा, भय, हर्ष, दुःखकी ओरसे वह उदासीन है। उसे मालूम है कि जीवनका ध्येय सद्‌गुण है। वह वास्तविक शुभकी प्राप्ति करना चाहता है। आत्माके आनन्दका अनुभव करना चाहता है। आत्माका आनन्द प्राप्त करनेवाला साधु सचमुच ही भावना-रहित नहीं है। अतः 'भावशून्य'के यथाशब्द अर्थ नहीं लेने चाहिये। साधु केवल उन वासनाओंसे पराङ्मुख है जो सामान्य मानसको प्रभावित करती हैं। उसके कर्म उसकी वास्तविक एवं बौद्धिक आत्मा द्वारा सञ्चालित होते हैं। वह बौद्धिक नियमका पालन करता है। अन्य सब वस्तुओंके प्रति वह विरक्त है। यह उचित भी है। बौद्धिक नियमका पालन करनेसे ही वह जीवनकी पूर्णता और शान्तिको प्राप्त करता है। बौद्धिक अन्तर्दृष्टिका सत्यविवेक उसे वस्तुओंके आधारभूत शाश्वत सत्यका ज्ञान देता है। समयमें घटित होनेवाली वस्तुओंसे उसे विरक्ति हो जाती है। उसकी मुक्त आत्मा सार्वभौम बुद्धिके शाश्वत जीवनको ग्रहण कर लेती है। वह आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र है। उसमें मानवीय गुणोंका पूर्ण विकास हुआ है। वह कवि, भविष्यवक्ता, सुवक्ता, नैयायिक और न्यायाध्यक्ष है तथा सब प्रकारसे पूर्ण है। साधुका ऐसा वर्णन करनेके साथ ही स्टोइक्स यह भी मानते हैं कि इस पूर्ण आदर्शकी स्थितिको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। दार्शनिक अभी उस स्थितिको प्राप्त नहीं कर पाये हैं। वे धीरे-धीरे उस ओर बढ़ रहे हैं। उनका यह स्पष्ट विश्वास अवश्य था कि प्राचीनकालमें

दो-एक व्यक्तियोंने उस स्थितिको प्राप्त किया था।

सिनिक सिद्धान्तने बौद्धिक श्रेष्ठताके गुणगान करनेमें अपने सिद्धान्तको दुरात्मवादी बना दिया। उन्होंने सुकरातके कथन 'ज्ञान सद्गुण है' की व्याख्या करनेके क्रममें प्रचलित रीतिरिवाजोंकी निन्दा की, समाजके प्रति विद्वेषात्मक भाव रखा। फलस्वरूप सिनिक्सका बाह्यरूप अत्यन्त कुटिल और निषेधात्मक हो गया। विश्वनागरिकतावाद माननेपर भी वे उसकी स्थापना नहीं कर पाये। उनके इस अधूरे प्रयासको स्टोइक्सने पूरा किया।

विश्वनागरिकतावाद

सिनिक्सका व्यक्तिवाद उनके सिद्धान्तमें महान् नागरिकतावाद—विश्व नागरिकतावाद—में परिणत हो जाता है। उन्होंने लोकरीतियों, रूढ़ियों, रीतिरिवाजों, प्रचलित मान्यताओंमें सत्यकी खोज की और कहा कि न्याय, मित्रता, सहानुभूतिकी भावना आदि श्रेष्ठ हैं। बौद्धिक होनेके नाते व्यक्ति विश्वका नागरिक है। उसका कर्त्तव्य मानवताके नियमोंका पालन करना है। वह छोटे नगरराज्यकी सीमाओंसे होकर विशाल, श्रेष्ठ समाजमें, ईश्वरके राज्यमें, आध्यात्मिक प्रवेश पा लेता है। मानवताका सार्वभौम श्रेष्ठ राज्य होना पृथ्वीपर सम्भव नहीं है। स्टोइक्सकी नागरिकता आध्यात्मिक राज्य एवं स्वर्गकी नागरिकता है। उनकी दृष्टिमें वह प्राकृतिक समाज एवं बौद्धिक प्राणियोंका समाज है। बौद्धिक होनेके नाते अथवा विचारसाम्यके कारण सब प्राणी समान हैं। बुद्धिके सर्वव्यापी होनेके कारण सब प्राणी एक ही परिवार या सम्प्रदायके सदस्य हैं। वे 'ज़ेउस्के नगर' (City of Zeus) के सदस्य हैं। ऐसे राष्ट्रमें जातिगत और राष्ट्रगत भेदोंके लिए स्थान नहीं है। न कोई शत्रु है और न कोई अजनवी है। स्वामी-सेवकका भाव मिथ्या है। यहाँ सबको समान अधिकार है। किसीके लिए विशिष्ट अधिकारोंका प्रश्न नहीं उठ सकता। इस राज्यमें किसी प्रकारका भेद नहीं, यह बुद्धिसे सञ्चालित है। न्यायका नियम इसकी व्यवस्थाको अभिव्यक्ति देता है। न्याय प्रकृतिका नियम है, सार्वभौम बुद्धिका परिणाम है। वह केवल लोकरीतिमात्र नहीं है। न्याय वह नियम है जो विश्वकी

वस्तुओंकी पारस्परिक संगतिको व्यक्त करता है। स्टोइक्सकी ऐसी विचार-धारा उन्हें विश्वप्रेम तथा मानव-जातिके प्यारकी ओर ले जाती है। वास्तवमें स्टोइक्स प्रथम विचारक थे जिन्होंने इस सद्गुण (विश्वप्रेम) को महत्व दिया और स्वदेशप्रेमके बदले विश्वबंधुत्वको सम्मुख रखा। उनके विश्वप्रेमवादने नागरिकोंको नियमनिष्ठ बनाया। सिनिक्सके विश्व-नागरिकतावादको उन्होंने स्वस्थ और सुन्दर रूप दिया। उन्होंने कहा, विश्वका रूप व्यवस्थित और बौद्धिक है। सब प्राणी एक ही राज्यके हैं। उनका कर्त्तव्य है कि एक-दूसरेकी रक्षा तथा मानव-समाजका संरक्षण करें। उन्हें अपने छोटेसे राजनीतिक समुदायके कल्याणके लिए—जिसमें वह रहता है—सक्रिय योग देना चाहिये। विवेकी व्यक्ति बुद्धिके राज्यमें रहता है। वह अपनी स्थिति और कर्त्तव्यको समझता है। वह सार्व-जनिक कर्मोंमें भाग लेता है। नागरिकके कर्त्तव्योंका भलीभाँति पालन करता है। सजातीयोंकी शिक्षामें रुचि रखता है। उनके जीवनका ध्यान तथा उनके बच्चोंकी चिन्ता करता है। संक्षेपमें स्टोइक्सने उन सभी नियमोंको महत्व दिया है जो विश्वकल्याणके लिए आवश्यक हैं। ऐसे नियमोंका पालन करना ही सद्गुण है एवं प्रकृतिके अनुरूप रहना है। नैतिकता धर्मकी ओर भी ले जाती है। सद्गुणका ध्येय ईश्वरमें निष्ठा है। स्टोइक्सकी धार्मिक आराधना बुद्धि साम्राज्ञीकी सेवा है। प्राकृतिक नियम दैवी नियमोंसे ही उत्पन्न होते हैं।

सिनिक्सकी भाँति स्टोइक्सने भी माना कि विवेक शुभ अशुभका ज्ञान देता है। जब यह प्रश्न उठता है कि कौन-सा आचरण शुभ है तो दोनों ही कहते हैं कि प्रकृतिके अनुरूप आचरण ही शुभ है। ये दोनों ही प्रकृतिका वह अर्थ नहीं लेते हैं जो ऍपिक्यूरसने लिया था। ऍपिक्यूरसके अनु-सार वही आचरण प्रकृतिके अनुरूप है जो अधिकतम व्यक्तिगत सुख देता है। स्टोइक्सके निदेश—'प्रकृतिका अनुसरण करो'—का अर्थ यह है कि बौद्धिक रूपसे कर्म करो। बुद्धि और प्रकृति, दोनों ही

प्राकृतिक नियमके अर्थ : कर्त्तव्यकी व्याख्या

जिन कर्मोंको करनेके लिए कहती हैं वे समान होते हैं। अथवा सिनिक्स और स्टोइक्सके अनुसार प्राकृतिक नियम ही बौद्धिक नियम हैं। सिनिक्सने शुभ आचरणके अभावात्मक पक्षको समझाया; प्रकृतिके अनुकूल आचरण लोकरीतिके प्रतिकूल है। स्टोइक्सने प्राकृतिक नियमको समझानेमें आचरणके यथार्थ नियमोंका प्रतिपादन किया। प्राकृतिक नियमोंको उन्होंने इतनी महत्ता क्यों दी ? क्योंकि उनके अनुसार प्राकृतिक, दैवी और बौद्धिक नियम एक ही हैं। सार्वभौम बुद्धिसे ही प्राकृतिक नियम उद्भूत होते हैं जो निष्क्रिय जड़ पदार्थमें जीवन और क्रियाका संचार करते हैं। प्राकृतिक नियम अन्धनियम नहीं हैं, वे सार्वभौम बुद्धि द्वारा संचालित हैं। प्रकृति बौद्धिक है। वह दैवी नियम और विवेकको व्यक्त करती है। उसके अनुरूप कर्म करनेसे ही कल्याण सम्भव है। सामान्य रूपसे प्रकृतिसे उनका अभिप्राय विश्वके अनिवार्य नियमसे है और विशिष्ट रूपसे उन नियमोंसे है जो कि व्यक्ति और उसके भौतिक परिवेशमें अभिव्यक्त होते हैं। उनकी दृष्टिमें विश्व निष्क्रिय कणोंका समुदायमात्र नहीं है, उसमें जीवन है। उसकी एकता आवयविक (Organism) एकता है। विश्वमें जो दुर्बलताएँ, पाप और त्रुटियाँ प्रतीत होती हैं उनका कारण यह है कि विशिष्ट घटनाओंको हम विश्व-पूर्णताकी पृष्ठभूमिसे विच्छिन्न कर समझनेका प्रयास करते हैं। विश्वका विधान व्यापक है, उसमें बौद्धिक अर्थ निहित है। उसे समझना ही विवेक है। जिस प्रकार संगीतके स्वरोंको बिना उसकी सम्पूर्ण योजनाके समझना अविवेक है उसी प्रकार विश्वकी घटनाओं एवं उसके अंशोंको उसके सन्दर्भके बिना समझना भी अविवेक है। विवेकी अथवा साधु इस तथ्यको समझता है। वह प्रत्येक संवेदन तथा घटनाको सार्वभौम बुद्धिके सम्बन्धमें ही समझता है। उसे सार्वभौम लोग'स (Universal Logos)की—सार्वभौम बुद्धि—की अभिव्यक्ति मानता है। विश्वकी वस्तुओंकी ऐसी व्याख्या हेतुवादी और एकवादी है। इस प्रकार स्टोइक्सने जीवनके प्रति आदर्शवादी और परात्परवादी दृष्टिकोण रखा। स्टोइक्सके प्रकृतिवादने 'प्रकृतिके अनुरूप जीवन'को नया अर्थ दे दिया।

उनके अनुसार बुद्धिका जीवन अथवा नियमनिष्ठ जीवन ही योग्य जीवन है। यह लोकरीतियों और प्रचलनोंका विरोधी नहीं है क्योंकि मानव-समाजमें स्थापित नियमों और रीतियोंके रूपमें ही सामान्य बुद्धि मूर्तिमान् होती है। मनुष्यका कर्त्तव्य उनके अनुरूप कर्म करना है, न कि उनके विपरीत। मानव-जीवन नियमसे मुक्त नहीं है। सच्चे नियमको समझना और उसका पालन करना ही मनुष्यका ध्येय है। स्टोइक्स यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों को ही अपना लेते हैं। यथार्थ ही को बौद्धिक भी मानते हुए वे कहते हैं कि भाग्यकी घटनाओंके प्रति उदासीन रहना चाहिये। परिवर्तनशील परिस्थितियोंसे प्रभावित न होकर दृढ़ एवं कठोर बने रहना चाहिये। किन्तु साथ ही वे यह भी मानते हैं कि सब वस्तुएँ मिलजुलकर शुभके लिए काम करती हैं। व्यक्ति विश्वका अङ्ग है, उसे जीवनकी घटनाओंको स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि व्यक्तिपर जो कुछ भी बीतता है वह विश्वके लिए शुभ है। वास्तवमें सुकरातके सभी अनुयायियोंने किसी-न-किसी रूपमें यह माना कि विश्वकी धारणा दिव्य विचारसे संघटित और व्यवस्थित है। कुछ दार्शनिक इस परिणामपर भी पहुँचे कि दिव्य विचार ही विश्वकी एकमात्र सत्य सत्ता है। यह सर्वेश्वरवाद है। स्टोइक्सके सिद्धान्तमें यह विचार मानव-शुभकी धारणासे युक्त हो गया है। वे कहते हैं कि विश्व जेउस्से विकसित हुआ है और अन्तमें यह फिर उसीमें लीन हो जायगा। अपने मूलरूपमें दैवी होनेके कारण विश्व पूर्ण है। उसके अङ्गोंमें जो त्रुटियाँ या खोट दिखाई पड़ते हैं उनका कारण यह है कि हम उन्हें समग्रतासे अलग करके देखते हैं। समग्रताके दृष्टिकोणसे विश्व पूर्ण तथा शुभ है। भौतिक विश्व सम्बन्धी इस प्रकारके ईश्वरज्ञानने स्टोइक्सको यह बतलाया कि लौकिक सत्यके अनुसार विवेक मानव-कल्याणके लिए पूर्ण रूपसे पर्याप्त है। सार्वभौम लोग'स और भगवान् एक ही हैं। अतः लोग'स या बुद्धिके अनुरूप कर्म करना अन्तःस्थित भगवान्के अनुरूप कर्म करना है। जिस बुद्धिको उन्होंने सर्वोच्च कहा वह जेउस्की बुद्धि है, साथ ही देवताओं,

विवेकी व्यक्तियों और स्वयं उनकी बुद्धि है। एक भी व्यक्तिमें सार्वभौम विवेककी प्राप्ति सब बौद्धिक व्यक्तियोंके सामान्य शुभकी प्राप्ति है। साधु अन्य साधुओंके लिए उतना ही उपयोगी है जितना कि जेउस् जेउस्के लिए। इस प्रकार स्टोइक्सने प्राकृतिक नियमोंको ईश्वरीय और बौद्धिक बतलाकर तथा लोगोंको बौद्धिक एकताके सूत्रमें बाँधकर, उनकी धार्मिक और सामाजिक भावनाओंको जाग्रत किया। विवेकशील व्यक्ति नागरिक नियमों और उनके पालनमें दैवी विधानकी सांसारिक प्रतिमूर्तिको देखता है। वह यह समझ लेता है कि विश्वविधानमें उसका पद निर्दिष्ट है। अपने पद एवं स्थितिके अनुरूप वह नागरिकके कर्त्तव्योंका पालन करते हुए अपनेको विश्वका नागरिक मानता है। कुछ स्टोइक्सने अपने देशके लिए कर्त्तव्य करते हुए अपनेको विश्वका नागरिक कहा। ऐसा व्यक्ति यह भी जानता है कि विश्व पूर्ण बौद्धिक होनेके कारण पूर्ण शुभ है। दरिद्रता, अतृप्त इच्छाएँ, असामयिक मृत्यु, दुःख आदि अशुभ और पाप नहीं हैं। यदि उन्हें विश्वविधानकी अभिव्यक्तिके रूपमें समझनेकी चेष्टा करें तो मालूम होगा कि वे शुभ हैं। इसीलिए स्टोइक असह्य कठिनाइयों, दुःख, रोग, विपरीत परिस्थितियोंको भी पाप नहीं समझता है। वह उन्हें दृढ़ता और शान्तिपूर्वक सहता है। वह कर्मोंके परिणामकी भी चिन्ता नहीं करता। वह आत्मनिर्भर और आत्मपर्याप्त है एवं परिणामकी इच्छासे मुक्त है और वह परिणामको भगवान्पर छोड़ देता है। वास्तवमें वह अपने कर्मोंके लिए वहींतक उत्तरदायी है जहाँतक कि उसकी प्रेरणाओंका प्रश्न है। प्रेरणाओंका बौद्धिक और विवेकसम्मत होना अनिवार्य है।

स्टोइक्सने नियतिवाद और अनियतिवादको सार्वभौम विवेक द्वारा समझानेका प्रयत्न किया है। उनके अनुसार मनुष्यमें विवेक है, वह स्वतन्त्र है और विवेकके अनुरूप कर्म कर सकता है, किन्तु साथ ही, वे नियतिवादके भी प्रबल समर्थक हैं। अब प्रश्न उठता है कि यदि मनुष्य स्वतन्त्र है तो नियतिवादके क्या अर्थ हैं? यदि प्रकृतिके नियम अपरिवर्तनशील हैं और उनके अनुरूप कर्म करना ही मनुष्यका धर्म है तो स्वतन्त्रताका

क्या अभिप्राय है ? क्या इसके अर्थ यह हैं कि मनुष्य अपने दुर्गुणों और पापोंके लिए उत्तरदायी नहीं है ? स्टोइक्स स्वतन्त्रता और नियतिवादमें एकत्व देखते हैं। मनुष्यकी स्वतन्त्रता उसके प्रकृतिके अनुरूप कर्म करनेपर निर्भर है। उसका विवेक सद्गुणके मार्गको अपनाता है अथवा, उनके अनुसार सद्गुण ज्ञान है। तो क्या वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि अज्ञानी अपने कर्मोंके लिए उत्तरदायी नहीं है और उसके दुष्कर्म अनिच्छित हैं। स्टोइक्स यह मानते हैं कि अज्ञानीके कर्म इच्छित हैं। अतः अविवेकी ही पाप करता है और दुर्गुणोंको अपनाता है। पर, हम देखते हैं कि स्टोइक्सने इस कथनके साथ पूर्ण नियतिवादको भी अपनाया है। उनका कहना है कि प्रत्येक घटनाको सार्वभौम बुद्धिके प्रसंगमें समझना चाहिये। ऐसी स्थितिमें एक और समस्या उठ खड़ी होती है। यदि सब कुछ पूर्वनिर्धारित है तो पापी अपने पापोंके लिए नैतिक रूपसे उत्तरदायी नहीं है। इस समस्याको स्टोइक्स यह कह कर समझाते हैं कि पापके मूलमें अज्ञान अथवा भ्रान्ति है। अज्ञान इस अर्थमें स्वेच्छित है कि मनुष्य यदि चाहे तो उचित बुद्धिके अनुसार कर्म कर सकता है। अतः मनुष्य बाह्य कारणों-से बाधित होकर दुष्कर्म नहीं करता बल्कि वे उसके भीतरसे उत्पन्न होते हैं। वह दुष्कर्मोंके लिए स्वयं उत्तरदायी है। इस भाँति स्टोइक्सने नियति-वादको मानते हुए यह समझाया कि विवेकशील प्राणी अपने नैतिक दायित्वसे छुटकारा नहीं पा सकता। प्राकृतिक नियमोंके साथ सामञ्जस्य स्थापित करनेमें ही मनुष्यकी स्वतन्त्रता निर्भर है।

आलोचना

व्यक्तिवाद

स्टोइक्स यह मानते हैं कि ज्ञान सद्गुण या शुभके स्वरूपको समझाता है। वह बताता है, 'प्रकृतिके अनुसार कर्म करो', 'विकारशून्य वैरागी बनो', 'विश्वप्रेमवादको अपनाओ', साथ ही स्टोइक्सने अपने समयकी भावात्मक नैतिकताको स्वीकार करके कर्त्तव्यको महत्व दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि कर्त्तव्यको महत्व देकर

उन्होंने अपने सिद्धान्तको सिनिक्सके वैयक्तिक और अभावात्मक नियम-निष्ठतासे मुक्त कर लिया। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अपने इस प्रयासमें वे पूर्णरूपसे सफल नहीं हो पाये। इसका कारण यह है कि उन्होंने सिनिक्सके उस आदर्शकी पुनःस्थापना करनी चाही जिसके अनुसार आत्म-निर्भरता और आत्म-पर्याप्तताका जीवन ही आदर्श जीवन है। ऐसे आदर्शको मान लेनेके कारण ही स्टोइक्स अपनेको व्यक्तिवादकी सीमाओंसे ऊपर नहीं उठा पाये।

स्टोइक्सने सद्‌गुणको जीवनका ध्येय माना है। सद्‌गुण ही कल्याण है और वह प्रकृतिके अनुरूप रहनेसे प्राप्त होता है। प्रकृतिके अनुरूप रहना

जीवनकी सारहीनता

शुद्ध बुद्धिमय जीवन व्यतीत करना है। प्रत्येक व्यक्तिमें कुछ सरल, स्वाभाविक धारणाएँ होती हैं। ये धारणाएँ सब मनुष्योंमें समान रूपसे वर्तमान हैं। जब मनुष्य इन्हें समझ कर इनके अनुरूप कर्म करता है तो वास्तवमें वह अपने स्वाभाविक यथार्थ रूपका अनुसरण करता है। वस्तुओंका आन्तरिक स्वभाव बौद्धिक है। बौद्धिक विधानके अनुरूप कर्म करना ही उचित है। लोग'स विश्वमें तथा व्यक्तियोंमें, जो कि विश्वके अंग हैं, अभिव्यक्त होता है। बौद्धिक मनुष्य सार्वभौम बुद्धिका सहभागी है। उसे बुद्धि द्वारा निर्देशित जीवन बिताना चाहिये। वासनामय और इन्द्रियपरक जीवन अबौद्धिक और अनियमित है। चिन्तनहीन पशु वासनाकी दासता स्वीकार कर लेता है पर बौद्धिक मनुष्य ऐसी दासतासे पूर्ण मुक्त है। वह भावनाका स्वामी है। स्टोइक्सके ऐसे सिद्धान्तमें स्वाभाविक इन्द्रियजीवनके लिए कोई स्थान नहीं है। बौद्धिक और अबौद्धिक तत्वोंकी संगति असम्भव है। भावना आत्माकी शत्रु है। यह उसे बाह्य जगतसे बाँधती है। बुद्धि आत्माको उससे मुक्त करती है जो अनात्मा है, जो छायामात्र, भ्रमपूर्ण और असत्य है। वासनाके बन्धनमें पड़कर मनुष्य परिस्थिति और भाग्यका दास बन जाता है। यदि आत्माको जीवित रखना है तो भावनाको रत्तीभर भी स्थान नहीं देना चाहिये। आत्माका वास्तविक स्वरूप मुक्त है। वह आत्म-निर्भर

है। वास्तवमें स्टोइक्सके इन कथनोंमें प्लेटोके सिद्धान्तकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। इनका बौद्धिक और अबौद्धिकका द्वैत इनकी विशेषता नहीं है। यह प्लेटो और अरस्तूसे प्रारम्भ हुआ है। इन्होंने उसीको पुनः सुदृढ़ कर दिया। स्टोइक्सने तटस्थताकी स्थितिको लक्षित ध्येय माना है। वह भावना और बुद्धिके द्वैतपर आधारित है—इच्छाओं और भावनाओंका दमन उसकी प्राप्तिमें सहायक होता है। मनुष्यके संगतिपूर्ण विकाससे शुभ-का तादात्म्य स्वीकार करते हुए भी उन्होंने कृतित्वशक्तिको महत्व दिया; अथवा नियमनिष्ठ सारहीन जीवनके आदर्शको सम्मुख रखा। ऐसे सिद्धान्तकी व्यावहारिक उपयोगिता है, इसमें सन्देह नहीं है। दुःखके असह्य क्षणोंमें विरक्तिका भाव एक सबल संबलकी भाँति है। वह व्यक्तिकी मान-सिक स्थितिको अपसामान्य होनेसे बचाता है, उसकी सहनशक्तिको सुदृढ़ बनाता है। किन्तु फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि भावनाहीन जीवन नीरस और निष्प्राण है। यह उस कर्त्तव्यकी प्रभुताको भी छीन लेता है जो कि स्टोइक सिद्धान्तका प्राण है। बिना शासन और प्रजाके राजा व्यर्थ है। बिना भावनाके बुद्धि मरघटके उस प्रदीपके समान है जिसका प्रकाश मृतकोंके लिए है। भावनाशून्य जीवनमें बुद्धि पंगु है। भावनाओंके विनाशके साथ ही वह निष्क्रिय हो जाती है। यदि भावनाएँ ही नहीं रहेंगी तो वह किसके मार्ग को निर्देशित करेगी? भावनाओंको कर्त्तव्यके मार्गपर आरूढ़ करना बुद्धिका काम है। भावना, संकल्पशक्ति और विवेकके सामञ्जस्यपूर्ण मेल द्वारा ही बुद्धि, अपनेको व्यक्त करती है। स्टोइक्सने बुद्धि और संकल्पशक्तिके एकत्वको मानते हुए विवेकको संकल्पशक्तिका दास माना, भावनाओंको निरर्थक बतलाया। संकल्पशक्ति जिस ध्येयकी प्राप्तिके लिए प्रयास करती है उसका मूल्याङ्कन भावना और विवेक द्वारा सम्भव है। संकल्पशक्ति इनसे ऊपर नहीं उठ सकती है। बिना इनके वह अबौद्धिक एवं मूल्यरहित है।

स्टोइक्सके बौद्धिक और अबौद्धिकका द्वैत सुकरात, प्लेटो और अरस्तूके सिद्धान्तकी ओर ध्यान आकृष्ट करता है। सुकरातने बौद्धिक जीवन-

आदर्श और वास्तविकताका द्वैत

को योग्य जीवन कहा है। वह बौद्धिक अन्तर्दृष्टि और आत्मज्ञान द्वारा सुलभ है। प्लेटो और अरस्तूने भी बौद्धिक जीवनको शुभ जीवन माना। उचित बुद्धिके अनुरूप कर्म करना सद्गुण करना है। सुकरातके विपरीत इन लोगोंने बौद्धिक जीवनको दो प्रकारका माना है। बुद्धि द्वारा निर्देशित इन्द्रिय-जीवन और इस जीवनके परे अधिक उच्च तथा महान् जीवन, जो दार्शनिक, चिन्तनप्रधान और विवेकपूर्ण जीवन है। प्लेटो और अरस्तूके बौद्धिक और दार्शनिक जीवनका द्वैत ही यूनानी नैतिक सिद्धान्तोंके भावना और बुद्धिके द्वैतके मूलमें है। प्लेटोने आदर्श वास्तविकता (Ideal reality) और इन्द्रियगोचर प्रतिभास (Sensible appearance), रूप (Form) और जड़ पदार्थ (Matter) अथवा आदर्श और इन्द्रिय-परताके जिस द्वैतको स्वीकार किया था उसीकी पुनरावृत्ति स्टोइक्सके सिद्धान्तमें मिलती है। इन्द्रियजीवन अनियमित और अबौद्धिक है। बौद्धिक अन्तर्ज्ञानवाला व्यक्ति सार्वभौम बुद्धिका भागी है। इन्द्रियजीवन और बौद्धिक जीवनकी एकता असम्भव है।

उपर्युक्त द्वैत ही शाश्वत और नश्वर जीवनके द्वैतकी स्थापना करता है। कालजगत् शाश्वतकी छायामात्र है। वास्तविक इन्द्रियसंवेदन आदर्श

निराशावाद

और अतीन्द्रिय सत्यके प्रतिबिम्ब हैं। जिस आत्माने शाश्वत सत्यको समझ लिया है वह कालाधीन संसारकी क्षणभंगुरताको हेय दृष्टिसे देखता है। जेउस्के नगरमें जो पवित्रता है उसका प्रतिरूप भी पृथ्वीपर सम्भव नहीं है। इस प्रकारकी पूर्ण निराशाकी मनःस्थितिमें ऊब पैदा करनेवाला घोर अवसाद अनिवार्य रूपसे आ जाता है। आत्मा किसी भी वस्तु-विषयमें आनन्द नहीं पा सकती, उसे विश्वमें एकस्वरता दिखाई देती है। सांसारिक क्रिया-कलाप सूने लगने लगते हैं। सबकुछ क्षणिक होनेके कारण इस क्षणभंगुरतासे मुक्ति पानेके लिए तथा शाश्वतमें प्रवेश करनेके लिए वह मृत्युका स्वागत करनेके लिए उत्सुक प्रतीत होती है। प्रारम्भमें यह भासित होता है कि सिनिक्स सिद्धान्तमें जो

निराशावाद मिलता है, स्टोइक्स आदर्शवाद उससे मुक्त तथा आशावादसे पूर्ण है। उसके लिए विश्वमें बौद्धिक नियम हैं तथा सब कुछ बौद्धिक विधानके अनुरूप है। पर आदर्श और यथार्थके द्वैतको मान लेनेके कारण वह उस घोर उदासीनताको अपना लेता है जिससे कि उस कालकी सुखोन्मत्त यूनानी चेतना अपरिचित थी। सिनिक्स निराशावाद बुद्धिके गौरवके बोधसे युक्त होनेके कारण तथा स्वतन्त्रता और आत्म-निर्भरताकी भावनाके कारण उस नैराश्यकी अतिशयतासे मुक्त है।

कर्त्तव्यका सम्प्रदाय

अपने सिद्धान्तको समझानेके लिए स्टोइक्सने तर्कशास्त्र और पदार्थविज्ञानको महत्व दिया। पदार्थविज्ञानसे उनका अभिप्राय वस्तुओंकी प्रकृतिके विज्ञानसे है। उन्होंने यह समझाया कि जड़-भूतोंके प्रत्येक कणमें भगवान् व्याप्त हैं। विश्वमें एक सार्वभौम नैतिक व्यवस्था है। विवेकी व्यक्ति अपने बाह्य तथा आन्तरिक जीवनमें सन्तुलन रखता है। वह रीतिरिवाज और प्रचलनोंको विद्वेषसे नहीं देखता। नियमोंका पालन करके वह अपने व्यक्तित्वको पूर्णता प्रदान करता है। स्टोइक्सने, सिनिक सिद्धान्तके प्रतिकूल, विश्वमें कर्त्तव्यका एक संगतिपूर्ण विधान देखा। कर्त्तव्यसे उनका अभिप्राय उन कर्मोंसे नहीं है जिन्हें करनेके लिए परिस्थितियाँ बाधित करती हैं बल्कि वे, जो विवेकसम्मत हैं। नैतिक और सांसारिक दृष्टिमें भेद है। नैतिक दृष्टिसे व्यावहारिक शुभ परम शुभ है। विवेकशील व्यक्ति विश्वप्रेमी होता है। वह सर्वत्र सार्वभौम विवेककी अभिव्यक्ति देखता है। वह पर-कल्याणको समझता है। न्याय, विश्वप्रेम और मित्रताकी भावना प्रत्येक व्यक्तिके जीवनको मूल्यता प्रदान करती है। स्टोइक्स वास्तवमें कर्त्तव्यके सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। उन्होंने अपने नैतिक विश्वासको पुष्ट करनेके लिए पौराणिक उपाख्यानोंका प्रयोग किया। वे आत्माकी अमरताके प्रति विरक्त तथा न्यायप्रधान हैं। ईश्वरभक्ति सद्गुणकी प्राप्तिमें सहायक है। कर्तव्यनिष्ठ होना ही धार्मिक होना है। मनुष्यको न्यायप्रिय होना चाहिये। उसे अन्यायसे विमुख करनेके लिए भगवान्का भय दिखाना उचित नहीं है। उसमें

अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो सकती हैं। स्टोइक्सका धर्म नैतिक विश्वासपर आधारित है। उन्होंने प्रचलित नैतिकता तथा नैतिक सिद्धान्तोंको प्रभावित किया। सर्वप्रथम उन्होंने कर्त्तव्यके अधिकार और प्रभुत्वकी धारणाको व्यवस्थित रूप दिया। बादमें कांटने इस धारणाको भलीभाँति समझाया और अपने सिद्धान्तको इसपर आधारित किया।

एपिक्यूरसके सिद्धान्तके विरुद्ध स्टोइक्सने यह सिद्ध किया कि सब इच्छाएँ सुखके लिए नहीं होती हैं। इस सत्यको समझनेपर भी उन्होंने एक अन्य भूल की। इस मनोवैज्ञानिक सत्यपर अपने नैतिक सिद्धान्तको आधारित कर उन्होंने कहा कि सुख शुभ नहीं है, उसको आचरणका ध्येय नहीं मानना चाहिये। किन्तु यह कहना उचित नहीं है। सुख कल्याणका अनिवार्य अंग है क्योंकि वह ध्येयकी इच्छामें निहित है।

सुखका स्थान

स्टोइक्स अपने सिद्धान्तमें सिनिक साधुओंके जीवनके उन उपाख्यानोंसे प्रभावित हुए जो आत्माकी स्वतन्त्रता तथा भौतिक ऐश्वर्यके प्रति उदासीन थे। उन्होंने सिनिक्सके ऐसे सिद्धान्तको स्वीकार कर उसका उन्नयन किया तथा उसका ऐसी नवीनताके साथ प्रतिपादन किया कि लोग प्रभावित हो गये और उसके मूल प्रतिपादकोंको भूल गये। स्टोइक्सने यह समझाया कि आत्मामें दुःख एवं भाग्यकी विपरीतताको सहनेकी शक्ति है। वह दुःखके प्रति तटस्थता प्राप्त कर सकता है। आत्माकी ऐसी स्थिति पूर्ण रूपसे अभावात्मक नहीं है। वह बतलाती है कि बुद्धि ही आभ्यन्तरिक रूपसे शुभ है। उसकी सक्रियतामें यदि भावनाएँ बाधक हैं तो उनपर संयम रखना चाहिये। जहाँतक स्टोइक्सके अपने जीवनका प्रश्न है, वह निर्मम नियमनिष्ठताका जीवन है,—कठोर और सारहीन। पर जब दूसरोंके आचरणके अनौचित्यका प्रश्न उठता है, तब वह अत्यन्त विशाल एवं सहिष्णु हो जाते हैं। दूसरोंके बुरेसे बुरे आचरणको देखकर वे चुप रह जाते हैं और कुछ नहीं कहते। उनका निर्णयशून्य होना इस तथ्यपर आधारित है कि प्रत्येक

महानता

व्यक्तिका आचरण अनिवार्य रूपसे उसके विशिष्ट स्वभावके अनुरूप होता है। अतः वे दूसरोंके कर्मोंको उतनी ही शान्त विरक्तिसे देखते हैं जितनी कि प्राकृतिक घटनाओंको। वास्तवमें मनुष्यके कर्म प्रकृतिकी घटनाएँ ही हैं। क्योंकि वह बौद्धिक विश्वका अङ्ग है।

स्टोइसिज्मके प्रादुर्भावके समय यूनानके राष्ट्रीय जीवनका पतन हो चुका था। उस समयके नागरिक और राजनीतिक जीवनमें स्वतन्त्रता और मानव-गौरवके बोधके लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। लोगोंका ध्यान जीवनके आन्तरिक सत्यकी ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने सर्वत्र सार्वभौम बुद्धिकी अभिव्यक्ति ही देखी। बुद्धि ही मनुष्यको मनुष्यसे युक्त करती है, सबको एकताके सूत्रमें बाँधती है; साथ ही वह प्रत्येक व्यक्तिको मनुष्यका गौरव देती है। इस भाँति वातावरण, परिस्थिति, वैयक्तिक विशेषताओंके बदले उन्होंने, सर्वसामान्य गुण—बुद्धि—को स्वीकार कर, यह समझाया कि सब मनुष्य समान हैं। उन्होंने दास और स्वतन्त्र नागरिकको समानताके सूत्रमें बाँध दिया। समानताकी धारणाने विश्व-नागरिकतावाद अथवा विश्वबन्धुत्वको जन्म दिया तथा पारस्परिक निर्भरता और कर्त्तव्यकी पारमार्थिक भावनाओंको उत्पन्न किया। कुछ लोगोंके अनुसार यह श्रेय ईसाई धर्मको मिलना चाहिये। किन्तु ईसाई धर्मकी उक्तियाँ भावुक और रहस्यात्मक हैं। प्रारम्भिक ईसाइयोंने तो दासप्रथाका मानव-संस्थाके रूपमें विरोधतक नहीं किया। स्टोइसिज्मने चिन्तनप्रधान और व्यावहारिक दृष्टिकोणको अपनाकर अपने सिद्धान्तको प्रभावोत्पादक और सक्रिय बनाया। मनुष्यके स्वतन्त्र व्यक्तित्वको महत्व देकर स्टोइसिज्मने पहिली बार क़ानूनी अधिकारोंके सिद्धान्तको एक सुरक्षित आधार दिया। आगे चलकर अधिकार और कर्त्तव्यके व्यापक तथा व्यवस्थित नियम बने जिन्होंने रोमन क़ानूनके नामसे प्रसिद्धि पायी। सच तो यह है कि स्टोइसिज़्म यूनानी जगतको प्रभावित नहीं कर पाया। उसका प्रभाव रोमन और ईसाई जगतपर पड़ा और आधुनिक जगतको उसने ईसाई धर्मके माध्यमसे प्रभावित किया।

अर्वाचीन उग्र बुद्धिपरतावाद : ईसाई वैराग्यवाद

ईसाई धर्ममें स्टोइक्सका वैराग्यवाद पुनः स्थापित हो जाता है। उन्हींकी भाँति इस धर्मने विश्वनागरिकतावादको अपनाया और व्यक्तिके स्वतन्त्र अस्तित्वको महत्व दिया। स्टोइसिज़्ममें विवेकी व्यक्ति ही विवेकके गौरवसे मण्डित है। ईसाई धर्ममें प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य होनेके नाते गौरव-युक्त है।

ईसाई धर्म और स्टोइक्स

प्रत्येक व्यक्तिको अपनी मुक्तिके लिए प्रयास तथा आदर्श जीवनको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये। दैवी व्यक्तित्वके सदृश जीवन ही आदर्श जीवन है। उसकी प्राप्ति प्राकृतिक मनुष्यके जीवन द्वारा ही सम्भव है। प्रत्येक वस्तु—धन, ऐश्वर्य, सुख, परिवार आदि—का त्याग अनिवार्य है। सांसारिक जीवन उच्चतम जीवनके लिए तीर्थयात्रामात्र है। उच्चतम जीवनका प्रारम्भ देह और आत्माके बिछोहसे होता है। भौतिक जीवन उस महत् जीवनकी एक भूमिकामात्र है। महत् जीवन ही एकमात्र ध्येय है। ईसाई साधु स्टोइक साधु और मध्ययुगीन साधकोंकी भाँति अपनेको स्वर्ग अथवा शाश्वत विश्वका निवासी मानकर ऐहिक जीवनके प्रति विरक्ति तथा तटस्थता प्राप्त कर लेता है। ईसाई वैराग्यवादने आश्रमिक जीवनको महत्व दिया और समझाया कि यती-जीवनको अपनाना श्रेयस्कर है।

सुकरात, प्लेटो, अरस्तू, जीनो, स्टोइक्स आदिने विवेकमें मानव-नैतिकताके मूलतत्वको पाया। उन्होंने कहा कि विवेक परमशुभकी धारणा देता है। परमशुभ विवेकका परिणाम है। सद्गुणको प्राप्त करना आनन्दको प्राप्त करना है। ईसाई-धर्मकी नैतिकताने परमशुभकी नवीन व्याख्या की।

नैतिकताका मूल-स्रोत हृदय है

नैतिक जीवनका मूलस्रोत हृदय है, न कि विवेक। व्यावहारिक जीवनमें प्रेम ही परम सत्य है। वही आनन्द, सद्गुण तथा अन्य ध्येयोंकी प्राप्ति कराता है। परमशुभमें आनन्द और सद्गुणका ऐक्य है। सद्गुण दया है। वह मनुष्यका भगवान्के प्रति प्रेम है। भगवान्की प्राप्ति ही आनन्द

है। प्रेम पूर्ण संयोगकी ओर ले जाता है। ऐसा संयोग इस जीवनमें सम्भव नहीं है। दूसरे जीवनमें ही वह सफल होगा। अतः परमशुभकी प्राप्ति इस जगतमें सम्भव नहीं है और इसलिए पूर्ण आनन्द इस जीवनमें असम्भव है। सद्गुण आनन्दका प्रारम्भमात्र है।

हृदयकी पवित्रता

ईसाई धर्मने हृदयकी पवित्रताको समझा। आचरणके आन्तरिक पक्ष—प्रेरणा—को महत्व दिया। कर्मके औचित्यको समझनेके लिए प्रवृत्ति और प्रेरणाको समझना चाहिये, न कि बाह्य आकस्मिक परिस्थितियोंको। मनसे भी किसीका बुरा नहीं चाहना चाहिये। मन, कर्म और वचनसे पवित्र होना चाहिये। स्टोइक्स और कांटने भी आन्तरिक प्रेरणाकोमहत्व दिया किन्तु ईसाई धर्मकी प्रेरणाकी धारणा उनसे भिन्न है। उनके अनुसार बौद्धिक प्रेरणा शुभ प्रेरणा है। किन्तु ईसाई धर्म कहता है कि प्रेरणा तभी शुभ है जब कि वह भगवद् इच्छाके लिए पूर्ण आत्मसमर्पणसे उत्पन्न होती है। उसके अनुसार—'हृदयकी पवित्रता ही स्वर्गका द्वार है।' इस धर्मकी मूल धारणा दैवी सदाचारकी धारणा है। यही मानव-जीवनको पूर्णरूपसे शासित करती है। ईसाइयोंने इसे यहूदियोंसे प्राप्त किया। व्यक्ति और भगवान्का जो सम्बन्ध है उसीसे नैतिकता उद्भूत होती है। यह तथ्य ईसाई धर्मको सब प्रकारसे लौकिक नीतिशास्त्रसे, यहाँतक कि प्लेटो और स्टोइक्सके अर्ध-धार्मिक सिद्धान्तोंसे भी भिन्न करता है। अपने प्रभुको अपने हृदयका समस्त प्यार देना ही ईसाईका कर्त्तव्य है। यही ईसाई धर्मका प्रथम आदेश है। उसमें कर्त्तव्यकी एक नवीन व्याख्या है। यही आदेश द्वितीय आदेश—मानवतावाद—की स्थापना करता है। मानवतावाद एवं त्याग, स्नेह, दया आदि ईसाई धर्मके अनिवार्य अङ्ग हैं। ये उसे धर्मोन्माद और मिथ्या-भिमानसे बचाते हैं। अपराधीके प्रति भी दया और क्षमाकी भावना रखनी चाहिये। 'पिता, उन्हें क्षमा करो, वे नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं' दया और क्षमाकी ऐसी भावनाओंको महत्व देनेवाले धर्मके औचित्य और अनौचित्य सम्बन्धी निर्णय कर्मके बाह्य रूपपर आधारित

नहीं हो सकते और न ऐसा धर्म मात्र नियमनिष्ठताको ही उचित कह सकता है। उसकी नैतिकताका प्रश्न आन्तरिक जीवनकी पवित्रताका प्रश्न है, हृदय और मनःशक्तिके औचित्यका प्रश्न है।

ईसाने प्रत्यक्ष रूपसे वैराग्यवादका प्रतिपादन नहीं किया और न जीवनके स्वाभाविक आनन्दोंका ही निराकरण किया। ईसाका अपना स्वयंका जीवन आत्म-वर्जन, आत्म-त्याग और दुःखका जीवन था। उन्होंने अपने आचरण द्वारा विश्वास, प्रेम, त्याग और सदाचारका सन्देश दिया। उनके अनुयायियोंपर इसका गहरा प्रभाव पड़ा।

ईसाके जीवनका प्रभाव : वैराग्यवाद और सदाचार

असदाचारके प्रति ईसाकी जो दृढ़ मनोवृत्ति थी उसने उन्हें तथा उनके अनुयायियोंको कष्टसहिष्णुता, आत्मत्याग तथा मृत्युतकको स्वीकार करनेका बल दिया। ईसा यह मानते थे कि इन्द्रियोंका स्वाभाविक जीवन अपने-आपमें पाप नहीं है; किन्तु यदि वह आत्माके विकासमें बाधा देता है तो उसका निषेध करना चाहिये। उसपर पूर्ण विजय प्राप्त कर उसे बौद्धिक आत्माके अधीन रखना चाहिये। 'यदि तुम्हें तुम्हारी दाहिनी आँख कष्ट देती है तो उसे उखाड़कर अपनेसे दूर फेंक दो; यह तुम्हारे लिए अच्छा है कि सम्पूर्ण देहके नरकमें जानेके बदले एक अङ्ग मर जाय।' सदाचारके ऐसे परम आदर्श एवं नैतिक दृढ़ताको ईसूके अनुयायियोंने वैराग्यवादमें परिणत कर दिया। अपने वैराग्यवाद द्वारा उन्होंने स्टोइक्सकी विरक्तिकी धारणाको एक नवीन अर्थ दिया। मनुष्य इच्छाओंका समूल विनाश अपने आध्यात्मिक जीवनको इन्द्रियोंके मोहक मांसल जालसे बचानेके लिए करता है, न कि अपनेको अस्थिर और कुकर्मी भाग्यके आघातोंसे बचानेके लिए। मांस अथवा देह आत्माके विरोधी हैं। वह तत्वतः पाप है।

देह और आत्माके द्वैतने आश्रमिक जीवनको जन्म दिया। वास्तविक जगतके प्रति विरक्ति और आदर्श जगतके प्रति आकर्षणको उत्पन्न किया। स्टोइक्सकी भाँति ईसाई धर्मने भी प्लेटोसे यह सीखा कि कालापेक्षित जगत हेय है। यह आत्माका वास्तविक

आश्रमिक जीवन

वास नहीं है। प्लेटोके अनुसार शिक्षाका क्रम आत्मशुद्धिका क्रम है। यह इस तथ्यकी क्रमिक पुनःप्राप्ति है कि मनुष्यने संसारमें जन्म लेकर क्या खोया है। इसी भाँति ईसाइयोंने भी कहा कि यह जगत इन्द्रियोंके अधीन है, आत्माके लिए बन्दीगृह है। मध्यकालीन युगके धार्मिकोंने इच्छाओं और आकांक्षाओंके जगतके प्रति दैवी असन्तोष प्रकट किया। शाश्वत जगतके प्रति उन्हें अनुरक्ति थी और कालापेक्षित जगतसे अरुचि। उनका लगाव कर्मसे अधिक चिन्तनके जगतसे था। प्राकृतिक मनुष्यकी मृत्युसे उन्होंने आध्यात्मिक जीवनका प्रारम्भ माना। पूर्ण आत्मत्यागमें ही जीवनकी सफलता देखी। वह जो जीवनकी रक्षा करता है, जीवनको खोता है और जो खोता है वह पाता है। आश्रमिक जीवनने पवित्रता, दरिद्रता और समर्पणके व्रतोंको स्वीकार किया। यतीका जीवन दुःख, दया, विश्वास और आनन्दका जीवन है। विश्वास आध्यात्मिक जीवनकी प्राप्तिके लिए आत्मत्यागका सन्देश देता है। यतीके वैयक्तिक जीवन और वैयक्तिक ध्येयका अन्त हो जाता है। वह नागरिक भी नहीं है। सार्वभौम और दैवी प्रयोजनके प्रति अनुरक्त होकर वह उसीमें लीन हो जाता है। उसकी लौकिक प्रवृत्तियाँ धार्मिक रुचिमें खो जाती हैं। ईसाई धर्म पारलौकिक जीवनको ही सबकुछ मानता है। आध्यात्मिक जीवन बितानेके लिए दैहिक जीवनको शूलीपर चढ़ाना चाहिये। ईसाई धर्मकी मूलचेतनाका सूचक क्रॉस एवं सूली (आत्मबलिदान)की चेतना है। वैराग्यवाद एवं आश्रमिक जीवनके लिए ईसाई धर्म नवीन प्लेटोवाद (New-Platonism) का ऋणी है। मध्यकालीन साधुओं और रहस्यवादियोंने स्वर्ग अथवा शाश्वत वासस्थानसे अलग रहनेके कारण अपनेको खिन्नहृदय पाया। उन्होंने इस जीवनको निरर्थक माना। अपने वास्तविक निवासस्थानकी प्राप्तिके लिए विश्वकी वस्तुओंका त्याग किया। संन्यासवादको सहर्ष अङ्गीकार किया। उनका विश्वास आचार, बाह्य आडम्बरों, रीति-रिवाजोंसे उठ गया। उन्होंने आत्माके पुनर्जन्मके लिए—आध्यात्मिक जीवन—आन्तरिक शुद्धि एवं हृदयकी पवित्रताको ही सबकुछ माना।

ईसाई धर्मके सब सद्‌गुणोंके मूलमें प्रेम है। प्रेमका इस धर्ममें वही स्थान है जो कि विवेकका प्राचीन सिद्धान्तोंमें था। 'तुम अपने प्रभुको अपने समस्त मन, हृदय और आत्मासे प्यार करोगे,'— 'भगवान्‌के प्रति अहेतुक प्रेम, उसके सम्मुख प्रणति और भगवद् इच्छाके प्रति असन्दिग्ध आत्मसमर्पण,'— यही ईसाई धर्मका प्रमुख आदेश है। इसीसे आत्म-वर्जन, धर्मके लिए प्राणोत्सर्गका उत्साह, विश्वास, दया, क्षमा आदि सद्‌-गुण उद्‌भूत हुए हैं। भगवत् प्रेम ही मानव-कल्याणकी ओर ले जाता है। यह बतलाता है कि 'अपने शत्रुको प्यार करो, जो तुम्हें शाप दे उसे आशीर्वाद दो, जो तुमसे घृणा करता है उसके लिए अच्छा करो,' ऐसा मानवतावाद ईसाई धर्मका अनिवार्य अङ्ग है, यह द्वितीय आदेश है। विश्वास, आशा और दया इसके तीन अभिन्न सद्‌गुण तथा आधारस्तम्भ हैं। इस धर्ममें ज्ञानका स्थान विश्वासने ले लिया है। विश्वास बतलाता है कि सफलता दूसरे जीवनमें प्राप्त होगी। भविष्यमें परमशुभकी प्राप्ति सत्य और अनिवार्य है। परमशुभमें ऐसी निष्ठा आशाको उत्पन्न करती है। आशा बतलाती है कि निर्वाचित अथवा चुने हुए व्यक्तियोंको ही उस आनन्दकी प्राप्ति होगी जो कि उन्हें अभीतक यहाँ प्राप्त नहीं हुआ है। यह आशा ही दयाको उद्‌भूत करती है तथा विश्वप्रेम और त्यागकी भावनाको पल्लवित करती है।

व्यावहारिक पक्ष; सद्‌गुण, विश्व-बन्धुत्व

ईसाई धर्मके दया, प्रेम और त्यागजनित सन्देशके मूलमें श्रद्धा है। स्टोइक्सकी भाँति उन्होंने दयाको बौद्धिक स्थायीभावके रूपमें नहीं माना है और न उसे मानव-गौरवकी चेतनाका परिणाम ही माना है। ईसाई धर्ममें ज्ञानका स्थान श्रद्धाने ले लिया है। श्रद्धा आत्म-समर्पणकी क्रिया है। भगवद् इच्छा और भगवद् आदेशके प्रति स्नेह और विश्वाससे समर्पण करना ही श्रद्धा है। मनुष्य स्वभाववश पतित और भ्रष्ट है। भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए तथा अपनेको उससे युक्त करनेके

ईसाई धर्म श्रद्धा और विश्वासका धर्म है

लिए उसे अपने पड़ोसीको प्यार करना चाहिये। जब वह अपने पड़ोसीकी पूर्णताके लिए प्रयास करता है, उसको उसके दुःखोंसे मुक्त करनेके लिए कष्ट उठाता है, तब वास्तवमें वह भगवान्‌के प्रति अपने प्रेमको व्यक्त करता है। मनुष्यका पारस्परिक प्रेम उस प्रेमका परिणाम है जो भगवान् मनुष्यों-के प्रति रखते हैं। भगवान् प्रेम हैं। वह दयालु हैं। उन्होंने मनुष्योंके प्रति अपने प्रेमको अपने एकमात्र पुत्रको संसारमें भेजकर प्रकट किया। उन्होंने मनुष्योंकी भलाईके लिए ही ऐसा किया। यदि भगवान् मनुष्योंको इतना प्यार करते हैं तो मनुष्योंको भी चाहिये कि वे एक-दूसरेको प्यार करें। यदि मनुष्य एक दूसरेको प्यार करेंगे तो भगवान् उनमें वास करेंगे, भगवान्‌का प्रेम उनमें पूर्णता प्राप्त कर लेगा। ईश्वर-प्रेम द्वारा ईसाई धर्मने विश्वबन्धुत्वको समझाया। ईश्वर-प्रेमके रूपमें विश्वबन्धुत्वकी भावना अधिक तीव्र और गहन रूपसे आकर्षित करती है। स्टोइक्सके सार्वभौम विवेककी धारणाको ईसाई धर्मने नहीं अपनाया। स्टोइक्सके अनुसार विवेक सबका आन्तरिक सत्य है; ईसाई धर्मने सबको भगवान्‌की सन्तान कहा है। भगवान्‌को प्राप्त करके ही मनुष्य आनन्दको प्राप्त कर सकता है। प्राचीन विचारकों—सुकरात, प्लेटो, अरस्तू और जीनो—के विपरीत इस धर्मने समझाया कि परमशुभमें आनन्द और सद्गुण नहीं मिलते हैं। दया करना एवं अपने पड़ोसीके दुःखोंको दूर करना तथा उसकी पूर्णताके लिए प्रयास करना यही नैतिक शुभ है। यह भगवान्‌का प्रेम है, मनुष्यका भगवान्‌के प्रति प्रेम और केवल भगवान्-के लिए प्रेम है। प्रेम ही भगवान् और मनुष्यमें पूर्ण एकत्व स्थापित करता है। सद्गुण, यद्यपि आनन्दके योग्य है फिर भी यह आनन्दकी प्रारम्भिक स्थितिमात्र है। भगवान्‌को प्राप्त करना ही परमशुभ है। उसकी प्राप्ति ही आनन्द है। प्रेम पूर्ण संयोगकी ओर ले जाता है, तभी पूर्ण आनन्द मिलता है। किन्तु यह इस जन्ममें सम्भव नहीं है। ईसाईके देह-स्वरूपकी मृत्यु हो जाती है जिससे कि वह आत्माके अनुरूप रह सके। ईसाई धर्मने प्लेटो, अरस्तू, ऍपिक्यूरस, स्टोइक्स इन सभीके विपरीत यह भी समझाया कि

परमशुभ सद्गुणका परिणाम नहीं है। उसके अनुसार आशा, दया, श्रद्धा आदि अभिन्न सद्गुण हैं। ये आत्माकी एक ही स्थितिके सूचक हैं। किन्तु ये सद्गुण मानव संकल्पपर निर्भर नहीं हैं। भगवद् अनुकम्पा ही आत्माको उस स्थितिपर ला सकती है जहाँ ये तीनों गुण अभिन्न रूपसे वर्तमान रहते हैं। भगवद् अनुकम्पाकी अनिवार्यता मान लेनेपर ईसाई धर्मके विरुद्ध यह आपत्ति खड़ी हो जाती है कि स्वतन्त्र संकल्पकी धारणा निरर्थक हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि ईसाई विचारकोंको स्वतन्त्र संकल्पको अनुकम्पाके साथ संयुक्त करनेमें कठिनाई हुई।

ईसाई धर्म मुख्य रूपसे श्रद्धाका धर्म है। श्रद्धानेही प्रेमको व्यापक रूप दिया है। पूर्णता प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य अपनेको तथा अन्य व्यक्तियों और भगवान्को एकताके सूत्रमें बँधा देखे। अहेतुक त्याग ही आध्यात्मिक जागरणको जन्म देता है। प्रारम्भमें इस धर्मने विश्वके मिथ्या होनेको ही महत्व दिया था। उसने इस जीवनको तीर्थयात्रा माना। व्यक्तिको वास्तवमें स्वर्गका प्राणी माना। संसारकी ओरसे इसमें भी व्यक्ति उतना ही तटस्थ है जितना कि स्टोइक्सका विकारशून्य वैरागी। यह आश्रमिक जीवनको स्वीकार करना है। किन्तु धीरे-धीरे उन्होंने जीवनके सामाजिक पक्षको भी महत्व देना प्रारम्भ किया। ईश्वरीय प्रेमके आधारपर उन्होंने विश्वबन्धुत्व तथा मानव-प्रेमकी भावनाका समाजमें विकास किया। उनके अनुसार नैतिक जीवनका मूल उद्गम हृदय है, न कि विवेक। हृदयकी पवित्रता ही कर्मके औचित्य-अनौचित्यको आँक सकती है। प्रेम व्यावहारिक जीवनका मुख्य सिद्धान्त है। प्रेम ही आनन्द, सद्गुण तथा अन्य शुभको देता है। वास्तवमें अहेतुक त्याग, प्रेम, दया, आन्तरिक पवित्रता आदिको निष्ठापूर्वक स्थापित करनेका श्रेय इसी धर्मको है। ईसाई दया और त्यागकी भावना महान् है। स्टोइक्स इतने प्रखर और गहन रूपसे इसे नहीं समझा पाये थे। यद्यपि ईसाई धर्ममें भी दया अपने-आपमें पूर्ण नहीं है पर भगवान्से अपनेको युक्त करनेके लिए, उसे प्रसन्न करनेके लिए, वह अनिवार्य रूपसे आवश्यक है।

अध्याय १६

बुद्धिपरतावाद (परिशेष)

अर्वाचीन उग्र बुद्धिपरतावाद—कांट

इमैनुअल कांट[1]के दर्शनमें बुद्धिपरतावादका चरम उत्कर्ष मिलता है। यह जर्मन दार्शनिक थे। इनका जन्म पूर्वी प्रुशाके प्रान्तीय नगर कोनिंग्स-वर्गमें हुआ। इनके पिता व्यावसायिक दृष्टिसे जीन बनानेवाले मोची थे। माता तथा पिता, दोनों ही स्वभावसे धर्मनिष्ठ थे। 'पाइटिस्ट' सम्प्रदायी थे। वंशानुगत गुणोंके रूपमें इन्होंने धार्मिकता और संयम प्राप्त किया था। अपनी योग्यताके कारण इन्होंने गणित, पदार्थविज्ञान, तर्कशास्त्र, तत्वदर्शन, नीतिशास्त्र, भौतिक भूगोल, नृतत्वशास्त्र, प्राकृतिक ईश्वरज्ञान, दार्शनिक विश्वकोशपर भाषण दिये। बादमें ये तर्कशास्त्र और तत्वदर्शनके प्राध्यापक ही नहीं बने बल्कि इनका विश्वके दर्शनके इतिहासमें प्रमुख स्थान हो गया।

जीवनी

कांटका लगभग सम्पूर्ण जीवन कोनिंग्सवर्गमें व्यतीत हुआ। प्रारम्भमें वह अपने नगरके विद्यार्थी थे और फिर बादमें शिक्षक, लेखक तथा दार्शनिक बने। धार्मिक वातावरणमें पलनेके कारण कांटने शान्त, नियमनिष्ठ तथा कर्त्तव्य-परायण जीवनको अनायास ही अपना लिया। अपने प्रदेशके तात्कालिक राष्ट्रीय और सामाजिक परिवेशके प्रभाववश भी उन्होंने नियम-निष्ठ और आत्मनिर्भर जीवनको स्वीकार किया। उनका जीवन नियमा-

जीवनमें नियम-निष्ठताका प्राधान्य

१, Immanuel Kant 1724–1804.

२. Prussia, Konigsberg.

नुवर्तिताका जीवन था और उनका चरित्र नियमनिष्ठका चरित्र। जहाँतक उनके वैयक्तिक जीवनका प्रश्न है, उनका विद्यार्थी जीवन आमोद-प्रमोदसे अछूता न रहा। मित्रों और साथियोंके साथ उन्होंने ताश, बिलियर्डके खेल खेले, मजलिसोंमें गये किन्तु इसके बाद उनका जीवन एकान्तिक रहा। चिन्तनमें डूबे रहनेके कारण वह जन-समाजसे दूर रहे। ज्यों-ज्यों उनकी चिन्तनकी धारा परिवर्तित होती गयी, त्यों-त्यों उनकी रचनाओंमें परिवर्तन आता गया। उनकी रचनाएँ उनके परिवर्तित विचारोंकी प्रतिकृतियाँ हैं। उनमें दुराव नहीं है। यही कारण है कि वे असंगतियोंसे युक्त हैं। उनका नैतिक दर्शन कर्त्तव्यनियमका दर्शन है। वास्तवमें वह नियमितताके प्रेमी थे; आयुकी वृद्धिके साथ उनमें नियमितताकी भी वृद्धि होती गयी। दार्शनिक कांटके बाह्य जीवनका रूप यान्त्रिक था, सब कुछ निश्चित और निर्धारित था। सबेरे उठनेसे लेकर रातको सोनेतक उनके प्रत्येक कर्म—कॉफी पीना, लिखना, भाषण देना, खाना-पीना, घूमना आदि—विधिवत् होते थे। उनके बारेमें यह प्रसिद्ध है कि ठीक साढ़े चार बजे—चाहे कैसा ही मौसम हो—जब वह घूमनेके लिए निकलते थे तब लोग उनका प्रसन्नवदन अभिवादन करते हुए अपनी घड़ियाँ मिलाते थे।

नीतिशास्त्रकी दार्शनिक पृष्ठभूमि

बुद्धिको महत्व देनेवाले सुकरातके अनुयायियोंने यह माना कि मनुष्य आत्मचेतन सक्रिय विवेक है। ज्ञान प्राप्त होनेपर मनुष्य उसीके अनुरूप कर्म करता है अन्यथा ज्ञानका कोई अर्थ नहीं है। बुद्धिपरतावादी कांट इस सिद्धान्तका अनुमोदन करता है। साथ ही वह बुद्धिकी शक्ति, व्यापार और सीमाओंको समझनेका प्रयास करता है। वह इस परिणामपर पहुँचता है कि निरपेक्ष एवं परम सत्यका बोध बुद्धि द्वारा सम्भव नहीं है। बुद्धिके दो रूप हैं: विचारात्मक या शुद्ध बुद्धि (Speculative or pure reason) और व्यावहारिक बुद्धि (Practical reason) शुद्ध बुद्धिका सम्बन्ध दृश्यजगतसे है। वह अनुभवात्मक जगतके नियमोंको जन्म देती है। वह संवेदनशील व्यक्तिको यह बतलाती

है कि इन्द्रियग्राह्य जगतके पीछे परमार्थजगत है। यह भी सत्य है कि परमार्थजगतको समझनेके प्रयासमें वह उसे विकृत कर देती है अपनी धारणाओं (Categories) द्वारा उसके वास्तविक स्वरूपको छिपा देती है। बुद्धि वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझा सकती। वह उन्हें अपनी धारणाओं—देश, काल, द्रव्य, गुण, कारण, सम्बन्ध आदि—के रूपमें ही समझ सकती है। इन धारणाओंका ज्ञान बतलाता है कि अनुभवगम्य वस्तुओंके रूप और सम्बन्ध वस्तुओंमें नहीं होते हैं, किन्तु वे मनुष्यके वस्तुओंको जाननेकी क्रियाके तात्कालिक परिणाम हैं। धारणाओंके बिना अनुभव सम्भव नहीं है। वे ही प्रत्येक अनुभवका निर्माण करती हैं। शुद्ध बुद्धि उन धारणाओंका आधार है जिनके अनुरूप अनुभवात्मक जगत दृश्य होता है। दृश्यजगत उसके नियमोंकी अवहेलना नहीं कर सकता। वे नियम अनुभवनिरपेक्ष हैं। अनुभव द्वारा उनको प्रमाणित नहीं किया जा सकता। अतः ज्ञान अनुभवजगततक ही सीमित है। वस्तुओंके वास्तविक रूपका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। परमार्थजगत एवं निरपेक्ष सत्य अज्ञेय है। कांटका यह कथन उसे नैतिक जीवनकी ओर ले जाता है। वह कहता है कि कुछ ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हें शुद्ध बुद्धि नहीं समझा सकती। शुद्ध बुद्धिका सम्बन्ध दृश्य या इन्द्रियग्राह्य जगतसे है। व्यावहारिक एवं नैतिक बुद्धिका सम्बन्ध कर्त्तव्य-निष्ठ जीवनसे है। वह कर्त्तव्याकर्त्तव्यका ज्ञान देती है। यहाँपर कांटने ज्ञानको व्यावहारिक जगततक सीमित कर दिया। वह मानता है कि आत्माकी अमरता, ईश्वरका अस्तित्व, आत्मा और ईश्वरका सम्बन्ध, जगतकी सृष्टि आदि प्रश्नोंका उत्तर बुद्धि नहीं दे पाती। वास्तवमें यह विश्वासका क्षेत्र और विषय है। बुद्धिकी धारणाओंके कारण नैतिकताके स्वतःसिद्ध आधारको समझनेमें मनुष्य असमर्थ है। अतः श्रद्धाका पथ प्रशस्त करनेके लिए उसने ज्ञानकी सीमाएँ निर्धारित कीं। वह लिखता है "श्रद्धाके लिए स्थान बनानेके लिए हमें ज्ञानका परिसीमन करना चाहिये" ईश्वरका अस्तित्व, आत्माकी अमरता और मनः-

शक्तिकी स्वतंत्रता—ये नैतिकताकी तीन मूल आवश्यक मान्यताएँ हैं इनका ज्ञान नैतिक बोध द्वारा प्राप्त होता है। बिना इनके नैतिक जीवन सम्भव नहीं है। इनके बिना कर्त्तव्यका बोध निरर्थक है। ये नैतिकता और कर्त्तव्यनिष्ठताका संबल हैं। नैतिकताका उचित मूल्यांकन करनेके लिए यह आवश्यक है कि मनःशक्ति स्वतन्त्र हो अन्यथा 'करना चाहिये'का कोई अर्थ नहीं है। इसी प्रकार आत्माकी अमरताको स्वीकार किये बिना यह कहना कठिन है कि नैतिक आदर्शको कालान्तरमें यथार्थ रूप मिल सकेगा। पुनः बिना सर्वशक्तिमान् चेतन स्रष्टामें अटूट विश्वास रखे यह नहीं कहा जा सकता कि सद्गुणके फलस्वरूप आनन्द मिलेगा।

कांटकी नैतिकतामें दृढ़ श्रद्धा थी। उसने नैतिकताको अपने तत्व-दर्शनसे संयुक्त किया। उसका विश्वास था कि नैतिक अनुभवके द्वारा ही

नैतिक अनुभव

मनुष्य अनुभवात्मक आत्मा (Empirical self)से ऊपर उठकर परात्पर आत्मा (Trascendental self) को प्राप्तकर सकता है और दृश्यमान् जगतसे परे परमार्थके साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इच्छाओं और भावनाओंके जगतमें रमनेवाली आत्मा अनुभवात्मक आत्मा है। वह वस्तुजगतका सदस्य है। परात्पर आत्मा परमार्थ सत्ताकी सदस्य है। कांटके सम्मुख मनुष्यके दो रूप हैं—नैतिक आदर्शस्वरूप व्यक्ति और अनुभवात्मक व्यक्तित्वका अभिलाषी व्यक्ति। पहिला व्यक्ति ही दूसरे व्यक्तिका आदर्श तथा मूलरूप है। अतः अनुभवात्मक व्यक्तिको आदर्श व्यक्तिका आदर करना चाहिये। उसकी उन्नति और वृद्धि करनी चाहिये।

कांटका कहना था कि मनुष्य स्वशासित (Autonomous) है। उसके कर्म आत्म-नियमित हो सकते हैं। आत्म-नियन्त्रित होना

मनुष्य स्व-शासित है

मनुष्यकी स्वभावगत विशेषता तथा विशिष्ट अधिकार है। पशु एवं निम्न प्राणियों और मनुष्यमें मुख्य भेद यही है। पशु परतन्त्र है। वह बाह्य संवेदनोंसे शासित है। दुःखकी भावनाएँ ही उसे प्रभावित करती हैं। प्रकृति

पशु-जीवन सञ्चालन करती है। उसने पशुको सुखप्राप्तिके लिए अनिवार्य सहजप्रवृत्तियाँ दी हैं। मनुष्य जीवन विचित्र है। वह दो धरातलोंका प्राणी है। एक ओर तो वह संवेदनशील प्राणी (Sentient being) तथा सजीव सृष्टिका साझेदार है और जीवनके प्रति संवेदनशील है जिसके कर्मोंको सुख और दुःखकी भावनाएँ परिचालित करती हैं और इच्छाओंकी तृप्ति एवं सुख ही जिसके कर्मोंका स्वाभाविक प्रेरक है; दूसरी ओर वह बौद्धिक प्राणी है और अपने बौद्धिक संकल्प (Rational will) द्वारा वह सार्वभौम बुद्धिका पालन करता है। यही उसमें तथा निम्न प्राणियोंमें मुख्य अन्तर है। प्रकृतिमें प्रत्येक वस्तु नियमोंके अनुरूप कर्म करती है। मनुष्यमें इतनी शक्ति है कि वह नियमकी धारणाओं एवं सिद्धान्तोंको समझकर उनके अनुरूप कर्म कर सकता है। आवेगों और प्रवृत्तियोंके प्रति उसकी प्रतिक्रिया अन्ध नहीं है। वह जानता है कि वह क्या कर रहा है। उसमें संकल्प है और यही वह शक्ति है जो आदेश देती है। नैतिक कर्त्तव्यकी चेतना स्वतन्त्रताकी चेतनाके साथ अविच्छिन्न रूपसे मिली हुई है। संकल्प करनेवाली आत्मा स्वतन्त्र है, वह परात्पर आत्मा है। नैतिक चेतना मनुष्यको यह दृढ़ विश्वास दिलाती है कि वह स्वतन्त्र है। उसे इस सत्यका बोध कराती है कि उसे वही करना चाहिये जो कि उचित है अथवा उसे इच्छाके मार्गमें नहीं चलना चाहिये। नैतिक चेतना बतलाती है कि यदि व्यक्ति किसी कर्मको उचित समझता है तो वह उस कर्मको करनेकी शक्ति भी रखता है। ध्येय मनुष्यकी कार्य-क्षमताको निर्देशित करता है। बौद्धिक प्राणी जब नैतिक नियमका पालन करता है तब कहा जाता है कि वह आन्तरिक नियमका पालन कर रहा है; अपने बौद्धिक और सत्यस्वरूपके अनुरूप कर्म कर रहा है। बौद्धिक प्राणियोंके कर्म सुख-दुःखकी भावनाओं, बाह्य शक्तियों एवं अबौद्धिक आत्मा द्वारा यान्त्रिक रूपसे निर्धारित नहीं होते। उन्हें बौद्धिक या सत्य आत्मका सिद्धान्त निर्धारित करता है। इस अर्थमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता आत्म-आरोपित नियमका पालन करनेपर निर्भर

है। नीतिशास्त्रका सम्बन्ध आन्तरिक स्वतन्त्रताकी प्राप्तिसे है। स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका विरोध करके बौद्धिक ध्येयोंको दृढ़तापूर्वक खोजना ही नैतिकता है। बुद्धिके आदेशकी अवज्ञा करना मनुष्यके लिए उचित नहीं है। यह अपने स्वरूपका—अपनी बौद्धिक आत्मा—का निराकरण करना है। अपनी इस श्रेष्ठताके कारण वह बुद्धिके उच्च नियमोंसे शासित है, न कि इन्द्रियपरक जीवनके नियमोंसे। यदि वह शुद्धबुद्धि होता तो उसका जीवन संघर्षहीन होता। दो भिन्न धरातलोंसे संयुक्त होनेके कारण उसमें आन्तरिक द्वन्द्व होता है। भावनाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं और संकल्प अपने निरपेक्ष आदेशको आरोपित करता है। बुद्धिके आत्म-आरोपित नियम और संवेदनशील जीवनके अबौद्धिक बाह्य नियममें विरोध है। बौद्धिक होनेके कारण उसे चाहिये कि केवल बौद्धिक आदेशका पालन करे। बौद्धिक आदेशका पालन करना ही आत्म-आरोपित नियमका पालन करना है। यही मनुष्यकी स्वतन्त्रता है।

कांट उन सभी सिद्धान्तोंको सुखवादके अन्तर्गत मान लेता है जो इच्छाओंकी तृप्तिको कर्मका प्रेरक मानते हैं। इन सिद्धान्तोंने बुद्धिके साध्य

स्वशासित जीवनमें भावनाके लिए स्थान नहीं है; सुखवाद अनैतिक है

रूपको नहीं समझा है और बाह्य शक्तियोंसे शासित जीवनको स्वीकार कर बुद्धिको इच्छाओंके ध्येयोंकी प्राप्तिके लिए साधनमात्र माना है। बुद्धि अपने-आपमें सक्रिय है, इस तथ्यसे सुखवाद अनभिज्ञ है। उसने सुखको आदर्श मानकर इच्छाओंकी तृप्तिको ध्येय मान लिया है और क्षणिक इच्छाओं और आवश्यकताओंकी पूर्तिका आदेश दिया है। कांटके अनुसार विशिष्ट इच्छाओंकी पूर्ति द्वारा सुख प्राप्त करनेके लिए वैधानिक आदेशों (Technical imperatives) का प्रतिपादन किया जा सकता है। ये निश्चित और निरपेक्ष आदेश (Definite and Categorical imperative) नहीं हैं। इसका कारण यह है कि सुखका विषय परिवर्तनशील है तथा इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ आत्मगत और वैयक्तिक हैं। वास्तवमें उसके अनुसार सुख कल्पनाका आदर्श

है, बुद्धिका नहीं। बौद्धिक जीवन ही मनुष्यके लिए आदर्श जीवन है। जीवनका ध्येय सुख नहीं, सद्गुण है। सुखवादियोंके अनुसार सुख खोजना ही सद्गुणी होना है। किन्तु उनके विपरीत कांटने समझाया कि सद्गुणके प्रति सचेत होना ही सुखी होना है। अतः कर्मको सुखकी समस्त धारणाओं-से मुक्त कर देना चाहिये।

बौद्धिक नियम ही नैतिक नियम है। नैतिक नियम उस सिद्धान्तको स्थापित करता है जिसमें कि अपवादके लिए कोई स्थान नहीं है। वास्तवमें वह आदेश देता है, न कि सम्मति। उसका आदेश निरपेक्ष है और आदेश-का निरपेक्ष रूप बतलाता है कि कर्मके परिणामपर ध्यान नहीं देना चाहिये। नैतिकताका यथार्थतः परिणामसे कोई सम्बन्ध नहीं है। कर्मोंका परिणाम उन्हें नैतिक मूल्य नहीं देता है। सिद्धान्तके अनुरूप किया हुआ कर्म ही उचित है। सच्चे रूपमें मानवीय अथवा शुभ होनेके लिए कर्मकी उत्पत्ति आदेशके प्रति श्रद्धासे ही होनी चाहिये। यदि कर्म किसी निम्न प्रेरणासे लेशमात्र भी युक्त हो गया तो वह अनैतिक हो जायगा। कर्मका शुभत्व उसके आन्तरिक बौद्धिक रूपपर निर्भर है।

नैतिक आदेश-निरपेक्ष आदेश

कांटकी नैतिकतामें दृढ़ श्रद्धा थी। वह तर्क द्वारा उसे सिद्ध नहीं करता है और न वह यही मानता है कि अनुभव उसके सिद्धान्तको समझा सकता है। वह एक दार्शनिक स्तरपर सदाचार-के नियमोंका प्रतिपादन करता है। उसका कहना है कि कर्त्तव्यका आधार मनुष्यकी संवेदनशील प्रकृति नहीं है, परात्पर आत्मा ही नैतिक अनुभूतिके मूलमें है। जब व्यक्ति नैतिक संकल्पके अनुरूप कर्म करता है तब वह अपना सम्बन्ध परमार्थसत्ताके साथ स्थापित कर लेता है। अपने सत्यस्वरूप या परात्पर आत्माके अनु-कूल कर्म करनेवाला व्यक्ति ही परमार्थसत्ताका सदस्य है। यही कारण है कि दृश्यमान् जगतकी वस्तुओंके विश्लेषण द्वारा नैतिक कर्त्तव्यके स्वरूपको नहीं समझा सकते हैं। विश्वकी विभिन्न परिस्थितियाँ, परिवेश, वातावरण, समाज आदिका ज्ञान, नैतिकताके मूल सिद्धान्तको नहीं समझा सकता।

जिस प्रकार बुद्धिकी धारणाओंको इन्द्रियजन्य विषयोंमें नहीं ढूँढ़ सकते हैं उसी प्रकार कर्त्तव्यका स्वरूप इसपर निर्भर नहीं है कि मनुष्य विशिष्ट वस्तुकी इच्छा करता है अथवा उसमें किसी विशिष्ट कर्म करनेकी प्रवृत्ति है। मनुष्यका मानसिक व्यक्तित्व (Psychological personality) कर्त्तव्यको नहीं समझा सकता। वह इच्छाओं और कामनाओंका जीव है। कर्त्तव्यका सम्बन्ध अनुभवात्मक आत्मासे भिन्न परात्पर आत्मासे है। नैतिकता व्यावहारिक बुद्धिकी उपज है। वह अनुभवनिरपेक्ष है। अतः मनोविज्ञान भी मनुष्यके नैतिक आचरणको नहीं समझा सकता। मनोविज्ञानका सम्बन्ध मनुष्यकी अनुभवात्मक आत्मासे है। वह बताता है कि वंशानुगत गुण, मूलगत स्वभाव, शिक्षा, परिवेश आदि मनुष्यके संवेदनशील व्यक्तित्वका कैसे निर्माण करते तथा उसके स्वभावको कैसे प्रभावित करते हैं। वह मनुष्यके आचरणका तथ्यात्मक वर्णन करता है। उसका सम्बन्ध 'क्या है' से है। कर्त्तव्य अथवा 'क्या करना चाहिये' मनोविज्ञानका क्षेत्र नहीं है। शुद्ध नैतिकता मनोविज्ञानपर आधारित नहीं है यद्यपि उसका प्रयोग मनोविज्ञानमें कर सकते हैं। नैतिक नियमोंको आरोपित करनेके लिए मानवस्वभावका ज्ञान और विश्वका अनुभवसापेक्ष ज्ञान आवश्यक है। किन्तु जहाँतक केवल नैतिक ज्ञानका प्रश्न है, यह अनुभवनिरपेक्ष है। नैतिक बुद्धि ही मनुष्यको उसके निरपेक्ष एवं एकांतिक कर्त्तव्य (Unconditional duty) का ज्ञान देती है। उसके नियम अनुभवनिरपेक्ष हैं। उसका आदेश परम आदेश (Categorical imperative) है। इस आदेशकी व्युत्पत्ति व्यक्तिके संकल्पसे बाहर अन्य किसी ध्येयके विचारसे सम्भव नहीं है। बाह्य ध्येय अनुभवपर निर्भर है। अतः वह केवल साङ्केतिक आदेश (Hypothetical imperative) दे सकता है। वह स्थितिविशेषके अधीन है। उस आदेशके अनुसार यदि कर्त्ता किसी विशिष्ट ध्येयकी प्राप्ति करना चाहता है तो उसे एक विशिष्ट प्रकारसे कर्म करना होगा। उस आदेशमें कार्य-कारण सम्बन्ध मिलता है। नैतिक व्यक्ति कार्य-कारणके विश्व अथवा दृश्यमान् विश्वका

सदस्य नहीं है। कर्त्तव्यका आदेश निरपेक्ष है। उसका किसी ऐसे बाह्य ध्येयसे सम्बन्ध नहीं है जिसकी ओर संकल्प प्रेरित हो बल्कि वह स्वतःसंकल्पके उचित प्रयोगसे ही सम्बद्ध है। नैतिक आदेश परिस्थिति-विशेषकी चिन्ता नहीं करता। उसके अनुसार चाहे कुछ भी हो जाय, व्यक्तिको उसके अनुरूप आचरण करना चाहिये। यह कारणसापेक्ष आदेश नहीं है, निरपेक्ष आदेश है। कारणसापेक्ष आदेश प्रतिदिनके क्रिया-कलाप, इच्छा, भावना, परिवेश, जगतकी प्रकृति आदिपर निर्भर है। वह सार्वभौम और अनिवार्य नहीं है। किन्तु कर्त्तव्यकी बाध्यता अनिवार्य है। कर्त्तव्यका इच्छुक व्यक्ति व्यावहारिक बुद्धिके आदेशोंका उसी प्रकार उल्लंघन नहीं कर सकता जिस प्रकार कि दृश्य जगतको देखनेवाला व्यक्ति शुद्ध बुद्धिकी धारणाओंका उल्लंघन नहीं कर सकता। कर्त्तव्यका आदेश परम है। सब परिस्थितियों, विभिन्न दिशाओं और कालोंमें यह सदैव समान रहेगा। नैतिक निर्णय अनुभवनिरपेक्ष है। वह न तो अनुभवपर आधारित है और न उसको प्रमाणित ही कर सकते हैं। अनुभव-सापेक्ष निर्णय तथ्यात्मक होते हैं। नैतिक निर्णयका सम्बन्ध 'क्या होना चाहिये' से है, 'क्या है' से नहीं है। अनुभवसे स्वतन्त्र होनेके कारण वह सार्वभौम और अनिवार्य है। किसी विशिष्ट तथ्यपर आधारित नहीं है। कर्त्तव्य एक प्रकारकी अनिवार्यता है। कर्त्तव्यकी चेतना अथवा 'करना चाहिये' की चेतना अनिवार्यताकी सूचक है। कर्त्तव्य, कर्त्तव्यके लिए करना ही धर्म है। कर्त्तव्यका आदेश नैतिक बुद्धि या शुभ संकल्पका आदेश है। बुद्धिका आत्म-आरोपित नियम अपने परम और निश्चल आदेश द्वारा एकान्तिक निष्ठाकी अपेक्षा रखता है। वह मनुष्यके अन्दर परम और पूर्ण आदेशके रूपमें व्यक्त होता है।

परम आदेशका उद्गम क्या है? वह कहाँसे आता है? कांटका कहना है कि वह परिस्थितियोंपर निर्भर नहीं है। परिस्थितिजन्य आदेश कारणसापेक्ष आदेश हैं। परम आदेशका उत्पत्तिस्थल कर्त्ताका सत्य स्वरूप है। उसका स्रोत

शुभ संकल्प

नैतिक मनुष्यका स्वभाव है। कर्त्ता कर्म करते समय संकल्पके रूपमें उसे व्यक्त करता है और संकल्पका स्वरूप ही कर्मके नैतिक मूल्यको निर्धारित करता है। शुभ संकल्प ही तत्वतः शुभ है। वही नैतिक एवं शुभ कर्मके मूलमें है। शुभ संकल्पकी क्या पहिचान है? वही संकल्प शुभ है जो बौद्धिक है। बौद्धिक संकल्पको कैसे समझ सकते हैं? उसका परीक्षण करना आवश्यक है। जब संकल्प द्वारा चयन किया जाता है तो यह भासित होता है कि वह आवेग मात्र है अथवा आवेगोंका द्वन्द्वमात्र है। किन्तु संकल्पके चयनका विश्लेषण बतलाता है कि उसके दो अंग हैं—बौद्धिक और अबौद्धिक। वह भावनाओं, आवेगों आदिपर बौद्धिक नियन्त्रण रखता है। बौद्धिक योजनाके अनुरूप उन्हें निर्देशित करता है। यह बतलाता है कि संकल्पका सत्य रूप बौद्धिक है। इसके बौद्धिक रूपको यह कहकर समझाया जा सकता है कि प्रत्येक अंगी स्वाभाविक प्रकृतिवश अपने संरक्षण और सुखके लिए प्रयास करता है। अथवा प्रकृति अपने-आप ही उपर्युक्त ध्येयोंकी पूर्तिके लिए उचित साधनोंको चुनती है। अंगीके संरक्षण एवं शारीरिक संरक्षणके दृष्टिकोणसे बुद्धि व्यर्थ है। अतः बुद्धि मनुष्यको इसलिए प्राप्त नहीं हुई है कि वह अंगीके लिए उपयोगी सिद्ध हो। बुद्धिके कर्मका क्षेत्र भिन्न है। उसका उचित क्षेत्र संकल्पका क्षेत्र है। अपने सिद्धान्तके अनुरूप संकल्पको निर्देशित करना तथा बौद्धिक संकल्पको उत्पन्न करना बुद्धिका काम है। यह भी सच है कि प्रत्येक वस्तुका तत्वतः शुभ होना इसपर निर्भर है कि वह अपने व्यापारको पूर्णता प्रदान कर लेती है, संकल्पका शुभत्व भी उसके बौद्धिक होनेपर निर्भर है। वही संकल्प शुभ है जो बौद्धिक है। कांटका यह कहना था कि शुभ संकल्पके अतिरिक्त विश्वमें अथवा विश्वसे परे ऐसा कुछ भी नहीं दीखता है जिसे कि बिना किसी विशेषणके शुभ कह दें। अथवा शुभ संकल्प ही एकमात्र वह वस्तु है जिसे कि बिना किसी सीमाके शुभ कह सकते हैं। उसका स्वरूप उसके ही आन्तरिक सिद्धान्तपर निर्भर है। अतः वह विश्वकी कार्य-कारण-शृङ्खलासे स्वतन्त्र है। उसका अन्तर्तथ्य दृश्यमान्

प्रकृतिपर निर्भर नहीं है। उसका शुभत्व परिस्थिति विशेष द्वारा निर्धारित नहीं होता है। वह अपने-आपमें शुभ है, न कि बाह्य तथ्यों और ध्येयोंके सम्बन्धमें। उसका शुभत्व न तो उस ध्येयपर निर्भर है जिसे वह खोजता है और न उसकी उपयोगितापर ही निर्भर है। उसे न तो उस स्वाभाविक प्रवृत्ति (चाहे वह शुभ प्रवृत्ति ही हो)के सम्बन्धमें शुभ कह सकते हैं जो कि उसे निर्धारित करती है और न किसी अन्य वस्तुसे सम्बन्धित होकर ही वह शुभ होता है। इच्छाएँ, स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ, परिणाम, बाह्य ध्येय आदि कुछ भी उसके शुभत्वको स्थापित नहीं कर सकते। वह सबसे स्वतन्त्र तथा अपने-आपमें शुभ और स्वप्रकाश है। वह अपनी ज्योतिसे उसी प्रकार ज्योतित है जिस प्रकार कि बहुमूल्य मणि अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होती है। अतः वह परम रूपसे शुभ है। यदि प्रकृतिकी अच्छीसे अच्छी वस्तुओंको देखें तो वह व्यर्थ अथवा हानिप्रद सिद्ध हो सकती है। किन्तु शुभ संकल्पको चाहे किसी सन्दर्भमें देखें वह सदैव शुभ रहेगा। उसका शुभ होना इस तथ्यपर भी निर्भर नहीं है कि कोई उसे चाहता है अथवा नहीं चाहता। वह प्रचलित नैतिकतासे भी सीमित नहीं है। प्रचलित नैतिकता प्रचलनकी दृष्टिसे ही शुभ है, न कि सत्य या परम रूपसे। सत्यके मानदण्डमें वह अशुभ उतरेगी। वह न तो तर्कसम्मत ही है और न व्यावहारिक दृष्टिसे ही शुभ है। वास्तवमें व्यावहारिक दृष्टिसे वह कुमार्गी और पतित है। इसके विपरीत शुभ संकल्प बिना सीमाके परम रूपसे शुभ है। उसका शुभत्व उसके बाहर किसी भी वस्तुपर निर्भर नहीं है। उसका सिद्धान्त पूर्णरूपसे उसमें निहित है। उसका आदेश परम है। वह अनुभवके तथ्योंपर निर्भर नहीं है और इसलिए वह निर्भर या सापेक्ष आदेश नहीं है। शुभ संकल्पके दो पक्ष हैं—भावात्मक और अभावात्मक। अपने प्रथम पक्षमें वह बिना सीमाके शुभ है। उसका शुभत्व उसीमें है, किसी बाह्य परिणाम या ध्येयपर नहीं है। अपने दूसरे पक्षमें वही एकमात्र शुभ है, अन्य कुछ शुभ नहीं है। अन्य वस्तुओंको सीमित रूपसे ही शुभ कह सकते हैं। वे अनिवार्य रूपसे शुभ नहीं हैं, विशिष्ट परिस्थितियोंमें ही उपयोगी हैं तथा प्रत्येक और

सभी सन्दर्भमें उपयोगी नहीं हैं। अतः कांट इस परिणामपर पहुँचता है कि बौद्धिक संकल्प या शुभ संकल्प ही एकमात्र शुभ है और शुभ संकल्प कर्त्तव्य के लिए कर्म करता है। कांटका यह कथन उसके सिद्धान्तके उस पक्षकी ओर ले जाता है जो कर्त्तव्य और स्वाभाविक प्रवृत्तियों, नैतिक प्रेरणा, परिणाम तथा सामान्य प्रेरणाओंके बीच स्पष्ट विरोधका स्थापक है।

कर्त्तव्य और प्रवृत्ति

कांटके सिद्धान्तमें कर्त्तव्यकी धारणाका प्रथम बार स्पष्ट रूप मिलता है। वास्तवमें उसने कर्त्तव्यकी धारणासे ही शुभकी धारणाका निगमन किया। उसका कहना था कि बौद्धिक प्राणी होनेके कारण मनुष्य अपनेको बुद्धिके उस उच्चतर नियमसे शासित करता है जो कि इन्द्रियपरताकी उपेक्षा करता है। शुभ संकल्पके अनुरूप कर्म करना उचित है। शुभ संकल्पका विशिष्ट गुण यह है कि वह अपने-आपमें शुभ है। वह सिद्धान्तके अनुरूप कर्म करता है। सिद्धान्तके अनुरूप कर्म करना कर्त्तव्य करना है। बौद्धिक प्राणी होनेके कारण मनुष्य अपनेमें एक ऐसा जीवन चाहता है जो बुद्धिकी सृष्टि है; जिसके स्रोत उसके बौद्धिक स्वरूपके नियमके प्रति श्रद्धामें हैं। वास्तवमें नैतिक आदेशका परम रूप उस स्वभावके परम गुणमें है जिसका कि वह सिद्धान्त है। बौद्धिक प्राणी अपने-आपमें साध्य है। उसे किसी अन्य साध्यके लिए अपनेको साधन नहीं बनाना चाहिये। उसे सदैव समान रूपसे कर्म करना चाहिये अथवा उसे सदैव उन कर्मोंको करना चाहिये जिनके द्वारा वह अपने बौद्धिक स्वभावको पूर्णता प्रदान कर सकता है। उसे अपनी बुद्धिका प्रयोग अबौद्धिक ध्येयोंकी पूर्तिके लिए साधनके रूपमें नहीं करना चाहिये। बौद्धिक प्राणी अबौद्धिक या संवेदनशील व्यक्तिको परम आदेश देता है कि 'कर्त्तव्यका पालन करो'। यह आदेश अनिवार्य है। बुद्धिको साध्य माननेवाला अथवा कर्त्तव्यकी प्रेरणासे कर्म करनेवाला अबौद्धिक कर्मोंको नहीं करेगा। कोई कर्म, चाहे वह कितना ही प्रशंसनीय क्यों न हो, यदि उसकी उपज स्वाभाविक प्रवृत्तिसे हुई हो, यहाँतक कि सहानुभूति और दयासे भी हुई हो तो वह नैतिक दृष्टिसे

शुभ नहीं है। ऐसे कर्मोंको प्रोत्साहित करना वाञ्छनीय तो है पर ऐसे कर्मोंको शुभ नहीं कह सकते। इच्छाओं और भावनाओंसे युक्त कर्म अनैतिक हैं। प्रवृत्तिसे किया हुआ कर्म कर्त्तव्यके अनुरूप हो सकता है किन्तु वह सदैव नैतिक मूल्यसे रहित रहेगा। यदि कर्त्ता किसीको इस कारण सहायता देता है कि वह सहानुभूतिसे द्रवित हो गया है अथवा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्तिने उसे प्रेरित किया है तो ऐसा कर्म अनैतिक है और यदि वह बिना दूसरेके दुःखसे दुःखी हुए कर्त्तव्यवश उसे सहायता देता है तो वह कर्म शुभ है। अपने जीवनसे ऊब जाने एवं घृणा करनेवाला व्यक्ति यदि अपने जीवनका कर्त्तव्यवश संरक्षण करता है तो यह उचित और नैतिक है। नैतिक गुण आन्तरिक गुण है। शुभ संकल्पके अतिरिक्त किसीमें भी यह गुण नहीं है। कर्म तभी शुभ है जब वह बौद्धिक संकल्पसे किया गया हो अथवा जब वह कर्त्तव्यके लिए किया गया हो। कर्त्तव्य कर्त्तव्यके लिए करना चाहिये। शुभ संकल्प या कर्त्तव्यके अनुरूप कर्म भी नैतिक मूल्यविहीन हैं। कर्त्तव्यका सिद्धान्त बुद्धिसे प्राप्त होता है, न कि भावनासे। कर्मकी नैतिकता उस सिद्धान्तपर निर्भर है जिसके साथ संकल्प अपनेको युक्त करता है। यदि कोई व्यापारी सच इसलिए बोलता है कि इससे उसके व्यापारकी अधिक वृद्धि होगी तो यह अनुचित कर्म है तथा व्यावसायिक बुद्धिसे परिचालित व्यवहारकुशल कर्म है। अतः नैतिक मूल्यसे रहित है। कर्त्तव्यसे किया हुआ कर्म ही नैतिक कर्म है। कर्त्तव्यकी चेतना ही सञ्चालिका चेतना होनी चाहिये। कर्त्तव्यकी प्रेरणासे कर्म करने चाहिये। अन्य प्रेरणाएँ नैतिक मूल्यहीन हैं। कर्त्तव्यकी प्रेरणाके सिवाय अन्य प्रेरणाएँ प्रवृत्तियोंका ही रूप हैं। वे विभिन्न प्रवृत्तियों, आवेगों एवं सुखकी इच्छाओंको व्यक्त करती हैं। इस प्रकार कांटने प्रेरणाओंको दो वर्गोंमें बाँट दिया है—कर्त्तव्यकी प्रेरणा और प्रवृत्तियोंको व्यक्त करनेवाली प्रेरणाएँ। यहीं नहीं, उसने प्रेरणा और परिणाम तथा बुद्धि और प्रवृत्तियोंमें भी पूर्ण विरोध पाया है। बुद्धिका आदेश परम आदेश है। वह कर्त्तव्यका आदेश है। कांट कहता है, 'अपना कर्त्तव्य

करो, चाहे परिणाम कुछ भी हो।' प्रवृत्तियोंके आदेश सांकेतिक हैं। वे केवल मन्त्रणाएँ और विधियाँ हैं, निरपेक्ष आदेश नहीं हैं। बौद्धिक आदेश मनुष्य-पर अपनेको आरोपित करता है और बिना परिणामको महत्व दिये संकल्पको कर्ममें परिणत करता है। यह आदेश प्रत्यक्षसिद्ध है। संकल्प इन्हें देखकर समझ जाता है कि इनका पालन करना अनिवार्य है। ये आदेश प्रत्येक संकल्पपर अपनेको आरोपित करते हैं। अतः ये सार्वभौम हैं। प्रत्येक बौद्धिक व्यक्तिके लिए सभी परिस्थितियोंमें इन आदेशोंका इन्हींके लिए पालन करना अनिवार्य है। कांटका कहना था कि कर्त्तव्य और प्रवृत्तियाँ प्रायः एक दूसरेके विरोधी दीखते हैं। वह इनकी हेतुवादी व्याख्या करता है। यह मान लेता है कि प्रत्येकका क्षेत्र एक विशिष्ट ध्येयके लिए पूर्व-निर्धारित है। तार्किक रूपसे भी वे भिन्न हैं। इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ अनेक हैं, उनकी अनेकता अनेक दिशाओं, विरोधी वर्गों और विभिन्न कर्मोंकी ओर ले जाती है। उनकी विरोधी अनेकता कर्त्ताको कठिनाईमें डाल देती है। कर्मके विरोधी मार्ग उचित नहीं हो सकते। वह यह सिद्ध करते हैं कि इच्छित कर्म और उचित कर्ममें भेद है। कर्मका औचित्य कर्त्ताको कर्म करनेके लिए बाधित करता है। कर्त्तव्यका आधार न तो आत्माके संवेदनशील स्वभावमें खोजना चाहिये और न विश्वकी उन परि-स्थितियोंमें, जिनमें कि वह है। कर्त्तव्यका आधार बुद्धिकी धारणा है। वह अनुभवनिरपेक्ष है। जिस प्रकार दो और दोका जोड़ स्पष्ट रूपसे चार है उसी प्रकार यह कथन कि 'झूठ बोलना बुरा है' अपनेमें स्पष्ट है। जो कोई भी व्यक्ति इसे बुद्धिसे समझनेका प्रयास करेगा वह इसे स्वतःसिद्ध पायेगा। गणितके जोड़की भाँति यह अनुभवनिरपेक्ष है। जिस प्रकार गणितके कथन अपने स्वयंसिद्ध रूपके कारण प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं रखते उसी भाँति 'चोरी करना बुरा है', 'सच बोलना चाहिये' आदि कथन भी प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं रखते। नैतिक वाक्य स्वतःसिद्ध तथा सार्वभौम हैं। वे सब बौद्धिक प्राणियोंके लिए सब परिस्थितियोंमें समान हैं। चोरी करना अथवा झूठ बोलना किसी भी परिस्थितिमें उचित नहीं है।

कांटका कहना था कि कर्त्तव्यके लिए कर्म करनेवाला संकल्प शुभ है। साथ ही वह यह भी कहता है कि सम्पूर्ण शुभ और पूर्ण संकल्प कर्त्तव्यके लिए कर्म नहीं करेगा। इच्छाओं और प्रवृत्तियोंपर विजय प्राप्त करनेका विचार कर्त्तव्यकी धारणाके साथ स्वतःनिहित है। एक सम्पूर्ण और "पवित्र" संकल्प एक-सा होगा। बिना स्वाभाविक प्रवृत्तियोंका प्रतिरोध किये वह अपनेको शुभ कर्मों द्वारा व्यक्त करेगा। अतः परम रूपसे शुभ संकल्प कर्त्तव्यकी धारणासे कर्म नहीं करेगा। जब मनुष्यके समान सीमित प्राणियोंका प्रश्न आता है तो देखते हैं कि उनमें 'आत्मगत सीमाएँ' होती हैं। उनके संकल्प पूर्ण रूपसे शुभ नहीं होते। वे इन्द्रियपरक इच्छाओं और प्रवृत्तियोंसे प्रभावित हो जाते हैं। इसका प्रभाव उनके बौद्धिक मार्ग-में रोड़े अटका सकता है। वे शुभ कर्म, जिन्हें करनेके लिए कर्त्ताको बाधाओंको दूर करना पड़ता है, कर्त्तव्यके रूपमें प्रकट होते हैं; अथवा उन कर्मोंके रूपमें प्रकट होते हैं जिन्हें, रुकावटोंके उत्पन्न होनेपर भी, उसे कर्त्तव्यके लिए करना ही चाहिये। यदि व्यक्ति पूर्ण शुभत्वके आदर्श-को प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपनी इच्छओंको इस प्रकार अनुशा-सित एवं संयमित कर देना चाहिये कि वे बाधाएँ उत्पन्न न कर सकें। इसमें सन्देह नहीं कि इन रुकावटोंके कारण संकल्पका शुभत्व अधिक उत्कृष्ट हो जाता है। किन्तु, फिर भी, शुभ संकल्पको, उन रुकावटोंके अतिरिक्त भी, जिनपर कि वह विजय प्राप्त करता है, अपने-आपमें शुभ होना चाहिये।

कर्त्तव्य और पूर्ण संकल्प

कांटके पूर्वके नीतिज्ञोंने नैतिकताको परम शुभकी धारणापर आधा-रित किया है। परम शुभ सद्गुण और आनन्द दोनोंका अपनेमें समावेश करता है। कांट मानता है कि उच्चतम शुभमें ये दोनों ही हैं। किन्तु वह परम शुभ और नैतिक शुभको एक ही नहीं मानता; दोनोंमें भेद देखता है। नैतिकता पूर्ण तटस्थताकी अपेक्षा रखती है, वह भावनाको आकर्षित नहीं करती।

सद्गुण और आनन्द

वह अपनेको संकल्पपर आरोपित करती है। अतः आनन्दसे उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। परम शुभ अभीष्ट वस्तु है। किन्तु वह इस जीवनमें अलभ्य है। जहाँतक नैतिक जीवनका प्रश्न है मनुष्यको कर्त्तव्यके लिए कर्म करना चाहिये। आत्म-स्वार्थकी तृप्ति उचित नहीं है। कर्त्तव्यको सुखके लिए साधन मानकर नहीं करना चाहिये। कर्त्तव्यके लिए कर्मको महत्व देनेके साथ ही वह यह स्वीकार करता है कि बौद्धिक रूपसे तबतक भली प्रकारसे कर्त्तव्य नहीं किया जा सकता जबतक यह आशा न हो कि आनन्द मिलेगा। यहाँपर वह परम शुभकी धारणापर आ जाता है और कहता है कि व्यक्तिके लिए अपने निजी सुखका ध्यान रखना विवेक-सम्मत है। पर उचित बौद्धिक आत्म-प्रेम केवल सामान्य सुखकी ही खोज नहीं करता, बल्कि वह उस सुखकी खोज करता है जिसका नैतिक मूल्य है। व्यक्तिके लिए परम शुभ न तो केवल सद्गुण है और न केवल आनन्द, वह वह नैतिक राज्य है जहाँ सुख और सद्गुण परस्पर सन्तुलित हैं। बिना ऐसे राज्यको स्वीकार किये नैतिकताके उच्च और महान् विचार प्रशंसा और श्रद्धाके विषय भले ही हो सकते हों किन्तु उनकी वास्तविक देन कुछ नहीं हो सकती। वे कर्मों और उद्देश्योंके वास्तविक प्रेरणास्रोत नहीं बन सकते। बौद्धिक रूपसे मनुष्य नैतिक कर्मोंको तबतक नहीं अपना सकेगा जबतक उसे यह आशा न हो जाय कि उसे आनन्द मिलेगा। उसका भविष्यका जीवन आनन्द और सद्गुणके सामञ्जस्यका जीवन होगा। वास्तवमें यह सामञ्जस्यकी स्थिति नैतिक पूर्णताकी स्थिति है, न कि उसके निर्माण और प्रतिष्ठापनकी। नैतिक शुभका लक्ष्य परम शुभ है और परम शुभ आनन्द और सद्गुणका ऐक्य है। नैतिकता एक ऐसे विश्व-विधानको अनिवार्य मानती है जहाँ कर्त्तव्यके सन्तुलनमें आनन्दकी प्राप्ति सम्भव है। यह संकल्पकी स्वतन्त्रता भगवान् तथा परलोकमें विश्वास-की अपेक्षा रखती है।

शुभ संकल्प ही एकमात्र शुभ है। इसका सिद्धान्त इसीमें है। यह कथन बतलाता है कि नैतिक नियमका कोई विशिष्ट विषय (Content)

नहीं हो सकता। वह विशिष्ट वस्तुओंके बारेमें नहीं बताता है। वह इस कामको करो और इस कामको मत करो, नहीं कहता। नैतिक नियम अनिवार्य और सार्वभौम है। विशिष्ट वस्तुएँ अनुभव-सापेक्ष और अनिश्चित हैं, अतः नैतिक नियमका सम्बन्ध किसी वस्तुसे नहीं हो सकता। वह नहीं बतलाता कि कर्मका क्या वस्तुतत्व (Matter) होना चाहिये। वह केवल उनके रूप (Form) के बारेमें बतला सकता है। नैतिक नियम बुद्धिसे प्राप्त होता है, न कि भावनासे। अतः यह विषयात्मक (Material) नहीं हो सकता। यदि इसे विषयात्मक मान लें तो नैतिक सिद्धान्त ध्येय या परिणामसे युक्त हो जायगा जो कि अनुचित है। नैतिक सिद्धान्त अपने-आपमें शुभ है। वह रूपात्मक तथा अनुभवनिरपेक्ष है और व्यावहारिक बुद्धिकी देन है। कांटके सिद्धान्तकी यह नवीनता है कि उसने कर्त्तव्यकी धारणासे शुभकी धारणाका निगमन किया है। सिद्धान्तके रूपसे उसके विषयकी व्युत्पत्ति की है। कांटके पूर्वके विचारकोंने नियमकी धारणाको शुभकी धारणाके अधीन माना है। कांटने नैतिकताके सिद्धान्तको केवल रूपात्मक माना है। यह आवश्यक है कि संकल्प विषयवस्तुसे तटस्थता-की विशिष्ट स्थितिमें हो किन्तु फिर भी वह नैतिक विश्वसे असम्बद्ध नहीं है। नैतिक सिद्धान्त प्रत्येक बौद्धिक व्यक्तिके लिए समान है। वह उस समाजसे सम्बन्ध रखता है जहाँ कि प्रत्येक प्राणी समान रूपसे स्वशासित है।

नैतिक नियम रूपात्मक है

यदि नैतिकताका सिद्धान्त रूपात्मक है, उसका कोई विशिष्ट विषय नहीं है तो आचरणके नियमोंका प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है? क्या वह व्यावहारिक नियम दे सकता है? कांटका कहना है कि कर्त्तव्यके सब नियम 'कर्त्तव्य कर्त्तव्यके लिए करना चाहिये' को अभिव्यक्त करते हैं। कर्त्तव्यके लिए या बौद्धिक नियमके लिए कर्म करना ही नैतिकता है। कर्त्तव्यके सिद्धान्त अथवा परम आदेशके आधारपर व्यावहारिक नैतिक नियमोंको प्राप्त किया जा

आचरणविधियाँ

सकता है। बौद्धिक अन्तर्दृष्टि अथवा नैतिक अन्तर्ज्ञानवाले व्यक्तिके लिए ये नियम उतने ही स्पष्ट, सुगम और सरल हैं जितना यह कथन कि दो और दोका जोड़ चार होता है। अथवा प्रत्येक घटनाका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। पहिले ही कह चुके हैं कि सांकेतिक आदेशोंका ध्येय सापेक्ष और आत्मगत होता है। वे बतलाते हैं कि विशिष्ट परिस्थिति-में क्या करनेसे कर्त्ता अपने इच्छित ध्येयको प्राप्त कर सकता है। सापेक्ष ध्येयके विपरीत रूपात्मक या वस्तुगत ध्येय मिलता है। प्रत्येक बौद्धिक प्राणीके सम्मुख बुद्धि कर्त्तव्यके परम विषयको रखती है। यही वस्तुगत ध्येय है जो परम आदेशके रूपमें प्राप्त होता है। वह बतलाता है कि यदि कर्म कर्त्तव्यके लिए है तो वह स्वतः मूल्यवान् है। बुद्धिके आदेश परम और सार्वभौम हैं। वे प्रत्येक बौद्धिक प्राणीपर अपनेको आरोपित करते हैं। वे प्रत्यक्ष और स्पष्ट हैं। बुद्धि यह भी बतलाती है कि कर्मोंमें आत्म संगति (Self-Consistency) होनी चाहिये। आत्म-संगतिका नियम अथवा बाध-नियम (Law of contradiction) कहता है कि एक ही कर्म उचित और अनुचित दोनों ही नहीं हो सकता। यदि कर्म एक परिस्थितिमें उचित है तो वह सभी परिस्थितियोंमें उचित रहेगा। यदि कर्त्ताकी प्रेरणा बौद्धिक है तो किसी कर्मको किसी एक परिस्थितिमें वह तबतक नहीं कर सकता जबतक कि वह यह भी न चाहे कि वह कर्म सार्वभौम रूप ग्रहण कर सके। जिन सिद्धान्तोंपर बौद्धिक प्राणी कर्म करते हैं वे ऐसे होने चाहिये जिन्हें वे अपने जीवनभर अपना सकें और साथ ही दूसरोंपर भी आरोपित कर सकें। उदाहरणार्थ, "तुम दूसरोंके लिए वैसा ही करो जैसा कि तुम दूसरोंसे अपने प्रति किये जानेकी आशा करते हो।" अतः कांटने कहा कि "उस सिद्धान्तके अनुसार कर्म करो जिसके बारेमें तुम यह भी इच्छा कर सको कि वह एक सार्वभौम नियम बन जाय।" कांटका विश्वास था कि यह नीतिवाक्य विशिष्ट कर्त्तव्योंको निर्धारित करनेके लिए पर्याप्त मानदण्ड है। इस नीतिवाक्यके व्यावहारिक रूपको समझानेके लिए वह शपथ तोड़नेका उदाहरण देता है। वह कहता

है कि यदि इसे सार्वभौम रूप दे दिया जाय—प्रत्येक शपथ तोड़ने लगे—तो शपथ लेनेका कोई अर्थ नहीं रह जायगा। यदि शपथ ली ही नहीं जायगी तो उसके तोड़नेका प्रश्न ही नहीं उठेगा। नैतिक नियम मनुष्यसे उस बौद्धिक नियमका पालन करनेके लिए कहता है जो कि इन्द्रियपरताके प्रति उदासीन है। मनुष्य बौद्धिक जीवन व्यतीत करनेका आकांक्षी है। वह उस जीवनको अपनाना चाहता है जिसकी उपज उसके अपने बौद्धिक स्वरूपके प्रति श्रद्धासे हुई है। अतः वह इच्छाओं, प्रवृत्तियों, यहाँतक कि कर्मके परिणामकी भी चिन्ता नहीं करता। बौद्धिक प्राणी अपने-आपमें साध्य है। उसकी पूर्णता उसीमें है। उसे चाहिये कि वह अपनेको किसी अन्य ध्येयके लिए, अपनी बुद्धिको अबौद्धिक ध्येयोंकी प्राप्तिके लिए साधन न बनाये। उसे सदैव उन कर्मोंको करना चाहिये जिनके द्वारा वह अपने बौद्धिक स्वभावकी पूर्णताको प्राप्त कर सके। उसके कर्मोंमें संगति और समानता होनी चाहिये। प्रत्येक मनुष्यका व्यक्तित्व (Personality)—बौद्धिक स्वरूप—स्वतः मूल्यवान् है। इसलिए प्रत्येक व्यक्तिको चाहिये कि जब वह किसी नियमको बनाता है अथवा किसी आचरणको अपनाता है तो उसे केवल अपने ही लाभका ध्यान नहीं रखना चाहिये। अपने ही समान उसे दूसरोंको भी किसी अन्य ध्येयके लिए साधन नहीं मानना चाहिये। अथवा इस प्रकार कर्म करना चाहिये कि "समस्त मानवताको, चाहे वह अपने व्यक्तित्वके रूपमें हो या किसी दूसरे व्यक्तिके रूपमें,—तुम प्रत्येक अवस्थामें साध्य समझ सको, न कि साधन।" उदाहरणार्थ आत्म-हत्या करना अनुचित है। वह बौद्धिक प्राणीको दुःख दूर करनेके लिए साधन मानती है न कि साध्य। प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक रूपमें कुछ परम अधिकार रखता है। उन अधिकारोंका उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता। ये अधिकार बताते हैं कि व्यक्तिको सापेक्ष ध्येयोंकी प्राप्तिके लिए साधन-मात्र नहीं मानना चाहिये। नैतिक नियमका पालन करनेवाला व्यक्ति ही परमार्थसत्तामें प्रवेश करता है। वह शुद्ध बुद्धिके अतीन्द्रिय जगतका सदस्य है। अतः शुद्ध संकल्पवाला अथवा परम आदेशका पालन करनेवाला

व्यक्ति उस जगतमें रहता और कर्म करता है जिसे कि बुद्धि द्वारा नहीं समझ सकते हैं। कर्त्तव्यका पालन करते हुए वह अपनी श्रेष्ठताको समझता है। वह नियमोंका विधायक और पालन करनेवाला, दोनों ही है। वह स्वयं ही राजा और स्वयं ही प्रजा है। बौद्धिक संकल्प अपना नियम स्वयं बनाता है और स्वयं उसका पालन करता है। आत्म-आरोपित नियमका पालन करना अनिवार्य है। उसकी बाध्यता आन्तरिक है, न कि बाह्य। आत्म-आरोपित होनेके कारण ही वह परम आदेशके रूपमें व्यक्त होता है। मनुष्य उस नियमके अधीन है और उसके अधीन होना ही मनुष्यकी स्वतन्त्रता है। "इस प्रकार कार्य करो कि तुम पूर्णताके सार्वजनिक राज्य (Universal Kingdom of Ends) में अपने सिद्धान्तों द्वारा नियमोंके विधायक बन सको।" कांट उस पूर्णताके राज्यकी कल्पना करता है जहाँ कि बौद्धिक प्राणियोंका समुदाय वास करता है। इस समुदायका प्रत्येक व्यक्ति अपने आन्तरिक नियमका पालन करता है और वह स्वशासित है। आन्तरिक नियम एवं बौद्धिक नियम सार्वभौम नियम भी है। बुद्धि प्रत्येक प्राणीको आचरणके समान नियम देती है। इनका निरपेक्ष पालन अनिवार्य है। आत्म-आरोपित नियमोंका पालन करनेवाले प्राणियों-के राज्यमें संगति और सामञ्जस्य है। नैतिक राज्य विरोधी इकाइयों तथा स्वार्थी प्रवृत्तियोंका अस्वाभाविक संघटन नहीं है। वह बौद्धिक संकल्पोंकी आन्तरिक एकताको व्यक्त करता है। नैतिकता स्वार्थी प्रवृत्तियोंके विरोधको मिटा देती है। इच्छाओं और प्रवृत्तियों द्वारा विरोध होनेपर भी मनुष्य उस नियमका स्वेच्छासे पालन करता है जो कि उसकी वास्तविक आत्माकी देन है। नैतिक नियम सुख-दुःखकी भावनाओं, इच्छाओं, प्रवृत्तियों, परिणामकी धारणा, यहाँतक कि मनुष्यके वैयक्तिक विशिष्ट नैतिक बोधसे भी उत्पन्न नहीं होता है। वह बाह्य नियम नहीं है और इस अर्थमें वह दैवी आदेश भी नहीं है। उसका पालन भयवश नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह आत्म-आरोपित है। मनुष्य अपने नियमोंका विधायक स्वयं है और यही उसकी स्वतन्त्रता है।

आलोचना

यदि आचरणको सुनिर्देशित करनेके लिए कांटके नीतिवाक्योंका अध्ययन किया जाय तो उन्हें केवल रूपात्मक पायेंगे। उनके आधारपर विशिष्ट कर्त्तव्योंकी रूप-रेखा निर्धारित नहीं की जा सकती और न यही कहा जा सकता है कि क्या करना चाहिये। क्या कांटके नीतिवाक्य व्यावहारिक दृष्टिसे मूल्यहीन हैं? कांटने वास्तवमें परम आदेशको पाँच नीतिवाक्यों द्वारा व्यक्त किया है। किन्तु उन पाँचोंको उपर्युक्त तीन वाक्योंके अन्तर्गत समझाया जा सकता है। कांटके ये नीतिवाक्य बतलाते हैं कि उसने नैतिक निर्णयोंको बौद्धिक स्तरतक सीमित किया है। कर्मका सार्वभौम होना, विरोधरहित होना ही उसकी नैतिकताका चिह्न है।

नीतिवाक्य असन्तोषप्रद हैं

यदि हम आचरणके नियमको सार्वभौम भी मान लें तो हम देखते हैं कि सब कर्म वैयक्तिक और विशिष्ट होते हैं। नियमके लिए यह सुझाव देना आवश्यक है कि विशिष्ट कर्त्तव्योंका स्वरूप कैसा होना चाहिये। कर्त्तव्यकी चेतनासे यह कैसे समझ सकते हैं कि सत्य बोलना उचित है अथवा चोरी करना अनुचित है। यह कैसे मालूम होता है कि वर्तमान परिस्थितिमें क्या करना उचित है। कांटने बौद्धिक संगतिके नियम अथवा बाध-नियमको दिया है किन्तु बाध-नियमको मनुष्यके औचित्य और अनौचित्यको समझानेके लिए स्वीकार नहीं किया जा सकता। बाध-नियम भाववाचक है। यह बतलाता है कि एक ही काम उचित और अनुचित दोनों नहीं हो सकता। यह कथन तार्किक रूपसे उचित होनेपर भी वास्तविक एवं व्यावहारिक दृष्टिसे अनुचित है। उदाहरणार्थ, बाध-नियमके अनुसार चोरी करना उचित और अनुचित दोनों ही नहीं हो सकता। किन्तु जीवनके तथ्य बतलाते हैं कि कुछ विशिष्ट परिस्थितियोंमें चोरी करना उचित है और कुछमें अनुचित। तार्किक दृष्टिसे जो संगति आवश्यक है वह तथ्यकी दृष्टिसे भ्रान्तिपूर्ण है। जहाँतक वास्तविकता एवं तथ्योंका प्रश्न है, कुछ अपवाद मानने

बाध-नियमकी सीमाएँ

पड़ेंगे। यही नहीं, शब्दोंके व्यावहारिक अर्थ बदलते रहते हैं। पूँजीवादके अनुसार पैतृक सम्पत्तिको प्राप्त करना उचित है तो समाजवादके अनुसार यह चोरी है। कांट चिन्तनके बाध-नियमको अपनानेमें इतना लीन रहा कि उसने अपने नीतिवाक्योंको प्रत्यक्ष व्यावहारिक जगतसे दूर कर किया। नियमकी सार्वभौमिकताको सुरक्षित रखनेके लिए वह 'चोरी'का भी एक ही अर्थ लेगा। कांटकी आचरणविधिका सार्वभौम रूप अव्यावहारिक है। अधिकांश लोग यह मानते हैं कि 'सच बोलना चाहिये' तथा 'जीवनकी रक्षा करनी चाहिये' यह दोनों कथन सार्वभौम नियमके रूपमें ग्रहण करने योग्य हैं। किन्तु जब ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होती है कि इन दोनोंमें विरोध हो जाता है तो नैतिक कर्मका इच्छुक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यको आसानीसे नहीं समझ सकता। कांटका सिद्धान्त उसे दुविधामें डाल देता है। वह यह नहीं कहता कि परिस्थिति विशेषमें जीवनकी रक्षाके लिए झूठ बोलना उचित है। यदि 'सार्वभौम नियम'का यह अर्थ लें कि प्रत्येक परिस्थितिमें समान कर्म करना है तो कांटका नीतिवाक्य अत्यन्त दृढ़ और अपरिवर्तनशील हो जाता है। उसमें अपवादके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। अपनी दृढ़ताके कारण वह हानिप्रद कर्म करा सकता है। मानव-जातिके संरक्षणके लिए विवाह करना उचित है पर यदि कोई व्यक्ति किसी असाध्य रोगसे पीड़ित हो जाता है तो मानव-जातिके हितके लिए उसे विवाहके बन्धनमें नहीं पड़ना चाहिये। कांटका सिद्धान्त ऐसी स्थितिमें सहायक नहीं है। उसका सिद्धान्त विशिष्ट विषयके बारेमें कुछ नहीं बलता सकता और यदि यह मान लें कि कांटके अनुसार विशिष्ट स्थिति—देश, काल, परिस्थिति—में एक-से कर्म करने चाहिये तो यह अत्यन्त शिथिल हो जाता है। चोर यही चाहेगा कि उसकी-सी दयनीय हालतमें प्रत्येकको चोरी करना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्म करते समय अपने स्वार्थ और सुविधाके अनुकूल नियम बना लेगा। उसका व्यावहारिक ज्ञान ही नैतिकताके रूपमें उसके सम्मुख आयेगा। इसमें सन्देह नहीं है कि नैतिक नियमको सार्वभौम कहकर कांटने उसके वस्तुगत रूपको सम्मुख

रखा और नैतिक आचरणके लिए यह अनिवार्य है। नैतिक सिद्धान्तको रूपात्मक और विषयहीन कहकर उसने बड़ी भारी भूल की। यही उसके नीतिवाक्योंको अमूर्त और अव्यावहारिक बना देता है। उसका कर्त्तव्यका सिद्धान्त अपने-आपमें अपूर्ण हो जाता है। बिना कर्त्तव्यके स्वरूपको निर्धारित किये अथवा बिना ध्येयकी परिभाषा दिये आचरणके व्यावहारिक नियमोंको समझना कठिन है। प्रत्येक कर्म और घटनाका अपना मूल्य है। उसे समझनेके लिए प्रेरणा और परिणाम एवं सम्पूर्ण परिस्थितिको समझना अनिवार्य है। कांट कर्मोंका मूल्याङ्कन केवल प्रेरणा द्वारा करता है और परिणामको नैतिक दृष्टिसे मूल्यहीन कह देता है।

नैतिक सिद्धान्त : केवल सार्वभौम अतः विषयहीन

नैतिक सिद्धान्तके विषयके बारेमें कांट कुछ नहीं कहता है। इसके विपरीत वह इस तथ्यपर महत्व देता है कि वह रूपात्मक है। नैतिक बुद्धि ध्येयके स्वरूपको समझना चाहती है। वह आचरणके उस नियमको शुभ नहीं कहती जो संगतिपूर्ण है बल्कि उसे जो उस ध्येयकी प्राप्तिमें सहायक और मूल्यवान् है। इसी प्रकार जब व्यक्ति अपने साथ ही अन्य व्यक्तियोंको साध्य मानकर कर्म करता है तो प्रश्न उठता है कि हम जिस ध्येयकी प्राप्तिके लिए प्रयास करते हैं उसकी क्या परिभाषा है। कांटका नीतिवाक्य यहाँ भी विषयहीन रूपको सम्मुख रखता है। उसके नीतिवाक्योंका अध्ययन यह अवश्य बतलाता है कि कर्त्तव्यका आदेश परम आदेश है अथवा 'कर्त्तव्य कर्त्तव्यके लिए करना चाहिये।' पर जबतक कर्त्तव्यकी स्पष्ट परिभाषा न दी जाय, उसके विषयके बारेमें न बतलाया जाय, तबतक उसका सदुपयोग और दुरुपयोग दोनों ही हो सकता है। नीत्सेका अतिमानव अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तिके बलपर यह इच्छा कर सकता है कि निर्दयताकी नीति सार्वभौम नियम बन जाय। वास्तवमें कांटके नीतिवाक्य ईसाई धर्मको अभिव्यक्ति देते हैं। वे ईसाई धर्मके संस्कृत और विशुद्ध रूपको सम्मुख रखते हैं। उसके नैतिक दर्शनमें धर्मके उस रूपकी झलक मिलती है जो कि बुद्धिकी परिधिके

अन्दर है। उसका प्रथम नीतिवाक्य सार्वभौम नैतिक नियममें अटूट विश्वासपर आधारित है। द्वितीय वाक्य बतलाता है कि मनुष्यका महत्व असीम और अद्वितीय है। उसे दूसरोंके प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिये जैसा वह दूसरोंसे आशा करता है। तृतीय वाक्य द्वारा भगवान्के राज्यको पृथ्वीपर प्रकट किया है। (दार्शनिक रूपसे सार्वभौम नियमको अपनीकर उसने एकताको समझाया है, प्रत्येकको अपने-आपमें पूर्ण कहकर अनेकता (Plurality) की स्थापना की है और पूर्णताके राज्यमें उसने एकता और अनेकताके विरोधको हटाकर समग्रता (Totality) —अनेकतामें एकता—को अपनाया है।)

भावनाका नैतिक मूल्य

(बिना भावनाओंको स्वीकार किये कांटका पूर्णताका राज्य (सबसे अधिक व्यापक नीतिवाक्य) भी अवास्तविक हो जाता है। स्थिर विवेक एक दूसरेको परस्पर बाँधनेके लिए पर्याप्त नहीं है। एकताकी भावना ही व्यक्तियोंको एक दूसरेसे युक्त कर सकती है। बुद्धि सार्वभौम होनेपर भी उस पारस्परिक आकर्षण एवं एकता, सहृदयता और आत्मीयताको नहीं ला सकती जो दूसरोंके साथ सम्बन्धित करनेके लिए आवश्यक है। प्रेम, स्नेह, सहानुभूति आदि ही ऐसी सक्रिय शक्तियाँ हैं जिनके कारण व्यक्ति अपनेको दूसरोंमें देखता है। उनके सुखको अपना सुख समझता है। यही कारण है कि बुद्धिपरतावादियोंका सिद्धान्त सार्वभौम बुद्धिको माननेपर भी वैयक्तिक रहा है, उनके मतावलम्बियोंका जीवन आत्म-निमग्न रहा है।

कांट बुद्धि और इन्द्रियोंके परम द्वैतको स्वीकार करता है। बुद्धिके कारण ही मनुष्य पशुसे भिन्न एवं श्रेष्ठ है।) अतः उसे बौद्धिक जीवन बिताना चाहिये। उसके जीवनमें इन्द्रियपरताके लिए कोई स्थान नहीं है। पाशविक इन्द्रियपरताका तो बिलकुल ही विनाश कर देना चाहिये। कर्त्तव्य करते समय इच्छाओं, भावनाओं एवं प्रवृत्तियोंकी ओरसे विमुख हो जाना चाहिये नैतिक व्यक्तिको कर्त्तव्यके सिद्धान्त अथवा आत्म-आरोपित

भ्रान्तिपूर्ण मनोविज्ञान

नियमको समझना चाहिये । उसे उन उच्छृंखल प्रवृत्तियोंके प्रति जागरूक रहना चाहिये जो कर्त्तव्यकी विरोधी हैं । उसे सदैव कर्त्तव्यके लिए कर्म करना चाहिये । देश, काल, स्थान, परिस्थिति आदि नैतिकताको निर्धारित नहीं करते हैं । कर्त्तव्यके आदेशके निरपेक्ष और सर्वोच्च रूपको समझानेके लिए वह नीतिज्ञोंके विपरीत यहाँतक कह देता है कि यदि कर्मकी उत्पत्ति कर्त्तव्यके प्रति श्रद्धासे नहीं है तो वह नैतिक नहीं है। दयालु भावनाओं, परमार्थी प्रवृत्तियों, सहानुभूति, स्नेह, दया आदिसे प्रेरित कर्म शुभ नहीं हैं । कर्त्तव्यकी प्रेरणा ही एकमात्र शुभ प्रेरणा है । इसमें सन्देह नहीं कि कांटका ऐसा दर्शन अत्यन्त कठोर और निःस्पृह हो गया है । आलोचकों-का यह कहना है कि कांटने अपने सिद्धान्तमें भावनाओं, स्थायीभाव आदिको पर्याप्त स्थान नहीं दिया है । स्थान देना तो दूर रहा, वह मानव-स्वभावका अवास्तविक विश्लेषण करता है, जो भ्रान्तिपूर्ण मनोविज्ञानपर आधारित है । उसने सब स्वाभाविक प्रेरणाओंको स्वार्थी और सुखवादी कहा है । ऐसे उग्र मतको अपनाकर उसने अपने सिद्धान्तको अमान्य बना दिया है । मानव-कर्म और सद्गुण न तो भावनाशून्य हैं और न भावना उनका अप्रमुख गुण है । वह उनके मूलगत स्वरूपका अंग है । कांटकी रचनाओंमें निर्ममताकी प्रवृत्ति मिलती है । उसकी रचनाओंमें जो निःस्पृहता मिलती है उसका कारण यह है कि कांटके समयमें लोग नैतिकताके क्षेत्रमें बुद्धिको क्षति पहुँचाकर ही भावनाओंको महत्व दे रहे थे । चरित्रमें भावनाओंके स्थानको समझते हुए भी उसने उन्हें महत्त्व नहीं दिया वरन् विरोधी सिद्धान्तोंके कारण उनकी उपेक्षा की । इन सिद्धान्तोंके विपरीत कांटने बुद्धिको ही एकमात्र विधायक नैतिक शक्ति सिद्ध करनेका अपने नीतिशास्त्रका लक्ष्य बनाया ।

अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करते समय कांटने कई स्थलोंमें अत्यन्त संक्षिप्त तर्क प्रस्तुत किये हैं । एक प्रमाणसे दूसरे प्रमाणमें आनेमें शीघ्रता दिखलायी है । ऐसी शैली पाठकको दुविधामें डाल देती है । उसे असंगतियाँ दिखलाई पड़ती हैं । शुद्ध व्यावहारिक बुद्धिका वर्णन करते

सिद्धान्तमें अस्पष्टता : भावनाएँ आत्म-सन्तोषका अङ्ग

समय वह कहता है कि इसका आदेश कर्त्तासे कहता है कि जब कर्त्तव्यका प्रश्न उठता है तो इच्छाओंकी ओरसे विमुख हो जाना चाहिये। जब इसका कर्त्तव्यसे विरोध नहीं होता है तब इसके अधिकार बुद्धि नहीं छीनती है। ऐसी स्थितिमें कर्त्ता सुख खोज सकता है। पर जब कर्त्तव्य और प्रवृत्तियोंके प्रश्नको वह उठाता है तो वह यह मान लेता है कि बौद्धिक व्यक्ति प्रवृत्तियोंसे पूर्ण रूपसे मुक्त होना चाहेगा। किन्तु इन्द्रियोंका समूल नाश करके व्यक्ति नैतिकताको प्राप्त नहीं कर सकता। इच्छाओंका हनन करके आत्म-सन्तोष नहीं मिलता। वास्तवमें बुद्धि और भावना एक दूसरेकी पूरक हैं, विरोधी नहीं। इच्छाओंको उचित मार्ग दिखलाना बुद्धिका काम है। गुणवान् या नैतिक व्यक्ति वह है जो इच्छाओंको सन्मार्गी बनाता है, उनका उन्नयन करता है। इच्छाओंका दमन करना सद्‌गुण नहीं है। सद्‌गुणी व्यक्ति इच्छाओंसे स्वतन्त्र नहीं है। ऐसी स्वतन्त्रता मरघटमें ही प्राप्त हो सकती है। इच्छाओं द्वारा विरोध होनेपर भी उचित मार्गको ढूँढ़ लेना नैतिक गुण है। बिना भावनाओंके नैतिकता विषयशून्य है। उसका खोखला स्वरूप शेष रह जाता है। भावनाओंके निराकरणको अनावश्यक महत्व देकर कांटने अपने नीतिशास्त्रको रूपात्मक बना दिया। नैतिकताके रूप और विषयमें भेद कर दिया। संकल्पको भावनाओंसे असम्बद्ध करके व्यावहारिक बुद्धिसे संयुक्त कर दिया। प्रत्येक कर्मको निर्धारित करनेवाला सिद्धान्त बुद्धिमें है। किन्तु क्या ऐसा सिद्धान्त वास्तविक है? भावनाहीन जीवनको जीवन कहना उतना ही विचित्र है जितना आमसे उसकी मिठासको निकालकर उसे आम कहना। बुद्धि और भावनाका संयुक्त जीवन ही जीवन है। नैतिक दृष्टिसे भी भावनाहीन जीवनको नैतिक नहीं मान सकते। यह बौद्धिक या चिन्तनप्रधान जीवन है। नैतिकताके उपादान इन्द्रियोंसे आते हैं। बुद्धि और भावनाओंका द्वैत नैतिक समस्याको उत्पन्न करता है। भावनाओंका निराकरण करना इस समस्याका निराकरण

करना है। इच्छाओंका दमन करके वैराग्यवाद स्वयं अपमें ध्येयमें हार जाता है। वह अपने आदर्शको प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि बिना भावनाओंके कर्म सम्भव नहीं है। ये जीवनकी सञ्चालक शक्ति हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियबोध जीवनको अवास्तविक कहकर त्याग नहीं सकते हैं। कांटने स्वयं इस सत्यको स्वीकार किया है। एक ओर तो वह अनुभवात्मक इन्द्रियबोध (empirical sensibility) अथवा रुग्ण प्रवृत्तियों (pathological inclinations) को अनैतिक कहकर हटा देता है और कहता है कि रुग्ण प्रवृत्तियों एवं प्रेम, दया आदिसे प्रेरित कर्म कर्त्तव्यके अनुरूप हो सकते हैं किन्तु वे नैतिक नहीं हैं। किन्तु फिर वह इन्द्रियबोधका व्यावहारिक पक्ष स्वीकार कर लेता है। नैतिक नियम अपनी पूर्णताके लिए अपने प्रेरणास्रोतकी अपेक्षा इन्द्रियबोधपर रखता है; किन्तु, इस भावनाकी उपज बुद्धिसे होनी चाहिये। प्लेटो और अरस्तूने भी यह माना है कि बुद्धि द्वारा नियन्त्रित भावनाका जीवन ही सामान्य व्यक्तिका स्वाभाविक जीवन है। किन्तु फिर वे यह कहकर भूल करते हैं कि विशिष्ट व्यक्ति उच्च और दैवी जीवनको समय-समयपर प्राप्त कर सकते हैं। सामान्य व्यक्तियोंको इस आदर्श—दैवी जीवन—को सदैव अपने सम्मुख रखना चाहिये। आदर्श जीवन बौद्धिक और चिन्तनशील है। आदर्श जीवनके स्वरूपको स्वीकार करनेके कारण उन्होंने शुभको विवेकसे, सद्गुणको ज्ञान एवं दार्शनिक चिन्तनसे युक्त कर दिया। सिनिक्स और स्टोइक्सने भावनाशून्य जीवनको शुभ कह दिया। किन्तु भावनाएँ और इच्छाएँ मानव-स्वभावका निर्माणात्मक अंग हैं। बिना इनके मानव-स्वभाव खोखला है। बुद्धि निष्क्रिय है। यदि भावनाएँ नहीं होंगी तो वह उनमें सामञ्जस्य कैसे स्थापित करेगी, कैसे उनके मार्गको निर्देशित करेगी, कैसे उनका उन्नयन करेगी? वह उतनी ही निरर्थक है जितना कि बिना प्रजाके राजा। पुनः मनुष्य नियमका नियमके लिए ही पालन नहीं करता है। वह नियमका पालन उस ध्येयके कारण करता है जिसे वह प्राप्त करना चाहता है। ध्येयका स्वरूप ही नियमको मूल्यवान् बनाता है। यह वह ध्येय है जो प्रबुद्ध

प्राणियोंकी भावनाओंको रुचिकर प्रतीत होता है और उनकी इच्छाओंको तृप्त करता है। इस सत्यको समझानेका श्रेय उपयोगितावादियोंको है और बादमें देखेंगे कि ग्रीन इसे स्वीकार करता है। नैतिक कर्त्तव्य सब इच्छाओं और प्रवृत्तियोंके हननका आदेश नहीं देता। वह केवल उन इच्छाओंकी ओरसे उदासीन होनेके लिए कहता है जो श्रेष्ठ इच्छाओंकी तृप्तिमें एवं आत्म-सन्तोषके मार्गमें बाधक हैं। वास्तवमें आत्म-सन्तोष तभी प्राप्त होता है जब आत्मा अपने पूर्ण रूपसें—बुद्धि और भावना—सन्तुष्ट होती है।

नैतिक जीवनमें कर्त्तव्यके अर्थ

कांटने अपने नैतिक दर्शनमें व्यावहारिक बुद्धिके निरपेक्ष आदेश अथवा नैतिक सिद्धान्तकी चरमताको सिद्ध करना चाहा। अतः उसने कर्त्तव्यके सिद्धान्तको महत्व दिया और यह कहा कि कर्त्तव्य ही परम नैतिक निरपेक्ष कर्त्तव्य है। कर्त्तव्यका नियम ही शुभको निर्धारित करता है। शुभ नियम या औचित्यके अधीन है। कर्त्तव्यका सिद्धान्त रूपात्मक है। कर्त्तव्यके क्षेत्रमें भावनाओंके लिए कोई स्थान नहीं है। अब प्रश्न यह है कि कर्त्तव्य कर्मका प्रेरक कैसे हो सकता है? कर्त्तव्यकी भावना व्यक्तिको कर्मके लिए कैसे प्रेरित कर सकती है? कांटके अनुसार नैतिक नियम आदेश देता है और उसकी महत्ताके सामने इन्द्रियाँ विनीत हो जाती हैं। उनमें तुच्छता अथवा विनम्रताकी भावना उत्पन्न होती है और यह भावना नैतिक नियमके प्रति आदर उत्पन्न करती है। आदर ही नैतिक भावनाके रूपमें सक्रिय होता है और नैतिक ध्येयको कर्त्ताके सम्मुख प्रस्तुत करता है। यह भावना नैतिकताका आत्मगत पक्ष है। इसीके कारण व्यक्ति अपनी सांसारिक स्थितिसे तटस्थ रहकर अपने आन्तरिक बौद्धिक साधनों द्वारा नैतिक ध्येयकी प्राप्ति कर सकता है। जब वह स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके मार्गमें रुकावट उत्पन्न करती है तब वह दुःखप्रद है किन्तु साथ ही नैतिक ध्येयको सम्मुख रखनेके कारण वह सुखप्रद होनेके समान है। उचित और आत्म-आरोपित नियमके अनुरूप कर्म करनेमें कर्त्ताको एक प्रकारका सन्तोष और आन्तरिक शान्ति मिलती है। अपनी बादकी

रचनाओंमें कांट यह कहता है कि उसे सुख[1] कह सकते हैं। नैतिक नियम एक सार्वभौम सिद्धान्तके रूपमें मानव-स्वभावकी विभिन्न विरोधी शक्तियों-को संयोजित करता है। यही 'चरित्र' का आधार है। चरित्रका आन्तरिक रूप सद्‌गुण है। यह स्वभावकी दुर्बलताओं और दुर्वृत्तियोंसे संघर्ष-रत है। अपने चरित्रनिर्माणके क्रममें मनुष्य अपनी पूर्णताको अपना नैतिक ध्येय मानकर उसके प्रति वास्तविक अभिरुचि पैदा करता है। वह अभिरुचि जब श्रद्धा एवं विश्वाससे युक्त हो जाती है तब वह चरित्रको दृढ़ता और महत्व देती है तथा यह आशा उत्पन्न कर देती है कि विश्वमें चरम शुभ सम्भव है। कांटका ऐसा सिद्धान्त नैतिक समस्याको सुलझा नहीं पाता है। यदि, जैसा कि कांटने स्वयं माना है, बुद्धि और इन्द्रियोंका सम्बन्ध बाह्य और यान्त्रिक है तो नैतिक कर्मकी क्रियाका जो उसने वर्णन दिया है वह सम्भव नहीं है। यदि इच्छाएँ केवल स्वार्थी और तुच्छ हैं तो नैतिक निम्नताकी भावना एवं विनम्रताकी भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। कांटने अपने कर्त्तव्यके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते समय इच्छाओं और भावनाओंका निराकरण करके, उन्हें अनात्म्य—बाह्य शक्तियाँ—कहकर भारी भूल की। इस भूलको दूर करनेके लिए ही उसने नैतिक भावनाकी उत्पत्ति बुद्धिसे की है। उसका यह प्रयास उतना ही असफल है जितना कि पेड़की डालको काटकर उसे पुनः गोंदसे जोड़नेका प्रयास होता है। यही नहीं, उसने जीवनको अत्यन्त नीरस और अनाकर्षक बना दिया। पुष्पविटपकी सार्थकता उसके सुचारु-रूपसे पुष्पित होनेमें है। वही जीवन सार्थक और वाञ्छनीय है जिसमें भावनाओं और बुद्धिका समवेत गान है, जिसमें भावनाएँ बुद्धिका सम्पर्क पा कर विकसित होती हैं और बुद्धि भावनाओंके साहचर्यसे सुगन्धको प्राप्त होती है। कर्त्तव्यके रूपात्मक सिद्धान्तने जीवनको अवाञ्छनीय, अरुचिकर और अनाकर्षक बना दिया है। यह सत्य है कि वैयक्तिक लाभ और यशकी प्रच्छन्न आशासे किया हुआ कर्म अनैतिक है। किन्तु क्या इसका

१. यहाँपर यह ध्यान देने योग्य है कि कांटने आनन्द (happiness) और सुख (pleasure) का अभिन्न अर्थमें प्रयोग किया है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि स्नेह, दया, दान आदिसे अनायास किये कर्म भी अनैतिक हैं ? क्या वही कर्म उचित है जिसे करनेके पहिले कर्त्ता उसे कर्त्तव्यकी तुलाके औचित्य और अनौचित्यके बाँटोंमें तौल लेता है और यह स्मरण रखता है कि 'मैं कर्त्तव्य कर रहा हूँ ?' यदि कोई दानी व्यक्ति दान देते समय यह ध्यानमें रखे कि 'मैं दान दे रहा हूँ' और इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति सहज दयावश दान दे तो क्या दूसरे व्यक्तिके कर्मको अनैतिक कहना विवेकसम्मत होगा ? कर्त्तव्यके सिद्धान्तको बिलकुल ही विषयहीन मानकर कांटने 'कर्त्तव्य' की ऐसी अमूर्त धारणाको अपना लिया है जो अर्थशून्य है। 'कर्त्तव्यका बोध इच्छाओं और भावनाओंसे पूर्ण सामान्य व्यक्तिके हृदयमें ही उत्पन्न हो सकता है, देवता या दानवके हृदयमें नहीं।' अथवा कर्त्तव्यका बोध तभी उत्पन्न होता है जब इच्छाओंमें द्वन्द्व होता है। जब व्यक्तिको अपने विचारों—आदर्शों—के अनुरूप कर्म करनेके लिए दृढ़ अभ्यासोंको छोड़ना पड़ता है, सहजप्रवृत्तियोंपर संयम रखना पड़ता है तथा इच्छाओं, भावनाओं आदिका उन्नयन करना पड़ता है अथवा उनके प्रति तटस्थ होना पड़ता है तब उसमें कर्त्तव्यका ज्ञान जाग्रत होता है। कर्त्तव्य शब्दमात्र नहीं है। यह शुभ इच्छाओंका सूचक है। कांटने इच्छाओंसे इसका वियोग कराकर इसे अर्थशून्य और अव्यावहारिक कर दिया है। कांटका सिद्धान्त अपनी रूक्षताके कारण मनुष्यको श्रेष्ठतर बननेके लिए पर्याप्त प्रेरणा प्रदान नहीं करता। उसके सिद्धान्तका तार्किक निष्कर्ष यह निकलता है कि कर्त्तव्य वह है जिसे व्यक्ति अनिच्छासे करता है। क्या कर्त्तव्यके ऐसे सिद्धान्तका चिरस्थायी मूल्य हो सकता है ? क्या व्यक्ति इसे सदैव अपनायेंगे ? वास्तविक व्यक्ति बुद्धि और भावनाका योग है ; नैतिक व्यक्तिमें इनका समुचित सन्तुलन मिलता है। कर्त्तव्यका नियम आन्तरिक अवश्य है ; पर, उसकी उत्पत्ति शून्यसे नहीं होती है। कर्त्तव्य अथवा बुद्धिके नियमका सम्बन्ध मनुष्यकी भावनाओंसे है ; उसके वैयक्तिक और सामाजिक जगत्से है। अपने-आपमें — इन सम्बन्धोंसे अलग —'कर्त्तव्य' कुछ नहीं है। कर्त्तव्यका सम्बन्ध विषयसे है, यह सदैव किसीके

प्रति होता है और यह विषय वह विषय है जिसमें मनुष्यकी रुचि है। यह रुचिका विषय स्वयं मनुष्यकी अपनी आत्मोन्नति हो सकता है अथवा उसका परिवार, व्यापार, कला, शिक्षा, समाज आदि।

मनुष्यका नैतिक जीवन बौद्धिक और भावुक आत्माका जीवन है, अथवा उसका सम्पूर्ण जीवन है। नैतिकता जीवनके किसी एक अंगके त्यागकी अपेक्षा नहीं रखती। उसी अंगका त्याग क्षम्य है जो कि सम्पूर्णकी उन्नति और पूर्णतामें बाधक है।

वैराग्यवाद अपने-आपमें अपूर्ण

वैराग्यवादी आदर्श अपूर्ण, भ्रान्तिपूर्ण और एकांगी है। यह जीवन्त आदर्श नहीं है। सक्रियताके बदले यह निष्क्रियताको अपनाता है। विकारशून्यता, भावहीनता, तटस्थता, राग-रसहीनता आदि मानवोचित गुण नहीं हैं। संसारके क्रिया-कलापोंके प्रति दर्शकमात्र होना, जीवनमें अभिरुचि न लेना मनुष्यत्वका चिह्न नहीं है। ऐसे मरुभूमिके आदर्शके मूलमें यह धारणा है कि देह आत्माका बन्दीगृह है। इन्द्रियपरक जीवनको अपनाना बहेलियेके जालमें फँसना है। ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण होनेके साथ ही मृत्युसूचक है। यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपनी जीवनरूपी लताको समूल उखाड़कर फेंक दे। ऐसी स्थितिमें बुद्धिका हरापन सूख जायगा। बिना भावनारूपी शिराओंके उसकी भी मृत्यु हो जायगी। वैराग्यवादको अपनानेके लिए सुखवादको अपनाना अनिवार्य है। ये एक दूसरेके पूरक हैं तथा एक दूसरेकी उग्रताको दूर करते हैं। बुद्धि और भावना एक दूसरेसे अलग उसी प्रकार नहीं हो सकतीं जिस प्रकार कि सिक्केके दोनों चेहरे। बुद्धिवादियोंने अपने सिद्धान्तमें तात्विक और मनोवैज्ञानिक द्वैतवादको अपनाया है। नैतिक आत्मा परमार्थसत्ताका सदस्य है। भावनाओं और इच्छाओंकी आत्मा दृश्यमान् जगतका सदस्य है। दृश्यमान् अनुभवगम्य जगत स्वप्नतुल्य है। पारमार्थिक जगतका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। अथवा शुद्ध बुद्धिके पारमार्थिक जगतमें इन्द्रियपरक जीवन अवास्तविक है। ऐसे परात्पर आदर्शवाद (Transcendental Idealism)का विरोध मनुष्यकी

सार्वजनीन चेतना करती है। जिस जगतमें हम रहते हैं, कर्म करते हैं अथवा जिसका प्रत्येक क्षण अनुभव करते हैं, उसे स्वप्नमात्र नहीं कह सकते। जाग्रत अवस्थाकी चेतना स्वप्नावस्थाकी अवास्तविकताका ज्ञान देती है। किन्तु जाग्रत अवस्थाको अवास्तविक कहनेके लिए ऐसा कोई प्रमाण नहीं है और यदि इसे अवास्तविक मान ही लें तो नैतिकताका क्या मूल्य रह जायगा। स्वस्थ नैतिक वस्तुवाद जीवन और विश्वको प्रतिभासमात्र नहीं कह सकता। जीवनको क्षणिक और स्वप्नतुल्य माननेवाला बौद्धिक आदर्शवाद स्तुत्य नहीं है। वह व्यक्तिको भावशून्य बनानेके बदले सिरेनैक्स मतावलम्बी बना सकता है। वास्तवमें वही आदर्शवाद टिक सकता है जिसकी नींव यथार्थवाद और वस्तुवादमें है। बिना वस्तुवादके आदर्शवादकी स्थिति त्रिशंकु-सी हो जायगी। वही बुद्धिपरतावाद मान्य है जो इन्द्रियपरताका अपनेमें समावेश करके उसे संघटित करता है। इन्द्रिय जीवनकी अनेकताके लिए बुद्धिकी संघटनकी शक्तिकी आवश्यकता है। बुद्धि के नियमको केवल अनुभवनिरक्षेप कहकर बुद्धिपरतावादियोंने रूपात्मक सिद्धान्तको महत्त्व दिया। वे यह भूल गये कि उसका विषय भावनासे प्राप्त होता है। बिना विषयके वह अस्थिपंजरमात्र और रिक्त है। भावना भी बिना बुद्धिके अन्धी है, उसका मार्ग-निर्देशन बुद्धि करती है। परिपूर्ण नैतिक जीवनके लिए बुद्धि और भावना दोनों ही आवश्यक हैं।

सुखवादी भूल

कांटका मनोविज्ञान भ्रान्तियोंसे मुक्त नहीं है। नैतिक आत्मा कर्त्तव्यको समझती है। वह कर्त्तव्य करनेके लिए बाधित है। नैतिक आत्माका संकल्प बतलाता है कि क्या करना चाहिये। इच्छाओंसे युक्त आत्मा सुखकी खोज करती है। किन्तु नैतिक आत्मा इच्छाओंका विरोध करती है। अथवा कर्त्तव्यका मार्ग अनिच्छाका मार्ग है। मनोविज्ञान बतलाता है कि यह भ्रामक है। कर्त्तव्यके मार्गका स्वेच्छासे पालन किया जाता है। संवेदनशील आत्मा इस मार्गको देती है। कांटका कहना था कि इच्छाएँ सुखके लिए होती हैं और उनकी तृप्ति मनुष्यको आत्मसुख

देती है। किन्तु सब प्रवृत्तियाँ सुखके लिए नहीं होतीं। इच्छाओंको स्वार्थी मानकर वह अनुभवात्मक वस्तुवादसे दूर हो गया है। इच्छाओंके सम्मुख एक ध्येय होता है और जब उसकी प्राप्ति हो जाती है तो व्यक्तिको यह सोचकर सन्तोष प्राप्त होता है कि 'मेरी इच्छा तृप्त हुई'। उसकी इच्छाका ध्येय कुछ भी हो सकता है, आत्म-कल्याण अथवा पर-कल्याण दोनों ही हो सकते हैं। कांटने नैतिक प्रेरणाके अतिरिक्त अन्य प्रेरणाओंको स्वार्थी कहकर उन्हें अनैतिक कह दिया। यहाँपर उसने सुखवादियोंके दृष्टिकोणको अपनाया है। उन्हींके समान यह माना है कि इच्छाका एक-मात्र विषय सुख है। कांटका यह कहना है कि अबौद्धिक आत्मा इच्छाके विषयको सम्मुख रखती है। बुद्धिका इससे बाह्य सम्बन्ध है। अतः सुखकी इच्छा करनेवाला व्यक्ति अपनी भावुक आत्माके अनुरूप कर्म करता है। उसका आचरण नैतिक नहीं है।

एकमात्र प्रेरणाको महत्व देना अनुचित है

कांटके अनुसार वही कर्म नैतिक है जो शुभ प्रेरणासे किया गया है। परिणामसे नैतिकताका कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका कहना है कि धोखा देना पाप है। यदि किसीका जीवन उसके होनेवाले हत्यारेको धोखा देकर बच सकता हो तो भी धोखा नहीं देना चाहिये। कांटकी ऐसी विशुद्ध नैतिकता (Moral Purism) कहाँतक मान्य है, कहना कठिन है। उसने सम्पूर्ण परिस्थितिको नैतिक दृष्टिसे महत्व नहीं दिया, यह उसकी भूल है। यह सम्भव हो सकता है कि हत्यारेको पाप करनेसे रोकनेपर उसमें कोई महान् परिवर्तन आ जाय और वह नैतिक आचरणको अपना ले। यह सोचना कि प्रेरणाका उन परिणामोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है जिनके बारेमें व्यक्ति पहिलेसे सोच लेता है, भ्रमपूर्ण है। आत्मप्रबुद्ध व्यक्ति जब कर्म करता है तो वह सम्पूर्ण परिस्थितिके बारेमें सचेत रहता है। वह अपने कर्मके परिणामको भरसक समझनेकी कोशिश करता है। वह जानता है कि उसका प्रभाव दूसरोंपर तथा स्वयं उसपर क्या पड़ेगा। प्रेरणासे किया हुआ कर्म साभिप्राय है। प्रेरणाको समझनेके लिए परिणामको सम-

झना अनिवार्य है। डाक्टरके लिए यह आवश्यक है कि जब रोगीको वह दवाई देता है तो यह समझ ले कि वह रोगीके लिए कैसी होगी। कर्म अपने-आपमें नैतिक नहीं होता। वह प्रेरणा और परिणामके सम्बन्धमें ही शुभ अथवा अशुभ है।

कांटने अपने सिद्धान्त द्वारा यह समझाया कि निरपेक्ष आदेश अपने-आपमें शुभ है। उसका ध्येय एवं परिणामसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

सद्‌गुण और आनन्द

कर्त्तव्यकी प्रेरणाके अतिरिक्त अन्य प्रेरणाओंको सुखकी प्रेरणा एवं स्वार्थी प्रेरणा कहकर उसने सुखको ध्येय माननेवाले सिद्धान्तोंको अनैतिक कहा है किन्तु जब पूर्णताके राज्यपर पहुँचते हैं तो वह कहता है कि पूर्ण जीवनमें अविच्छिन्न सुख है। परम शुभ आनन्दका समावेश करता है। नैतिकता बतलाती है कि सद्‌गुणके अनुपातमें आनन्द मिलेगा। किन्तु क्या ऐसा कथन नैतिक दृष्टिसे उचित है? यह सम्भव हो सकता है कि आनन्दकी प्राप्तिके लिए व्यक्ति नैतिकताको अपनाये, न कि उसे परम ध्येय मानकर। पुनः आनन्द बिना भावनाके सम्भव नहीं है। कांट स्वयं यह मानता है कि सद्‌गुणसे युक्त आनन्द शुभ है तथा सद्‌गुण तबतक परम रूपसे शुभ नहीं है जबतक कि वह आनन्दसे युक्त नहीं है। अतः इच्छाओं और भावनाओंकी तृप्ति नैतिक पूर्णताका अनिवार्य अंग है। नैतिक नियमका पालन करना अनिवार्य है। भगवान् उन्हींको पुरस्कार (सुखसे पुरस्कृत करता है) देता है जो इसका पालन करते हैं। ऐसा नैतिक नियम अपने-आपमें शुभ नहीं रह जाता। यह आनन्दसे सम्बन्धित है। व्यावहारिक बुद्धि उस आनन्दके निर्माणात्मक अंग जानना चाहती है जिसे कि अपने ध्येयके रूपमें प्रत्येक व्यक्ति खोजता है। उन सभी आवश्यकतओंको तृप्त करनेका प्रयास करना चाहिये जिनकी तृप्ति सुव्यवस्थित और संघटित जीवनमें सम्भव है। ऐसा करते समय यह बुद्धि विवेक या बौद्धिक आत्म-प्रेमके रूपमें अपनेको व्यक्त करती है। यह सुखके निर्माणात्मक अंगोंको निर्धारित करती है और साथ ही उनकी प्राप्तिके साधनोंको

बताती है। यह साध्य और साधन दोनोंको ही चुनती है। बौद्धिक प्राणी अपने विभिन्न ध्येयोंकी प्राप्ति सुसंघटित जीवनके अन्दर कर सकते हैं। ऐसा व्यापक बौद्धिक ध्येय सुख है। कांट यहतक मान लेता है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपना सुख खोजनेका अधिकार तबतक है जबतक कि उसमें और कर्त्तव्यमें विरोध उत्पन्न नहीं होता। कांटके सिद्धान्तमें जो सुखकी धारणाके बारेमें असंगति मिलती है उसका कारण यह है कि वह आत्म-कल्याणके स्वरूपको नहीं समझ पाया। आत्म-कल्याण कर्त्तव्य और सुखमें विरोध नहीं देखता है।

कांटके कठोरतावादका व्यावहारिक मूल्य

कांट यह भलीभाँति समझता था कि भावनाका दलदल भयंकर है, व व्यक्ति इसमें फँस गया तो उसकी मुक्ति दुर्लभ हो जायगी। किन्तु बुद्धिको आवश्यकतासे अधिक अपनानेमें यह भय नहीं है। अतः उसने प्रवृत्तियों, अभ्यासों और यहाँ-तक कि नैतिक भावावेशोंसे किये हुए कर्त्तव्यके अनु-रूप कर्मोंको शुभ नहीं कहा है। नैतिकता स्वस्थ और शान्त चिन्तनकी अपेक्षा रखती है। वह मानवीय (बौद्धिक) है। नैतिक भावावेशमें व्यक्ति कर्त्तव्यच्युत हो जाता है। वह भ्रममें पड़कर अपने ही अहम्, मिथ्याभिमान, आत्म-सन्तोष आदिको अभिव्यक्ति देता है। भावुकता, दयार्द्रता तथा सहानुभूतिसे प्रेरित कर्म श्लाघनीय हो सकते हैं किन्तु नैतिक नहीं। स्वाभाविक सहृदयता भी अनुचित कर्मोंको जन्म देती है। माँ बच्चेको स्नेहकी सहृदयताके कारण बिगाड़ देती है। कर्त्तव्यसे भिन्न, प्रेरणासे उत्पन्न कर्म—यश, धन आदिकी इच्छा—सद्गुणके अनुरूप हो सकते हैं, किन्तु वे सद्गुण नहीं हैं। मानव-दुर्बलताओंको समझनेके कारण ही कांटने यह कहा कि कर्त्तव्यकी प्रेरणासे किया हुआ कर्म उचित है। परिणाम, प्रवृत्ति, तत्कालीन आवेश, आत्मस्वार्थसे किये हुए कर्म नैतिक नहीं हैं। वे कर्त्तव्यके अनुरूप हो सकते हैं किन्तु वे कर्त्तव्यके लिए नहीं किये गये हैं। पूर्णरूपसे पवित्र संकल्प केवल कर्त्तव्यके लिए ही कर्म नहीं करता बल्कि वह शुभके प्रेमसे स्वभावतः कर्म करता है। प्रसन्न

हृदयसे किया हुआ कर्त्तव्य चरित्रके शुभत्वको प्रतिबिम्बित करता है। पवित्र संकल्प पूर्ण रूपसे शुभ है और यही परम नैतिक ध्येय है। यहाँपर कांट स्वीकार करता है कि जिस परिस्थितिमें मनुष्य है उसमें ऐसा संकल्प मिलना सम्भव नहीं है। कांटके लिए यह कहना अनुचित है कि उसने पारमार्थिक और उदार प्रवृत्तियोंको पूर्ण रूपसे पाशविक प्रवृत्तियोंकी श्रेणीमें रखा। वह ऐसी उच्च प्रेरणाओंसे प्रेरित कर्मोंको प्रोत्साहन, प्रशंसा और स्नेहके योग्य मानता है किन्तु नैतिक मूल्यसे युक्त नहीं करता। ऐसा करके उसने सचमुच अपने मानव-स्वभावके गूढ़ ज्ञानका परिचय दिया। मनुष्यका स्वभाव इतना जटिल है कि वह स्वयं अपनेको समझनेमें भ्रममें पड़ जाता है। जिन कर्मोंको वह निःस्वार्थ समझता है वे केवल निःस्वार्थताका आवरण पहिने होते हैं। ऐसी स्थितिमें कर्त्तव्यका सिद्धान्त उसका मार्गदर्शक बन जाता है और उसे उस कर्मकी ओर ले जाता है जो वास्तवमें उचित और बुद्धिको मान्य है।

निरपेक्ष नैतिक आदेशका महत्व

सुखवादके अनुसार नैतिक आदेश सुखकी प्राप्तिके लिए उपयोगी साधन हैं। ऐसे लाभप्रद नियमोंका पालन करनेवाला व्यक्ति व्यावसायिक बुद्धिसे काम लेता है। वह चतुर और दूरदर्शी है। सुखवादने ऐसे नियमोंके पालन करनेको उचित कहा है। उचित नियम वह है जो सुखप्रद है। ऐसी स्थितिमें उचित कर्म दूरदर्शितासे किया हुआ कर्म है। बुद्धिपरतावाद औचित्यके सिद्धान्तको स्वार्थी इच्छाओंसे पूर्ण रूपसे मुक्त करता है। औचित्यका व्यावसायिक विचारोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है और न विशिष्ट ध्येयोंसे ही सम्बन्ध है। वही कर्म उचित है जो परम आदेशके अनुरूप है। इस आदेशका ध्येय सार्वभौम है। प्रत्येक बौद्धिक प्राणीको इसे प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये। सुखवादियोंके अनुसार नैतिक आदेश 'चोरी नहीं करना चाहिये' आदिका व्यक्तिगत मूल्य है। अधिकतम सुखको ध्येय माननेवाला व्यक्ति उसी आदेशको मानेगा जो उसे सुख देता है। उसके लिए नैतिक आदेश अनिवार्य या निरपेक्ष रूप ग्रहण नहीं करते। बुद्धि-

परतावादियोंने इस तथ्यपर महत्व दिया कि नैतिक आदेश सार्वभौम और निरपेक्ष हैं, सापेक्ष नहीं हैं। उनका कहना है कि मनुष्यका वास्तविक रूप बौद्धिक है। यह मनुष्यका जन्मजात अधिकार है कि वह स्वतन्त्र है। बौद्धिक नियम अथवा आत्म-आरोपित नियमका पालन करना ही स्वतन्त्रता है। इसका निराकरण करना मनुष्यत्वका निराकरण करना है। कांटका औचित्यका नियम सार्वभौम मानदण्डको देता है; ऐसे वस्तुगत मानदण्डको देता है जो वैयक्तिक इच्छाओं और विशिष्ट ध्येयोंसे स्वतन्त्र है।

इतिहासको बुद्धि-परतावादकी देन

कांटने मुख्यतः यह समझानेका प्रयास किया कि बुद्धि ही मनुष्यका सारतत्व है। मनुष्यका संकल्प स्वतन्त्र है। वह बौद्धिक एवं आत्म-आरोपित नियमका पालन कर सकता है। यह नियम अनिवार्य और सार्वभौम है। मनुष्यमें व्यक्तित्व (बौद्धिकता) है। मानवता अपने-आपमें साध्य है। कांटका ऐसा सिद्धान्त अत्यन्त निःस्पृह हो गया है, इसमें सन्देह नहीं। ऐसे सिद्धान्तको अपनानेके कारण उसका स्वयंका जीवन भी विधिवत् और नीरस प्रतीत होता है। उसके व्यक्तित्वको लोगोंने बौद्धिक यन्त्रके रूपमें देखा। उसे सिद्धान्तोंका दास और स्वाभाविक सहृदयतासे शून्य माना। किन्तु उसके जीवन, आचरण और चरित्रका घनिष्ठ अध्ययन यह बतलाता है कि उसने कर्म, वचन और चिन्तनसे मानववादको अपनाया था। वह दयालु था। उसके भाषण गूढ़ होते थे। किन्तु उनमें परिहास इतना होता था कि विद्यार्थियोंके हँसते-हँसते आँसू निकल आते थे। स्त्रियोंका संसर्ग उसे प्रिय था। सामाजिक जीवनको भी वह अच्छा मानता था। भोजन वह अकेले कभी नहीं करता था। जनसम्पर्कका प्रिय होनेपर भी उसका अधिकांश जीवन जनसामान्यकी तुलनामें एकाकी और यन्त्रवत् बीता, ऐसा कहना कांटके प्रति अन्याय करना होगा। जो लोग उसके जीवनको एकाकी कहते हैं वह यह भूल जाते हैं कि 'दर्शन' उसका प्रिय सहचर था। दार्शनिक लोकके अद्वितीय आनन्दमें, विभिन्न समस्याओंके साथ वाद-विवाद करनेमें व्यतीत हुआ जीवन नीरसता और सूनेपनसे दूर है। कांटका दर्शन

अपने प्रतिभासित रूपमें अनाकर्षक, कठोर, असत्य और अव्यावहारिक है। इतिहास बतलाता है कि वह वास्तविक सत्यसे अछूता नहीं है। वह मनुष्य-जीवनके उस सत्यको अभिव्यक्ति देता है जो कि बाह्य परिस्थितियों-को अपने लिए खोखला पाता है। जब बाह्य आक्रमणों, आन्तरिक विरोधों एवं राष्ट्रीयपतनके कारण राष्ट्रकी संस्थाएँ व्यक्तिकी उच्च आकांक्षाओं और अभिलाषाओंको तृप्त नहीं कर सकीं तो वह अन्तर्मुखी हो गया। उसने अपने अन्दर उस सत्यको खोजना चाहा जो कि उसके गौरवके बोध और संकल्प-स्वातन्त्र्यको सुरक्षित रख सके। स्टोइक दर्शनका जन्म ऐसी ही परिस्थितिमें हुआ था। यूनानके स्वतन्त्र राष्ट्रीय जीवनके ह्रासके कारण मनुष्यने अपनी आन्तरिक शक्तियोंकी शरण ली। नागरिक और राजनीतिक जीवनके पतनसे उसमें एक नवीन जागरण हुआ। बुद्धिके आत्म-आरोपित नियमका पालन करनेवाला व्यक्ति स्वतन्त्र है। मानव-गौरवकी इस चेतनाने उसे आत्मनिर्भर होना सिखाया। विपरीत परि-स्थितियोंके बीच भी व्यक्ति अपनी मर्यादा और स्वाभिमानकी स्थापना कर सकता है। ऐसे सिद्धान्तकी बुराइयोंको देखते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि इसने उस तत्वको महत्व दिया जो मानव-जातिका सामान्य गुण है। प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक है और समान है। जहाँतक उसकी योग्यताओं, भावनाओं, इच्छाओंका प्रश्न है वे उसकी अपनी निजी और वैयक्तिक हैं। बुद्धिका सार्वभौम रूप मानव-बन्धुत्वकी धारणाको जन्म देता है। वह बतलाता है कि नागरिकोंका परस्पर सम्बन्ध बाह्य अथवा सहकारितामात्र नहीं है; वह आन्तरिक है। बुद्धि ही प्रत्येक व्यक्तिका आन्तरिक सत्य है। वह बतलाती है कि स्वतन्त्र नागरिक और दासमें कोई भेद नहीं है। बुद्धिपरतावादियोंके लिए जब हम यह कहते हैं कि उन्होंने विश्वबन्धुत्वकी धारणाको दिया तो हमारा ध्यान ईसाई धर्मकी ओर जाता है। जन-सामान्यको पारस्परिक निर्भरता और सहयोग—दया, प्रेम, त्याग आदि—की पारमार्थिक भावनाओंको देनेका श्रेय ईसाई धर्मको है। पर, यह धर्म जैसा कि कह चुके हैं, रहस्यात्मक और रागात्मक है, न कि चिन्तनशील

और व्यावहारिक। यही कारण है कि ईसाई विचारकोंके पूर्व बुद्धिपरतावादियोंने विश्वबन्धुत्वकी धारणाको सक्रिय रूपमें स्वीकार करके दास-प्रथाके विरुद्ध अपनी आवाज उठायी। बुद्धिके वास्तवमें दो कर्म हैं। एक ओर तो वह व्यक्तियोंको एक दूसरेसे युक्त करती और मिलाती है और दूसरी ओर प्रत्येकको उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रदान करती है। 'प्रत्येक व्यक्ति अपने-आपमें साध्य है,' इस तथ्यने कानूनी अधिकारोंके लिए उचित तर्क दिये। नैतिक क्षेत्रमें बुद्धिपरतावाद कितना ही अनुर्वर और निरुत्साहित रहा हो, राजनीतिक क्षेत्रमें यह उन कर्त्तव्यों और अधिकारोंका आधार बना जो 'रोमन कानून'के नामसे प्रसिद्ध हैं। इसने 'मनुष्यके अधिकारों'की ओर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे कानूनके विशेषज्ञोंका ध्यान आकर्षित किया, इसमें दो मत नहीं हो सकते। इङ्गलैण्डमें जो उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें कानूनी और राजनीतिक सुधार हुए उसमें उपयोगितावादका हाथ तो था ही, साथ ही वे कांटके सिद्धान्तसे प्रभावित थे। अथवा यह कहना अनुचित न होगा कि 'प्रत्येक व्यक्तिकी गणना एक है' और 'प्रत्येक व्यक्तिमें मनुष्यत्वकी पवित्रता है', इन दोनों कथनोंने समान रूपसे आधुनिक तथा विगत शताब्दीके समाजशास्त्रियों, सुधारकों, राजनीतिज्ञों और कानून विशेषज्ञोंको प्रभावित किया। इस व्यावहारिक देनके अतिरिक्त बुद्धिपरतावादियोंने इस जीवन्त सत्यकी ओर भी संकेत किया कि अभ्यास और प्रवृत्तियाँ कर्त्तव्यके मार्गमें रोड़ा अटकाती हैं। उनका यह कथन सत्यविहीन नहीं है। इसमें निहित सत्यांशकी पुष्टिके लिए पुनः इतिहासकी ओर देखना पड़ेगा। इतिहास बतलाता है कि वैयक्तिक और जातीय जीवनमें एक ऐसी स्थिति अवश्य आती है जब कि नकारात्मक और विरागात्मक तत्व प्रमुखता पाते हैं। नैतिक विकास उच्च प्रेरणाओंके प्रति निम्न प्रेरणाओंकी अधीनतापर आधारित है। कभी ऐसी विशेष परिस्थिति भी आती है जब कि निम्न प्रवृत्तियोंपर विजय प्राप्त करना उच्च प्रेरणाओंको महत्व देनेसे अधिक आवश्यक हो जाता है। अतः केवल उच्च प्रेरणाओंको महत्व देना पर्याप्त नहीं है। बुद्धिपरता-

वादियोंके विरुद्ध इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि निम्न प्रेरणाओंपर विजय तभी सम्भव होती है जब कि वे उच्च आकांक्षाओं और महान् अभिलाषाओं अथवा मूर्त ध्येयके लिए त्याग करती हैं, न कि केवल बुद्धिके रूपात्मक सिद्धान्तके लिए। ये तथ्य बतलाते हैं कि नैतिकता आत्म-संयम और आत्म-वर्जनसे प्रारम्भ होती है। नैतिक जीवनकी विभिन्न परिस्थितियोंका अध्ययन यह बतलाता है कि बिना त्याग और आत्म-वर्जनकी नकारात्मक प्रवृत्तियोंके नैतिक जीवन सम्भव नहीं है। जीवनके नकारात्मक पक्षसे पूर्णरूपसे स्वतन्त्र परिस्थितिकी कल्पना करना असत्य है। चाहे हम सुखवादियोंके साथ यह भी स्वीकार कर लें कि मनुष्यमें सुखकी इच्छा है, किन्तु यह एक अकाट्य सत्य है कि कष्टसहिष्णुताके लिए तत्पर रहनेकी क्षमता सद्गुणोंकी प्राप्तिका एक अनिवार्य अंग है।

अध्याय १७

सहजज्ञानवाद

सहजज्ञानवाद और अन्तर्बोध

प्रवेश

नैतिक निर्णयका आधार क्या है? कर्मके औचित्य-अनौचित्यको मापनेके लिए हम किस मानदण्डको स्वीकार करते हैं? कर्त्तव्यको कैसे समझते हैं?...आदि प्रश्नोंका उत्तर विभिन्न प्रकारसे दिया जा सकता है। एक वर्ग उन लोगोंका है जो रूढ़िग्रस्त तथा प्राचीन परिपाटीके उपासक हैं। उन लोगोंके अनुसार नैतिकता बाह्य नियमोंका अनुवर्तनमात्र है। दूसरे वर्गमें वे हैं जो उपयोगिताके आधारपर कर्मोंका मूल्याङ्कन करते हैं। उपयोगिता, साध्य और परिणामकी तुलनामें ही कर्मको उचित अथवा अनुचित कहते हैं। पुनः तीसरे वर्गके अन्तर्गत वे लोग आते हैं जो कर्मको अपने-आपमें शुभ अथवा अशुभ मानते हैं। इस भाँति यदि हम विभिन्न सिद्धान्तोंका अध्ययन करते जायँ तो हमें कर्मोंका मूल्याङ्कन करनेके लिए अनेक दृष्टिकोण मिलेंगे। वास्तवमें उन दृष्टिकोणोंके मूलमें नैतिकताकी दो प्रकारकी धारणाएँ हैं: नैतिकता शाश्वत, अद्वितीय तथा निरपेक्ष है और नैतिकता सापेक्ष, परिवर्तनशील तथा परिस्थितिजन्य है। पूर्वपक्षवालोंने नैतिक नियमों और विचारोंको अनुद्भूत और अकृत्रिम कहा है और उत्तर-पक्षवालोंने उद्भूत तथा कृत्रिम कहा है। उन पक्षोंके मूलमें हमें दो भिन्न वाद एवं सिद्धान्त मिलते हैं: सहजज्ञानवाद और प्रकृतिवाद।

नैतिकताको निरपेक्ष और शाश्वत कहनेवालोंने ही सहजज्ञानवाद (Intuitionism) को जन्म दिया। इन्ट्युशनिज्मकी व्युत्पत्ति लेटिन

सहजज्ञानवादका व्यापक अर्थ

शब्द इन्ट्यूर (Intueor) जिसका अर्थ 'देखना' अथवा 'साक्षात्कार करना' है, से हुई है। नीतिशास्त्रके क्षेत्रमें सहजज्ञानवादका प्रयोग उन सिद्धान्तोंके लिए किया जाता है जो यह मानते हैं कि मनुष्यको उचित और अनुचितके स्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान है अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता है। कर्मोंको उन्हींके आभ्यन्तरिक गुणोंके कारण शुभ या अशुभ कहते हैं, न कि उनके ध्येय या परिणामके कारण। कर्म इसलिए शुभ नहीं हैं कि उनकी सामाजिक उपयोगिता है अथवा वे सुखद हैं। कर्मोंका शुभ अशुभ होना न तो कर्तापर निर्भर है और न दर्शकों एवं निर्णायकोंपर बल्कि उन्हींके आभ्यन्तरिक गुणोंपर। इस तथ्यको समझानेके लिए कला और साहित्यका उदाहरण ले सकते हैं। किसी कविताको श्रेष्ठ इसलिए नहीं कह सकते कि वह किसी व्यक्तिविशेषको पढ़नेमें रुचिकर प्रतीत हुई, उसका रचयिता उसे अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति मानता है अथवा रचयिता विश्वविख्यात कवि है; वस्तुगत मानदण्डके आधारपर ही कविता अच्छी या बुरी है। सहजज्ञानवाद यह मानता है कि कर्मोंके आभ्यन्तरिक रूपको परखने तथा उनके औचित्य-अनौचित्यका तात्कालिक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए मनुष्यके पास नैतिक शक्ति अथवा अन्तर्बोध है। नैतिक शक्ति आन्तरिक शक्ति है। कर्मोंकी अच्छाई और बुराई परखनेके लिए मनुष्य बाह्य नियमोंकी सहायता नहीं लेता है। नैतिक शक्ति उसे कर्मोंका तात्कालिक ज्ञान देती है। इस शक्तिके स्वरूपको सहजज्ञानवादियोंने विभिन्न शब्दोंके प्रयोग द्वारा समझाया है: नैतिक बोध, अनिर्वचनीय शक्ति, नैतिक इन्द्रिय, अलौकिक शक्ति, बोधगम्य शक्ति, व्यावहारिक शक्ति आदि। ये विभिन्न शब्द यह बतलाते हैं कि सहजज्ञानवादको माननेवाले सब विचारक एकमत होकर यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्तिमें प्रत्यक्ष और सहजज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति है। इस अर्थमें सहजज्ञानवाद वह सिद्धान्त है जो यह कहता है कि आचरणपर नैतिक गुणज्ञ (Moral connoisseur) का निर्णय ही मान्य निर्णय है। किन्तु जहाँतक नैतिक शक्तिके स्वरूपका

प्रश्न है, उनमें पारस्परिक मतभेद है। उनके सिद्धान्तोंका अध्ययन इस भेदको स्वतः समझायेगा।

सहजज्ञानवादको भलीभाँति समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि वह प्रकृतिवादका विरोधी सिद्धान्त है। इस विरोधकी नींव प्राचीन यूनानी विचारकोंने डाल दी थी। सोफिस्ट्सने नैतिकताके मानदण्डको समझनेका प्रयास किया। उन्होंने यह जानना चाहा कि शुभ-अशुभको कैसे निर्धारित करते हैं। क्या नैतिक विभक्तियाँ वस्तुओंका आभ्यन्तरिक स्वभाव हैं, अथवा वे केवल अस्वाभाविक समझौतेका परिणाम हैं और उसके उत्तरमें उन्होंने अपने सन्देहवाद द्वारा यह समझाया कि नियमोंके मूलमें उपयोगिता, व्यावहारिक आवश्यकता एवं सुविधा है।

प्रकृतिवाद तथा सहजज्ञानवादका ऐतिहासिक विवाद

सोफिस्ट्सके पश्चात् हमें दो स्पष्ट वर्ग मिलते हैं। एक ओर सुकरात, सिनिक्स, प्लेटो, अरस्तू, स्टोइक्स हैं। उन लोगोंके अनुसार न्याय, संयम, कर्तव्य आदि सद्‌गुणोंका अस्तित्व प्राकृतिक एवं शाश्वत है। ये मनुष्य द्वारा निर्मित और निर्धारित नहीं हैं। ये आभ्यन्तरिक तथा वस्तुगत रूपसे शुभ हैं। इन लोगोंको, वास्तवमें सहजज्ञानवादियोंका पूर्वज कह सकते हैं। इनके साथ ही समान्तर रूपसे वह विचारधारा मिलती है (सिरेनैक्स और ऍपिक्यूरियन्स) जो कि प्रकृतिवादकी जन्मदात्री है।

प्रकृतिवाद और सहजज्ञानवाद, दोनोंके विवादका केन्द्र प्रकृति (Nature) है। हम प्रकृतिवादके अन्तर्गत कह चुके हैं कि 'प्रकृति' शब्द एकार्थी नहीं है। नीतिज्ञोंने इसका प्रयोग अपने-अपने ढंगसे किया है। ऐसा अनिश्चित और सन्दिग्ध प्रयोग कठिनाई उत्पन्न कर देता है। उदाहरणार्थ, कुछ ने उसे प्राकृतिक कहा है जो कि अलौकिक और दैवी प्रकाशकी तुलनामें अनुभवग्राह्य है; वह भी प्राकृतिक है जो अनिवार्य प्राकृतिक नियमोंका परिणाम है; वह भी प्राकृतिक है जो विकासके क्रममें उत्पन्न हुआ है और वह भी प्राकृतिक है जो गणितके सत्योंकी भाँति शाश्वत है तथा वह नैतिक नियम और बाध्यताएँ

भी प्राकृतिक हैं जो कि मनुष्यके ज्ञात स्वरूपका परिणाम हैं। ऐसे नियम अकृत्रिम, शाश्वत एवं प्राकृतिक हैं। वे मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं हैं। प्रकृतिवादने नैतिक नियमों और नैतिक निर्णयोंको अनिवार्य प्राकृतिक नियमोंसे उत्पन्न माना है। ऐसे नियम अपने-आपमें न तो नैतिक ही हैं और न अनैतिक ही। सहजज्ञानवादियोंने इन्हें शाश्वत माना है। सद्‌गुणोंके कृत्रिम अथवा अकृत्रिम रूपको समझानेके लिए सहजज्ञानवादियों तथा प्रकृतिवादियोंके पूर्वजोंने यह प्रश्न उठाया : क्या न्याय स्वाभाविक है अथवा रीति-रिवाजके कारण है ? ऐपिक्यूरियन्स और सिरेनैक्सने न्यायको रीति-रिवाजपर आधारित कहा और प्लेटो तथा उसके अनुयायियोंने शाश्वत एवं प्राकृतिक।

सहजज्ञानवाद और प्रकृतिवादने सदैव एक दूसरेका विरोध किया है। प्रकृतिवादके अनुसार नैतिक विचारकी उत्पत्ति हुई है। यह उद्‌भूत विचार है, नैसर्गिक नहीं। वह उन इच्छाओं और भावनाओंका परिणाम है जो निर्नैतिक हैं। उदाहरणार्थ, हॉब्सका कहना है कि आत्म-स्वार्थ और आत्म-संरक्षणकी इच्छाने नैतिक मान्यताओंको जन्म दिया और ह्यूमका कहना है कि सुख, आत्म-स्वार्थ, रीति-रिवाज तथा सहानुभूतिका ही मिश्रित परिणाम नैतिक विश्वास है। अथवा नैतिकता अनेक प्रकारकी भावनाओंका परिणाम है। स्पेंसरके अनुसार नैतिक विचार और नैतिक कर्तव्यकी धारणा वंशानुगत सहजप्रवृत्तियोंका परिणाम है। नैतिक विचारोंके पक्षमें केवल इतना ही कह सकते हैं कि जिन जातियोंमें यह गुण नहीं है वह जीवित नहीं रह पातीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृतिवादके अनुसार नैतिक विचार उद्‌भूत हैं। ये उन निर्नैतिक भावनाओं, इच्छाओं और सहजप्रवृत्तियोंके परिणाम हैं जो अपने प्रारम्भिक रूपमें नैतिक विशेषणोंसे युक्त नहीं थीं। धीरे-धीरे प्रकृतिके मानसिक अथवा भौतिक अनिवार्य नियमोंने उन्हें जन्म दे दिया। सहजज्ञानवादियोंने प्रकृतिवाद (विशेषकर हॉब्स और ह्यूम) के विपरीत यह समझाना चाहा कि नैतिक विचार और नैतिक सत्य मूलगत हैं। उनके

रूपको प्रकृतिवादियोंकी भाँति सरल करके अथवा भावनाओंका विभाजन करके (विभिन्न भावनाओंका मिश्रित परिणाम) नहीं समझा सकते। यही नहीं मूलगत नैतिक सत्योंका ज्ञान उन अन्ध प्राकृतिक नियम अथवा अनिवार्य नियमों द्वारा प्राप्त करना असम्भव है जो कि विवेकसे संचालित नहीं हैं, बल्कि मात्र यान्त्रिक हैं। नैतिक सत्योंको प्रकृतिवादियोंकी भाँति ऐतिहासिक पद्धतिको अपनाकर नहीं समझाया जा सकता बल्कि उनका हमें सहजज्ञान होता है। प्रत्येक व्यक्तिमें सहजज्ञानकी शक्ति है। इसीके द्वारा वह कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको समझता है। यह सम्भव हो सकता है कि कुछ लोगोंमें वह पर्याप्त मात्रामें विकसित न हो और उनको उचित रूपसे निर्देशित न कर सकती हो। ऐसी स्थितिमें इस शक्तिको शिक्षा और साधना द्वारा योग्य बना लेना चाहिये।

प्रकृतिवाद और सहजज्ञानवादका संकल्प-स्वातन्त्र्यके बारेमें भी मतभेद है। प्रकृतिवादी मनुष्यको प्रकृतिका ही अंग मानते हैं और कहते हैं कि मनुष्य बाह्य जगत एवं प्रकृतिके अनिवार्य नियमोंके अधीन हैं। कर्तव्यकी धारणाको उन्होंने कोई विशिष्ट स्थान नहीं दिया है। उनके लिए नैतिक कर्तव्यका अर्थ कर्म करनेका एक आवेगमात्र है। यह आवेग अपनी शक्तिके अनुरूप दूसरे आवेगोंकी ही श्रेणीमें आता है। सहजज्ञानवादी मनुष्यको मुख्यरूपसे नैतिक प्राणी मानते हैं और उसकी नैतिकतापर महत्व देते हुए कहते हैं कि अपने नैतिक विचारोंके कारण वह कुछ हदतक प्रकृति तथा अपने कर्मोंपर नियन्त्रण रख सकता है। नैतिक कर्म करना ही मनुष्यका धर्म है। कर्तव्यकी बौद्धिक एवं नैतिक चेतना ही उससे शुभ कर्म करवाती है, न कि प्रकृतिके अन्ध नियम। अथवा जैसा कि कांट कहता है कि 'नैतिक चाहिये' का अर्थ यही है कि मनुष्यका संकल्प स्वतन्त्र है। वह शुभ कर्मोंको उनके औचित्यके कारण कर सकता है। संक्षेपमें सहज-ज्ञानवादने यह समझाया कि मनुष्य शुभकी धारणाके अनुरूप कर्म कर सकता है और प्रकृतिवादने यह समझाया कि कर्मोंका भावीरूप उनके भूतकालीन रूपपर निर्भर है और भावी आदर्श शुभकी पूर्व-कल्पना हमारे

कर्मोंको वहींतक निर्धारित कर सकती है जहाँतक कि वह स्वयं अपनेसे पूर्वकी घटनाओंसे निर्धारित है।

प्रकृतिवाद और सहजज्ञानवाद दोनोंकाही भेद, वास्तवमें, यथार्थविज्ञान और आदर्शविधायक विज्ञानका भेद है। प्रकृतिवादकी प्रणाली वर्णनात्मक है। वह किसी नैतिक आदर्शको सम्मुख नहीं रखता। वह केवल यह समझानेका प्रयास करता है कि मनुष्यका स्वभाव क्या है ? हमारी शुभके बारेमें अथवा नैतिकताके बारेमें क्या धारणाएँ हैं ? स्वीकृत नैतिक मान्यताओंके उद्गमको हम कैसे समझा सकते हैं ? सहजज्ञानवादी यह समझानेका प्रयास करते हैं कि क्या होना चाहिये, शुभ क्या है ? वे नैतिक प्रश्नों और समस्याओंको उठाते हैं तथा नैतिक आदर्शको समझानेका प्रयास करते हैं।

अन्तर्बोधका व्यापक प्रयोग

सहजज्ञानवादियोंने जिस मानदण्डसे कर्मोंको मापा है वह अन्तर्बोधका मानदण्ड है। अन्तर्बोध उस नैतिक शक्तिका नाम है जो तत्काल ही कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यपर निर्णय दे देती है। अन्तर्बोधका क्या रूप है, उसकी परिभाषा क्या है, यह निश्चित रूपसे बताना कठिन है। प्रत्येक सहजज्ञानवादीने अपने ढंगसे उसके रूपको समझाया है। स्थूल रूपसे प्रत्येक सहजज्ञानवादी यह मानता है कि कर्म अपने-आपमें शुभ अथवा अशुभ हैं और मनुष्यके पास कर्मोंके इस आभ्यन्तरिक रूपको समझनेके लिए एक विशिष्ट शक्ति है। इस शक्तिको ही नैतिक शक्ति अथवा अन्तर्बोध कहते हैं। शब्द-व्युत्पत्तिके आधारपर कॉन्शेन्स (Conscience) लेटिन शब्द कॉन्सायर (Conscire) से लिया गया है, जिसका अर्थ होता है, बोध होना (अनुचितका) अथवा किसी वस्तुको समग्र रूपसे जानना या किसी स्थितिका सम्यक् ज्ञान। अन्तर्बोध सत्यका तात्कालिक ज्ञान देता है। ऐसे ज्ञानको कल्पना, चिन्तन अथवा तर्क द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते हैं। अन्तर्बोध शब्दका प्रयोग सहजज्ञानवादियोंके अतिरिक्त अन्य नीतिज्ञों एवं विचारकोंने भी किया है। अतः इसका सहजज्ञानी अर्थ समझनेके लिए हमारे लिए यह

अन्तर्बोध : उसका अर्थ

आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न सन्दर्भोंमें भी इसका अर्थ समझ लें।

कानूनके अनुसार अन्तर्बोध कोई विशिष्ट शक्ति नहीं है। यदि इसका कोई अर्थ है तो यही कि सामान्य अनुभव तथा बुद्धिकी सहायतासे उस स्थितिकी व्यापक कल्पना कर लेना जिसे कि कर्ता अपनाना चाहता है ताकि उसे यह पता चल जाय कि कानूनी दण्डका कोई भय नहीं है। वास्तवमें यह वैधिक नियमको जानना तथा उसकी धाराओं और उपधाराओंको समझना है। वैधिक नियमके अर्थको समझने और उसके अनुसार विभिन्न नियमोंका मूल्याङ्कन करनेकी शक्ति ही अन्तर्बोध है। यह वह शक्ति है जो व्यक्तिको इतनी सूझ तथा दूरदर्शिता दे देती है कि वह बाह्य रूपसे अपने आचरणको इस भाँति नियमित कर लेता है कि वह कानूनके अनुकूल हो जाता है। किन्तु ऐसी शक्ति एवं अन्तर्बोध नैतिक मूल्यरहित है। यह बाह्य आरोपित नियमका पालन दण्डके भय एवं पुरस्कारके लालचसे करवाता है। यह व्यक्तिकी सदसत् बुद्धिको दण्डका भय दिखलाकर चुप कर देता है।

कानून

धार्मिक विचारकोंने अन्तर्बोधको अधिकतर दिव्यवाणी या अन्तरात्मा-की ध्वनि कहा है। वे इसे भगवत् प्रेरणाके रूपमें स्वीकार करते हैं। भगवत् प्रेरणा अथवा अन्तःप्रेरणासे उचित अनुचितके परम निर्णय प्राप्त होते हैं। धर्म यह भी मानता है कि ईश्वर न्यायशील है। उसके निर्मित विश्वमें श्रेयके नियमोंका एक विधान है। उसने प्रत्येक व्यक्तिको इस विधानको समझनेकी शक्ति या अन्तःप्रेरणा दी है। अथवा धर्मके अनुसार विश्वमें सार्वभौम नियमोंका एक विधान है। अन्तर्बोध द्वारा व्यक्ति इस विधानके नियमोंको समझ सकता है। वही व्यक्ति श्रेष्ठ है जिसमें इन नियमोंका पालन करनेके लिए पवित्र एवं सत्य प्रेरणा होती है। यदि व्यक्ति इन नियमोंको समझने अथवा पालन करनेमें कठिनाई अनुभव करता है और उनके आधारपर विशिष्ट कर्तव्योंको निर्धारित नहीं कर पाता तो उसे चाहिये कि वह धर्मशास्त्रियों, पण्डितों, श्रुतिमर्मज्ञों, देवज्ञान अथवा प्रतिष्ठित

धर्म

धार्मिक पुस्तकोंकी सहायता ले। यहाँपर हम देखते हैं कि धर्मशास्त्रियोंने कानूनी ढंगकी चिन्तनपद्धतिको स्वीकार किया है। यदि कर्म धार्मिक विधानके नियमोंके अनुकूल है तो वह उचित है और यदि प्रतिकूल है तो वह अनुचित है। धर्मके नियम निश्चित नियम हैं। ऐसे निश्चित नियमोंका बुद्धि आविष्कार नहीं करती वरन् दिव्य आदेश उसके कर्मोंको निर्धारित करता है। दिव्य आदेशको हम आन्तरिक आदेश नहीं कह सकते हैं। यह आदेश बाह्य आदेश है और जिसे दिव्य वाणी अथवा अन्तरात्माकी ध्वनि कहते हैं वह व्यक्ति—महापुरुषोंका अपवाद मानकर—के धार्मिक संस्कार हैं। जिस पवित्र प्रेरणासे वह कर्म करता है वह आगामी अधिक सुखी जीवन अथवा पुनर्जन्ममें स्वर्गकी आकांक्षा है। जनसामान्यके सदाचारके मूलमें यह भय है कि न्यायशील सृष्टिकर्ता अन्यायीको दण्ड देगा।

सुखवाद

स्वार्थसुखवादियोंके अनुसार व्यावसायिक बुद्धिकाही नाम अन्तर्बोध है। वे यह नहीं मानते कि मनुष्यमें उचित अनुचितको समझनेकी कोई आन्तरिक शक्ति है। उनका यह कहना है कि जीवनका ध्येय आत्म-सुख है। उसकी प्राप्तिके लिए मनुष्यको व्यावसायिक बुद्धि एवं दूरदर्शितासे काम लेना चाहिये। कर्मोंके भावी परिणामोंको समझनेके लिए अथवा सुखप्रद कर्मोंको अपनानेके लिए सामान्यबोध, कल्पना और अनुमानकी आवश्यकता है। अनुभवके आधारपर उन कर्मोंकी गणना और अनुमान कर लेना चाहिये जो कि सुखप्रद और सम्पूर्ण जीवनके सुखकी प्राप्तिमें सहायक हैं। परार्थसुखवादने 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख'को सदाचारका मानदण्ड एवं नैतिक मानदण्ड माना है। सहानुभूति तथा अन्य उपार्जित परार्थभावनाएँ परार्थ कर्मके लिए मनुष्यको प्रेरित करती हैं अथवा विचारसाहचर्य तथा रुचिपरिवर्तनके नियमोंके कारण व्यक्ति परार्थभावनाओंको अपनेमें पाता है। जब बोध, कल्पना तथा अनुमानसे संयुक्त होकर सहानुभूति ज्ञान प्राप्त करती है तो वही अन्तर्बोधका काम करती है। अथवा प्रत्येक व्यक्तिका अन्तर्बोध उसके जीवनके अनुभवों और परिस्थितियोंकी उपज है। इसीके

कारण व्यक्ति कर्त्तव्य करनेके लिए प्रेरित होता है। विकासवादियोंने अन्तर्बोधको वंशानुगत गुणके रूपमें समझा है। उनका कहना है कि अन्तर्बोध एक सामाजिक सहजप्रवृत्ति या पूर्वजोंका संचित अनुभव है जिसे हम वंशानुगत गुणके रूपमें प्राप्त करते हैं। अतः व्यक्ति में यह सहजात है यद्यपि पूर्वजोंने इसे अनुभवसे उपार्जित किया है।

प्रचलित अर्थमें अन्तर्बोध नैतिक निर्णयकी वह शक्ति है जो यह बतलाती है कि कौन-से कर्म तथा कौन-सी प्रेरणाएँ शुभ हैं। इस अन्तर्बोधका न तो सामान्य नियमोंसे ही प्रत्यक्ष सम्बन्ध है और न उन निष्कर्षोंसे जिनका कि सामान्य नियमोंसे निगमन करते हैं। 'अपने अन्तर्बोधपर विश्वास रखो', 'अपने अन्तर्बोधके अनुरूप कर्म करो', 'अपने अन्तर्बोधको समझो', आदि वाक्य इस बातके प्रमाण हैं कि व्यक्तिका अन्तर्बोध अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। वह उसके कर्मोंको निर्धारित करता है। विशिष्ट कर्त्तव्योंको करनेका आदेश देता है। अन्तर्बोधकी ऐसी धारणा सरल, प्रत्यक्ष सहजज्ञानको महत्व देती है और साथ ही वह इस विश्वासपर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्तिका अन्तर्बोध उसे उचित मार्गकी ओर ले जाता है। इसलिए व्यक्तिको अन्तर्बोधके अनुसार कर्म करने चाहिये और नियमोंके फेरमें नहीं पड़ना चाहिये। नियमोंका जाल नैतिक विकासमें अवरोधक सिद्ध हो सकता है। तर्क और चिन्तन भी व्यर्थ हैं। इनके द्वारा किसी विशिष्ट परिणामपर पहुँचकर उसे अपनाना अनुचित है क्योंकि यह सहजज्ञानका तिरस्कार करना है। व्यक्तिको केवल अपने सहज तथा प्रत्यक्ष ज्ञानके अनुरूप कर्म करने चाहिये। अन्तर्बोधकी ऐसी धारणाको अपनानेवाले लोग बाह्य नियमों तथा चिन्तन-पद्धतियोंकी ओरसे उदासीनता दिखलाते हैं। यह दृष्टिकोण अति-सहज-ज्ञानवादी है। ऐसी स्थितिमें न तो सामान्य नियमोंकी आवश्यकता है और न नैतिक विज्ञानकी।

प्रचलित अर्थ

अन्तर्बोधकी उपर्युक्त सभी परिभाषाओंका अध्ययन यह बतलाता है कि उसे हम नैतिक शक्तिके रूपमें स्वीकार नहीं कर सकते। कानूनके

अन्तर्बोधकी उपर्युक्त परिभाषाओंकी सीमाएँ

क्षेत्रमें अन्तर्बोध अथवा उसके समानार्थी शब्दका कोई स्थान नहीं है। व्यापक कानूनी ज्ञानको ही अन्तर्बोध कह दिया गया है। धर्मशास्त्रियोंने अन्तर्बोधको जिस रूपमें स्वीकार किया है वह भी नैतिक दृष्टिसे मान्य नहीं है। नैतिक नियम आन्तरिक है किन्तु दिव्यवाणीका आदेश बाह्य है। वह केवल मनुष्यको निर्धारित नियमोंका पालन करनेके लिए अनुमति देती है। बाह्य आदेश द्वारा ही मनुष्यको पता चलता है कि उसे क्या करना है। उसकी बुद्धि स्वतन्त्र रूपसे इस तथ्यपर चिन्तन नहीं करती कि उसके लिए क्या करना वांछनीय है। व्यक्ति उस सेवककी भाँति है जो स्वामीकी आज्ञाको शिरोधार्य करना ही कर्त्तव्य मानता है। अतः हम देखते हैं कि मनुष्यकी बुद्धि नियमोंकी द्रष्टामात्र है। न तो वह शुभ नियमोंकी खोज एवं उनका आविष्कार करती है और न उसे यही बताती है कि नियम क्या है। वह व्यक्तिको निर्धारित नियमोंका पालन करनेके लिए अनुमतिमात्र देती है। सदाचारके नियमोंका पालन करनेकी सद्प्रेरणा रखनेवाला व्यक्ति अथवा सद्विवेकी जब जटिल परिस्थितियोंमें पड़ जाता है और सदाचारके नियमोंको समझनेमें असमर्थ हो जाता है तब उसे पण्डितों और धार्मिक पुस्तकोंकी सहायता लेनी पड़ती है। इस सहायताको प्राप्त करनेमें असमर्थ होनेपर वह जन-सामान्य द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तोंका आश्रय लेता है। अपने वैयक्तिक ज्ञानको उसकी दुहाई देकर पुष्ट करता है। किन्तु सामान्यज्ञानको प्राप्त करना सहजज्ञान प्राप्त करना नहीं है। मनुष्योंके सामान्यबोधके अनुरूप चलना अथवा आचरणके बारेमें सामान्य अनुमति प्राप्त करना और सहजज्ञान द्वारा कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित करना दो भिन्न सत्य हैं।

स्वार्थसुखवादने जिस व्यावसायिक बुद्धिको महत्व दिया है उसे हम नैतिक शक्ति नहीं कह सकते हैं। नैतिक शक्ति सदसद् बुद्धि है। वह कर्मोंको उनके सुखद परिणामोंके कारण शुभ नहीं कहती बल्कि उनके आभ्यन्तरिक गुणोंके कारण। इसी भाँति परार्थ सुखवादी तथा विकासवादी सुखवादी

भी नैतिक दृष्टिसे अन्तर्बोधका मूल्यांकन नहीं कर पाये। अन्तर्बोध आन्तरिक शक्ति है। उसे उपार्जित भावना अथवा वंशानुगत गुणके रूपमें नहीं समझाया जा सकता। सामान्य रूपसे अन्तर्बोधका जिस अर्थमें प्रयोग किया जाता है, उसे स्वीकार करनेमें भी अनेक कठिनाइयाँ हैं। यह एक अनुभवात्मक सत्य है कि सभी नैतिकताके प्रतिनिधियोंको एक प्रकारका सहज ज्ञान होता है और वह उनके मानसके नैतिक अनुभवका एक विशाल भाग होता है। किन्तु कुछ ही उनमें ऐसे होंगे जिन्हें, सैद्धान्तिक दृष्टिके अतिरिक्त व्यावहारिक दृष्टिसे भी, अधिक नैतिक ज्ञानकी आवश्यकताका अनुभव होता होगा। चिन्तनशील व्यक्ति जब अपने ही सहजज्ञानपर चिन्तन करते हैं तो वे उसे अकाट्य और असन्दिग्ध नहीं मान पाते। जब वे अपनेसे स्वयं पूछते हैं तो उन्हें तुरत उस नैतिक समस्याका स्पष्ट समाधान प्राप्त नहीं होता। एक ही व्यक्तिके अन्तर्बोधकी विभिन्न ध्वनियोंमें समानता नहीं मिल पाती है। जब वह समान परिस्थितियोंके विभिन्न कालोंके अपने अन्तर्बोधको समझनेका प्रयास करता है तो उसे उसमें संगति नहीं मिलती है। दो समान योग्यतावाले नैतिक प्राणियोंके अन्तर्बोधमें भी विरोध दीखता है। जिस कर्मकी एक सराहना करता है उसे दूसरा हेय कह देता है। ये विरोध, ये असंगतियाँ तथा असमानताएँ यह बतलाती हैं कि प्रत्येक व्यक्तिमें जो नैतिक निर्णयकी वैयक्तिक एवं विशिष्ट शक्ति मिलती है उसे हम प्रामाणिक नहीं कह सकते हैं। उनका अन्तर्बोध अधिकतर वैयक्तिक सीमाओं, संकीर्ण स्वार्थों तथा पूर्वग्रहोंसे दूषित हो जाता है। जिसे हम सहजबोध एवं अन्तर्बोध कहते हैं वह वास्तवमें व्यक्तिका अपना स्वार्थ, परम्परागत विचार अथवा अन्धविश्वास हो सकता है। अन्तर्बोधको प्रामाणिकता देनेके लिए और सन्देहसे मुक्त करनेके लिए सामान्य नियमोंका आश्रय लेना उचित है तथा सुव्यवस्थित चिन्तन द्वारा सर्वमान्य परिणामोंपर पहुँचना अनिवार्य है। अन्तर्बोधके नामपर किसी भी व्यक्तिके नैतिक बोधको स्वीकार करना अनुचित है। ऐसे अन्तर्बोधको महत्व देना उस वैयक्तिक चेतनाको महत्व देना है जो व्यक्तिकी औचित्यकी धारणा अथवा

वैयक्तिक सदाचारके मानदण्डके अनुरूप कर्मको उचित और प्रतिकूल कर्मको अनुचित कहती है। इसके आधारपर हम कह सकते हैं कि यदि व्यक्तिकी औचित्यकी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है तो उसके अन्तर्बोधके निर्णय भी भ्रान्तिपूर्ण होंगे अथवा उसका अन्तर्बोध गधे और सुकरात, साधु और असाधु, चोर और सन्त दोनोंमेंसे किसीका भी हो सकता है। अधिकांश व्यक्ति वैयक्तिक परिधियोंसे घिरे होते हैं। उनके निर्णय पूर्वग्रहोंसे युक्त तथा उपयोगिताकी धारणासे रंजित होते हैं। उनके आचरणका मानदण्ड वैयक्तिक, आत्मगत और संकीर्ण होता है। उनका चिन्तन उस निष्पक्षता, तटस्थता, एकरूपता और व्यापकताको नहीं अपना पाता जो उन्हें वस्तुगत तथा सार्वभौम मानदण्डका दिग्दर्शन करा सके। यही कारण है कि अनेक व्यक्ति अन्तर्बोधके प्रति सचेत होनेपर भी अपने त्रुटिपूर्ण सदाचारके मानदण्डके कारण अनैतिक आचरणको दृढ़तापूर्वक अपना लेते हैं। वास्तवमें ऐसे ही व्यक्ति उन्मत्त आचरण करते हैं। सहजज्ञानवादकी प्रणालियोंने इस दोषसे अन्तर्बोधको मुक्त करनेका प्रयास किया। उन्होंने अन्तर्बोधके सार्वभौम रूपको समझानेका प्रयास किया।

सहजज्ञानवादके अनुसार अन्तर्बोध-का अर्थ

सहजज्ञानवादके अनुसार अन्तर्बोध ही नैतिक शक्ति है। वह कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यका प्रत्यक्ष ज्ञान देती है। जैसा कि प्रारम्भमें कह चुके हैं, सहजज्ञानवादके अनुसार कुछ वस्तुएँ अपने-आपमें शुभ हैं और कुछ अशुभ। व्यक्तिके चाहनेपर न तो उनका मूल्य बढ़ता है और न, न चाहनेपर, घटता ही है। वस्तुओंके आभ्यन्तरिक गुणका ज्ञान व्यक्तिको अन्तर्बोध द्वारा मिलता है। सहजज्ञानवाद यह भी मानता है कि अन्तर्बोध एवं नैतिक निर्णयकी शक्ति प्रत्येक व्यक्तिमें सदैव वर्तमान रहती है। अतः वह समस्त सरल-जटिल परिस्थितियोंमें यह बतला सकती है कि व्यक्तिको क्या करना चाहिये। वह सदैव व्यक्तिके कर्मके स्वरूपको निर्धारित कर सकती है और तत्काल आदेश दे सकती है कि यह करो और यह न करो। उसके आदेश तात्कालिक होनेके साथ ही अद्वितीय भी हैं; तर्क अथवा

युक्ति द्वारा उसके निर्णयोंको प्रमाणित नहीं किया जा सकता। उसके निर्णय परम हैं; जो उचित है वह सदैव ही उचित रहेगा और जो अनुचित है वह सदैव अनुचित रहेगा। उसके निर्णय निरपेक्ष हैं; उन्हें किसी अन्य निर्णयके आधारपर अथवा किसी अन्य वस्तुके सम्बन्धमें सिद्ध नहीं कर सकते। उसके आदेश अपनी विशिष्टता रखते हैं; सत्यता, पराक्रम तथा आत्म-संयमका वह बिना कोई कारण दिये हुए अनुमोदन करता है। संक्षेपमें अन्तर्बोधके निर्णय प्रत्यक्ष, अद्वितीय, निरपेक्ष, अविश्लेषणीय और सहज होते हैं।

अन्तर्बोधको एक सर्वसामान्य शक्तिके रूपमें माननेके साथ ही सहजज्ञानवादी यह मानते हैं कि वह सब व्यक्तियोंमें समान रूपसे विकसित नहीं है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उसका कम विकसित रूप कम महत्व रखता है। सदाचारको अपनानेके लिए अन्तर्बोधका निर्णय ही एकमात्र निर्णय है। यह अवश्य है कि सुशिक्षित, चरित्रवान् तथा बौद्धिक रूपसे विकसित व्यक्तिके निर्णय कम शिक्षित तथा विवेकहीन व्यक्तित्वके निर्णयसे अधिक मान्य और विश्वसनीय होते हैं। इस भेदको स्वीकार करनेके साथ ही वे यह मानते हैं कि दोनोंके ही निर्णय परम और निरपेक्ष हैं। अन्तर्बोधके निर्णयोंके उक्त स्वरूपोंका यह अर्थ नहीं है कि वे बोधगम्य नही हैं। अंकगणितके स्वयंसिद्ध मूलसूत्रोंकी तरह अन्तर्बोधके निर्णयोंका ज्ञान बुद्धिग्राह्य और सहज है। साथ ही यह सच है कि उन निर्णयोंको शब्दों अथवा तर्क द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता एवं बौद्धिक प्रमाण नहीं दिया जा सकता और न सामान्यबोधकी दुहाई देकर ही सिद्ध किया जा सकता है। वह सामान्यबोधके भी ऊपर है। उसके विरुद्ध किसी प्रकारका भी कथन सम्भव नहीं है।

कुछ सहजज्ञानवादी अन्तर्बोधको एक प्रकारकी छठी इन्द्रिय मानते हैं। जिस भाँति हम नेत्रेन्द्रियसे यह स्पष्ट और प्रत्यक्ष देख सकते हैं कि किसी वस्तुका रंग क्या है, उदाहरणार्थ, आँख बतला सकती है कि दृश्य वस्तु लाल है अथवा पीली, उसी भाँति इस छठी इन्द्रियसे नैतिक मान्यताओंका प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो सकता है। वह कर्मोंके सदसत्का ज्ञान देती

है। पुनः जिस भाँति नेत्रेन्द्रिय जन्मजात एवं सहजात और सार्वभौमिक है उसी प्रकार नैतिक इन्द्रिय भी जन्मजात और सार्वभौमिक है। वह स्वतःजात और नैसर्गिक है। अन्तर्बोध सार्वभौमिक एवं सार्वजनीन है। वह सब व्यक्तियोंमें है। अन्तर्बोधको सार्वभौमिक कहनेके साथ ही सहज-ज्ञानवादियोंने कुछ अपवाद स्वीकार किये हैं। उनका कहना है कि ये अपवाद अन्तर्बोधकी सार्वभौमिकताका निराकरण नहीं कर सकते हैं। समान रूपसे नेत्रेन्द्रिय होनेपर भी कुछ लोग रंग-अन्ध होते हैं। उसी प्रकार कुछ व्यक्तियोंका अन्तर्बोध भ्रान्तिपूर्ण होता है। रंगान्धता यह सिद्ध नहीं करती है कि जनसामान्यको नेत्रों द्वारा रंगकी पहिचान नहीं हो सकती और कुछ लोगोंका भ्रान्तिपूर्ण अन्तर्बोध यह सिद्ध नहीं करता कि लोगोंमें सहजज्ञानकी शक्ति नहीं है। ऐसी स्थितिमें अन्तर्बोधको शिक्षित और मार्जित किया जा सकता है।

अन्तर्बोध सदसत्को पहिचाननेकी वह शक्ति है जो तत्काल बतला देती है कि वांछनीय और उचित क्या है, अपने-आपमें शुभ क्या है? जिस भाँति घ्राणेन्द्रियके लिए यह नहीं कह सकते कि जिस गन्धको वह बुरा कहती है वह गन्ध क्यों बुरी है उसी भाँति अन्तर्बोध किसी कर्मको शुभ या वांछनीय क्यों कहता है, यह नहीं कहा जा सकता। अन्तर्बोधके पक्ष अथवा विपक्षमें कोई बौद्धिक प्रमाण नहीं दे सकते हैं। अन्तर्बोधका निर्णय सब कालों, सब देशों और सब अवस्थाओंमें समान रूपसे सत्य है। अतः अन्तर्बोध द्वारा व्यक्ति प्रत्येक परिस्थितिमें अपने कर्त्तव्यको निर्धा-रित कर सकता है। उसे उसी कर्त्तव्य और नियमको स्वीकार करना चाहिये जिसे कि अन्तर्बोधका पूर्ण समर्थन प्राप्त हो। अन्तर्बोध ही नैतिकताका मानदण्ड और प्रमाण है।

सहजज्ञानवादका सिद्धान्त कहाँतक नैतिकताके मानदण्डको दे सका है, कर्मोंके औचित्यको निर्धारित करनेके लिए कितनी सम्यक् तुला दे सका है, यह सहजज्ञानवादके विभिन्न सिद्धान्तोंका अध्ययन ही बतायेगा।

अध्याय १८

सहजज्ञानवाद (परिशेष)

सहजज्ञानवादकी शाखाएँ

सहजज्ञानवादके विभिन्न रूप मिलते हैं। अपने प्रचलित रूपमें यह सामान्यबोधकी नैतिकता है। सामान्यबोधकी नैतिकता, जैसा कि हम अन्तर्बोधके प्रचलित अर्थकी चर्चा करते हुए कह चुके हैं, जनसाधारणके इस विश्वासको व्यक्त करती है कि प्रत्येक व्यक्तिमें कर्मोंके सदसत्को समझनेकी एक अद्वितीय शक्ति है। जहाँतक सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दीकी सहजज्ञानवादकी प्रणालियोंका प्रश्न है उनका प्रतिनिधित्व करनेवाले नीतिज्ञोंका अध्ययन हम प्रस्तुत अध्यायमें करेंगे। ये प्रणालियाँ आधुनिक नैतिक विचारधाराकी उपज हैं। हॉब्सके नैतिक सापेक्षवाद और ह्यूमके सन्देहवाद अथवा नैतिक सापेक्षवादके विरुद्ध इन प्रणालियोंने विद्रोह किया। हॉब्सके आलोचक दार्शनिक सहजज्ञानवादके अन्तर्गत आते हैं और ह्यूमके रूढ़िवादी सहजज्ञानवादके अन्तर्गत। कालक्रमकी दृष्टिसे दार्शनिक सहजज्ञानवादी प्रारम्भके हैं और रूढ़िवादी बादके हैं। दार्शनिक सहजज्ञानवादने नैतिक सहजज्ञानके अन्तर्तथ्यकी दार्शनिक व्याख्या करनेका प्रयास किया और अदार्शनिक एवं रूढ़िवादी सहजज्ञानवादने सामान्यबोधकी नैतिकताकी परिभाषा दी एवं उसे क्रमबद्ध किया। दार्शनिक सहजज्ञानवादके अन्तर्गत कुम्बरलैंड, हेनरी मूर, कुडवर्थ, क्लार्क और वुलेस्टन आते हैं। वे बौद्धिक सम्प्रदायके हैं। उन्होंने मानव-स्वभावके सामाजिक और बौद्धिक पक्षको समझाया। उनका कहना है कि अन्तर्बोध और बुद्धि समानधर्मी हैं। अन्तर्बोध

दार्शनिक और रूढ़िवादी शाखाएँ

भूल नहीं कर सकता और सहज रूपसे नैतिकताके प्राथमिक सिद्धान्तोंको समझा सकता है। नैतिक नियम शाश्वत, नित्य और स्वतःसिद्ध हैं। दार्शनिक सहजज्ञानवादका विकास नैतिक बोध (Moral Sense) के नामसे हुआ और इस शाखामें शैफ्ट्सबरी, हचिसन और मार्टिन्यू आते हैं। उन लोगोंके अनुसार अन्तर्बोध इन्द्रियजन्य है तथा नैतिक निर्णय प्रत्यक्ष और सहज होते हैं। मार्टिन्यूने अन्तर्बोधको नैतिक इन्द्रियके रूपमें समझाया है तथा शैफ्ट्सबरी और हचिसनने अपने सौन्दर्यबोधवादके आधारपर कहा कि नैतिकज्ञान नैतिक बोधसे होता है। उचित और अनुचितके भेदका सहजबोध सौन्दर्यबोधकी भाँति होता है। इसको हम बुद्धि द्वारा समझा सकते हैं। रीड और उसके अनुयायी रूढ़िवादी सहजज्ञानवादके प्रवर्तक हैं। उन्होंने सामान्यबोधके नामपर ह्यूमके सापेक्षवादका खण्डन किया।

पूर्वकालीन और उत्तरकालीन दोनों प्रकारके सहजज्ञानवादियोंमें जो अन्तर दीखता है वह बाह्य और स्थूल है। वास्तवमें इनके मूलगत विचारोंमें समानता है। नैतिक विचारोंको सापेक्ष और अस्वाभाविक एवं प्रत्युत्पन्न माननेवालोंके विपरीत ये दोनों ही समान रूपसे यह मानते हैं कि नैतिक निर्णयके मूलमें कुछ स्वतःसिद्ध तत्व हैं। शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, सद्गुण-अवगुण आदिका भेद नैसर्गिक है। मनुष्यमें इस भेदको समझनेकी नैतिक शक्ति है। उसे सदैव अपनी इस शक्ति एवं आन्तरिक प्रकाशके अनुसार कर्म करना चाहिये क्योंकि इसके द्वारा वह कर्मके आभ्यन्तरिक गुणका सहजज्ञान प्राप्त कर सकता है। कर्म अपने आन्तरिक गुणके कारण ही उचित अथवा अनुचित है, न कि अपने फल—सुख और दुःख—के कारण। नैतिक शक्ति ही कर्मोंके सदसत्का एकमात्र मानदण्ड है।

दोनोंमें मौलिक एकता है

दार्शनिक और रूढ़िवादी सहजज्ञानवादके अतिरिक्त सहजज्ञानवादका एक तीसरा रूप भी मिलता है। इस रूपको पूर्णतावादियोंने अपनाया है।

पूर्णतावादी सहजज्ञानवाद

पूर्णतावादियोंने सहजज्ञानवादकी विभिन्न शाखाओंकी कमियोंको दूर करते हुए उसके एक स्वस्थ रूपको सम्मुख रखा है। वह रूप क्या है? उन्होंने किस नैतिक मानदण्डको हमारे सम्मुख रखा? इन जिज्ञासाओंका समाधान सहजज्ञानवादकी आलोचनामें मिलेगा।

सहजज्ञानवादने हॉब्सकी आलोचनाके फलस्वरूप एक विशिष्ट सिद्धान्त के रूपमें अपना आधिपत्य प्राप्त किया। हॉब्सके आलोचकोंके रूपमें अनेक आलोचक एवं सहजज्ञानवादके अनुयायी मिलते हैं।

सहजज्ञानवाद : हॉब्सकी आलोचनाके रूपमें

वास्तवमें आधुनिक अंग्रेजी सहजज्ञानवादकी प्रणालियाँ (१७ वीं और १८ वीं शताब्दी) वे प्रणालियाँ हैं जिन्होंने हॉब्सके सिद्धान्तको अवास्तविक और अप्रामाणिक सिद्ध करना ही अपना ध्येय माना। हॉब्सने अपने राजनीतिक सिद्धान्त और नैतिक दर्शन द्वारा दो बातें सम्मुख रखी थीं : (१) उसने यह समझानेका प्रयास किया कि मनुष्य स्वार्थी है। समाज व्यक्तियोंका संघटनमात्र है। अतः वैयक्तिक शुभ सामाजिक शुभसे पूर्णतः भिन्न है। (२) आवश्यकताओंने ही स्वार्थी मनुष्यको सामाजिक समझौता करनेके लिए बाध्य किया। इस समझौतेके कारण ही उसने विभिन्न नियन्त्रणों और मान्यताओंको अपनाया। सामाजिक समझौता ही नैतिकताका जनक है अथवा उचित-अनुचितकी धारणाएँ सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं।

हॉब्सकी आलोचनाके रूपमें सहजज्ञानवादका अत्यधिक विस्तार हुआ। हॉब्सने शान्तिपूर्वक जीवनयापनके लिए सामाजिक नियमों एवं सामान्य नैतिक बोधके नियमोंको स्वीकार किया। इस अर्थमें

दो रूप : बौद्धिक, नैतिक बोध

उसका जड़वाद और स्वार्थवाद नैतिक दृष्टिसे ध्वंसात्मक न होनेपर भी कर्त्तव्यके नैतिक मूल्यको खोखला कर देता है। उसके विशुद्ध स्वार्थवादकी प्रतिक्रियाके रूपमें ही सहजज्ञानवादकी प्रणालियोंका ताँता बँधा। सत्रहवीं शताब्दीमें कम्बरलैण्ड और केम्ब्रिजके प्लेटोनिस्ट्सने मनुष्यके बौद्धिक और सामाजिक स्वभावको समझाते

हुए हॉब्सका तीव्र विरोध किया। इस विरोधके परिणामस्वरूप सहजज्ञान-वादकी दो स्पष्ट शाखाएँ सम्मुख आयीं : बौद्धिक सहजज्ञानवाद और नैतिक बोधवाद। बौद्धिक सहजज्ञानवादियों—विशेषकर कडवर्थ, क्लार्क, हेनरी मूर, वुलस्टन् आदि—ने यह समझानेका प्रयास किया कि नैतिक सत्य बुद्धिग्राह्य है। नैतिक प्रत्यय व्यक्ति, सम्राट् अथवा भगवान्‌के संकल्पपर निर्भर नहीं हैं। नैतिक नियमोंके शाश्वत और नित्यरूप एवं निरपेक्ष अस्तित्वको समझानेके लिए कडवर्थ और क्लार्कने यह कहा कि भगवान् भी नैतिक प्रत्ययोंके रूपको नहीं बदल सकते। उनका अस्तित्व स्वतन्त्र और निरपेक्ष है। ऐसी शाश्वत मान्यताएँ ही नैतिक श्रेयको निर्धारित करती हैं। अठारहवीं शताब्दीके अत्यधिक ख्यातिप्राप्त विचारक, बटलरने इसी विचारधाराको यह कहकर मान्यता दी कि नैतिक सत्यका हमें अन्त-र्बोध द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है जो एक प्रकारका बौद्धिक सहजज्ञान है। अन्तर्बोध नैतिक सिद्धान्तोंको सहज रूपसे समझ सकता है और उनका प्रयोग विशिष्ट कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यका मूल्यांकन करनेके लिए करता है। इस प्रकारके नैतिक निर्णय आनुषंगिक होते हैं। अन्तर्बोधके ऐसे स्वरूपको रेशडल यह कह कर समझाता है, "अन्तर्बोध न्यायका शास्ता है जिसके नियम विशिष्ट परिस्थितियोंमें उसी प्रकार बौद्धिक प्रणाली द्वारा प्रयुक्त होते हैं जिस प्रकार न्यायाधीश द्वारा विधानसभाके नियमोंका प्रयोग होता है।"

नैतिक बोधवादियोंने बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियोंकी आलोचना की और नैतिक बोध (Moral sense) को महत्व देकर समझाया कि यह मानना अनुचित है कि अमूर्त और नियमनिष्ठ बुद्धि हमारे कर्मोंको प्रभा-वित कर सकती है। इस सिद्धान्तका प्रतिनिधित्व करनेवाले विचारकों—शैफ्ट्सबरी और हचिसनने बुद्धिवादियोंके साथ यह स्वीकार किया कि नैतिक नियम परम और सार्वभौम हैं अथवा नैतिक विभक्तियाँ वस्तुगत हैं। इनका ज्ञान नैतिक बोध द्वारा प्राप्त होता है। यहाँपर बुद्धिवादियोंके विपरीत नैतिक बोधवादी यह समझाते हैं कि अन्तर्बोध नियमनिष्ठ बुद्धि नहीं

है, वह इन्द्रिय अथवा भावना भी है। नैतिक बोध कर्मोंके नैतिक गुणोंसे उसी भाँति प्रभावित होता है जिस भाँति सौन्दर्यका बोध वस्तुओंके सौन्दर्यसे। इन लोगोंने हॉब्सके परम स्वार्थवादको अपनी आलोचनाका मुख्य लक्ष्य माना और यह समझाया कि समाज स्वभावतः आवयविक समग्रता (Organic whole) है। व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध बाह्य अथवा मानव-निर्मित समझौतेपर निर्भर नहीं है। व्यक्तिका शुभ सामाजिक शुभसे पूर्णतः भिन्न नहीं है। ऐसी अनेक प्रेरणाएँ हैं जिनके कारण व्यक्ति प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे दूसरोंके सुखको स्वेच्छासे खोजता है। शैफ्ट्सबरी और उसके अनुयायियोंने आत्मप्रेम एवं सुख और सद्गुण एवं सामाजिक आचरणके विरोधके प्रश्नको उठाया। शैफ्ट्सबरीका कहना है कि इस जीवनमें उनमें पूर्ण ऐक्य मिलता है और उसके अनुयायियोंका कहना है कि परलोकमें वर्तमान जीवनका यह विरोध मिट जायगा। इन लोगोंने मनुष्यकी सामाजिक प्रवृत्तियोंकी ओर ध्यान आकर्षित करते हुए समझाया कि सामाजिक आचरणका सिद्धान्त केवल उस अमूर्त बुद्धिका सिद्धान्त नहीं है जो प्रायः स्वाभाविक आत्म-प्रेमके विरोधके रूपमें खड़ी होती है। मनुष्यके चिन्तनशील आत्मभाव और उसकी सामाजिक भावनाओंकी स्वाभाविकतामें सामान्य संगति है।

ह्यूमके नैतिक सापेक्षवाद या सन्देहवादके विरुद्ध स्कॉच शाखाने अपनी आवाज उठायी। अठारहवीं शताब्दीमें रिचर्ड प्राइस और टॉमस रीडकी विचारधारामें ब्रिटिश नैतिक सहजज्ञानवादने अपने विशिष्ट रूपको प्राप्त किया। अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भमें रीड और उसके अनुयायियोंने ह्यूमके सन्देहवादकी सामान्यबोधके नामपर कटु आलोचना की। उन्होंने समझाया कि दर्शन उन वस्तुओंका निराकरण नहीं कर सकता जिसे मानव-जातिकी सार्वजनीन चेतना स्वीकार करती है। लॉक और बर्कलेकी अनुभववादी और संवेदनात्मक प्रवृत्तियोंको उनके तार्किक परिणामपर पहुँचाकर ह्यूम यह कहता है कि हम

सहजज्ञानवाद : ह्यूमकी आलोचनाके रूपमें

सार्वभौम और निश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। उसी आधारपर वह सिद्ध करता है कि नैतिक नियम सार्वभौम और निश्चित नहीं हैं। वह यह स्वीकार करता है कि मनुष्य अपने आचरण और चरित्रपर नैतिक निर्णय देता है। प्रश्न यह उठता है कि यदि हमारा ज्ञान सम्भाव्य है तो हम आचरणपर निर्णय कैसे देते हैं? आचरणके औचित्य-अनौचित्यको निर्धारित करनेके लिए किस मानदण्डको स्वीकार करते हैं? ह्यूम कहता है कि अनुभव हमें यह बतलाता है कि मनुष्य उन गुणोंको—जैसे विनम्रता, परोपकारिता, मित्रता आदि—सद्गुण मानता है जिनकी कि सामाजिक उपयोगिता है। अतः ह्यूम हॉब्सकी भाँति समस्त प्रेरणाओंके मूलमें आत्म-स्वार्थको ही नहीं देखता वरन् सामान्य उपयोगिता और सहानुभूतिके आधारपर मनुष्यके सामाजिक आचरणको समझानेका प्रयास करता है। मनुष्यमें दूसरोंके सुखसे प्रभावित होनेकी क्षमता है। यहाँपर सामाजिक उपयोगिताके बदले सहानुभूतिको महत्व देते हुए वह कहता है कि सहानुभूतिके कारण मनुष्य कर्मोंके सामाजिक परिणाम एवं सामाजिक उपयोगिताकी चिन्ता नहीं करता। वह सहानुभूतिकी स्थितिमें उन कर्मोंका अनुमोदन करता है जो सामाजिक परिणाम के अतिरिक्त दूसरोंके लिए उपयोगी हैं और साथ ही वह उन कर्मोंका भी अनुमोदन करता है जो स्वयं उसके अथवा दूसरोंके लिए आनन्दकर अथवा प्रीतिकर हैं। अपने उपर्युक्त सिद्धान्तके कारण ह्यूम हॉब्सकी आलोचना करता है और उसके विरुद्ध सद्गुणकी यह परिभाषा देता है: सद्गुण उस मानसिक क्रिया या गुणको कहते हैं जो दर्शकमें अनुमोदनका सुखकर भाव उत्पन्न करता है। सद्गुणका सार उस भावनापर निर्भर है जो प्रत्यक्ष रूपसे देखनेवाले मानसमें प्रकट होती है। सद्गुणकी ऐसी परिभाषा नैतिक मान्यताओंकी वस्तुगत प्रामाणिकताका नाश कर देती है। नैतिक निर्णयको किसी भी व्यक्तिविशेषके मानसके भावोंके रूपमें समझाकर ह्यूम उनके सापेक्ष और व्यक्तिगत रूपको स्वीकार कर लेता है। उसके अनुसार सद्गुण और दुर्गुण वस्तुओंके सारभूत गुण होनेके बदले वे धारणाएँ हैं जो मानसमें हैं।

ह्यूमका नैतिक सापेक्षवाद, जिसके विरुद्ध सामान्यबोधकी नैतिकताके आधारपर रीड और उसके अनुयायियोंने अपनी आवाज उठायी, वास्तवमें उस विचारधाराका परम उत्कर्ष है जिसे शैफ्ट्सबरी और हचिसनने जन्म दिया। नैतिक बोधको नन्दतिक बोधके समान कहकर इन दार्शनिकोंने नैतिकताको मनुष्यके उस स्वभावके रूपमें समझाया जो नैतिक विभक्तियोंका भ्रान्तिमुक्त और तात्कालिक बोध प्राप्त करती है। नैतिक बोध एक प्रकारका सौन्दर्यबोध है। इसके द्वारा कर्मोंके सौन्दर्य-असौन्दर्यका ज्ञान प्राप्त होता है। यदि हम नैतिक बोधको स्वीकार करलें तो प्रश्न यह उठता है कि इसका अन्तर्तथ्य क्या है? हॉब्सने मनुष्यके सामाजिक आचरणको समझानेके लिए उसकी स्वार्थमूलक प्रवृत्तियोंकी विस्तृत व्याख्या की। नैतिक बोधवादियोंने हॉब्सके स्वार्थमूलक सुखवादकी आलोचना की और यह समझाया कि मनुष्यका स्वभाव सामाजिक है। शैफ्ट्सबरीके अनुसार आत्ममूलक और परार्थमूलक प्रवृत्तियाँ समान रूपसे स्वाभाविक हैं तथा सदाचारके मूलमें हम इन दोनोंका संतुलित अस्तित्व पाते हैं। इसी भाँति हचिसनने परोपकारको नैतिक बोधके अन्तर्तथ्यके रूपमें देखा। नैतिक बोधवादियोंकी भाँति ह्यूमने परोपकारके मूलमें मनुष्यका संवेदनशील एवं सहानुभूतिमूलक स्वभाव देखा। ह्यूमकी ऐसी आत्ममूलक व्याख्या और मनोवैज्ञानिक सापेक्षवादको रीड और उसके अनुयायियोंने स्वीकार करना उचित नहीं समझा। उनका कहना था कि कर्त्तव्यकी ऐसी आत्ममूलक व्याख्याको स्वीकार करना सामान्यबोधकी नैतिकताका उन्मूलन करना है। अतः स्कॉच विचारकोंने नैतिक सत्योंके वस्तुगत स्वरूप और परम प्रामाणिकताको समझाना अपना प्रमुख लक्ष्य माना। उन्होंने यह समझाया कि नैतिक सत्य स्वतःसिद्ध और सहज हैं। वे कहते हैं कि अन्तर्बोध मनुष्यका विशिष्ट नैतिक बोध नहीं है बल्कि यह बुद्धिका अपने नैतिक प्रयोगमें दूसरा पर्याय है। हमारे नैतिक नियम बुद्धिके, न कि भावनाके परम निर्णयोंमें परिणित हो सकते हैं। वे नैतिक नियमोंके सूक्ष्म अनुभवोंके रूपमें प्रयोग हैं। स्कॉच दार्शनिकोंका ह्यूमको उत्तर यह है कि नैतिक बोध

किसी प्रकारके आचरणके प्रति विशिष्ट रुचिका नाम नहीं है बल्कि वह मानव-जातिकी नैतिक बुद्धि या उनके सामान्य नैतिक बोधका नाम है या वह उनके स्वयंसिद्ध नैतिक सिद्धान्तोंका सामान्य बोध है। अतः उन्होंने यह समझाया कि सामान्य लोगोंके निर्णयोंमें स्वतःसिद्ध नैतिक सत्य अव्यक्त रूपसे वर्तमान हैं और दार्शनिक चिन्तन द्वारा हम इन्हें स्पष्ट और व्यक्त कर सकते हैं।

रीड और उसके अनुयायियोंने ह्यूमके विरुद्ध अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। उन्होंने इस बातपर महत्व दिया कि उचित और अनुचितका हमें सहज प्रत्यक्ष होता है। नैतिक सिद्धान्तोंका अपना स्वतन्त्र वस्तुगत अस्तित्व है। जिस प्रकार आँख भौतिक जगतके बारेमें बताती है उसी प्रकार नैतिक दृष्टि उचित-अनुचितकी मूलगत धारणाओंको हमारे सम्मुख रखती है। रिचर्ड प्राइस[1]ने भी यह समझानेका प्रयास किया कि शुभ अशुभकी धारणाएँ हमारे मानसके मात्र वे गुण नहीं हैं जो हमें कर्मों द्वारा प्राप्त होते हैं बल्कि वे कर्मोंके वास्तविक या आभ्यन्तरिक स्वभावके सूचक हैं और उनका ज्ञान हमें मानसकी तात्कालिक प्रत्यक्षकी शक्ति द्वारा प्राप्त होता है। उन्नीसवीं शताब्दीमें लिकिने[2] यह समझाया कि नैतिक विचारोंमें जो विशेष परिवर्तन हुए हैं उन्हें हम उपयोगिताके आधारपर नहीं समझा सकते बल्कि उन सामाजिक संस्थाओं द्वारा जिनका कि नैतिक विचारोंपर क्षोभजनक प्रभाव पड़ा, यद्यपि वे धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूपसे विकसित हुए। इसी शताब्दीके अन्तिम दिनोंमें मार्टिन्यू[3]ने कर्म और प्रेरणाओंकी विस्तृत व्याख्या द्वारा समझाया कि सहजबोधके सिद्धान्तोंका प्रयोग कर्मोंपर नहीं होता बल्कि प्रेरणाओंपर होता है और इसी कालमें सिजविकने भी आंशिक रूपसे सुखवादी नीतिशास्त्रको पुनः स्थापित करनेका प्रयत्न करते हुए कहा कि मानस स्वतःसिद्ध नैतिक सिद्धान्तका

---

१. Richard Price.

२. W. E. H. Lecky.

३ James Martineau.

ज्ञान प्रत्यक्ष रूपसे प्राप्त करता है ।[१]

वास्तवमें सहजज्ञानवादियोंने एक समवेत आघात उन सिद्धांतोंपर किया जिन्होंने नैतिक मान्यताओंको सापेक्ष माना। इन आलोचकोंने केवल ह्यूम या केवल हॉब्सकी आलोचना नहीं की बल्कि उन समस्त सिद्धान्तोंकी आलोचना की जो कर्मोंका नैतिक मूल्य उनकी उपयोगिता, परिणाम या व्यक्तिगत अनुभवके आधारपर आँकते हैं ।

आलोचना

नैतिक चेतनाके विकास[२]का अध्ययन करते समय हम देख चुके हैं कि जब व्यक्तिकी तर्कबुद्धि जाग्रत हुई और वह बाह्य नियमोंकी त्रुटियोंके प्रति सचेत हुआ तब वह अपने आन्तरिक नियम एवं मानदण्डकी ओर मुड़ा। वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि बाह्य आदेशों एवं बाह्य कसौटीको हम आचरणके मानदण्डके रूपमें स्वीकार नहीं कर सकते हैं। वह चेतना आन्तरिक नियमके विभिन्न रूपोंकी जन्मदात्री बनी। अन्तर्यामी, तटस्थ दर्शक, वास्तविक आत्मा, दिव्य ध्वनि, अन्तर्बोध, सहजबोध, नैतिक इन्द्रिय आदिकी धारणाएँ आन्तरिक मानदण्डको महत्व देती हैं। दार्शनिक और अदार्शनिक सहजज्ञानवाद इस मान्यतापर आधारित है कि नैतिक नियम आन्तरिक हैं। निःसन्देह नैतिक चेतनाके आन्तरिक स्वरूपका ज्ञान उसके विकास और समृद्धिका सूचक है किन्तु जबतक यह ज्ञान ध्येयकी धारणापर आधारित नहीं होता तबतक यह त्रुटिसे मुक्त नहीं हो सकता। जिस दृष्टिकोणसे भी आन्तरिक नियमको समझनेका प्रयास करें वह ध्येयकी धारणाके बिना अपूर्ण और अग्राह्य हो जाता है।

बिना ध्येयकी धारणाके आन्तरिक नियम अपूर्ण

हॉब्स और ह्यूमके सिद्धान्तोंके परिणामस्वरूप आन्तरिक नियम एवं उचित-अनुचितके सहजज्ञानको महत्व देनेवाले विचारक एक संघटित और

---

१. Hill—pp. 212-13.

२. देखिये—भाग १, अध्याय ८.

शृंखलाबद्ध रूपमें हमारे सम्मुख आये। ऐसे विचारकोंको दो अर्थोंमें समझा जा सकता है। एक ओर वे विचारक हैं जिन्होंने सहजज्ञानका व्यापक अर्थ किया है और दूसरी ओर वे, जिन्होंने संकीर्ण। व्यापक अर्थमें वे विचारक सहजज्ञानवादी हैं जिन्होंने स्वतःसिद्ध नियमोंको महत्व दिया है, न कि शुभकी उस धारणाको जिसके आधारपर नैतिक कर्मोंको शुभके लिए साधन मानते हैं। अपने संकीर्ण अर्थमें यह वह सिद्धान्त है जो नैतिक निर्णयोंको प्रत्यक्षबोधके उस रूपमें परिणत कर देता है जो अविभाजनीय है। यह वह सहज विश्वास है जिसकी बौद्धिक व्याख्या असम्भव है। इस अर्थमें बौद्धिक सहजज्ञानवादी और कांट सहजज्ञानवादी नहीं है। कांटने नैतिक निर्णयोंके मूलमें व्यावहारिक बुद्धिको माना है, न कि प्रत्यक्षबोधको।

सहजज्ञानवादके व्यापक और संकीर्ण अर्थ

सहजज्ञानवादियोंने अन्तर्बोधको किसी-न-किसी रूपमें स्वीकार किया है। अन्तर्बोध वह शक्ति है जो औचित्य-अनौचित्य अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य-का ज्ञान देती है? क्या अन्तर्बोधका आदेश निष्पक्ष और विशुद्ध है। अन्तर्बोधके स्वरूपका विश्लेषण बतलाता है कि मूलगत स्वभाव, वंशानुगत गुण, परम्परागत विचार, रूढ़ि-रीति, परिवार और परिवेशजन्य प्रभाव व्यक्तिकी नैतिक दृष्टिको सदैव आच्छादित किये रहते हैं। महान्से महान् नैतिक व्यक्तित्व भी इन प्रभावोंसे युक्त होनेके कारण इनके प्रति अचेत है। श्रेष्ठ विचारक, सन्त और महात्माओंका मानस अपने समय और देशके विचारों तथा मान्यताओंको अनायास ही अपना लेता है। शुद्ध चिन्तन एवं सत्यको समझनेके पहिले 'अपने मानसको पवित्र कर लो' कहनेवाले विचारक भी अपने कथनको आत्मसात् करनेमें सफल नहीं हो पाये हैं। सहजज्ञानवादके लगभग सभी प्रवर्तकोंने अपनी धार्मिक प्रवृत्तिके कारण ईसाई धर्मको अपना लिया और अपने नैतिक दर्शनमें इसीके आधारभूत तत्वोंको नैतिक तूलिकासे रँग दिया। यह निष्पक्ष चिन्तन द्वारा नैतिक दर्शनको प्राप्त करना नहीं है

अन्तर्बोधपर विश्वासोंका प्रभाव

बल्कि धर्मको नैतिक युक्तियों द्वारा पुष्ट करना है। कुछ ऐसे भी सहज-ज्ञानवादी हैं जो गणित और पदार्थविज्ञानसे प्रभावित होकर उसीका रूपक देते हैं और यह भूल जाते हैं कि यथार्थविज्ञान और आदर्शविधायक विज्ञानके विषय और क्षेत्रमें भिन्नता है। कुछ सहजज्ञानवादियोंने नैतिक इन्द्रियको छठी इन्द्रियके रूपमें माना है। वे भूल जाते हैं कि इन्द्रियोंके द्वारा हमें बाह्य जगतका ज्ञान प्राप्त होता है किन्तु नैतिक ज्ञान आन्तरिक ज्ञान है। यदि अन्तर्बोध कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णायक है तो इसे इन्द्रिय नहीं कह सकते और न इसे धर्म या परम्पराओंके उद्‌घोषकके रूपमें स्वीकार कर सकते हैं। ईश्वरज्ञानने और धार्मिक विचारकोंने जिस अन्तर्बोधको दिव्य ध्वनिके रूपमें स्वीकार किया है वह व्यक्तिकी वास्तविक आत्माकी ध्वनि नहीं है किन्तु शास्त्रों, धार्मिक पुस्तकों अथवा अधिकारी व्यक्तियों-का दिया हुआ मत है। सामान्यबोधकी नैतिकताने जिस अन्तर्बोधको स्वीकार किया है वह प्रचलित विचारों, परम्परागत मान्यताओं, विश्वासों और आस्थाओंका अन्तर्बोध है। यही कारण है कि अधिकांश व्यक्तियोंका अन्तर्बोध विषम परिस्थितियोंका सामना करते ही चुप हो जाता है। मनन-चिन्तन एवं तर्क-वितर्कके नामपर उनका सिर घूमने लगता है और वे सलाह-मशविरेके लिए किसी अधिकारी व्यक्ति की खोजमें भटकने लगते हैं।

हॉब्स और ह्यूमके विरुद्ध सहजज्ञानवादियोंने नैतिकताके निरपेक्ष अस्तित्वको समझानेका प्रयास किया। अन्तर्बोधका निर्णय परम और निर-पेक्ष है। इसके आदेशका पालन करना अनिवार्य है। अन्तर्बोधके एकाधिपत्यको समझानेके लिए यह समझाना आवश्यक है कि यह सदसत्‌का ज्ञान देनेके साथ ही कर्मका प्रेरक भी है। दार्शनिक और अदार्शनिक सहजज्ञानवादियोंकी यह भारी पराजय है कि वे अन्तर्बोधके इस रूपको नहीं समझा पाये। बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियोंका अन्तर्बोध भावनायुक्त नहीं है। वह कर्मका प्रेरक नहीं बन सकता है। ऐसे अन्तर्बोध अथवा अमूर्त बुद्धिकी धारणा नैतिक दृष्टिसे विशेष महत्व

अन्तर्बोधके स्वरूपकी भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या

नहीं रखती। बटलर अन्तर्बोधकी स्पष्ट व्याख्या नहीं करता है। वह इसका द्व्यर्थक प्रयोग करके अपने पाठकको अनिश्चितावस्थामें रहने देता है। नैतिक बोधवादियोंने इसकी तुलना नन्दतिक बोधसे करके अथवा इसे एक छठी इन्द्रिय मानकर भूल की। यह कहना आपत्तिसे रहित नहीं है कि नैतिक ज्ञान नेत्रेन्द्रियके ज्ञानकी भाँति तर्क-वितर्करहित प्रत्यक्ष ज्ञान है। ऐसे ज्ञानमें अधिक मतभेदकी सम्भावना नहीं है किन्तु व्यक्तियोंके नैतिक ज्ञानमें पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। यदि यह मान लें कि असमानता और विरोध भिन्न स्तरोंके विकासका सूचक है तथा उचित शिक्षा द्वारा सबके अन्तर्बोधका विकास किया जा सकता है तो साथ ही यह भी मानना होगा कि अन्तर्बोधका मानदण्ड उचित शिक्षा है। अन्तर्बोधको बुद्धिसे अगम्य नहीं माननेपर भी (इसका बौद्धिक स्पष्टीकरण सम्भव है) नैतिक बोधवादी इसके स्वरूपको नहीं समझा पाये। उन्होंने केवल यह मानकर सन्तोष कर लिया कि प्रत्येक व्यक्तिमें नैतिक बोध या नैतिक रुचि है और विभिन्न देशों और कालोंकी विभिन्न रुचियोंको एक सार्वभौम मानदण्डके आधारपर समझानेका प्रयास नहीं किया। ऐसा सिद्धान्त नैतिक दर्शनको मान्य नहीं है। वास्तवमें, नैतिक समस्या परम मानदण्डकी समस्या है। नैतिक बोधवादियोंके लिए यह आवश्यक था कि वे एक ऐसे व्यवस्थित सिद्धान्तको हमारे सम्मुख रखते जो व्यक्तियोंकी विभिन्न नैतिक रुचियों-पर प्रकाश डालता। हचिसन और शैफ्ट्सबरीने अनजाने ही इस आवश्यकताको समझा और मनुष्यके सामाजिक स्वभावके आधारपर रुचियोंको समझाया। उन्होंने यहाँतक मान लिया कि विकसित रुचि उसीका अनुमोदन करती है जो सम्पूर्ण समाजके लिए लाभप्रद है अथवा जो अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुखका उत्पादन करता है। पर ऐसा कथन नैतिक आपत्तिसे मुक्त नहीं है। नैतिकता उस सिद्धान्तको जानना चाहती है जिसका समान रूपसे सबपर प्रयोग किया जा सकता है, न कि केवल संस्कृत रुचिपर।

यह सभी स्वीकार करेंगे कि आचरणके औचित्य-अनौचित्यपर निर्णय

देनेवाले अन्तर्बोधका सम्बन्ध मानव-जीवनके क्रियात्मक पक्षसे है। अन्तर्बोध वह शक्ति है जो सदसत्‌के बोधके साथ ही कर्मकी प्रेरक भी बनती है। पर जैसा कि अभी देख चुके हैं, सहजज्ञानवादी इस सत्यको नहीं समझ पाये। वे अन्तर्बोधके उस स्वरूपको समझनेमें असमर्थ रहे जो बुद्धि, भावना तथा व्यक्तिकी सम्पूर्ण आत्माको अभिव्यक्ति देता है। बुद्धिवादी सहज ज्ञान-वादियोंका अन्तर्बोध भावनारहित होनेके कारण प्रेरणात्मक नहीं है और इस कारण व्यक्तिकी वास्तविक आत्मासे सम्बन्धित नहीं हो सकता। यदि अन्तर्बोध केवल बुद्धिका सूचक है तो कर्ताको भावनाका सहज सहयोग और अनुमोदन अथवा असहयोग और असमर्थन प्राप्त नहीं हो सकता और उसे कर्म करनेमें कठिनाई अनुभव होगी। व्यावहारिक जीवनमें अधिकतर देखा गया है कि यदि किसी कर्मको बुद्धिका अनुमोदन मिला हो और भावनाका न मिला हो, अथवा वह कर्म पश्चात्ताप और घृणाकी भावनासे युक्त हो गया हो तो व्यक्तिको कठिनाईका सामना करना पड़ता है। यदि अन्तर्बोध केवल बुद्धि या भावनामात्र है तो इन दोनोंके बीचकी द्वन्द्वकी स्थिति कैसे उपस्थित होती है? और इन दोनों विरोधी तत्वोंमें कौन-सा तत्व प्रधान है? क्या मुख्य तत्वके अधिकारको निर्धारित करनेके लिए एक नये मानदण्डकी आवश्यकता नहीं है? वह कौन-सा मानदण्ड है जो अन्तर्बोधके दोनों तत्वों—बुद्धि और भावना—को तृप्त कर सकता है?

बुद्धि और भावनाका द्वैत

सहजज्ञानवादियोंने जो अन्तर्बोधकी विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं वे बत-लाती हैं कि अन्तर्बोधके दो अंग हैं: भावना और बुद्धि। कुछ सहजज्ञान-वादियोंका कहना है कि वह बोधगम्य शक्ति है। वह नैतिक ज्ञान है। उसके निर्णय केवल तथ्यात्मक या तार्किक नहीं होते बल्कि मूल्यपरक होते हैं। वह साक्षी, न्यायाधीश, नियमका निर्माता या शास्त्रकार है। उसका आदेश बुद्धिका आदेश है। अनुचित कर्म करनेवालेको वह अपराधी कहता है। अन्तर्बोधकी बौद्धिक व्याख्या करनेवालोंके विपरीत वे विचारक हैं जो

अन्तर्बोधकी परिभाषामें सुधार आवश्यक है

उसके भावनात्मक स्वरूपको सम्मुख रखते हैं। स्थायी भाव, स्वाभाविक भावना, नैतिक इन्द्रिय आदिके रूपमें अन्तर्बोधको समझनेवाले उसे भावना-मात्र मानते हैं। अन्तर्बोधके निर्णय हमारे निर्णय हैं। इसलिए तज्जनित ग्लानि और पश्चात्तापकी भावना अत्यन्त तीव्र और असह्य भावना है। किन्तु साथ ही वे विचारक अन्तर्बोधको निर्णायक भी मानते हैं और यह भूल जाते हैं कि भावना अपने आपमें गूँगी तथा निर्णय देनेमें असमर्थ है। अन्तर्बोधके अभिन्न तत्वोंमें भेद देखनेवाला सहजज्ञानवाद अमनोवैज्ञानिक और असत्य तथ्यपर आधारित है। वह अपने-आपमें अपूर्ण है। अन्तर्बोध हमारी सम्पूर्ण आत्माका नाम है, न कि उसके विशिष्ट अङ्गका। सहजज्ञान-वादियोंके लिए यह आवश्यक है कि वे अन्तर्बोधकी परिभाषामें सुधार करें और उसके स्पष्ट स्वरूपको हमारे सम्मुख रखें। सहजज्ञानवादियोंका अन्त-र्बोध सम्पूर्ण आत्माका प्रतिनिधित्व नहीं करता। वह एक विशिष्ट शक्तिकी भाँति है और उस पूर्ण आत्माका सूचक नहीं है जो अपने कर्मोंपर निर्णय देती है और जिसके आदेश आत्म-आरोपित आदेश हैं। अन्तर्बोधको अनि-र्वचनीय, अद्वितीय अथवा विशिष्ट शक्ति कहकर वे आलोचनाका आवाहन करते हैं। यदि वह अनिर्वचनीय शक्ति है तो वह हमारी आत्मा नहीं है। उसके आदेश बाह्य आदेश हैं। किन्तु नैतिकता उस नियमका स्वतन्त्रता-पूर्वक पालन करना है जिसे कि आत्म-प्रबुद्ध इकाई अपने स्वभावके विभिन्न निम्न अङ्गोंपर आरोपित करती है। अन्तर्बोधकी आवाज वास्तविक आत्माकी आवाज है। उसके आदेश आन्तरिक एवं आत्म-आरोपित हैं। आन्तरिक होनेके कारण वह आदेश 'चाहिये'का आदेश है, न कि आज्ञा या 'करो'का।

अन्तर्बोधकी सार्वभौमिकता सन्देहप्रद है

सभी सहजज्ञानवादी यह मानते हैं कि अन्तर्बोध सहज और अनुद्भूत है। उसके निर्णय सहज और उसके आदेश परम होते हैं। वह सर्वसामान्य है और इसलिए जन्मजात और सार्वभौम है। वह आत्मसंयम, सत्यता और पराक्रमका समर्थन करता है और असंयम, असत्य तथा छलकी भर्त्सना करता है। उसके निर्णय प्रत्यक्ष, अद्वितीय, निरपेक्ष तथा परम

और सार्वभौम होते हैं। अतः जहाँतक उसके निर्णयों और आदेशोंका प्रश्न है, जाति, राष्ट्र, देश और कालका भेद मिथ्या है। क्या अन्तर्बोध नैतिक नियमके परम मानदण्डको दे सकता है? इस प्रश्नसे हमें भारी निराशा होती है क्योंकि विभिन्न देश-कालके नैतिक नियमोंका अध्ययन बतलाता है कि वे विरोधी आदेश देते हैं। उनके विरोध और असंगतिसे धीर व्यक्ति भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। वास्तविक यह है कि उचित और अनुचितके सामान्यतः स्वीकृत सिद्धान्तोंके आधारपर ही अन्तर्बोध कुछ कर्मोंका तत्काल समर्थन और कुछका असमर्थन करता है। यदि अन्तर्बोध स्वीकृत सिद्धान्तोंका छद्मवेश है तो वह सार्वभौम कैसे हो सकता है? ऐसी स्थितिमें व्यक्तिके अन्तर्बोधको महत्व देना भूल है। किसी भी व्यक्तिविशेषका अन्तर्बोध उसकी उस चेतनाको व्यक्त करता है जो कि उसीके उचितके मानदण्डके अनुरूप कर्मको शुभ और प्रतिकूलको अशुभ कहती है। ऐसी स्थितिमें यदि व्यक्तिका मानदण्ड त्रुटिपूर्ण है तो उसका अन्तर्बोध भी त्रुटिपूर्ण होगा। अथवा व्यक्तिका अन्तर्बोध साधु और असाधु, दोनोंमेंसे किसीका भी हो सकता है। यह भी सम्भव है कि व्यक्ति अन्तर्बोधके नामपर अपने ही सामान्यबोधसे काम ले। ऐसी स्थितिमें अन्तर्बोध आत्मगत, वैयक्तिक और सापेक्ष है, वह सार्वभौम और सहज नहीं है। ऐसा अन्तर्बोध प्रचलित मान्यताओं और परिवेशजन्य प्रभावके कारण रूढ़िवादी होता है और अपनी हठधर्मीके कारण विकास और उन्नतिमें बाधक सिद्ध होता है। इन कठिनाइयोंसे मुक्त होनेके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उचित और अनुचितके परम मानदण्डकी खोज करें तथा उसके स्वरूपको निर्धारित करें। यह कहना पर्याप्त नहीं होगा कि नैतिक नियमोंके सापेक्ष और परिवर्तनशील होनेपर भी सब व्यक्ति कमसे कम एक स्वरसे उचित और अनुचितको स्वीकार करते हैं। ऐसे सिद्धान्तको वह विज्ञान स्वीकार नहीं कर सकता जिसका ध्येय आचरणके नियमोंपर प्रकाश डालना तथा उस ध्येयको समझाना है जो मूर्तिमान् कल्याण है। उचित-अनुचितके मानदण्डके अस्तित्वको स्वीकार करना और उसके स्वरूपको निर्धारित न कर

सकनेकी असमर्थताको मानना नैतिक विज्ञानकी हार स्वीकार करना है। इस प्रकार अन्तर्बोध अपने उस अधिकारको छोड़ देता है जिसकी शक्तिसे वह शक्तिशाली है।

सहजज्ञानवादियोंने नैतिक सत्योंको सहज कहकर उनकी परम प्रामाणिकताको सिद्ध करना चाहा किन्तु नैतिक सत्यको स्वतःस्फुरित कहना और उसे विवेकसम्मत या प्रामाणिक सिद्ध करना, दो भिन्न बातें हैं। विकासवादके आधारपर यह समझाया जा सकता है कि कोई भी सिद्धान्त केवल गौण रूपसे सहज है और वह भी व्यक्तिके लिए। आचरणके क्षेत्रमें विकासके सिद्धान्तका निराकरण नहीं कर सकते। उसमें निहित सत्यांश सहायक सिद्ध हो सकता है। इतिहास बतलाता है कि व्यक्ति और राष्ट्रके चरित्रमें विकासके साथ परिवर्तन हुआ है। इस परिवर्तनको एक ओर सामाजिक रीति-रिवाजों एवं सामाजिक जीवनके रूपमें समझा जा सकता है और दूसरी ओर वैयक्तिक विश्वासों तथा सहजात विचारोंके रूपमें। किसी भी देश और कालके व्यक्तिके लिए उसके युग और देशकी नैतिकता, यहाँ तक कि वे छोटे-छोटे परिवर्तन जो वातावरणजन्य हैं, उसके मानसमें परम और अनिवार्य 'बाध्यताके रूपमें' प्रकट होते हैं। जिस जाति और समाजमें वह पला है उसकी नैतिक चेतना उसमे केन्द्रित और घनी हो जाती है। वह अपनी जाति, राष्ट्र और युगका बालक है अतः बहुत-कुछ वह इनसे दाय-रूपमें ग्रहण कर लेता है। व्यक्तिके स्वभावका ऐसा विश्लेषण बतलाता है कि जिन नैतिक तत्वोंको हम निरपेक्ष, मौलिक और अनुद्भूत कहते हैं उनको दो दृष्टिसे समझा जा सकता है : आत्मगत और वस्तुगत। आत्मगत रूपसे आचरणका वह नियम जो व्यक्तिके लिए स्वयंसिद्ध और सहजात है, जातिके उन अनुभवोंका सामान्यीकरण हो सकता है जिसे कि जातिने अपने आचरणको जीवनकी विविध परिस्थितियोंके साथ संयोजित करनेमें पाया हो। जब हम नैतिक सिद्धान्तोंके निरपेक्ष रूपका वस्तुगत रूपसे अध्ययन करते हैं तो हमें वे स्थायी नहीं दीखते, किन्तु उनमें अनवरत

विकासवाद और सहजज्ञानवाद

परिवर्तन मिलता है। नैतिक चेतना परिवर्तित होती रहती है और इस परिवर्तनके मूलमें व्यक्ति और समाज दोनों ही हैं। व्यक्तिका आन्तरिक परिवर्तन समाजमें प्रतिबिम्बित होता है और समाजका व्यक्तिमें। अथवा हम कह सकते हैं कि नैतिक नियम सापेक्ष और परिवर्तनशील हैं, सार्व-भौम और अनिवार्य नहीं हैं। यही नहीं, नैतिक सत्योंका परिस्थिति और विकासके साथ परिवर्तन, संवर्धन और उन्नयन होना आवश्यक है अन्यथा वे जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें असमर्थ हो जायँगे। कर्त्तव्योंका द्वन्द्व बतलाता है कि निरपेक्ष नियमकी धारणाको बिना ध्येयकी धारणाके समझना मिथ्या है। नियमको कर्मके उस ध्येयके सन्दर्भमें समझना चाहिये जिसके लिए वह साधन है और जिसके कारण ही वह नियम प्रभुत्व प्राप्त करता है।

सहजज्ञानवादियोंके अनुसार अन्तर्बोधके निर्णय सार्वभौम और निरपेक्ष हैं। वे प्रत्येकपर समान रूपसे लागू हैं। जीवनकी विविधांगी समस्याएँ बतलाती हैं कि सहजज्ञानवादियोंका ऐसा कथन मान्य नहीं है। कोई भी नियम अथवा आदेश सब परिस्थितियोंमें समान रूपसे उचित नहीं हो सकता।

अन्तर्तथ्यशून्य अन्तर्बोध

परिस्थितिके अनुरूप आदेश परम और अनिवार्य होते हैं। 'मुझे करना चाहिये' से 'तुम्हें करना चाहिये', पर पहुँचना अनुचित है। 'मुझे करना चाहिये' और 'तुम्हें करना चाहिये ये दोनों ही कथन भिन्न परिस्थिति, भिन्न व्यक्तित्व एवं भिन्न कर्त्तव्यके सूचक हैं। प्रत्येक व्यक्तिका कर्त्तव्य परिस्थितिविशेषके सन्दर्भमें ही समझा जा सकता है। अतः अपना कर्त्तव्य निर्धारित करते समय यह जानना आवश्यक है कि मेरे लिए इस परि-स्थितिमें क्या करना उचित है। आचरणके नियमको सार्वभौम और स्थायी मानना भ्रान्तिपूर्ण है। उसका व्यावहारिक रूप सदैव परिवर्तनशील और सापेक्ष रहेगा। नियमका स्थायित्व उसके ध्येयपर निर्भर है। जिस ध्येयके लिए नियम उपयोगी है वह परम है। ध्येयकी धारणाको न समझ सकनेके कारण ही नैतिक आदेशोंमें जो विरोध दीखता है उसे सहजज्ञानवादी नहीं

समझा पाये। इसी कारण हम अन्तर्बोधको नैतिक आचरणका निर्देशक और आधार माननेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं। जब हम यह जाननेका प्रयास करते हैं कि अन्तर्बोधका अन्तर्तथ्य क्या है तो हमें निराशा होती है। सहजज्ञानवादियोंने यह माना है कि मानव-जातिकी चेतनामें नैतिक सत्य वर्तमान है। कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको समझनेकी शक्ति प्रत्येक व्यक्तिमें वर्तमान है यद्यपि वह सबमें समान रूपसे विकसित नहीं है। इस अर्थमें अन्तर्बोध किसी व्यक्ति विशेषका अन्तर्बोध नहीं है किन्तु सार्वभौम अन्तर्बोध है। इसको बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है। ऐसा सिद्धान्त सामान्यबोध-का सिद्धान्त है और सामान्यबोधको मानकर हम कठिनाईमें पड़ जाते हैं। यदि हम यह मान लें कि अन्तर्बोध किसी व्यक्तिविशेषका नहीं है बल्कि वह एक युगका या युगके लोगोंका है तो हम उसे सबमें समाने रूपसे नहीं पाते हैं। देश और कालकी भिन्नताके साथ अन्तर्बोधमें भिन्नता होना तो साधारण बात है, वह एक ही समय और स्थानमें भी भिन्न होता है। उसके आदेश अनिश्चित हैं। इस भिन्नताका क्या कारण है? क्या इसके मूलमें मनुष्यकी स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति है? ध्येयकी धारणापर अन्तर्बोधके नियमको आधारित करते ही सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। अन्तर्बोध कोई अनिर्वचनीय अगम्य शक्ति नहीं है। उसके आदेशोंका स्पष्टीकरण और बौद्धिक विश्ले-षण किया जा सकता है। उन्हें विधानकी एकतामें बाँधा जा सकता है। विरोध और असंगतियोंके मूलमें संगतिको देखा जा सकता है। जब हम अन्तर्बोधके आदेशों और निर्णयोंकी ध्येयके सम्बन्धमें व्याख्या करते हैं तब हमें मालूम हो जाता है कि कौन-सा सारहीन और कौन-सा सारयुक्त है। उसके आदेशोंका सम्बन्ध वास्तवमें मानव-कल्याणकी प्राप्तिके लिए विभिन्न परिस्थितियोंमें कर्मकी उपयोगितासे है। ऐसी स्थितिमें उसके आदेश अनि-श्चित और सन्दिग्ध होनेके बदले निश्चित, असन्दिग्ध और विश्वसनीय होते हैं। इस भाँति जब अन्तर्बोधके निर्णयोंके पीछे हम परम सत्य एवं परम शुभको समझने लगते हैं तो उसके आदेश उतने ही स्पष्ट और सुगम हो जाते हैं जितना कि यह कथन कि प्रत्येक कार्यका एक कारण अवश्य है

या २+२=४।

नैतिक बोधवादियोंने नैतिक चेतनाके भावात्मक पक्षको महत्व दिया और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा कर्त्तव्यको नैतिक रुचिके आधारपर समझाया। ह्यूमने कर्त्तव्यके अनुभवात्मक एवं आत्मगत पक्षको ही महत्व दिया और उसके वस्तुगत रूपसे विमुख हो गया। स्कॉच शाखाने नैतिक सिद्धान्तोंके वस्तुमूलक और परम प्रामाणिक स्वरूपको समझानेका प्रयास किया। पर उनका यह प्रयास असफल रहा। उन्होंने किसी गूढ़ सिद्धान्तको नहीं दिया बल्कि सामान्यबोधकी नैतिकताका समर्थन किया। अन्तर्बोधको उन्होंने नैतिक व्यवहारमें लिप्त बुद्धि माना। उनके अनुसार अन्तर्बोध विशिष्ट रुचिका नाम नहीं है बल्कि वह मानव-जातिकी नैतिक बुद्धि है। यहाँपर वे व्यक्तियोंके सामान्यबोधके निर्णयोंको स्वीकार कर लेते हैं और कहते हैं कि सामान्य व्यक्तियोंके नैतिक निर्णयोंमें नैतिक सिद्धान्त अव्यक्त रूपसे वर्तमान है। उनके रूपको बुद्धि द्वारा व्यक्त और स्पष्ट करना दर्शनका काम है। हम ऐसे सहज सत्योंको कैसे जान सकते हैं? स्कॉच दार्शनिकोंके सिद्ध करनेकी प्रणाली प्रत्यक्ष नहीं है। उनका कहना है कि नैतिक सत्य स्वयंसिद्ध हैं तथा वे सब प्रमाणोंके आधारभूत सत्य हैं। अतः वे स्वयं प्रमाणित नहीं किये जा सकते। ऐसे परम सत्योंको अस्वीकार करना, जिनकी कि प्रमाण अपेक्षा रखता है, उस परम सन्देहवादको अपना लेना जो कि ह्यूमके सापेक्षवादका परिणाम है। किन्तु क्या ऐसा कहकर स्कॉच दार्शनिक ह्यूमके सापेक्षवादका खण्डन कर पाये? क्या वे नैतिक नियमोंके वस्तुगत स्वरूपकी स्थापना कर पाये? यदि हाँ, तो वे अपने स्वत्वकी रक्षा कर पाये अन्यथा वे अपने ध्येयमें हार जाते हैं। ह्यूमने अनुभव और उपयोगिताके आधारपर उन नैतिक नियमोंके प्रकट बौद्धिक स्वरूपको समझाया जिसे कि सामान्यबोध परम मानता है। स्कॉच दार्शनिक ह्यूमके सिद्धान्तका खण्डन करनेके बदले सामान्यबोधकी नैतिकताका हठपूर्वक समर्थन करते हैं। सामान्यबोधकी पुनःस्थापना करना ह्यूमके दर्शनको सारहीन बतलाना नहीं है। यहाँपर यह मानना ही तर्कसम्मत

होगा कि स्कॉच दार्शनिकोंकी सहजज्ञानवादी प्रणाली रूढ़िवाद और हठवादसे युक्त है। वे सामान्यबोध या सामान्य अन्तर्बोध और चिन्तनप्रधान बुद्धिको एक ही मानकर यह दिखलाना चाहते हैं कि सामान्यबोधकी जो स्वयंसिद्ध मान्यताएँ हैं वही नैतिक चिन्तनकी भी स्वयंसिद्ध मान्यताएँ या परम सत्य है। अतः स्कॉच दार्शनिकोंकी जो एकमात्र देन है वह दार्शनिक नहीं है, बल्कि उन्होंने सामान्य नैतिक चेतनाके निर्णयोंको ही बौद्धिक आवरण देना चाहा। जनसाधारणकी भाँति उन्होंने सभी नैतिक नियमोंको परम मान लिया और इसलिए नियमोंके विरोधोंको एकताके सूत्रमें नहीं बाँध पाये। सामान्यबोध ध्येयकी धारणाके प्रति सचेत नहीं हैं। यही कारण है कि वे नैतिक नियमोंके विधानको नहीं समझ पाये। उस संगति और सामञ्जस्यका स्पष्टीकरण नहीं कर सके जो नैतिक विज्ञानके लिए आवश्यक है। यह संगति तभी सम्भव हो सकती है जब कि विभिन्न नियमोंको परम एकताके सिद्धान्त एवं परम ध्येयके सन्दर्भमें समझा जाय। सामान्यबोधके लिए जो स्वयंसिद्ध है वह नैतिक चिन्तनके लिए भी अनिवार्यतः स्वयंसिद्ध नहीं है। नैतिक विज्ञानके लिए यह आवश्यक है कि वह मानव-जीवनके लिए नैतिक जीवनकी बौद्धिकता और अनिवार्यताको समझाये। नैतिक निर्णयोंका स्पष्टीकरण करके उन्हें विधानकी एकतासे युक्त कर दे।

उपर्युक्त दृष्टिसे सामान्यबोधकी नैतिकता एवं स्कॉच सहजज्ञानवादके दर्शनपर विचार करनेपर घोर निराशा हाथ आती है। ये दोनों दर्शन नियमोंमें संगति और सामञ्जस्य स्थापित नहीं कर पाये और उस एकताके सिद्धान्तको नहीं समझा पाये जो नियमोंके स्वरूपका स्पष्टीकरण कर सकता है और उस शुभके प्रति तटस्थ रहे जिसके लिए अनन्त नियम उपयोगी हैं। सामान्यबोधकी प्रामाणिकताको सिद्ध करनेके प्रयासमें सहजज्ञानवाद रूपात्मक हो गया है। वह नियमानुसारिताको अपना लेता है। पर नियमोंके अस्तित्व, प्रामाणिकता और उपयोगिताको उस परम शुभके आधारपर नहीं समझाता है जिसकी वे अपेक्षा रखते हैं। इस अर्थमें सहज-

ज्ञानवादको हेतुवादी होना चाहिये। नियमोंको सामान्यबोधके नामपर स्वीकार करना रूढ़िवादी और अनालोचनात्मक दृष्टिकोणको अपनाना है। नैतिक सिद्धान्तोंको स्थायी और शाश्वत कहना तथा उनकी परम प्रामाणिकताको मानना और हेतु एवं ध्येयको समझनेका प्रयास न करना उस दृष्टिकोणको अपनाना है जो निष्पक्ष, विवेकसम्मत और मान्य नहीं है।

स्कॉच दार्शनिकोंके इस अदार्शनिक सहजज्ञानवादको सिजविकने भलीभाँति समझा है। उसने अपने दर्शन द्वारा दार्शनिक सहजज्ञानवादको पुनः स्थापित करनेका प्रयास किया है। अपने दर्शनके निर्माणात्मक अंगमें वह आत्महित और परहितके बीच भटकता रहता है। इसका मूल कारण यही है कि वह उस ध्येय या एकताके सिद्धान्तको भूल जाता है जिसके आधारपर आत्महित और परहितके सापेक्ष मूल्यको हम समझा सकते हैं। नैतिक दार्शनिकके लिए यह कहना पर्याप्त नहीं है कि नियम स्वयंसिद्ध है।

पूर्णतावादी सहजज्ञानवादियोंने उपर्युक्त कमीको दूर करते हुए बतलाया कि परम शुभके सम्बन्धमें ही प्रत्येक नियमको समझाया जा सकता है। परम शुभकी धारणा आत्मासे भिन्न नहीं है। परम शुभ वह परम ध्येय है जिसे मनुष्य बौद्धिक एवं नैतिक होनेके कारण प्राप्त करना चाहता है। ध्येयके स्वरूपका ज्ञान एवं आत्मज्ञान नैतिक नियमका जनक है।

पूर्णतावादकी सहजज्ञानवादको देन

नैतिक नियम आत्म-आरोपित है। आत्म-आरोपित आदेशका पालन करनेवाला व्यक्ति स्वतन्त्र है। उसकी आत्मा उसे बतलाती है कि 'यह करना चाहिये'। यह आदेश अनिर्वचनीय एवं अद्वितीय शक्ति तथा वास्तविक आत्मासे भिन्न शक्तिकी आज्ञा नहीं है। वह 'यह करो' का आदेश नहीं देता। सहजज्ञानवादियोंकी अन्तर्बोधकी परिभाषाको परिवर्द्धित करते हुए कहा जा सकता है कि अन्तर्बोध सम्पूर्ण आत्मा है। सम्पूर्ण आत्मा ही अपने कर्मोंपर निर्णय देती है। अन्तर्बोधकी ध्वनि आत्माकी ध्वनि है। नैतिकताकी धारणा ध्येयकी धारणापर आधारित है, न कि नियमकी धारणापर। वही नियम सत्य है जो आन्तरिक एवं आत्म-

आरोपित है। उसी अन्तर्बोधका आदेश परम और वास्तविक है जो वास्तविक आत्मा है। अन्तर्बोध सम्पूर्ण आत्मा है जो अपने अंगोंका नियमन करता है। नैतिकता उस नियमका पालन करना है जिसे एक आत्म-चेतन प्राणी अपने स्वभावकी विभिन्न अप्रमुख प्रवृत्तियोंके अनुशासनके लिए अपने ऊपर स्वेच्छासे आरोपित करता है। यही कारण है कि सत् पुरुष अपने कर्मों द्वारा अपनी पूर्णता प्राप्त करता है।

महत्वपूर्ण देन नैतिकताका निरपेक्ष रूप

अपनी दुर्बलताओंके अतिरिक्त सहजज्ञानवादियोंने नैतिकताके महत्व-पूर्ण रूपकी ओर ध्यान आकर्षित करके उसे प्रसिद्धि दी। यदि विकास-वादियोंने नैतिकताके सापेक्ष और परिवर्तनशील रूपको समझाया तो सहजज्ञानवादियोंने शाश्वत, नित्य और निरपेक्ष रूप को। नैतिकताका इतिहास मानव-जातिके उच्छृङ्खल परिवर्तनोंका इतिहास नहीं बल्कि क्रमबद्ध विकासका इतिहास है। इसका कारण यह है कि इस विकासके मूलमें एक अपरिवर्तनशील शाश्वत तत्व है। वह तत्व वैयक्तिक रुचियों, नैतिक नियमों और अभ्यासोंसे अधिक गूढ़ है। वह गूढ़ आधारभूत शाश्वत तत्व स्वयं नैतिक आदर्श है। जो विभिन्न नैतिक प्रत्यय और नियम हमें दीखते हैं वे वास्तवमें इसी आदर्शकी विभिन्न कालों, देशों, परिस्थितियों और व्यक्तियोंमें अभिव्यक्ति है। अतः इस आदर्शका अधिकार परम है और इसका आदेश निरपेक्ष है। इस आदर्शके कारण ही नैतिक नियम भी अधिकार और प्रभुत्वको प्राप्त करते हैं। विभिन्न नियम वे विभिन्न प्रयास हैं जिनके द्वारा लोग इस आदर्शको प्राप्त करना चाहते हैं। नियम आदर्शके लिए साधनमात्र हैं। अतः नियमोंका रूप निश्चित और निर्धारित करना कठिन है। परिस्थिति, देश, काल, वैयक्तिक सीमाएँ, मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व आदि नियम एवं कर्त्तव्यके रूपको निर्धारित करते हैं। नैतिक व्यक्तिके लिए यह समझना आवश्यक नहीं कि निर्धारित परिस्थितिमें 'मुझे क्या करना चाहिये' बल्कि यह जानना आवश्यक है कि 'मुझे अपनी स्थितिमें क्या करना चाहिये'। आदर्शको समझनेके लिए मात्र नियमोंके बाह्य रूपको समझना

व्यर्थ है। उस सर्वसामान्य ध्येयको समझनेका प्रयास करना चाहिये जो इन नियमोंको जन्म देकर इन्हें अर्थगर्भित करता है। सहजज्ञानवादियोंने नैतिक विभक्तियोंको परम कहकर नैतिक आदर्शके निरपेक्ष रूपको मान्यता दी किन्तु नैतिक विज्ञान इतनेसे ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इस आदर्शको समझनेकी जिज्ञासा पूर्णतावादकी ओर ले जाती है।

अध्याय १९

सहजज्ञानवाद (परिशेष)

कुछ महत्वपूर्ण सहजज्ञानवादी

कम्बरलैंड और केम्ब्रिजके सहजज्ञानवादियोंने, जो प्लेटोके मूलगत सिद्धान्तको स्वीकार करनेके कारण 'केम्ब्रिज प्लेटोनिस्ट्स'[१] कहलाये, नैतिक विचारोंकी नित्यता और स्थिरताको सिद्ध करनेका प्रयास किया और साथ ही उन्होंने मनुष्यकी बौद्धिक और सामाजिक प्रकृतिको भी समझाया। इन विचारकोंने ही बुद्धिवादी सहजज्ञानवाद[२]को जन्म दिया। बादको इसी विचारधाराका विकास 'नैतिक बोधवाद'के नामसे हुआ। कम्बरलैंड और केम्ब्रिजके सहजज्ञानवादियोंने हॉब्सके विरुद्ध यह कहा कि नैतिक निर्णय शाश्वत और निरपेक्ष हैं, रूढ़िगत और कृत्रिम नहीं। वे बुद्धिकी अभिव्यक्ति हैं न कि संकल्प की, चाहे वह संकल्प मनुष्यका हो या ईश्वरका। हॉब्सने नैतिक विभक्तियोंको सामाजिक समझौतेके द्वारा समझाया और ईश्वरनिष्ठ विचारकोंने उन्हें भगवत् संकल्पकी अभिव्यक्ति कहा। पर बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियोंका कहना है कि नैतिक विभक्तियोंका अस्तित्व लोकमत और सामाजिक समझौतेसे स्वतन्त्र है, इसलिए नैतिक विभक्तियाँ न तो मनुष्यके और न भगवान्‌के ही स्वतन्त्र संकल्प या शक्ति द्वारा निर्धारित हो सकती हैं।

बुद्धिवादी सहजज्ञानवाद : परिचय

कडवर्थ

कडवर्थ[३] जो कि केम्ब्रिज प्लेटोनिस्ट्स का नेता था, इस वर्गका सबसे

१. Cambridge Platonists.
२. Rational Intuitionism.
३. Ralph Cudworth 1617–1688.

प्रसिद्ध विचारक हुआ। उसने हॉब्सके परम स्वार्थवाद और प्रकृतिवादके विपरीत यह बतलानेका प्रयत्न किया कि नैतिक मान्यताओं एवं नैतिक विभक्तियोंका, वैयक्तिक एवं सामाजिक विचार, लोकमत, सिद्धान्त अथवा सामाजिक समझौतेसे स्वतन्त्र, अपना निश्चित और निरपेक्ष अस्तित्व है।

नैतिक विभक्तियाँ शाश्वत हैं

ईश्वरविद्याको माननेवाले धर्मनिष्ठोंके विरुद्ध वह कहता है कि भगवान् अपने कर्म नैतिकताके शाश्वत और अनिवार्य प्रत्ययोंके अनुरूप निर्धारित करते। अतः मात्र संकल्प शुभको अशुभ या अशुभको शुभ नहीं बना सकता है। शुभ और अशुभकी धारणाएँ शाश्वत हैं, वे संकल्पकी उपज नहीं हैं। नैतिक विभक्तियाँ वस्तुओंके आभ्यन्तरिक गुणोंकी सूचक हैं, उनका वस्तुगत अस्तित्व है।

प्लेटोसे प्रभावित होकर कडवर्थ हॉब्सके संवेदनवादी अनुभववादकी आलोचना करते हुए कहता है कि संवेदनाएँ स्थायी सत्ताका ज्ञान नहीं दे सकती हैं। ज्ञानके वास्तविक विषय सार्वभौम प्रत्यय हैं और वे बोधगम्य हैं। उनका ज्ञान अनुभव-निरपेक्ष है, संवेदनजन्य नहीं। नैतिक प्रत्ययों, उदाहरणार्थ, कर्त्तव्य, न्याय आदि, का हम अनुभव नहीं कर सकते : स्पर्शेन्द्रिय, नेत्रेन्द्रिय, रसेन्द्रिय द्वारा हम उनका स्पर्श, दर्शन और आस्वादन नहीं कर सकते हैं। वे प्रत्यय सार्वभौम, नित्य और शाश्वत हैं, प्रत्युत्पन्न, अकृत्रिम और स्वार्थजन्य नहीं। नैतिक नियम वस्तुओंके सारमें निहित हैं, अथवा शुभ वस्तुगत और स्वाभाविक है। नैतिक प्रत्यय वे प्रत्यय हैं जो कि बुद्धिसम्मत हैं। अतः गणितके सत्योंकी भाँति नैतिकताके सत्योंका सम्बन्ध विशिष्ट संवेदनोंसे नहीं किन्तु वस्तुओंके बोधगम्य और सार्वभौम तत्वसे है। वे उतने ही चिरन्तन हैं जितना कि वह शाश्वत मानस जिसकी सत्ता इनसे अभिन्न है।

प्लेटोका प्रभाव

कडवर्थ यह मानता है कि भगवान् मूल मानस हैं। उनके मानसमें विज्ञान और नैतिकताके शाश्वत विचारोंका मूल प्रतिरूप है। विज्ञान और नैतिकताके सत्योंके ज्ञानका मूलस्रोत एक ही है। कृतिबुद्धि और विचार-

वैज्ञानिक और नैतिक सत्योंका सादृश्य

बुद्धि एक ही है। नैतिकताके विचार उतने ही वस्तुगत और नित्य हैं जितने कि विज्ञानके विचार। शुभ और अशुभकी विभक्तियोंकी वस्तुगत सत्ताको बुद्धि द्वारा उसी भाँति समझाया जा सकता है जिस प्रकार देश और संख्याके सम्बन्धोंको। नैतिक प्रत्ययोंके स्वरूप और वस्तुगत श्रेष्ठताको केवल बुद्धिसे ही समझ सकते हैं यद्यपि यह सच है कि नैतिक विभक्तियोंका ज्ञान मनुष्यके मानसमें दिव्य मानससे आता है।

कडवर्थका यह भी कहना है कि आचरणको निर्देशित करनेके लिए हमें किसी बाह्य शक्तिकी सहायता नहीं लेनी होती है। मनुष्यका बोध

अन्तर्बोध और शुभ आचरण

सहज रूपसे उन नैतिक सिद्धान्तोंका ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो शाश्वत, नित्य और अनिवार्य हैं; जो सार्वभौम और स्वतःसिद्ध हैं। नैतिक सिद्धान्त या प्रमेय बौद्धिक प्राणियोंके आचरणको निर्देशित करनेके लिए उतनी ही अपरिवर्तनशील प्रामाणिकता रखते हैं जितनी कि रेखागणितके सत्य। कडवर्थका कहना है कि मनुष्यके पास एक विशिष्ट गुण अथवा नैतिक शक्ति एवं अन्तर्बोध है जिसका स्वरूप बौद्धिक है। इसके निर्णय प्रत्यक्ष और परम होते हैं। व्यक्तिका कर्त्तव्य है कि वह इस शक्तिको विकसित करनेके लिए प्रयास करे। इस शक्तिके विकासपर ही नैतिक प्रगति निर्भर है। उचित आचरण उचित निर्णयपर निर्भर है और उचित निर्णयके लिए नैतिक सिद्धान्तोंके सम्यक् ज्ञानकी पूर्व सत्ता आवश्यक है। अज्ञानके कारण ही हम अनैतिक आचरणको अपनाते हैं। यदि हम नैतिक सिद्धान्तका उचित ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं तो हमें चाहिये कि शुभ चरित्रके बौद्धिक व्यक्तित्वके लोगोंके ज्ञानसे लाभ उठायें।

कम्बरलैंड

कम्बरलैंड[1]की विचारधारा मौलिक है। वह प्रथम व्यक्ति है जिसने पहली बार यह कहा कि सबका सामान्य शुभ अथवा सर्वहित ही परम ध्येय

१. Cumberland 1632–1718

सर्वहितका सिद्धान्त

है। यही वह परम मानदण्ड है जिसके अधीन अन्य सब गुण और नियम निर्धारित किये जाने चाहिये। सर्व-शुभका नियम ही उसका मूलगत सिद्धान्त और सर्वोच्च "प्रकृतिका नियम" है जिसके अन्तर्गत प्रकृतिके अन्य नियमोंका समावेश होता है। कम्बरलैंडके अनुसार प्रत्येक बौद्धिक प्राणीका अन्य प्राणियोंके लिए सर्वाधिक सम्भावित परोपकारिता ही एक और बहुकी सुखद स्थितिका निर्माण करती है। परोपकारिताको वह सक्रिय गुण मानता है और कहता है कि यह आचरण द्वारा व्यक्त होती है। जब हम सर्वशुभका अर्थ समझनेका प्रयास करते हैं तो देखते हैं कि शुभसे कम्बरलैंडका अभिप्राय केवल आनन्दसे नहीं है बल्कि पूर्णतासे भी है। पर यहाँपर हम दुविधामें पड़ जाते हैं। वह पूर्णताके स्वरूपको स्पष्टरूपसे निर्धारित नहीं करता है। ऐसी स्थितिमें हम शुभके स्वरूपसे विशिष्ट व्यावहारिक नियमोंका निगमन नहीं कर सकते।

कम्बरलैंड अपने सर्वहितके सिद्धान्तका सफलतापूर्वक प्रतिपादन नहीं कर पाया। वह अपने दर्शनको उस दोषसे मुक्त नहीं कर पाया जो कडवर्थ

सर्वहितके सिद्धान्तको सिद्ध करनेमें असमर्थ

और हेनरी मूर[1]में मिलता है। कडवर्थ, मूर और कम्बर-लैंड सभी स्वार्थ और परमार्थके प्रश्नको उठाते हैं, वैयक्तिक शुभ तथा सार्वभौमिक शुभके सम्बन्ध एवं एकता को समझानेका प्रयास करते हैं किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिलती है। कम्बरलैंड स्वार्थ और परार्थको अनेक प्रकारसे समझता है पर उसके विभिन्न कथनोंमें संगति नहीं है। वह

---

१. मूर (Henry More 1614–1687)ने सहजज्ञानके आधारपर कर्त्तव्यको समझाया और कहा कि व्यक्तिको संजातियोंके लिए त्याग करना चाहिये। ऐसे सामाजिक आचरणको वह अपने न्याय और परोपकारिताके सिद्धान्तके आधारपर समझाता है। पर, परोपकारिता और न्यायके सिद्धान्तको सिद्ध करना आवश्यक है। किसी तथ्यको कहना और उसे सिद्ध करना दो बातें हैं। कोई भी विचारप्रणाली,

इस समस्याको भी उठाता है कि कैसे हमारा एक या 'एक और बहु' दोनों प्रकारके शुभका बौद्धिक ज्ञान हमारे संकल्पको कर्ममें परिणत करता है। पर, इस समस्याका समाधान करनेमें भी वह असमर्थ रहता है।

कम्बरलैंडके दर्शनका अध्ययन बतलाता है कि वह अपने विस्तृत प्रयासके अतिरिक्त भी केवल सामान्य नैतिकताका ही समर्थन कर पाया।

सामान्य नैतिकताका समर्थन

उसने सामान्य नैतिकताका सुधार करनेके बदले उसे ही व्यवस्थित रूप दिया। उसके सिद्धान्तका आद्यन्त अध्ययन यह बतलाता है कि सामान्य नैतिकताको व्यवस्थित रूप देना उसने अपना मुख्य ध्येय माना। यही नहीं, नैतिक आदेशोंकी भी वह उपयोतावादियोंकी भाँति व्याख्या करता है और यह मानता है कि जन-सामान्यके लिए स्वार्थकी प्रेरणा अनिवार्य है। केवल विकसित बौद्धिक प्राणी ही भगवान्के प्रति तथा सामान्य शुभके लिए निःस्वार्थ प्रेम रखते हैं।

क्लार्क

क्लार्क[1]ने कडवर्थके सहजज्ञानवादको अधिक विस्तारसे समझानेका प्रयास किया। वह यह मानता है कि वस्तुओंके आन्तरिक विभेद और

पदार्थविज्ञानका रूपक

सम्बन्ध उनमें स्वभावसे ही निहित हैं और यदि मनुष्य चाहे तो वह सतर्क और निष्पक्ष निरीक्षण द्वारा उन भेदों और सम्बन्धोंको समझ सकता है। इस आधारपर वह कहता है कि सब प्रकारकी वस्तुओं—नैतिक और प्राकृतिक—के भेदों, सम्बन्धों और अनुपातोंके बारेमें यदि निष्पक्ष मानसोंका एक मत लिया

सिद्धान्त अथवा दर्शन तबतक नहीं टिक सकता जबतक कि उसे उचित तर्क द्वारा पुष्ट आधार न दे दिया जाय। मूर यह समझानेमें असमर्थ रहा कि व्यक्ति किस प्रेरणाके वशीभूत होकर उस सामाजिक आचरणको अपनाता है जिसका कि उसकी स्वाभाविक इच्छाओं और व्यक्तिगत स्वार्थोंसे विरोध है।

१. Dr. Samuel Clarke 1675–1729

जाय तो स्वभावतः सभी मानेंगे कि सब वस्तुओंमें कुछ निश्चित, अपरिवर्तनशील और वास्तविक तत्व हैं। अपने ऐसे कथनको समझानेके लिए वह प्राकृतिक नियमोंका दृष्टान्त सम्मुख रखता है और कहता है कि यह सभी स्वीकार करते हैं कि हिम श्वेत होता है और सूर्य प्रकाशवान्। अथवा सभीका विवेक प्राकृतिक नियमोंको समानरूपसे स्वीकार करता है। क्लार्कने नैतिक नियमोंको समझानेके लिए पदार्थविज्ञान और गणितके रूपकका प्रयोग किया। क्लार्कका यह विश्वास है कि विश्वमें व्यवस्था स्थापित करना ही भगवत् प्रयोजन है। भौतिक वस्तुओंमें हमें एक पारस्परिक संगति मिलती है। वे आपसमें इस प्रकार रहती हैं कि उनमें हमें नियमकी क्रियाका आभास मिलता है। यदि प्रत्येक वस्तु अपने ही ढंगसे अथवा वैयक्तिक रूपसे अपना व्यापार करने लगे तो प्राकृतिक नियम असम्भव हो जायँगे। यह वस्तुओंका स्वभाव है कि वे नियमानुरूप कर्म करती हैं। प्राकृतिक और नैतिक, दोनों प्रकारके नियमोंको भगवान्ने दिया है। दोनों ही नित्य हैं।

कडवर्थकी भाँति क्लार्क यह मानता है कि हम नैतिक नियमोंको समझ सकते हैं। नैतिक सत्य स्वयंसिद्ध, बोधगम्य और सार्वभौम हैं। इन सत्योंका बुद्धि उसी भाँति निराकरण नहीं कर सकती जिस भाँति कि वह गणितके सत्योंका नहीं कर पाती है।

गणितसे सादृश्य

गणितके सत्योंकी भाँति नैतिक सत्य भी स्पष्ट और प्रत्यक्ष हैं। उनका हमें सहजज्ञान प्राप्त होता है। यहाँपर हम क्लार्कके विरुद्ध यह आपत्ति खड़ी कर सकते हैं कि यदि नैतिक सत्य सहज और प्रत्यक्ष हैं तो असभ्य राष्ट्रों, जंगली जातियों और निर्दय सम्प्रदायों एवं व्यक्तियोंके अनैतिक और असामाजिक कर्मोंका क्या कारण है? क्या अधिकांश लोगोंके नैतिक सत्यका अज्ञान हमें यह स्वीकार करनेके लिए बाधित नहीं करता कि नैतिक नियम शाश्वत और सार्वभौम नहीं हैं? गणितके सत्योंकी दुहाई देकर क्लार्क ऐसी आलोचनासे अपने सिद्धान्तको मुक्त करनेका प्रयास करता है। अपने पक्षका समर्थन करते हुए वह कहता है कि लोगोंका नैतिक सत्योंका अज्ञान

हमें यह नहीं बतलाता कि वे शाश्वत और सार्वभौम नहीं हैं। लोगोंके अज्ञान और अनैतिक आचरणको लक्षित करके हम नैतिक प्रत्ययोंके सार्वभौम और स्थायी स्वरूपका निराकरण नहीं कर सकते। उनका मानसों और संकल्पोंसे स्वतन्त्र निरपेक्ष अस्तित्व है। जिस भाँति कुछ लोगोंके गणितके सत्योंके अज्ञानकी दुहाई देकर हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि गणितके सत्य सापेक्ष और परिवर्तनशील हैं अथवा वे पारस्परिक संकल्प-विकल्प या समझौतेपर निर्भर हैं उसी भाँति हम असभ्य जातियों और राष्ट्रोंके नैतिक अज्ञानके आधारपर नैतिक सत्योंके सापेक्ष और प्रत्युत्पन्न स्वरूपको सिद्ध नहीं कर सकते।

व्यावहारिक सुझाव

क्लार्कके अनुसार नैतिकताके विचार नित्य शाश्वत और पूर्णरूपसे बुद्धिसम्मत हैं, किन्तु नैतिक नियमोंको कैसे पहिचान सकते हैं? उनके अनुरूप कैसे कर्म कर सकते हैं? क्लार्क कहता है कि कुछ ऐसे कर्म हैं जिन्हें करनेके लिए हमारा संकल्प हमें आदेश देता है और हमसे कहता है कि हमें वे कर्म करने चाहिये। इन कर्मोंमें हमें एक प्रकारकी संगति या पर्याप्तता (Fitness) मिलती है। और यह पर्याप्तता उन्हें भगवान्‌ने दी है। हमें हमारा नैतिक बोध बतलाता है कि हमें ऐसे कर्मोंकी इच्छा करनी चाहिये। हॉब्सके विरुद्ध वह कहता है कि हम सुख-दुःखकी इच्छासे कर्म नहीं करते हैं। बौद्धिक प्राणियोंको वस्तुओंकी पर्याप्तता और अपर्याप्तताका सहजज्ञान होता है और यही सहजज्ञान उन्हें कर्म करनेके लिए प्रेरित करता है। स्टोइक्सकी भाँति क्लार्क भी मानता है कि हमें प्रकृतिसे ही नियम प्राप्त होते हैं और इसलिए हमें प्रकृतिके अनुरूप कर्म करना चाहिये। हमें वस्तुओंके स्वभावको समझनेका प्रयास कर उन नियमोंको समझना चाहिये जो वस्तुओंके मूल विधानको शासित करते हैं। आगे वह कहता है कि विभिन्न वस्तुओंमें जो भेद और सम्बन्ध मिलते हैं उनके अध्ययनके द्वारा हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि कुछ वस्तुओंकी अन्य वस्तुओंसे समानता या असमानता अथवा संगति या असंगति है। ऐसा कहकर वह

यह बतलाना चाहता है कि नैतिकताके नियम कर्मोंकी शाश्वत पर्याप्तता या अपर्याप्तताके सूचक हैं। ईश्वरवादियोंके विपरीत वह कहता है कि यह मानना भ्रान्तिपूर्ण है कि भगवान्का स्वतन्त्र संकल्प नैतिक नियमके मूलमें है वरन् वे स्वयं इन नियमोंके अनुरूप कर्म करते हैं क्योंकि वे विश्वमें व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं। इस भाँति क्लार्क नैतिक नियमोंके निरपेक्ष और शाश्वत स्वरूपको समझाता है और कहता है कि इनके अनुरूप कर्म करना चाहिये।

यदि नैतिक सत्य शाश्वत और निरपेक्ष हैं और साथ ही वे बोधगम्य भी हैं तो आचरणके विशिष्ट नियमोंको हम कैसे समझ सकते हैं? हम कैसे अपने विशिष्ट कर्त्तव्योंको निर्धारित करते हैं और हमें कब कैसे आचरण करना चाहिये? क्लार्कके अनुसार कुछ मूलगत सदाचारके नियम हैं जिनका कि हमें उचित, संगत और स्वाभाविक होनेका पूर्णरूपसे सहजज्ञान प्राप्त होता है। वे अपना प्रमाण स्वयं हैं; उन्हें बाह्य सत्योंके आधारपर सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है। सदाचारके ऐसे स्वतःसिद्ध चार मूलगत नियम हैं। (१) भगवान्के प्रति निष्ठा : हमें भगवान्की सेवा करनी चाहिये और उनके संकल्पके अनुरूप कर्म करना चाहिये। भगवान् शुभ हैं। वे जानते हैं कि विश्वका कल्याण कैसे सम्भव है। (२) समानताका भाव : हमें प्रत्येक व्यक्तिके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये जैसा कि हम समान परिस्थितियोंमें विवेकपूर्वक उनसे अपने लिए आशा करते हैं। इस सिद्धान्तके मूलमें यह तथ्य है कि जिस दृष्टिसे मैं अपने प्रति दूसरेके कर्मको उचित-अनुचित कहता हूँ उसी दृष्टिसे मैं दूसरेके प्रति अपने कर्मको भी निर्धारित करता हूँ। (३) अपने सजातीयोंके लिए परोपकारिता या प्रेमका नियम : यह नियम हमें बताता है कि सामान्य रूपसे हम सार्वभौम परोपकारिताके द्वारा सबके कल्याण और सुखकी वृद्धिके लिए प्रयास करते हैं। (४) अपनी आत्माके प्रति कर्त्तव्यका नियम या गाम्भीर्य एवं संयम : कर्त्तव्य करनेके लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति जीवनकी रक्षा करे और आवेगों तथा प्रवृत्तियोंपर संयम रखे।

सदाचारके नियम

सामाजिक आचरणकी दृष्टिसे यदि उपर्युक्त नियमोंपर विचार करें तो मुख्य नियम दो मिलेंगे : समानता और सार्वभौम परोपकारिता। समानताको महत्व देते हुए क्लार्क वैयक्तिक स्थितियोंको स्वीकार करता है। वह प्रत्येक वस्तु और स्थितिको उसकी पर्याप्तता और अपर्याप्तताके सम्बन्धमें समझता है अतः कहता है कि हमें सम्बन्धके भेदोंको समझते हुए निर्णय देना चाहिये। न्यायाधीश जब निर्णय देता है तो उसे पापीके दुष्कर्मकी मूल प्रवृत्तिपर विचार करनेके बदले उसपर विचार करना चाहिये जिसे विवेक-बुद्धि और लोकहित उसको माननेके लिए बाध्य करें। कडवर्थकी विचार-धाराको स्वीकार करते हुए क्लार्क कहता है कि स्वतःसिद्ध नैतिक सत्योंका ज्ञान हमें उचित कर्मकी ओर ले जाता है। स्वतःसिद्ध नैतिक सत्योंका व्यक्तिके संकल्पसे क्या सम्बन्ध है? वे उसके संकल्पको कर्ममें परिणत करनेमें कितना सहायक होते हैं? ऐसे प्रश्नोंका उचित उत्तर देनेमें क्लार्क असमर्थ है। वह कहता है कि अबौद्धिक प्रवृत्तियोंसे संचालित होनेवाला व्यक्ति समानता और सार्वभौमिक परोपकारिताके नियमको छोड़कर सुख-दुःखकी भावनासे प्रभावित होता है। व्यक्तिको बौद्धिक नैतिक ज्ञानके अनुरूप कर्म करना चाहिये। ज्ञान हमें यह बतलाता है कि भगवान्—अथवा सर्वोच्च बुद्धि— प्राणियोंके भाग्यका न्याय और परोपकारितासे संचालन करते हैं ताकि वे सुखी रह सकें जबतक कि उनके भाग्यमें दुःख ही न हो।

नियमोंकी असफलता

क्लार्कने अपने सिद्धान्तमें यह प्रयास किया कि वह नैतिकताको उन वैज्ञानिक सिद्धान्तोंके साथ रख सके जो गणितके स्वयंसिद्ध अकाट्य प्रमेयोंके समान हैं। उसने गणित और पदार्थविज्ञान पर आधारित रूपक का प्रयोग किया। इस रूपकको महत्व देकर उसने भूल की। भौतिक नियम तथ्यके बारेमें बतलाते हैं और नैतिक नियम कर्त्तव्यके बारेमें। विकासात्मक सुखवादियोंकी भाँति क्लार्क अपने नैतिक दर्शनको 'क्या है' तक सीमित कर देता है। वास्तवमें उसे ईसाई धर्मके स्फुरित ज्ञानकी निश्चयात्मकता

गणितका रूपक : अनुचित

और विवेकसम्मततापर विश्वास था। और इसी आधारपर उसने नैतिकताकी शाश्वत और अपरिवर्तनशील बाध्यताको समझाना चाहा।

वुलेस्टन

क्लार्कके अनुयायी और शैफ्ट्सबरीके समकालीन विलियम वुलेस्टन[1]के सिद्धान्तमें हमें नैतिक चेतनाको नैतिक बुद्धिकी अभिव्यक्ति माननेकी प्रवृत्तिका एकांगी प्रयास अपने पूर्णरूपमें मिलता है। अपने पूर्वके बुद्धिवादियोंकी भाँति वुलेस्टनने भी नैतिक चेतनाको एक प्रकारकी बौद्धिक अन्तर्दृष्टिके रूपमें माना है। स्टोइक्सने प्रकृतिको एक बौद्धिक विधान मानकर प्रकृतिके नियम और बुद्धिके नियमको एक ही माना। किन्तु जब विचारकोंने नैतिक नियमोंको प्राकृतिक नियमोंपर आधारित करनेकी असफलताको समझा तो उन्होंने बुद्धिके नियमको अधिक महत्व दिया। कडवर्थ और क्लार्कने बुद्धिके नियम और प्रकृतिके नियममें नगण्य भेद देखते हुए नैतिक चेतनाको बुद्धिके रूपमें समझनेके कारण ही नीतिशास्त्रको तर्कशास्त्रके रूपमें समझा। वुलेस्टनमें यह प्रवृत्ति अपने चरम रूपमें मिलती है।

तर्कशास्त्रका रूपक

वुलेस्टन क्लार्कके साथ यह मानता है कि नैतिक गुण सत्यके समान हैं और ज्ञान परमशुभ है। नैतिक शक्तिको बौद्धिक कह कर वह सद्गुणको ज्ञानमें परिणत कर देता है। कडवर्थ और क्लार्ककी भाँति उसने भी नैतिक निर्णयको तर्कशास्त्रके निर्णयके समान कहा। अन्तर्बोध उसी कर्मको करनेके लिए प्रेरित करता है जो बुद्धिके अनुकूल है। अन्तर्बोधका वही आदेश मान्य होना चाहिये जिसका तर्कबुद्धि अनुमोदन करती है। वुलेस्टन उचित और अनुचितको सत्य और असत्यके आधारपर समझाता है। उचित आचरण वह है जो कि किसी सत्य, तथ्य या घटनाका समर्थन करता है और अनुचित वह है जो सत्यका वर्जन करता है। उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिके घोड़ेको चुराता है तो वह अनुचित है

सत्य-असत्य द्वारा नैतिक आचरणका स्पष्टीकरण

1. William Wollaston 1659-1724.

क्योंकि वस्तुस्थितिके अनुरूप आचरण ही उचित आचरण है। घोड़ा चुरानेवाला वस्तुस्थितिके विपरीत आचरण करता है। घोड़ेका स्वामी न होनेपर भी वह अपने ऊपर घोड़ेका स्वामीत्व आरोपित करता है। इस प्रकार वह अपने आचरणकी असत्यता प्रकट करता है। वुलेस्टनके अनुसार अनुचित आचरण बौद्धिक भ्रान्ति है और सब पाप असत्य बोलना है।

वुलेस्टनने उचित और अनुचितको सत्य और असत्यके रूपमें समझाकर उनकी शैफ्ट्सबरीसे अधिक वस्तुमूलक व्याख्या की और उन्हें अधिक स्पष्ट तर्कपर आधारित किया। अपने सिद्धान्तको समझानेके लिए वह तार्किक प्रमाण प्रस्तुत करता है। उसका कहना है कि अन्तर्बोध द्वारा हम कर्मकी नैतिकताको पहचान सकते हैं। नैतिकताको पहचाननेके लिए चार बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है:

(१) वह कर्म जो कि नैतिक रूपसे शुभ या अशुभ कहा जा सकता है, एक ऐसे व्यक्तिका कर्म होना चाहिये जो स्वयं जानने, चयन करने तथा अपने लिए कर्म करनेकी क्षमता रखता हो।

(२) वे कथन सत्य हैं जो वस्तुओंके यथातथ्य रूपको व्यक्त करते हैं।

(३) कर्म, शब्द या कथन द्वारा किसी भी सत्य-कथन या वस्तुका खण्डन हो सकता है।

(४) किसी भी व्यक्ति का कोई भी कार्य चाहे वह वचन हो या कर्म, उचित नहीं हो सकता, जिसपर कि शुभ और अशुभ आरोपित किया जा सकता है या जो किसी सिद्धान्तकी सत्यतासे हस्तक्षेप करता है या जो किसी वस्तुकी वस्तुस्थितिको अस्वीकार करता है।

कर्मकी नैतिकताका मूल्यांकन करनेके लिए इन चारों नियमोंपर ध्यान देना आवश्यक है। ये नियम बतलाते हैं कि अनैतिकता एक प्रकारकी आचरणकी असत्यता है। जब चोर चोरी करता है तो वह अपने आचरण द्वारा एक असत्यको व्यक्त करता है। वह उस वस्तुको अपनी बतलाता है जो कि यथार्थमें उस व्यक्तिकी वस्तु है जिसके यहाँ वह चोरी करता है। इस प्रकार वह अपने आचरणसे झूठ बोलता है। अतः उसका आचरण अनैतिक है। संक्षेपमें, वुलेस्टनके अनुसार आचरणके औचित्य-अनौचित्यको

समझनेके लिए वस्तुस्थितिका सम्यक् ज्ञान अनिवार्य है। व्यक्तिको सदैव वस्तुस्थितिके अनुरूप कर्म करना चाहिये। वही कर्म उचित और नैतिक है।

वुलेस्टनका ऐसा सिद्धान्त अविरोधके नियमपर आधारित है। जिस भाँति उचित चिन्तन और विचारके लिए यह आवश्यक है कि वह अविरोधके नियमके विरुद्ध न हो उसी भाँति नैतिक आचरणके लिए भी यह आवश्यक है कि वह सदैव एक-सा हो और उसमें विरोध न हो। पारस्परिक विरोधी विचार तर्कशास्त्रमें अमान्य हैं और पारस्परिक विरोधी आचरण नीतिशास्त्रमें। यदि किसी व्यक्तिका आचरण परिवर्तनशील है और वह कभी एक प्रकारका आचरण करता है और कभी दूसरे प्रकारका तो नैतिक क्षेत्रमें ऐसा आचरण अनुचित कहलायगा। वही व्यक्ति सदाचारी है जिसके आचरणमें एकता और अविरोध है। इस प्रकार वुलेस्टनने नीतिशास्त्रको तर्कशास्त्रपर पूर्णरूपसे आधारित किया और यह माना कि वही कर्म उचित है जो तर्कयुक्त है। उसने आचरणकी भूलको विचार या तर्ककी भूल माना। वह कहता है कि तर्कशास्त्रके क्षेत्रमें जो अविरोधका नियम मिलता है वह बतलाता है कि नैतिक कर्म भी उसी नियमसे शासित है। हमें अपने आचरणमें इस नियमका निर्वाह करना चाहिये।

अविरोधका नियम

वुलेस्टन यह मानता है कि बहुतसे कर्मों और चेष्टाओंमें एक अर्थ निहित है। प्रत्येक व्यक्ति रोना, हँसना, आँखें तरेरना आदिके अर्थ समझता है। यह एक प्रकारकी सार्वभौम भाषा है। कई ऐसे कर्म हैं जो कि व्यक्तिके आचरण के स्वरूप (चरित्र) का निर्माण करते हैं। ये कर्म अर्थगर्भित हैं। कोई भी तटस्थ निर्णायक इन्हें देखकर इनका अर्थ उतनी ही अच्छी तरह समझ सकता है जितना कि उसे शब्दों द्वारा व्यक्त किये जानेपर। यदि ये कर्म जिस अर्थको व्यक्त करते हैं वह अर्थ नहीं है, तो वे सत्यका उसी प्रकार विरोध करते हैं जिस प्रकार असत्य कथन। इस भाँति वुलेस्टनने कर्मोंकी अर्थ-गर्भित व्याख्या की है। वह उदाहरण देते हुए समझाता है कि यदि सिपाहियोंका एक समुदाय दूसरे समुदायपर गोली चलाता है तो इस कर्म

कर्म अर्थगर्भित हैं

द्वारा हम यही समझ सकते हैं कि वे एक दूसरेके शत्रु हैं और यदि वे शत्रु नहीं हैं तो क्या यह सैनिक भाषाका कथन असत्य नहीं है।

जिस भाँति शब्दों को अर्थगर्भित मानते हैं उसी भाँति वुलेस्टन कर्मों-को अर्थगर्भित मानता है और कहता है कि अपने अर्थके आधारपर ही कर्म सत्य या असत्य हैं। अथवा अपने कर्मों द्वारा व्यक्ति नैतिक शुभ और अशुभको उसी प्रकार प्रकट करता है जिस प्रकार अपनी वाणी द्वारा। प्रश्न यह है कि सत्य और असत्य नैतिक नियममें क्या भेद है? वुलेस्टनका कहना है कि शुभ और अशुभका एकमात्र बोधगम्य, व्यावहारिक और निर्विवाद भेद मनुष्यके कर्मकी वस्तुस्थितिकी सत्यताके साथ अनुरूपता या विपरीतता-पर निर्भर है। वुलेस्टनके ऐसे मानदण्डको हम किस आधारपर स्वीकार करते हैं? नैतिक निर्णय देनेके लिए उसने जिस मानदण्डको हमारे सम्मुख रखा है उसकी मान्यताका क्या प्रमाण है? वुलेस्टन विभिन्न नैतिक मानदण्डोंका आलोचनात्मक अध्ययन करता है और कहता है कि उसके मानदण्डके अतिरिक्त अन्य सभी मानदण्डोंमें कोई-न-कोई कमी है। सुख-को मानदण्ड मान लेनेपर मनुष्य भोग-विलासमें लीन हो जायगा, किन्तु नैतिकता मनुष्यको आत्म-संयमकी ओर ले जाती है। आचरणकी नैतिकता-को निर्धारित करनेके लिए बुद्धिका मानदण्ड पर्याप्त नहीं है। अधिकतर व्यक्ति बुद्धिका प्रयोग अपने हित और सुविधाके लिए करते हैं। बुद्धिकी सहायतासे उचितको अनुचित और अनुचितको उचित सिद्ध करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने तर्कको उचित कहता है और इस कारण बुद्धिकी सहायतासे हम उस निर्णयपर भी नहीं पहुँच पाते जो कि सार्वभौम हो, अथवा सबको मान्य हो। यदि बुद्धि और सुख दोनोंके मानदण्ड असन्तोष-प्रद हैं तो क्या उन सहजात विचारोंको नैतिक मानदण्डके रूपमें स्वीकार किया जा सकता है जो कि सार्वभौम हैं? वुलेस्टनका कहना है कि हम सहजात विचारोंको भी स्वीकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि अधिकांश व्यक्ति सहजात विचारोंके नामपर अपने ही संस्कारों और शिक्षाजन्य विचारोंको

आचरणका मानदण्ड

स्वीकार कर लेते हैं। प्रकृतिको भी वह आचरणके मानदण्डके रूपमें स्वीकार नहीं करता है। उसका कहना है कि 'प्रकृति' शब्दका प्रयोग अनेक अर्थोंमें होता है। इसके नामपर लोग अपनी पशुप्रवृत्तियों-को प्रोत्साहित कर सकते हैं और अबौद्धिक आचरणको अपना सकते हैं।

आलोचना : तर्कशास्त्रपर आधारित मान-दण्ड अनुचित

वुलेस्टनने तर्कशास्त्रके आधारपर जिस मानदण्डको दिया है उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है। नैतिकता आदर्शविधायक है। वह कर्म या घटनाको आदर्शकी तुलामें तोलती है, वस्तु-स्थितिको आदर्शके सन्दर्भमें समझती है। अतः नैतिक दृष्टिसे यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि शुभ कर्म सत्यके अनुरूप है और अशुभ कर्म उसके प्रतिकूल है। वुलेस्टन केवल वस्तुस्थितिको महत्व देता है। उसके आलोचक, स्टीफेन्सने उसके ऐसे नैतिक दर्शनका उपहास यह कह कर किया कि "तीस सालके गम्भीर चिन्तनने वुलेस्टनको विश्वास दिलाया कि किसी व्यक्तिको अपनी पत्नीका सिर इसलिए नहीं तोड़ना चाहिये कि उसका ऐसा आचरण इस तथ्यका निषेध करता है कि वह उसकी पत्नी है।" वुलेस्टनका कहना है कि वही आचरण पाप है जो कि आचरणकी असत्यता है अथवा नैतिक पाप वह है जो कि यथार्थ स्थितिका व्यवहार द्वारा निषेध करता है। अतः पत्नीका सिर फोड़ना इसलिए बुरा है कि वह पत्नीत्वभावके विरुद्ध है। वुलेस्टनके अनुसार चोरी करना अथवा किसीका सिर फोड़ना इसलिए बुरा नहीं है कि वह नैतिक आदर्शके प्रतिकूल है बल्कि इसलिए कि वह यथार्थ स्थितिका वर्जन करता है। नीतिशास्त्रके अनुसार वह आचरण अनैतिक है जो कि नैतिक आदर्शके अनुकूल नहीं है। नीतिशास्त्र यह भी मानता है कि अशुभ कर्म असंगत कर्म हैं; किन्तु कर्मोंकी असंगति वस्तुस्थितिके साथ नहीं है बल्कि आदर्शके साथ है। यह आदर्श वह आदर्श है जो कि मनुष्यके नैतिक व्यक्तित्वको स्वीकार करते हुए उसका अन्य प्राणियोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। वुलेस्टनके सिद्धान्तमें वाक्छल अधिक है। ऐसा लगता कि वह स्वयं ही

अपने तर्कके चमत्कारसे नैतिक आदर्शको भूलकर वाग्जालमें फँस जाता है। कांटने उसके सिद्धान्तके सूक्ष्म पक्षको सम्मुख रखकर कहा कि अशुभ कर्म वे हैं जिनमें परस्पर वैषम्य होता है अथवा यदि उस सिद्धान्तमें असंगति होती है जिससे कि वे सञ्चालित होते हैं। किन्तु कांट नियम-निष्ठताके फेरमें पड़ कर तथा भावनाशून्य जीवनको अपनाकर अपने महत्वपूर्ण कर्त्तव्यके सिद्धान्तको निःशक्त कर देता है।

सुव्यवस्थित चिन्तनके लिए यह आवश्यक है कि नीतिशास्त्र तर्कशास्त्रकी सहायता ले किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि तर्कशास्त्र नीतिशास्त्रपर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकता है और नीतिशास्त्रके स्वतन्त्र अस्तित्वको छीन सकता है। नीतिशास्त्र अपने क्षेत्रका सम्राट् सदैव रहेगा और तर्कशास्त्र उचित विचार द्वारा नैतिक निर्णयमें सहायकमात्र रहेगा। अनैतिक आचरणको आचरणका झूठ अथवा एक प्रकारका झूठ मानना अनुचित है और यदि वह मान ही लें कि अनैतिक आचरणके मूलमें विचारकी भूल है तो हम व्यक्तिको दोषी या दण्डके योग्य नहीं मान सकते हैं। अपने जीवनमें हम ऐसे लोगोंको मूर्ख अथवा बेवकूफ कहते हैं, उनपर हँसते हैं कि उन्हें ठीकसे चिन्तन और तर्क करना नहीं आता, उनकी तुलना गधेसे करते हैं, पर क्रोधित होकर उन्हें दण्डित नहीं करते। इसके विपरीत दुराचारीके आचरणको क्षम्य नहीं मानते हैं और उसे दण्ड देते हैं। वास्तविक अनुभव बतलाता है कि बुरा आचरण विचारकी भूलमात्र नहीं है।

तर्कशास्त्र आवश्यक, पर नीतिशास्त्रका शास्ता नहीं

उपर्युक्त दुर्बलताओंके होते हुए भी वुलेस्टनके सिद्धान्तकी अपनी विशेषता है। उसने अपने नैतिक मानदण्ड द्वारा यह समझाया कि किसी कार्यपर निर्णय देनेके लिए उसी कार्यके औचित्य-अनौचित्यपर अधिक महत्व देना चाहिये, न कि किसी अमूर्त, एकांगी मानदण्डको,—जैसे सुख, रीति-रिवाज, सहजात विचार, बुद्धि आदि। नैतिकताकी मूल समस्या किसी कर्मविशेषका गुण है, न कि

सिद्धान्तकी विशेषता

वह पद्धति जिसके द्वारा कि उस गुणको आँका जाता है क्योंकि प्रत्येकके आँकनेका ढंग भिन्न है। कर्मोंका विशुद्ध नैतिक मूल्याङ्कन करनेके लिए काल, देश, इच्छित ध्येय और स्वाभाविक परिणामोंपर ध्यान देना अनिवार्य है। अर्थात् किसी कर्मके नैतिक मूल्याङ्कनके लिए उससे सम्बद्ध सम्पूर्ण वस्तुस्थितिको ध्यानमें रखना आवश्यक है क्योंकि हम कर्मपर निर्णय वस्तुस्थितिके आधारपर देते हैं।

बुद्धिवादी सहजज्ञानवादका आलोचनात्मक मूल्याङ्कन

बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियोंने हॉब्सके विरुद्ध यह समझानेका प्रयास किया कि उचित-अनुचितकी धारणाएँ शाश्वत हैं। हॉब्सने एक ओर तो

हॉब्सके स्वार्थवाद-पर असफल आघात

यह माना कि प्रकृतिके नियम नित्य और शाश्वत हैं और दूसरी ओर मानव-स्वभावकी स्वार्थ-मूलक व्याख्या करते हुए यह कहा कि स्वार्थकी सिद्धिके लिए अत्युत्तम साधन यह है कि व्यक्ति समझौतेके नियमोंका पालन करे। हॉब्सके इस कथनमें जो सत्य है हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। किन्तु बुद्धिवादियोंने अपनी आलोचनाके आवेशमें यह कह दिया कि हॉब्सके अनुसार शुभ और अशुभके भेदको मनुष्य-निर्मित समझौते द्वारा निर्धारित किया गया है। वास्तवमें बुद्धिवादियोंकी आलोचनाका केन्द्र हॉब्सकी राजनीतिक निरंकुशता है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि उचित, अनुचितकी धारणाएँ सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित हैं और धार्मिक कर्त्तव्यसे हमारा अभिप्राय उस शक्तिशालीकी स्वतन्त्र इच्छाओंका भयवश पालन करनेसे है जो दण्ड और पुरस्कार द्वारा हमपर आरोपित की जाती हैं। हॉब्सके सिद्धान्तकी रिक्तताको सिद्ध करनेके लिए बुद्धिवादियोंने स्वार्थ और परमार्थके प्रश्नको हल करनेका प्रयास किया किन्तु वे असमर्थ रहे। हॉब्सके मनोवैज्ञानिक स्वार्थवादको पराजित किये बिना बौद्धिक नैतिकताका सिद्धान्त सफलतापूर्वक स्थापित नहीं हो सकता। जबतक कि आत्म-प्रेम और सामाजिक कर्त्तव्यमें सन्तुलन स्थापित नहीं किया जायगा तबतक

सामाजिक कर्त्तव्यके औचित्यकी अधिकसे अधिक बौद्धिक अभिव्यक्ति बुद्धि और आत्मप्रेम (जो मनुष्यके रागात्मक स्वभावका स्वाभाविक अंग है) में विरोध बढ़ाती जायगी। यही कारण है कि बुद्धिवादी परोपकार और आत्मप्रेममें समन्वय स्थापित नहीं कर पाये।

प्लेटो और अरस्तूके शुभकी धारणाको स्वीकार करते हुए बुद्धिवादियोंने समझाया कि सत्य सार्वभौम और वस्तुगत है; उसका स्वरूप बौद्धिक है। गणित और विज्ञानके स्वतःसिद्ध मूलसूत्रोंकी भाँति नैतिक सत्य भी सहज और बुद्धिग्राह्य है। शुभ, अशुभकी धारणाएँ समझौते या स्वेच्छाचारी संकल्पका परिणाम नहीं हैं। नैतिक सत्य सार्वभौम है। नैतिक सत्यके सार्वभौम स्वरूपको ही कांटने अपने सिद्धान्तमें अत्यधिक महत्व दिया। कडवर्थ और क्लार्क एवं बुद्धिवादी सहजज्ञानवादी शुभके मूर्त स्वरूपको समझानेमें असफल रहे। जब हम यह पूछते हैं कि शुभ कर्मसे क्या अभिप्राय है; उचित कर्मका क्या रूप है; तो हमें उचित अथवा शुभकी स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती वरन् विभिन्न शब्दोंकी भूलभुलैयामें भटकना पड़ता है। बुद्धिवादियोंका यह कहना कि उचित कर्म विवेकसम्मत, बुद्धिग्राह्य या स्वाभाविक है, पर्याप्त नहीं है। यह शुभके स्वरूपका स्पष्टीकरण करना नहीं है, एक ही बातको घुमाफिरा कर कहना है।

शुभका स्वरूप : अमूर्त

वास्तवमें हॉब्सवाद और प्लेटोवादका मुख्य भेद यह है कि जहाँपर हॉब्सने आत्मस्वार्थके लिए नैतिक आदेशोंका पालन करने एवं दूरदर्शितासे काम करनेके लिए कहा वहाँ प्लेटोके अनुयायियोंने नैतिक व्यक्तिको सजातीयोंके लिए त्यागका सिद्धान्त समझाया। दूसरोंके प्रति हमारा वैसा ही आचरण होना चाहिये जैसा कि हम दूसरोंसे अपने प्रति चाहते हैं। निष्पक्षता या समानताका ऐसा सिद्धान्त हॉब्सके परम स्वार्थवादकी असत्यता सिद्ध करता है। क्लार्कने समानताको बहुत महत्व दिया है और उस आधारपर समझाया है कि सत्य सार्वभौम और वस्तुगत है, इसका अस्तित्व किसीके

हॉब्सवादसे मुख्य भेद—निष्पक्षताका सिद्धान्त

भी स्वतन्त्र संकल्पपर निर्भर नहीं है। कांटने 'प्रत्येकको साध्य मानो' कहकर समानताकी धारणाको ही पूर्ण और स्पष्ट रूपसे व्यक्त किया। जैसा कि हम देख चुके हैं, उपयोगितावादियोंने अपना समानताका यह सिद्धान्त कि 'प्रत्येक व्यक्तिकी गणना एक है' सहजज्ञानवादियोंसे ही लिया।

बाह्य जगतसे रूपक लेनेके कारण बुद्धिवादी सहजज्ञानवादी, विशेषकर कडवर्थ और क्लार्क, एक भूल और करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि

व्यावहारिक और चिन्तनबुद्धिका क्षेत्र

नैतिक जगतमें व्यावहारिक बुद्धि और चिन्तनबुद्धि भिन्न हैं। वे इन दोनोंको एक ही मान लेते हैं। न्याय, संयम आदि नैतिक आदर्शोंको और कार्य-कारण, परिमाण आदि बाह्य जगतकी धारणाओंको समानरूपसे बुद्धिका विषय मान लेते हैं। कांटने सहजज्ञानवादियोंकी इस भूलको दूर किया। कडवर्थ और क्लार्कके साथ यह स्वीकार करते हुए कि कर्मों का औचित्य वस्तुगत है और इसलिए नैतिक नियम बुद्धिके विषय हैं न कि भावनाके, जो कि आत्मगत और वैयक्तिक है, वह उनके सिद्धान्तको अधिक विकसित करता है। जहाँतक बुद्धिके दोनों रूपों (व्यावहारिक और चिन्तन सम्बन्धी) का प्रश्न है वे सीमाओंसे घिरे हुए व्यक्तिके लिए भिन्न हैं, यद्यपि पूर्ण ज्ञान इनमें ऐक्य स्थापित करेगा। अतः मानव-जीवनकी व्याख्या करते हुए कांट कहता है कि चिन्तनबुद्धिके द्वारा उन सत्यों—ईश्वर, आत्मा और संकल्प-स्वातन्त्र्य—को सिद्ध नहीं किया जा सकता, जो व्यावहारिक बुद्धिकी आवश्यक मान्यताएँ हैं।

गणित और पदार्थविज्ञानके रूपकको क्लार्क पूर्णरूपसे स्वीकार कर लेता है और इस कारण विकासवादी सुखवादियोंकी भाँति यह भूल जाता

गणित और पदार्थ-विज्ञानके रूपककी सीमाएँ

है कि नीतिशास्त्र आदर्शविधायक सिद्धान्त है। वह यह जानना चाहता है कि हमें क्या करना चाहिये। भौतिक नियम हमें केवल तथ्य का ज्ञान देते हैं और 'क्या है' के स्वरूपको समझाते हैं। क्लार्कके अनुसार भौतिक नियम जगतकी प्रत्येक वस्तुको नियमोंके अधीन बतलाते

हैं। कर्मके औचित्य-अनौचित्यको भी हम नियमके आधारपर समझ सकते हैं। भगवान् ने ही प्राकृतिक नियम दिये हैं; भगवान्‌ने ही कुछ कर्मोंको पर्याप्तता दी है। नैतिक और प्राकृतिक नियम शाश्वत और नित्य हैं। नैतिक बोध द्वारा कर्मोंकी पर्याप्तता और अपर्याप्तताको समझकर हमें पर्याप्त कर्मोंको स्वीकार करना चाहिये। किन्तु क्लार्क भी 'क्या है' और 'क्या होना चाहिये' के भेदको भूल जाता है। यही कारण है कि प्रयास करनेपर भी वह आत्म-प्रेम और सद्‌गुणके बीच संगति स्थापित करनेमें असमर्थ रहा। व्यावहारिक बुद्धिके सहजज्ञानोंके विरोधको गणितके सहज-ज्ञान द्वारा समझाना यथार्थ और आदर्श विज्ञानके भेदको भूलना है। क्लार्कके अनुयायी, वुलेस्टनने नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्रमें पूर्ण ऐक्य मान-कर नीतिशास्त्रको तर्कशास्त्रपर आधारित करके अपने सिद्धान्तको अत्य-धिक आलोचनाका विषय बना दिया।

नैतिक बोधवाद

सामान्य परिचय

नैतिक बोधवादियों एवं सौन्दर्यवादियोंने अपने नैतिक बोध (Moral sense) के आधारपर यह समझाया कि सुन्दर-असुन्दरका भेदविषयक जो नन्दतिक बोध होता है उसीकी भाँति शुभ और अशुभका सहजबोध होता है। जिस भाँति सौन्दर्यका बोध वस्तुओंकी सुन्दरता और असुन्दरतासे प्रभावित होता है उसी भाँति नैतिक बोध भी कर्मोंके नैतिक या अनैतिक गुणसे प्रभावित होता है। अथवा नैतिक बोध नन्दतिक बोधकी भाँति है। हम ऐसे सहजबोधकी व्याख्या कर सकते हैं। हमारी बुद्धि इन बोधोंको समझ सकती है। सौन्दर्यवादियोंका यह भी कहना है कि नैतिक बोध मनुष्यको उसकी सामा-जिक प्रकृतिकी देन है। जो समाजके लिए लाभदायक है वह स्वभावतः शुभ है और जो हानिप्रद है उसे हम सहज ही अशुभ कह देते हैं। सहज-ज्ञानवादकी विभिन्न शाखाओंका अध्ययन बतलाता है कि सौन्दर्यवादियों-का यह दृष्टिकोण एक जलाशयके समान है जिससे अनेक नैतिक धाराएँ प्रवाहित होती हैं।

हॉब्सने कहा कि व्यक्ति केवल अपनी ही इच्छाओंकी तृप्ति करता है। इससे उसका अभिप्राय यह था कि व्यक्ति केवल अपने सुख और जीवनके संरक्षणकी चिन्ता करता है। सौन्दर्यवादका प्रतिनिधित्व करनेवाले विचारकों, हचिसन और शैफ्ट्सबरीने मुख्य रूपसे हॉब्सके इस कथनकी आलोचना की। उन्होंने बुद्धिवादियोंके साथ हॉब्सके विरुद्ध एक ओर तो यह स्वीकार किया कि नैतिक विभक्तियाँ शाश्वत हैं और दूसरी ओर यह कहा कि (विशेषकर शैफ्ट्सबरीने) आत्म-स्वार्थ द्वारा किये हुए कर्म और सद्‌गुण द्वारा किये हुए कर्ममें संगति है। उनका कहना है कि वैयक्तिक शुभ और सामाजिक शुभ एक दूसरेके विरोधी नहीं हैं क्योंकि समाज एक आवयविक समग्रता (organic whole) है।

हॉब्सकी आलोचना

बुद्धिवादी सहजज्ञानवादी सामाजिक आचरण या कर्त्तव्यके लिए कोई ठोस मनोवैज्ञानिक आधार नहीं दे पाये। उन्होंने सामाजिक आचरणको केवल अमूर्त बुद्धिके सिद्धान्त द्वारा समझाया। ऐसी स्थितिमें जब बुद्धि और स्वाभाविक आत्म-प्रेममें विरोध उठता है तो व्यक्ति कठिनाईमें पड़ जाता है। इस कठिनाईको दूर करनेके लिए ही क्लार्कने सार्वभौम परोपकारिताको बुद्धि-सम्मत कहा और कम्बरलैण्डने उन प्रवृत्तियोंको स्वीकार किया जो मनुष्यको सजातीयोंकी सेवा करनेके लिए प्रेरित करती हैं। सौन्दर्यवादियोंने नैतिक बोधको मनुष्यकी सामाजिक प्रकृतिकी देन कहकर स्वाभाविक भावनाओं द्वारा व्यक्तियोंको एकताके सूत्रमें बाँध दिया। शैफ्ट्सबरीसे पूर्व किसी भी नीतिज्ञने इस तथ्यको पूर्ण महत्व देते हुए नहीं कहा कि सामाजिक आचरणके मूलमें रागात्मक आवेग हैं। शैफ्ट्सबरीने अनुभवका विश्लेषण करते हुए यह समझाया कि मनुष्यकी स्वार्थ और निःस्वार्थकी प्रवृत्तियोंमें संगति है।

बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियोंसे भेद

शैफ्ट्सबरी

शैफ्ट्सबरी[1] ने कर्त्तव्यके सिद्धान्तको अमूर्त बुद्धि द्वारा नहीं बल्कि

---

1. Anthony Ashley Cooper, Earl of Shaftesbury, 1671–1713.

स्वाभाविक प्रवृत्तिके रूपमें समझाकर उसे मनोवैज्ञानिक आधार दिया।

हॉब्सका परम-स्वार्थवाद अवास्तविक

उसने मनुष्यकी सामाजिक भावनाओंकी स्वाभाविकताको प्रकट करते हुए सामाजिक भावनाओं और चिन्तनशील आत्म-भावमें सहज संगति दिखलायी। शैफ्ट्सबरी प्रथम विचारक है जिसने कहा कि नैतिक बोध ही कर्मोंका नैतिक मूल्याङ्कन करनेका प्रमुख मानदण्ड है। स्वार्थ और परमार्थमें संगति स्थापित करनेके लिए उसने हॉब्सके सिद्धान्तका विश्लेषण किया और यह समझाया कि शुभकी स्वार्थमूलक व्याख्या करना अनुचित है। समाज व्यक्तियोंका अस्वाभाविक संघटनमात्र नहीं है। यह एक जीवन्त आवयविक समग्रता है और इसलिए व्यक्तिके शुभको समाजके शुभसे पूर्णतः भिन्न नहीं समझना चाहिये। व्यक्ति एकाकी और असामाजिक प्राणी नहीं है। उसकी स्थिति, स्वभाव और कल्याणको उस व्यापक सामाजिक विधानके सन्दर्भमें समझना होगा जिसका कि वह अङ्ग है।

बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियोंने केवल जीवनके बौद्धिक पक्षको समझा। वे यह भूल गये कि भावनाका भी नैतिक जीवनमें समान स्थान है। हम

सौन्दर्यवादकी स्थापना : नैतिक-ज्ञानके मूलमें नैतिक बोध

उसकी अवहेलना नहीं कर सकते। नैतिकताका सम्बन्ध मानस और हृदय दोनोंसे है। कोरी बुद्धि कर्मकी प्रवर्तक नहीं हो सकती है। शैफ्ट्सबरीने यह समझाया कि मनुष्यके पास नैतिक इन्द्रिय या आन्तरिक इन्द्रिय है। अथवा घ्राणेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रियकी भाँति एक और आन्तरिक इन्द्रिय है जो नैतिक इन्द्रिय है। यह हमें कर्म, प्रवृत्तियों, भावनाओंके औचित्य-अनौचित्यका प्रत्यक्ष एवं अपरोक्ष ज्ञान देती है। मनुष्यके कर्मों और भावोंमें एक प्रकारकी सुन्दरता और असुन्दरता रहती है। इस सुन्दरताका नैतिक इन्द्रिय सहजज्ञान प्राप्त कर सकती है। यह इन्द्रिय नैतिक सौन्दर्यवाले कर्मोंको शुभ कहती है। यह समझानेके लिए कि नैतिक इन्द्रिय सत्‌की ओर ले जाती है, शैफ्ट्सबरी

इसकी तुलना अन्य इन्द्रियोंसे करता है। वह कहता है कि जिस भाँति नेत्रेन्द्रिय रंगका ज्ञान देती है और घ्राणेन्द्रिय गन्धका उसी भाँति नैतिक इन्द्रिय अथवा नैतिक बोध नैतिकताका ज्ञान देता है। आँखोंसे देखते ही हम तत्काल कह देते हैं कि वस्तुका क्या रंग है उसी भाँति नैतिक इन्द्रिय हमें नैतिक प्रत्ययोंका अपरोक्ष ज्ञान देती है। अतः सुन्दर-असुन्दरके नन्दतिक बोधकी भाँति उचित-अनुचितके भेदका सहजबोध होता है। सौन्दर्यकी रुचिकी भाँति नैतिक रुचि भी होती है। मनुष्यमें कर्मोंका समर्थन और असमर्थन करनेकी स्वाभाविक रुचि या भावना होती है। इस रुचिके कारण ही कुछ वस्तुएँ उसे आकर्षित करती हैं। काव्य-रसिक सहज ही अच्छे काव्यकी ओर खिंच जाता है। नैतिक इन्द्रिय सहज ही उचित-अनुचितके भेदको हमारे सम्मुख रखकर हमें सत्कर्मकी ओर प्रेरित करती है। यह विशिष्ट व्यावहारिक शक्ति है। इसकी अवहेलना करनेसे दुःख और असन्तोष होता है। सामान्य अनुभवका निरीक्षण यह भी बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्तिकी रुचि अपनी विशिष्टता रखती है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि एक सर्वसम्मत मानदण्ड होता है।

नैतिक बोध ही नैतिक ज्ञानका मूलस्रोत है। यह सबमें समान रूपसे विकसित नहीं होता पर इसे मार्जित और शिक्षित कर सकते हैं और इसके द्वारा सद्गुणकी आन्तरिक श्रेष्ठताको समझ सकते हैं। बोधके समान होनेके कारण इसे बोध अवश्य कहते हैं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि यह अगम्य है। नैतिक बोधकी भाँति सौन्दर्यबोधको समझा और सिद्ध किया जा सकता है। नैतिक बोधके आधारपर हम कह सकते हैं कि नैतिक निर्णयको मात्र शुष्क तर्क या बौद्धिक नियमके रूपमें समझना भ्रामक है। नैतिक निर्णयके साथ एक प्रकारकी भावना (नन्दतिक भावनाकी भाँति) संयुक्त है और वही व्यक्ति सदाचारी है जिसमें यह गुण है अथवा सद्गुणी होनेके लिए व्यक्तिको कलात्मक रुचिका भी होना चाहिये। संस्कृत रुचि ही हमारी एकमात्र निर्देशक है। अच्छे विकसित चरित्रका व्यक्ति नैतिक नियमका पालन अभ्यासवश और स्वभाववश

करेगा। वह सहजरूपसे सत्को स्वीकार करेगा और असत्का त्याग करेगा। जब व्यक्ति भयवश नियमोंका पालन करता है (सुखवादी नैतिक आदेश) तो उसके कर्म नियमोंके अनुरूप होनेपर भी सद्गुणोंके सूचक नहीं हैं। सदाचारका नियम आन्तरिक है। वह अपने-आप ही सद्गुणकी ओर आकर्षित करता है। जिस भाँति सौन्दर्यकी रुचि सुन्दर वस्तुओंकी ओर आकर्षित करती है और इस आकर्षणके कारण वे वस्तुएँ प्रिय हो जाती है उसी भाँति नैतिक बोध शुभ भावनाओं, प्रवृत्तियों, और कर्मोंकी ओर बौद्धिक प्राणियोंको खींचता है। वे दया, न्याय, संयम आदिको अपनाते हैं और उन्हें उन्हींके लिए प्यार करने लगते हैं। नैतिक शुभत्व भावनाओंके क्षेत्रमें सौन्दर्यका सूचक है। वह सौन्दर्य इसपर निर्भर है कि समग्रतामें अंगोंकी संगति और सन्तुलन हो।

यह कथन हमें शुभके स्वरूपकी ओर ले जाता है। अंग और अंगी, अंश और पूर्णकी संगति ही शुभत्वकी सूचक है। यहाँपर वह स्वार्थ और परार्थके प्रश्नको हल करता है। किसी भी वस्तुका शुभत्व उसका उसके व्यापक विधान या समग्रताके संगतिपूर्ण सम्बन्धका सूचक है। किसी विधानके अंग या अंशको शुभ कहनेके पूर्व यह जानना आवश्यक हो जाता है कि उसका सम्बन्ध सम्पूर्णता और समग्रताके साथ सन्तुलित है या नहीं। जब हम मनुष्यके कर्मों, भावनाओं और प्रवृत्तियोंके स्वरूपको समझनेका प्रयास करते हैं तो यह ध्यानमें रखना आवश्यक हो जाता है कि वह सामाजिक प्राणी है। अतः उसे सामाजिक समग्रताके सम्बन्धमें ही समझा जा सकता है। जब पर्याप्तता और अपर्याप्तताके सिद्धान्तका प्रयोग मनुष्यके सम्बन्धमें किया जाता है तब उसका यह अर्थ होता है कि सद्गुणकी सार्थकता उन भावनाओंकी प्रकृतिपर निर्भर है जो मानव जातिके शुभके लिए हैं। मनुष्यके कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यको परखनेका यही परम मानदण्ड है और इस मानदण्डके आधारपर यह सिद्ध किया जा सकता है कि हॉब्सकी भाँति शुभकी स्वार्थमूलक व्याख्या नहीं कर सकते।

शुभका स्वरूप : स्वार्थ-परमार्थका प्रश्न

यदि यह मान भी लें कि उसकी प्रवृत्तियाँ आत्म-सुखकी खोज करती हैं तो ऐसी प्रवृत्तियोंको हम शुभ नहीं कह सकते। हम मनुष्यको तभी श्रेष्ठ कहेंगे जब उसके समस्त आवेग और स्वभावकी वृत्तियाँ इस भाँति सन्तुलित और संस्कृत हो जायँ कि वे व्यापक मानव-हितकी उन्नति करें। हॉब्सने यह समझाया कि स्वार्थसिद्धिके लिए आदेशोंका पालन करना शुभ है। किन्तु शैफ्ट्सबरी कहता है कि उन कर्मोंको शुभ नहीं कह सकते जिनका बाह्य रूप अच्छा है अथवा जिनका परिणाम लाभप्रद है। जब व्यक्तिकी प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ ऐसी हैं कि वह अपने-आप, बिना बाह्य दबावके, मानव-स्वभावके सुख या शुभकी वृद्धि करती हैं तो वह शुभ हैं। बुद्धिमान प्राणियोंमें शुभत्व उन निःस्वार्थ वृत्तियों द्वारा व्यक्त होता है जिनका प्रत्यक्ष ध्येय दूसरोंका शुभ है। शैफ्ट्सबरी मनुष्योंके आवेगों और वृत्तियोंका विस्तारपूर्वक विश्लेषण कर कहता है कि शुभत्व दोनों प्रकारकी वृत्तियोंके सह-अस्तित्वपर निर्भर है।

शैफ्ट्सबरीने हॉब्सके परमस्वार्थवादका खण्डन किया। उसका कहना है कि आनन्दके लिए स्वार्थ और परमार्थका उचित अनुपातमें होना आवश्यक है। वैयक्तिक और सामाजिक भावनाओंका मिश्रण और सन्तुलन उस व्यक्तिके लिए आनन्ददायक है जिसमें सामाजिक हितकी भावना है। अतः लोकहित वैयक्तिक शुभका विरोधी नहीं है बल्कि इससे उस व्यक्तिको सुख मिलता है जिसमें लोकहितकी भावना होती है। स्वार्थ और परमार्थकी संगतिको सिद्ध करनेके लिए ही शैफ्ट्सबरीने यह आवश्यक समझा कि वह आत्म-स्वार्थ और सद्‌गुणके साम्यको समझाये। एक ओर वह कहता है कि सद्‌गुण अपने-आपमें वाञ्छनीय है और दूसरी ओर वह परमस्वार्थवादका खण्डन करते हुए कहता है कि सद्‌गुण और आत्म-प्रेममें संगति है। उसके तर्कोंसे यह भी ध्वनि निकलती है कि स्वार्थ और परमार्थके समन्वयका विश्वास हमें सद्‌गुणोंका पालन करनेके लिए प्रेरित करता है।

शुभ और आनन्द : स्वार्थ-परमार्थ

शैफ्ट्सबरी मनुष्य-स्वभावका विस्तारपूर्वक विश्लेषण करता है और कहता है कि उसमें तीन प्रकारकी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं : (१) स्वाभाविक भावना—प्रेम, सहानुभूति, आत्मसन्तुष्टि आदि, (२) आत्म-भावना—जीवन-के प्रति प्रेम, दैहिक क्षुधा आदि, (३) अस्वाभाविक भावना—बर्बर रीतियाँ, अन्धविश्वास, घृणा, शत्रुता, निर्दयता आदि। इन प्रवृत्तियोंका गहन अध्ययन बतलाता है कि पूर्णरूपसे सन्तुलित मानस वह है जो अस्वाभाविक भावनाओंसे मुक्त है। ये भावनाएँ न तो व्यक्तिके लिए शुभ हैं, न समाजके लिए। आत्म-भावनाएँ यद्यपि प्रत्यक्ष रूपसे वैयक्तिक कल्याणको देनेवाली हैं तथापि अनुभव यह बतलाता है कि वे एक सीमातक ही शुभकी वृद्धि करती हैं, अन्यथा वे हानिप्रद हैं। अत्यधिक इन्द्रियेच्छा और आत्म-प्रशंसाकी प्रवृत्ति बुरी है। स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ वे प्रवृत्तियाँ हैं जो कि उस व्यक्तिके लिए आनन्दका स्रोत हैं जो इनका अनुभव करता है। परोपकारी प्रवृत्तियोंकी सम्पन्नता मानसिक सन्तोष देती है। दूसरोंके सुखका सहानुभूतिमूलक आनन्द आत्मिक सन्तोष देता है। स्थूल दृष्टिसे यह प्रतीत होता है कि स्वार्थनिरपेक्ष प्रवृत्तियोंका ध्येय दूसरोंका सुख है पर वास्तवमें वे व्यक्तिको सुख देती हैं। इन विभिन्न विश्लेषणों द्वारा शैफ्ट्सबरीने यह सिद्ध किया कि प्रेम करना और दया करना अपने-आपमें वह मौलिक आनन्द है जिनसे केवल तृप्ति मिलती है; तथा क्रूर और पापी होना दुःखी होना है।

शैफ्ट्सबरीने यूनानी विचारधाराका पुनरुत्थान किया। यूनानियोंने शुभ और सुन्दरमें ऐक्य देखा। किन्तु तत्वदर्शन और नीतिशास्त्रसे भिन्न सौन्दर्यशास्त्रका अस्तित्व नहीं है। नैतिक दृष्टिसे सुन्दर वह है जो शुभ और तात्विक है। नैतिक बोधको सौन्दर्यबोधकी श्रेणीमें रखना अनुचित है। दोनोंमें भेद है, इसे शैफ्ट्सबरी नहीं समझ पाया। यदि किसी व्यक्तिमें सौन्दर्य-बोधकी उचित शक्ति न हो अथवा कमी हो तो भी वह समाजमें सम्मान-नीय सदस्यका स्थान प्राप्त कर सकता है। यह कथन प्रमाणकी अपेक्षा

सौन्दर्यबोध और नैतिक बोधमें भेद

नहीं रखता क्योंकि हमें इसका अनुभव वास्तविक जीवनमें होता रहता है। सच तो यह है कि अधिकांश लोगोंका कलात्मक बोध इतना दोषपूर्ण होता है कि यह कहना पड़ता है कि उनमें यह बोध नहींके बराबर है। किन्तु यदि व्यक्तिका नैतिक बोध उचित मात्रामें विकसित न हो तो सब उससे दूर रहना पसन्द करेंगे और उसे हीन दृष्टिसे देखेंगे। नैतिक बोधके ऐसे प्रमुत्वको शैफ्ट्सबरी भूल जाता है और वह नैतिक बोध तथा कलात्मक बोधमें सादृश्य देखता है।

शैफ्ट्सबरीके अनुसार नैतिक बोध जन्मजात है, जिसे शिक्षा द्वारा विकसित और मार्जित किया जा सकता है। उस शिक्षाका क्या स्वरूप है जो इसे मार्जित कर सकती है? क्या इस आधारपर शिक्षा नैतिक बोधका मानदण्ड नहीं हो जायगी? नैतिकताके ज्ञानको नैतिक बोधके आधारपर समझाना भी विपदाओंको स्वीकार करना है। नैतिकताका ज्ञान नेत्रेन्द्रिय, कर्णेन्द्रियके ज्ञानके समान नहीं होता। आँखसे देखते ही हम रंगके बारेमें निर्णय देते हैं। कर्मके औचित्य-अनौचित्यके बारेमें प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान नैतिकताका मानदण्ड भी नहीं है। उसके लिए पर्याप्त चिन्तन और तर्क-वितर्ककी आवश्यकता है। पुनः यदि नैतिक बोध दुर्बोध नहीं है और उसका बौद्धिक स्पष्टीकरण सम्भव है तो यह बतलाना भी आवश्यक है कि किस आधारपर हम नैतिक बोधका बौद्धिक स्पष्टीकरण कर सकते हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि वह कौन-सा मानदण्ड है जो प्रत्येकपर लागू होता है, न कि केवल संस्कृत रुचिपर। नैतिक बोध भिन्न लोगोंमें भिन्न मात्राओंमें होता है; हमें उसमें जाति और राष्ट्रका भेद मिलता है। शैफ्ट्सबरी मनुष्यके सामाजिक स्वभावके आधारपर नैतिक बोधको समझाता है और कहता है कि संस्कृत नैतिक रुचि उसका अनुमोदन करती है जो सम्पूर्ण समाजके लिए शुभ है। शैफ्ट्सबरीके सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए हचिसनने 'अधिकतम संख्याके लिए अधिकतम सुख'के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया।

शैफ्ट्सबरीने यह समझाया कि जनहित वैयक्तिक हितके समान है।

ऐसा सिद्धान्त स्वाभाविक रूपसे आशावादी अवश्य है किन्तु, प्रामाणिक नहीं है। शैफ्ट्सबरी हॉब्सके परमस्वार्थवादको असिद्ध नहीं कर पाया और यही कारण है कि वह जनहित और वैयक्तिक हितमें वास्तविक ऐक्य स्थापित नहीं कर पाया। दोनों प्रकारके कर्मकी प्रेरणाओंमें विरोध रह जाता है अतः नैतिक बाध्यताकी भावनाको समझाना कठिन हो जाता है। शैफ्ट्स-बरी केवल यह समझाता है कि स्वार्थमूलक प्रवृत्तियोंके अतिरिक्त नैतिक और सामाजिक भावनाएँ भी सुखका स्रोत हैं। पर वह इस तथ्यको नहीं समझ पाया कि सामाजिक भावनाओंकी तृप्ति भी स्वार्थमूलक हो सकती है यदि उसके साथ यह भाव या चेतना युक्त न हो कि दूसरेका शुभ ही मेरा शुभ है अथवा वैयक्तिक शुभ और पारमार्थिक शुभ अभिन्न हैं। सामाजिक आचरणके लिए जिस निःस्वार्थताकी आवश्यकता होती है उसकी ओर हचिसन हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।

नैतिक आचरण समझानेमें असमर्थ

शैफ्ट्सबरीको हम श्रेय इसलिए नहीं देते कि उसने किसी मौलिक विचारधारा एवं सत्यको हमारे सम्मुख रखा बल्कि इसलिए कि उसने सामाजिक कर्त्तव्यकी ओर प्रेरित करनेवाली आवेग-जन्य भावनाओंको अपने सिद्धान्तका केन्द्रबिन्दु बनाया। क्लार्कने सार्वभौम परोपकारिता तथा कम्बरलैण्डने सर्वशुभको परम नियम मानकर इस तथ्यपर प्रकाश डाला। किन्तु शैफ्ट्सबरीसे पहिले किसीने भी अनुभवका विश्लेषण करके यह स्पष्ट रूपसे नहीं समझाया कि मनुष्य-स्वभावकी स्वार्थी और परमार्थी प्रवृत्तियोंमें संगति है और न उसकी भाँति अभीतक किसीने भी स्पष्ट रूपसे नैतिक रुचिको बुद्धिसे हटाकर उन भावनाओंपर केन्द्रित किया जो कि सामाजिक कर्त्तव्य करनेके लिए प्रेरित करती हैं।

श्रेष्ठता

हचिसन

हचिसन[1] ने शैफ्ट्सबरीके सिद्धान्तको स्वीकार करते हुए उसे अधिक

---

१. Francis Hutcheson 1694-1747.

विकसित और संगतिपूर्ण बनाया। नैतिक इन्द्रियवादके साथ ही उसने बटलरके अन्तर्बोधके सिद्धान्तको भी स्वीकार किया।

बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियों, शैफ्ट्सबरी तथा बटलरकी भाँति वह हॉब्सके नैतिक सापेक्षवादकी आलोचना कर कहता है कि नैतिक विभक्तियाँ आत्मगत नहीं, वस्तुगत हैं। कर्म, प्रवृत्तियों आदिके स्वरूपको अथवा वस्तुगत भेदको नैतिक बोध द्वारा समझा जा सकता है। उसने सौन्दर्यकी ग्राह्यताका उदाहरण देकर नैतिक बोधकी शक्तिको समझाया। वह नैतिक बोधको सौन्दर्यबोधके सदृश मानता है। किसी सुन्दर वस्तुके रूपकी प्रशंसा करते हुए यह कहते हैं कि वस्तु सुन्दर है। ऐसा कथन यह सूचित करता है कि सुन्दरताका सम्बन्ध वस्तुसे है अथवा सुन्दरता वस्तुगत है। यदि सुन्दरता आत्मगत होती तो यह कहा जाता कि वस्तुका सौन्दर्य इसपर निर्भर है कि उसे देखनेमें सुख मिलता है। किन्तु वस्तु अपने-आपमें ही सुन्दर है। पहिले सुन्दरता है तब सुख है। इसी भाँति जब दूसरोंके चरित्र एवं सद्‌गुणोंकी प्रशंसा करते हैं तो वास्तवमें उनकी वस्तुगत श्रेष्ठताकी प्रशंसा करते हैं। नैतिक प्रत्ययोंको परिस्थितिजन्य माननेवाले विचारकोंके विरुद्ध वह कहता है कि विचारसाहचर्यके नियम, शिक्षा, रीति-रिवाज, सुख-दुःखकी भावनाएँ, आवश्यकताएँ आदि वस्तुके नैतिक गुणको नहीं बदल सकते हैं। वह वस्तुका आन्तरिक और आभ्यन्तरिक गुण है अतः विषयी अथवा देखनेवाले मानससे स्वतन्त्र नैतिक गुणका अपना अस्तित्व है। ऐसे वस्तुगत गुणको मनुष्य अपने नैतिक बोध द्वारा समझ सकता है। नैतिक बोधकी तुलना सौन्दर्यबोधसे की जा सकती है, वास्तवमें वह सौन्दर्य-बोधकी ही भाँति है। नैतिक बोध सर्वसामान्य गुण है। वह प्रत्येक व्यक्तिमें है। यह भी सच है कि अन्य बोधोंकी भाँति वह प्रत्येक व्यक्तिमें समान रूपसे विकसित नहीं है। अतः उचित शिक्षा और व्यापक अनुभव द्वारा उसे मार्जित और उन्नत करनेकी आवश्यकता है। व्यक्तियोंमें नैतिक बोधके असमान रूप एवं विकासके आधारपर हचिसन नैतिक नियमोंकी

नैतिक विभक्तियाँ तथा नैतिक बोध

भिन्नताको समझाता है। वह कहता है कि अविकसित नैतिक बोध बाह्य वस्तुओंके आन्तरिक गुणोंका परम ज्ञान नहीं दे सकता है। भिन्न देशों, कालों और जातियोंके भिन्न नैतिक मानदण्डोंके मूलमें अविकसित नैतिक बोध है।

बुद्धिवादी सहजज्ञानवादके विरुद्ध

बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियोंके विरुद्ध हचिसन यह समझाता है कि बुद्धि केवल सैद्धान्तिक या विचारप्रधान नहीं है और न उसे कर्मके प्रेरकके रूपमें ही स्वीकार किया जा सकता है। बुद्धि घटनाओंका विश्लेषण कर सकती है, साधनोंकी ओर ध्यान आकर्षित कर सकती है और भिन्न ध्येयोंकी तुलना कर सकती है किन्तु वह कर्म करनेके लिए पर्याप्त प्रेरणा नहीं दे सकती। जब संकल्प स्वतन्त्रतापूर्वक कर्म करता है तब उसे आत्म-प्रेम, परोपकार या नैतिक बोधकी प्रवृत्तियाँ ही प्रेरित करती हैं। वह स्वार्थ और परमार्थकी समस्याको भी उठाता है। वह मानता है कि निरन्तर दूसरोंका सुख उत्पन्न करनेकी इच्छामें ही नैतिक पूर्णता है। जब नैतिक बोध अपनी पूर्ण शक्तिमें होता है तब व्यक्ति लोकहितकी उदार भावनाको सर्वोपरि स्थान देता है। अपने ऐसे नैतिक विश्वासकी पुष्टि हचिसन अपनी धार्मिक निष्ठाके आधारपर करता है। जो ध्येय भगवान्‌के सम्मुख है वह अधिकाधिक सार्वभौम सुखका अर्जन करना है और उसने हमें इस लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिए नैतिक बोध दिया है। यहाँपर हम कह सकते हैं कि उपयोगितावादके बीज हचिसनके सिद्धान्तमें मिलते हैं।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा मानव-प्रवृत्तियोंका स्पष्टीकरण

शैफ्ट्सबरीके सामान्य दृष्टिकोणको हचिसनने अनेक मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों द्वारा अधिक पूर्णतासे समझाया। उसने मानव-प्रवृत्तियोंका विश्लेषण करके उनके भेदोंको बतलाया और साथ ही सद्‌गुणको परोपकारसे संयुक्त किया। शान्त परोपकार, शान्त आत्म-प्रेम तथा अशान्त क्षोभजनक वासनाओंके भेदको समझाकर उसके सद्‌गुण और परोपकारिताका एकत्व स्थापित किया। अशान्त

क्षोभजनक वासनाएँ चाहे स्वार्थी अथवा परमार्थी हों अच्छी नहीं हैं। वह आनन्दके तत्वोंका विश्लेषण करता है और यह समझानेकी चेष्टा करता है कि निजी सुखके प्रति उचित दृष्टिकोण सदैव नैतिक बोध और परोपकारके बीच सन्तुलन रखता है। स्वार्थ और परमार्थमें संगति मानने पर भी वह इस तथ्यपर उचित महत्व देता है कि नैतिक व्यक्तिको यह सदैव ध्यानमें रखना चाहिये कि परोपकारी प्रवृत्तियाँ पूर्ण रूपसे स्वार्थनिरपेक्ष हों। शैफ्ट्सबरीने दोनोंमें संगति मानते हुए यह कहा था कि परार्थ प्रवृत्तियाँ सुख देती हैं। उसका ऐसा कथन स्वार्थकी ओर संकेत करता है और उससे यह ध्वनि निकलती है कि सुखकी इच्छा परोपकारके लिए प्रेरित करती है। किन्तु हचिसन निःस्वार्थ परोपकारको महत्व देते हुए कहता है कि उस प्रवृत्तिका विकास करना चाहिये जो कि निःस्वार्थ रूपसे दूसरोंके सुखका उत्पादन करती है।

हचिसनमें बटलरका प्रभाव स्पष्ट दीखता है। बटलरकी भाँति वह नैतिक बोधके नियन्त्रण और संयमनके कार्योंपर महत्व देता है। किन्तु फिर भी वह दयालु भावोंको नैतिक अनुमोदनका प्रमुख विषय मानता है। उसका कहना है कि सबसे अधिक श्रेष्ठ प्रवृत्ति जो कि स्वभावतः सबसे अधिक समर्थन प्राप्त करती है वह या तो शान्त, निश्चल सार्वभौम सद्भाव है जिसके द्वारा व्यक्ति अधिकसे अधिक प्राणियोंके अधिकसे अधिक कल्याणकी कामना रखता है या वह नैतिक श्रेष्ठताकी इच्छा और प्रेम है जो सार्वभौम हितकी कामनासे अभिन्न है। इन दोनों सिद्धान्तोंमें विरोध नहीं हो सकता। अतः यह निर्धारित करनेकी आवश्यकता नहीं है कि कौन सर्वोच्च है। हचिसन उन्हें सजातीय मानता है।

बटलरसे प्रभावित

हचिसनने नैतिक बोधकी अनेक रूपसे व्याख्या की है : रुचि, सहजप्रवृत्ति, बोध आदि। ऐसे असंगतिपूर्ण वर्णनोंको स्वीकार करनेमें दो कठिनाइयाँ प्रतीत होती हैं। प्रथम उनमें संगति और एकरूपता नहीं मिलती हैं क्योंकि उनकी परिभाषाएँ स्थिर नहीं हैं। द्वितीय, ये भिन्न परिभाषाएँ

यह प्रकट करती हैं कि नैतिक बोध निष्क्रिय शक्तिमात्र है जो बाह्य वस्तुओंसे प्रभावित हो जाता है। एक ही वस्तुकी विभिन्न परिभाषाएँ यह समझाती हैं कि विचारकके मानसमें उस वस्तुका स्वरूप स्पष्ट नहीं है। किन्तु साथ ही

नैतिकबोधके अर्थ : अस्पष्ट

हचिसन यह भी मानता है कि नैतिक बोध नैतिक अनुमोदनके समान है और वह निर्णयका सूचक है। अपने निर्णयके रूपमें वह केवल भावना या इन्द्रियबोध नहीं है किन्तु उसमें एक बौद्धिक या ज्ञानात्मक तत्व है। किसी भावनाका अनुभव करना और उसके अनुसार स्वतः कार्य करना और किसी कर्मके औचित्य-अनौचित्यको समझकर उसके अनुरूप कर्म करनेकी नैतिक बाध्यताका अनुभव करना दो भिन्न बातें हैं। बटलरसे प्रभावित होकर वह नैतिक बोधके अनुशासन करनेकी क्षमताकी बात कहता है पर वह उसके निरपेक्ष प्रभुत्वको नहीं समझा पाता। वह यह बतलानेमें असमर्थ है कि नैतिक बोधका प्रभुत्व सब कर्मोंपर निरपेक्ष रूपसे है और यदि नैतिक बोधको विशिष्ट रुचिके रूपमें स्वीकार कर लें तो यह स्पष्ट है कि विशिष्ट रुचि सम्पूर्णको प्रभावित नहीं कर सकती और न इसका प्रभुत्व ही निरपेक्ष हो सकता है।

नैतिक बोधवादकी आलोचना

नैतिक बोधवादियोंने अपने सिद्धान्त द्वारा विशेषकर इसपर बल दिया कि हमें नैतिक बोधके सिद्धान्तपर चिन्तन-मनन करनेकी आवश्यकता नहीं क्योंकि यह स्वभावतः प्रत्येक संस्कृत रुचिमें समाहित है। अतः यह वह सिद्धान्त है जो केवल नैतिक बोधके अस्तित्वको समझाता है और उसकी प्रामाणिकताको सिद्ध करनेका प्रयास नहीं करता। ऐसा सिद्धान्त हमारी जिज्ञासाको पर्याप्त सन्तुष्ट नहीं करता।

नैतिक बोधका हठपूर्वक समर्थन

शैफ्ट्सबरीने कम्बरलैण्ड और कैम्ब्रिज प्लेटोनिस्ट्सके सिद्धान्तकी भावनाहीन बुद्धिको भावनासे युक्त करके विकसित किया। भावना और

नैतिक बोधवाद : अमूर्त बुद्धिकी धारणाका परिणाम

बुद्धि दोनों मिलकर कर्मको प्रेरित करते हैं। नैतिक कर्म भावनायुक्त है। नैतिक शक्तिको कोरा तर्क या बुद्धिका आधार देकर नहीं समझा जा सकता है। भावनायुक्त बुद्धि सत्कर्मकी प्रेरक है। नैतिक शक्ति एक प्रकारकी विशिष्ट व्यावहारिक शक्ति है। वह हमें सत्कर्मोंकी ओर सहज ही आकर्षित करती है। शैफ्ट्सबरीके सिद्धान्तसे प्रभावित होकर उसके बादके नीतिज्ञोंने अमूर्त बुद्धिके आधारपर नैतिक सिद्धान्तको समझानेकी रीतिको छोड़ दिया। बुद्धिको महत्व देनेके बदले उन्होंने मनुष्यके मानसका अनुभवात्मक अनुशीलन किया और आवेगों तथा स्थायीभावोंकी वास्तविक क्रियाओंका निरीक्षण किया और अपने सिद्धान्तमें अनुभवपर आधारित मनोविज्ञानको स्थान दिया। शैफ्ट्सबरी प्रथम नीतिज्ञ है जिसने स्पष्ट रूपसे मनोवैज्ञानिक अनुभवोंको नीतिशास्त्रका आधार माना और हचिसन उसका प्रमुख अनुयायी है। हचिसनने शैफ्ट्सबरीके सिद्धान्तको अधिक मनोवैज्ञानिक और संगत बनाया। हचिसनसे ह्यूम प्रभावित हुआ और ह्यूमसे उपयोगितावादी प्रभावित हुए। शैफ्ट्सबरीकी युक्तियोंके सारभावको बटलरने अपनाया, यद्यपि उसने उसके सिद्धान्तमें अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन भी किये।

नैतिक बोधवादियोंको हम बुद्धिवादी सहजज्ञानवादियोंकी प्रतिक्रियाके रूपमें समझ सकते हैं। यद्यपि वे बुद्धिवादियोंके साथ स्वीकार करते हैं कि

महत्वपूर्ण देन

हॉब्सवाद विपज्जनकवाद है तथापि उन्होंने उनकी अमूर्त बौद्धिक धारणाकी आलोचना की। अतः नैतिक बोधवाद अमूर्त बुद्धिवाद और परमस्वार्थवादका मध्यवर्ती दृष्टिकोण है। उपर्युक्त दुर्बलताओंके होते हुए भी शैफ्ट्सबरी और हचिसनका सिद्धान्त महत्वपूर्ण सत्यसे अछूता नहीं है। प्रत्येक निर्णयमें एक सहज या अपरोक्ष तत्व रहता है, इसमें सन्देह नहीं है। यदि हम सामान्य सिद्धान्तोंके आधारपर भी विशिष्ट ध्येयोंका मूल्यांकन करें तो भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हम उपर्युक्त सत्यका निराकरण नहीं कर सकते हैं।

सर्वोच्च सार्वभौम सिद्धान्तका ज्ञान सहज रूपसे ही होता है क्योंकि सर्वोच्च होनेके कारण उसका सरलीकरण नहीं किया जा सकता। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि ऐसे अनिवार्य सहज निर्णय अधिकतर अविश्वसनीय हैं जो कि व्यावहारिक जीवनकी उन स्थितियोंके लिए आवश्यक हैं जहाँ सतर्क चिन्तन असम्भव है। शैफ्ट्सबरी और हचिसनने यह समझाया कि शुभ केवल उस अमूर्त सार्वभौम सत्यको नहीं कहते जो विशिष्ट वैयक्तिक अनुभवों द्वारा दुर्गम है। उन्होंने कहा कि विशिष्ट शुभका प्रत्यक्ष बोध या भोग, चाहे वह सुख हो या मानसिक क्रिया या कोई अन्य विषय, एक सहज क्रिया है। शुभका ऐसा स्वरूप यह बतलाता है कि उसका सम्बन्ध व्यक्तिगत चेतनासे है। शुभ अपनेमें ही सन्तोष देता है और उसका बोध इस रूपमें मिल सकता है कि उससे एक या अनेक व्यक्तियोंको तत्काल सुख प्राप्त होता है।

बटलर

बटलर[१] अट्ठारहवीं शताब्दीके अंग्रेज सहजज्ञानवादियोंमें व्यावहारिक दृष्टिसे सर्वाधिक गम्भीर विचारक है। उसने क्लार्ककी अनुभवनिरपेक्ष बौद्धिक प्रणालीकी प्रामाणिकताको स्वीकार करते हुए स्वयं आगमनात्मक प्रणालीको अपनाया। उसने नीतिशास्त्रको मानव-स्वभावके अनुभूत तत्वोंपर आधारित किया। उसके अनुसार निरीक्षण द्वारा हम यह बतला सकते हैं कि मानव-जीवनका उद्देश्य क्या है। इस उद्देश्य के लिए कर्म करनेमें ही मनुष्यको वास्तविक आनन्द प्राप्त होता है। अन्तर्मुखी निरीक्षण बतलाता है कि मनुष्यका स्वभाव उस प्राणीकी भाँति नहीं है जो सामान्य रूपसे कुछ नियमोंके अनुसार कर्म करता है किन्तु वह उसकी भाँति है जिसे कि कुछ आदर्श सिद्धान्तोंके अनुसार कर्म करना चाहिये; चाहे, वास्तवमें, वह उन

आन्तरिक और बाह्य निरीक्षण अन्तर्बोधके सर्वोच्च अधिकारकी स्थापना करता है

१. Joseph Butler 1692—1752.

आदर्शोंके अनुरूप कर्म करे या न करे। निरीक्षण तथा अन्तर्निरीक्षण द्वारा बटलर इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि नैतिक बाध्यताकी चेतना मानव-स्वभावका एक सत्य है और यह चेतना इस बातका पर्याप्त प्रमाण है कि नैतिक बाध्यता एक वस्तुगत सत्य है। अतः नैतिक कर्त्तव्यकी बाध्यता आन्तरिक है, बाह्य नहीं। इस आन्तरिक शक्तिके कारण मनुष्य अपना नियम स्वयं है। बटलर अन्तर्बोधके आदेश अथवा अधिकारको सर्वोच्च मानता है और कहता है कि इस सर्वोच्चताको समझानेके लिए प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि अन्तर्बोध अपने इस अधिकारको अपने साथ रखता है कि वह हमारा प्रकृतिदत्त निर्देशक है और वह निर्देशक हमें हमारी प्रकृतिके स्रष्टा द्वारा दिया गया है।

हचिसन और शैफ्ट्सबरी अन्तर्बोधके सर्वोच्च आदेशको समझानेमें असमर्थ रहे। बटलर नैतिक बोधके बदले अन्तर्बोधका प्रयोग करके तथा

धार्मिक मनोवृत्ति

उसके आदेशको सर्वोच्च कहकर नैतिक बोधवादकी इस कमीको दूर करनेका प्रयास करता है। बटलरके ऐसे सिद्धान्तके मूलमें हमें उसके पादरीके व्यक्तित्वकी झलक मिलती है। पादरी होनेके कारण ही, सम्भव है, बिना व्यवस्थित दर्शनका प्रतिपादन किये वह कहता है कि प्रकृतिका स्रष्टा बुद्धिमान है; वह परोपकारी है, वह मनुष्यको उन कर्मोंके बारेमें शिक्षा देता है जिन्हें करना उसका उद्देश्य है। और जब मनुष्य उन कर्मोंको करता है तो उससे स्रष्टाको आनन्द देता है।

जहाँतक मानव-समाजकी आवयविक समग्रताके रूपकका प्रश्न है, बटलर शैफ्ट्सबरीका पर्याप्त ऋणी है। बटलरके अनुसार समाज एक विधान-

समाजका आवयविक रूपक

की भाँति है जिसके अंश स्वतन्त्र रूपसे कर्म नहीं कर सकते हैं। समाजको स्वभावतः आवयविक समग्रता मानकर वह हॉब्सके विरुद्ध यह समझाता है कि समाज स्वार्थी इकाइयोंके समझौतेका अस्वाभाविक परिणाम नहीं है। मनुष्यका स्वभाव इतना अधिक सामाजिक है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने सत्य स्वभावके अनुरूप कर्म करने लगे तो समाज एक पूर्ण आवयविक विधान

बन जायगा जिसके अंग समग्रके हितके लिए क्रियाशील होंगे। बटलरके अनुसार हमें मानव-स्वभावसे जितना स्पष्ट आभास इस बातका मिलता है कि हम मानव-समाजके लिए बनाये गये हैं और अपने सजातीयोंके आनन्द और कल्याणकी वृद्धि करनेके लिए हैं उतना ही स्पष्ट आभास इस बातका भी मिलता है कि हम अपने जीवन, स्वास्थ्य तथा व्यक्तिगत शुभकी चिन्ता करनेके लिए बनाये गये हैं।

मनुष्य और समाजके आन्तरिक सम्बन्धको वह मनुष्य-स्वभावके सामाजिक पक्षकी दुहाई देकर समझाता है। वह कहता है कि मनुष्यके स्वभाव तथा उसकी प्रवृत्तियोंके अध्ययन द्वारा हम सिद्ध कर सकते हैं कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इन सामाजिक प्रवृत्तियोंको समझानेके लिए वह तीन तर्क प्रस्तुत करता है।

मनुष्यका स्वभाव : सामाजिक

(१) मनुष्यमें परोपकारका स्वाभाविक सिद्धान्त मिलता है। परोपकारके कारण ही मनुष्य दूसरोंके शुभको प्रत्यक्ष रूपसे खोजता है और दूसरोंके कल्याणमें सन्तोष प्राप्त करता है। उसके अनुसार मनुष्यकी सब प्रवृत्तियाँ स्वार्थी नहीं हैं। दया, मित्रता, पितृस्नेह, अपत्यप्रेम आदि प्रवृत्तियाँ स्वार्थनिरपेक्ष हैं। इन प्रवृत्तियोंके कारण मनुष्य उसी प्रकार दूसरोंके सुखकी चिन्ता करता है जिस प्रकार आत्मप्रेमके कारण निजी सुखकी। (२) लोकप्रवृत्तियाँ वे प्रवृत्तियाँ हैं जिनको न तो हम परोपकारके वर्गमें रख सकते हैं और न आत्म-प्रेमके। वे इन दोनोंसे भिन्न हैं, क्योंकि वे केवल वैयक्तिक और लोकहितकी ही उन्नति नहीं करतीं बल्कि समान रूपसे दोनोंकी वृद्धि करती हैं। व्यक्त रूपसे वे कुछ विशिष्ट ध्येयों—सामाजिक प्रेम, दूसरोंका आदर, आत्म-सम्मानकी इच्छा, कुकर्मोंके प्रति घृणा आदि—की प्राप्तिके लिए प्रयास करती हैं किन्तु अव्यक्त रूपसे वे सामान्य सुखकी वृद्धि करती हैं। इस प्रकार वे सामाजिक एकताको स्थापित करनेमें क्रियाशील रहती हैं। (३) अन्तर्बोध या चिन्तनका सिद्धान्त : इसके द्वारा व्यक्ति अपने हृदय, स्वभाव और कर्मोंका समर्थन या असमर्थन करता है। अन्तर्बोध नैतिक समर्थन और असमर्थनकी शक्ति है। मनुष्य-स्वभावमें जो

दो विरोधी प्रवृत्तियाँ, स्वार्थमूलक और परार्थमूलक अथवा आत्मप्रेम और परोपकारकी मिलती हैं उन प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण रखनेके लिए ही अन्तर्बोध या चिन्तनका सिद्धान्त है। अन्तर्बोध विरोधी प्रवृत्तियोंको सुनिर्देशित करता है अतः वह उन दोनोंसे श्रेष्ठ है। अन्तर्बोध मनुष्यको आत्महितके समान ही लोकहितके लिए कर्म करनेको प्रेरित करता है। यही कारण है कि यदि किसी व्यक्तिमें परोपकारकी प्रवृत्ति क्षीण होती है तो अन्तर्बोध उस कमीको दूर कर देता है। अथवा स्वभावसे दयालु न होनेपर भी कर्त्तव्यका बोध उसे आर्तके दुःखको दूर करनेके लिए प्रेरित करता है।

मनुष्य-स्वभावकी प्रवृत्तियोंके विश्लेषण द्वारा बटलरने यह समझाया कि मनुष्यका मानस आवयविक समग्रता या संयोजित पूर्णता है।

मानव-स्वभाव भी एक विधान है

वह विरोधी तत्वोंका समुदायमात्र नहीं है। मानव-जाति भी केवल व्यक्तियोंका समूह नहीं है प्रत्युत वह एक सुव्यवस्थित अंगी या विधान है। इसलिए किसीके लिए भी यह सम्भव नहीं है कि वह अपने हित और सामाजिक हितमें स्पष्ट भेद देखे। यह अवश्य है कि कुछमें स्वाभाविक सामाजिक प्रवृत्तियोंका अभाव है। पर इसके विपरीत यह कह सकते हैं कि कुछमें अपने हितकी समझ भी नहीं है। जहाँतक मनुष्यके सामान्य स्वभावका प्रश्न है उसे हम इन अपवादोंके आधारपर नहीं समझ सकते हैं।

प्लेटोकी भाँति बटलर मानव-आत्माकी तुलना राज्य-विधानसे करता है। ऐसे विधानकी धारणा यह इंगित करती है कि राज्यके प्रत्येक भाग अथवा प्रत्येक नागरिकका अपना विशिष्ट कर्मक्षेत्र होता है और सब नागरिक अधिकारतः केन्द्रीय सरकारके अधीन होते हैं। जब हम विधानकी धारणाका प्रयोग मनुष्यके स्वभावपर करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्बोधके परम आदेशकी सीमाके अन्दर ही सब प्रवृत्तियाँ और आवेग उचित रूपसे अपनी तुष्टि कर सकते हैं। अन्तर्बोध वह नियामक तत्व है जिसे कि हमारे स्वभावके मूर्त सक्रिय अंगोंके बीच संगति स्थापित करनी

होती है। अन्तर्बोध केन्द्रीय सरकारकी भाँति है जिसका ध्येय सम्पूर्ण राज्य-के अंगोंमें सहयोग और संगतिकी स्थापना करना है। संगतिसे क्या अभि-प्राय है? इसे कैसे प्राप्त कर सकते हैं? संगतिको प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है कि हमारे स्वभावके विभिन्न तत्वोंका उपयोग निर्दिष्ट ध्येयकी उन्नति करनेके लिए हो, न कि उसका विरोध करनेके लिए।

विधानकी धारणा : सक्रिय प्रवृत्तियों-का विधान

विधानकी धारणाका स्पष्टीकरण करनेके लिए बटलर कहता है कि मानव-स्वभावमें अनेक प्रवृत्तियाँ हैं। इनके पारस्परिक सम्बन्धको समझाने-के लिए ही वह प्लेटोकी भाँति आत्माकी तुलना राज्य-विधानसे करता है। मानव-स्वभाव अनेक तत्वोंकी आवयविक समग्रता है। इस आवयविक समग्रतामें अनेक सक्रिय प्रवृत्तियाँ, राग और रुचियाँ हैं। कुछ कर्मकी प्रेरणाएँ अन्य कर्मकी प्रेरणाओंपर शासन करती है और कुछ शासित होती हैं। मानव-स्वभावके मुख्यतः चार तत्व हैं—(१) विशिष्ट आवेग, राग और प्रवृत्तियाँ, (२) परोपकार, (३) आत्म-प्रेम तथा (४) अन्तर्बोध। विशिष्ट आवेग, राग और प्रवृत्तियाँ विशिष्ट विषयोंकी खोज करती हैं। उदाहरणार्थ, भूखका विषय भोजन है और दयाका आर्तके दुःखको दूर करना। आत्म-प्रेम वैयक्तिक हित और परोपकार लोकहितकी चिन्ता करता है। अन्तर्बोध सर्वोच्च तत्व है। अथवा मनुष्यका स्वभाव अन्तर्बोधके शासन एवं सर्वोच्च अधिकारमें एक विधान या राज्यकी भाँति है। इस विधानके विभिन्न तत्वोंके विशिष्ट व्यापार हैं। राज्यके सदस्य होनेके कारण प्रत्येक तत्वका अपना वैयक्तिक अधिकार और कर्त्तव्य है। अतः इस विधानका कोई भी तत्व एवं प्रेरणा अपने आपमें बुरी नहीं है। किन्तु जब कोई प्रेरणा अपनी सीमाओंका उल्लंघन करने लगती है एवं अपने क्षेत्रके बाहर कर्म करने लगती है तो वह बुरी हो जाती है। उदा-हरणार्थ, वह उसी भाँति बुरी है जिस भाँति कि वह राज्य जो दूसरे राज्यके व्यापारोंपर बलपूर्वक अधिकार कर लेता है।

विधानकी धारणा बतलाती है कि विशिष्ट आवेग, राग और प्रवृ-

त्तियाँ सहज रूपसे एक ओर तो आत्मप्रेमके अधीन हैं और दूसरी ओर परोपकारके। परोपकार सक्रिय प्रवृत्ति है, इसके कारण मनुष्य दूसरोंके सुखकी चिन्ता करता है। परोपकारको महत्व देते हुए बटलर कहता है कि यह हमारे लिए स्वाभाविक और नैसर्गिक है कि हम दूसरोंके शुभके अनुरूप अपनी प्रवृत्तियोंको निर्देशित और नियन्त्रित करें। आत्मप्रेमके लिए वह कहता है कि यह कर्मका सुचिन्तित और नियामक सिद्धान्त है जो आत्माके स्थायी आनन्दकी खोज करता है। आत्माके सुखकी खोज करनेपर भी वह उन विशिष्ट प्रवृत्तियों और रागोंकी भाँति नहीं है जो विशिष्ट विषयोंकी खोज—भूख, दर्दसे छुटकारा आदि—में लीन रहते हैं बल्कि वह उस सामान्य सुखकी खोज करता है जो सम्पूर्ण जीवनमें व्याप्त है। वह विशिष्ट प्रवृत्तियोंसे श्रेष्ठ है। सक्रिय प्रवृत्तियोंका प्रयोग वह अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिए करता है। अतः यहाँपर उसे हम समन्वयात्मक और सामञ्जस्यात्मक सिद्धान्तके रूपमें देखते हैं जो कि बौद्धिक है और इस कारण अन्य सक्रिय प्रवृत्तियोंसे श्रेष्ठ अधिकार रखता है। बटलर यह भी मानता है कि यदि आत्मप्रेम अबौद्धिक है तो वह अपने ही ध्येयका विरोध करता है। उदाहरणार्थ, जब कि वह विशिष्ट आवेगोंको उस सामान्य संगतिको भङ्ग करने देता है जो स्थायी आनन्दके लिए अनिवार्य है।

परोपकार और आत्मप्रेमसे श्रेष्ठ चिन्तनका सिद्धान्त या अन्तर्बोध है। यही औचित्यका नियम है। आत्मप्रेमकी भाँति यह भी कर्मका सुचिन्तित और नियामक सिद्धान्त है पर साथ ही यह वह शक्ति है जिसका प्रभुत्व परम है। यह अपना अधिकार बौद्धिक आत्मप्रेमको प्रदान करता है और विशिष्ट सामाजिक कर्त्तव्योंका भी उपभोग करता है।

अन्तर्बोध तथा अन्य प्रवृत्तियाँ

अन्तर्बोध अन्य प्रवृत्तियोंपर परम अधिकार रखता है किन्तु साथ ही यह उनपर निर्भर भी है क्योंकि मनुष्यमें बुद्धि या अन्तर्बोध अपने-आपमें सद्गुण उत्पन्न करनेके लिए पर्याप्त प्रेरक नहीं है। वह केवल निर्देशक है और अपने आदेशके अनुपातमें शक्तिका प्रयोग नहीं कर सकता है। इस कारण उसे प्रवृत्तियोंके साथ

मैत्री करनी पड़ती है और उनकी वृद्धिको एक उचित मात्रातक प्रोत्साहित करना होता है। वास्तवमें वह प्रवृत्तियोंको सन्तुलित करके उन्हें अपने अनुकूल बनाता है।

अन्तर्बोध आत्मप्रेम और परोपकारसे श्रेष्ठ है। मानव-विधानमें अन्तर्बोधका विशिष्ट स्थान होनेके कारण इसका सिद्धान्त परम सिद्धान्त है।

अन्तर्बोध

कर्म और चरित्रका समर्थन और असमर्थन करनेवाला यह सिद्धान्त सामान्य राग और प्रवृत्तियोंकी भाँति केवल हमें प्रभावित ही नहीं करता बल्कि वह स्वभावतः उनसे श्रेष्ठ भी है। यदि उसमें अपने औचित्यके अनुरूप क्षमता भी होती और अधिकारके साथ ही शक्ति भी होती तो आज समस्त विश्व उससे अनुशासित होता। अन्तर्बोध या चिन्तनका सिद्धान्त प्रत्येक व्यक्तिमें है। वह प्रत्येक व्यक्तिके हृदयके आन्तरिक सिद्धान्तों तथा उसके बाह्य कर्मोंके भेदोंको समझाता है और अपने-आपपर तथा उनपर निर्णय देता है। इस प्रकार अन्तर्बोध कर्मोंके शुभ और अशुभको निर्धारित करता है तथा कर्ताके बिना पूछे ही उसके कर्मोंके औचित्य-अनौचित्यपर राजकीय गरिमाके साथ अपना निर्णय देता है। अन्तर्बोध स्वभावतः श्रेष्ठ है; यह श्रेष्ठता शक्तिकी नहीं किन्तु आदेशकी है। उसके आदेशानुसार कर्म अत्यन्त उच्च और श्रेष्ठ अर्थमें स्वाभाविक है। अतः अन्तर्बोध हमें औचित्यका नियम देता है और प्रत्यक्ष रूपसे हमें उस नियमको पालन करनेके लिए बाधित करता है।

'स्वाभाविक' शब्दके विभिन्न अर्थोंका परीक्षण कर बटलर इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि मनुष्यके स्वभावसे अभिप्राय उसके अन्तरके

अन्तर्बोध और स्वाभाविक

उस सिद्धान्तसे है जिसका आदेश सर्वोच्च है, यद्यपि यह आदेश सदैव प्रभावशील नहीं होता। यही अन्तर्बोधका सिद्धान्त है। अन्तर्बोधका सिद्धान्त बतलाता है कि कर्मके औचित्य-अनौचित्यको आँकनेके लिए उसे सम्पूर्ण विधानकी दृष्टिसे समझना होगा। विधानके स्वभावके अनुरूप कर्म शुभ और स्वाभाविक है और उसके विपरीत अशुभ और अस्वाभाविक। कर्मके

औचित्य-अनौचित्यको वैयक्तिक रुचि या अरुचिके सन्दर्भमें नहीं समझना चाहिये। सबसे श्रेष्ठ कर्म वह है जो स्वभाव या सम्यक् स्वभावके अनुरूप है। सम्यक् स्वभाव अथवा आदर्श विधानके रूपसे कर्मकी श्रेष्ठताको कैसे निर्धारित कर सकते हैं? जिस भाँति घड़ीका मूल्याङ्कन करनेके लिए एक पूर्ण घड़ीकी कल्पना कर लेते हैं और उसीके आधारपर घड़ीको अच्छी या बुरी कहते हैं उसी भाँति सम्यक् या पूर्ण स्वभावकी कल्पना कर लेते हैं। वैसे सम्यक् स्वभाव वह है जिसमें विशिष्ट प्रवृत्तियाँ, दूरदर्शिता और परोपकारकी सामान्य प्रवृत्तियोंके अधीन हैं और यह दोनों अन्तर्बोधके सर्वोच्च सिद्धान्तके अधीन हैं। यहाँपर यदि यह प्रश्न उठायें कि विशिष्ट प्रवृत्तियोंको सम्यक् स्वभावमें किस सीमातक तृप्त कर सकते हैं अथवा यदि परोपकार और आत्म-प्रेममें विरोध हो तो उस विरोधको कैसे दूर कर सकते हैं तो बटलरकी ओरसे हमें कोई निश्चित उत्तर नहीं मिलता। वास्तवमें यहाँपर हम अन्तर्बोधके ज्ञानात्मक रूपको स्वीकार कर लेते हैं। कर्म और चरित्रका नैतिक मूल्याङ्कन करनेके लिए चिन्तन और तुलनात्मक दृष्टिकी आवश्यकता है। कर्म और चरित्रको सम्पूर्णके सन्दर्भमें समझना होगा और सम्पूर्ण अथवा स्वभावके अनुरूप कर्म करना सद्गुण है और विपरीत दुर्गुण है।

नैतिक बोध और अन्तर्बोध

शैफ्ट्सबरीके अन्तर्बोध और बटलरके अन्तर्बोधमें अन्तर है। बटलर नैतिक बाध्यताको अधिक महत्व देता है और उसे आत्मप्रेमसे श्रेष्ठ अधिकार देता है। नैतिक नियम आन्तरिक है। मनुष्य अपना नियम स्वयं है। अन्तर्बोधका आन्तरिक नियम अनिवार्य अवश्य है किन्तु वह सामान्यतः आत्मप्रेमके अनुरूप है क्योंकि दोनोंके लिए ही आवश्यक है कि हम उग्र आवेगोंको परोपकारी तथा अन्य प्रवृत्तियोंके अधीन रखें। बटलरका ऐसा कथन यह बतलाता है कि सद्गुण कर्त्तव्य और आत्मस्वार्थमें संगति है। शैफ्ट्सबरीका कहना है कि वर्तमान जीवनमें हम इस संगतिको पाते हैं। सद्गुण और आत्म-स्वार्थको इस जीवनमें अनुरूप मानते हुए बटलर इस तथ्यपर महत्व देता है कि यह अनुरूपता एवं संगति तबतक पूर्ण नहीं हो सकती

जबतक कि हम भविष्यके जीवनपर भी विश्वास न रखें। इस संगतिको माननेपर भी वह अन्तर्बोधके सर्वोच्च अधिकारको नहीं भूलता और कहता है कि वर्तमान जीवनमें नैतिक बाध्यता आत्म-स्वार्थसे ऊपर है। यही शैफ्ट्सबरी और उसमें प्रमुख भेद है। हचिसनके सिद्धान्तसे भी बटलरके सिद्धान्तकी भिन्नता सिद्ध की जा सकती है। हचिसनके अनुसार नैतिक बोध एक विशिष्ट शक्ति है जिसके द्वारा हम बाह्य जगतका ज्ञान उसी भाँति प्राप्त करते हैं जिस भाँति कि हम सौन्दर्य इन्द्रियसे वस्तुओंके सौन्दर्यका ज्ञान प्राप्त करते हैं। बटलर अन्तर्बोधको 'शक्ति'के नामसे अवश्य सम्बोधित करता है किन्तु वास्तवमें इससे उसका अभिप्राय उस मनुष्यसे है जो कि नैतिक कर्ता माना जाता है। यह मनुष्यकी वास्तविक आत्मा है और यहाँपर वह अरस्तूके समीप आ जाता है। अन्तर्बोध वास्तविक आत्मा एवं बुद्धि है।

आलोचना

बटलरने मानव-स्वभावको प्लेटोकी भाँति राज्यविधानके आधारपर समझाया और इस प्रकार मानव-स्वभावकी स्पष्ट और मूर्त व्याख्या की।

विधानकी धारणा वैराग्यवादकी विरोधी

मानव-स्वभाव अनेक तत्वोंकी आवयविक पूर्णता है। सभी तत्व औचित्यके नियमके अधीन हैं। औचित्यका नियम या अन्तर्बोध ही सर्वोच्च नियामक सिद्धान्त है। इसके कारण ही मानव-स्वभावमें संगति और सामञ्जस्य है। औचित्यका नियम यह भी बतलाता है कि विभिन्न प्रवृत्तियोंकी तृप्तिके लिए नैतिक जीवनमें स्थान है। अतः बटलरका अन्तर्बोध वैराग्यवादका पोषक नहीं है। आत्म-प्रेम और अन्तर्बोधमें अधिकतर ऐक्य मिलता है। आत्म-प्रेम बतलाता है कि इच्छाओंकी सामान्य तृप्तिमें ही आनन्द निर्भर है और अन्तर्बोधके अनुसार इच्छाओंकी सामान्य तृप्ति उचित है।

बटलरका नैतिक दर्शन उसकी समन्वयात्मक दृष्टिका परिणाम है। प्लेटो, अरस्तू और शैफ्ट्सबरीके सिद्धान्तके साथ उसने ईसाई ईश्वरज्ञान,

समन्वयात्मक सिद्धान्त : धर्मका प्राधान्य

विशुद्ध नैतिकता, स्टोइकवाद, सुखवाद, प्रचलित नैतिकता आदिका सम्मिश्रण किया। बादमें कांटने विशुद्ध नैतिकताको अपनाकर यह समझाया कि विशुद्ध नैतिकतामें अन्य किसी विरोधके लिए स्थान नहीं है। बटलरके सिद्धान्तमें जो असंगतियाँ मिलती हैं उनका कारण उसकी समन्वयात्मक दृष्टि है। किन्तु इस समन्वयात्मक प्रयाससे भी अधिक स्पष्ट जो हमें मूलतः उसके दर्शनमें मिलता है वह उसके पादरीके व्यक्तित्वका प्रतिबिम्ब है। उसके दर्शनका गूढ़ और व्यापक अध्ययन हमको प्रकृतिगत और प्रेरणा द्वारा अर्जित धर्मकी ओर ले जाता है। वह हमें ईसाई धर्मके ईश्वरज्ञानके क्षेत्रमें पहुँचा देता है। ऐसी स्थितिमें हमें अन्तर्बोधको एक दूसरे अर्थमें समझना पड़ेगा। अन्तर्बोध उस निर्देशककी भाँति है जो सर्वसाधारणके सुखकी ओर ले जाता है, जिस सुखमें दयालु परमात्माने हमारे सुखको भी सम्मिलित किया है। सद्गुण और आनन्दके बाह्य विरोधको दूर करनेके लिए वह अन्य अठारहवीं शताब्दीके सहजज्ञानवादियोंकी भाँति ईश्वरज्ञान सम्बन्धी तर्क देता है। वह यह मानता है कि वर्तमान जीवन भविष्य जीवनके लिए एक साधनमात्र है और इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम इस जीवनमें भावी संरक्षण और सुखके लिए एक आवश्यक गुणके रूपमें सद्गुण और धर्मनिष्ठ बुद्धिकी उन्नति करें।

बटलरके समयमें लोगोंकी नैतिक और धार्मिक प्रवृत्ति शिथिल हो चुकी थी। ईसाई धर्मकी सुप्तावस्थाके ज्ञानने उसे दुःखी कर दिया और उसने अनायास ही ऐसे तर्क प्रस्तुत किये जो ईसाई धर्मके समर्थक हैं। अपने समयके अंग्रेज पादरियोंके अनुरूप बटलरमें एक मधुर विवेचनबुद्धि तथा ठोस सामान्यबोध है। कांटके और उसके सिद्धान्तमें सादृश्य मिलता है किन्तु साथ ही भेद भी है। कांटका नैतिक दर्शन एक महान् तत्वज्ञानी, तर्कप्रिय तथा कट्टर नीतिवादीका दर्शन है और बटलरका एक पादरी का। उपर्युक्त भेद होनेपर भी बटलरका नैतिक दर्शन स्पष्टता और सन्तुलनसे अछूता नहीं है। उसने उन तथ्यों और प्रवृत्तियोंका वर्णन स्पष्ट और बोध-

गम्य भाषामें किया है जिनसे हम सभी परिचित हैं।

मनुष्यकी स्वाभाविक स्थितिको निर्नैतिक और अनियन्त्रित मानकर हॉब्सने यह समझाया कि मनुष्यके सुख, शान्ति, जीवन-संरक्षण एवं उसकी आवश्यकतोंकी पूर्तिके लिए नैतिक नियम साधन हैं और इस अर्थमें वे अनिवार्य हैं। नैतिक नियमके उद्गमका इतिहास बतलाता है कि वे बौद्धिक प्राणियोंके लिए आवश्यक अवश्य हैं पर साथ ही वे परम्परागत होनेसे समझौतेपर निर्भर हैं। बटलरके समयमें इस बातका निराकरण करना एक चलन-सा हो गया था कि निःस्वार्थ कर्म सम्भव नहीं हैं। बटलरने ऐसी धारणा एवं हॉब्सके परम स्वार्थवादके मनोवैज्ञानिक आधारपर सन्देह किया। उसने एक मनोवैज्ञानिक नीतिज्ञकी भाँति उन सब धारणाओं और सिद्धान्तोंपर प्रकाश डाला जिनके अनुरूप सम्भ्रान्त लोग अनुभव, कर्म और निर्णय करते हैं और यह समझाया कि स्वार्थवादी धारणाओंके मूलमें मनोवैज्ञानिक अज्ञान है। अन्य सहजज्ञानवादियोंने भी मानव-स्वभाव तथा मानव-समाजका विश्लेषण करके हॉब्सके परम स्वार्थवादको अस्वाभाविक कहा। उनके अनुसार हमें अन्तर्बोधके आदेशका पालन करना चाहिये क्योंकि उसका अधिकार स्वाभाविक है। किन्तु अन्तर्बोधके स्वाभाविक अधिकारको वे बटलरकी भाँति प्रभावोत्पादक तथा सूक्ष्म युक्तियाँ देकर नहीं समझाते हैं। स्वार्थमूलक सुखवादकी आलोचना करते हुए वह समझाता है कि मानव-स्वभाव व्यवस्थित पद्धति या आवयविक समग्रता है। इस समग्रतामें अनेक प्रवृत्तियाँ हैं, जिनके आधारपर वह मूलगत सुखवादी धारणाके विपरीत कहता है कि मनुष्य-स्वभावमें सामाजिक और वैयक्तिक दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं और आत्महितके लिए प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण रखना अनिवार्य है। यहाँपर हम कह सकते हैं कि बटलरके दर्शनमें अनियन्त्रित स्वार्थवादके लिए स्थान नहीं है। सुखवादियों और शैफ्ट्सबरीकी आत्म-प्रवृत्तिकी धारणाकी भी बटलरने आलोचना की है। वह कहता है कि किसी भी प्रवृत्तिका प्रमुख लक्ष्य

परम स्वार्थवादका मनोवैज्ञानिक खण्डन

सुख नहीं है। जब प्रवृत्ति अपने स्वाभाविक ध्येयको प्राप्त करती है तब सुख मिलता है। अतः सुख परिणाम है, प्रमुख लक्ष्य नहीं। कोई भी प्रवृत्ति सुखकी तात्कालिक खोज नहीं करती है। उदाहरणार्थ, क्षुधाका विषय भोजन है, न कि खानेका सुख। इस भाँति बटलरने प्रवृत्तियोंकी विस्तृत व्याख्या द्वारा बतलाया कि मनुष्यकी मूलगत प्रवृत्तियोंको पूर्णरूपसे स्वार्थमूलक नहीं कह सकते हैं।

नैतिक बोधवादियों, विशेषकर शैफ्ट्सबरीके नैतिक बोधकी धारणासे असन्तुष्ट होकर बटलरने अन्तर्बोध शब्दका प्रयोग किया। अन्तर्बोध और नैतिक बोधमें स्पष्ट भेद है, यह हम देख चुके हैं। बटलरने सौन्दर्य इन्द्रिय एवं विशिष्ट इन्द्रियके रूपमें अन्तर्बोधको नहीं समझा है किन्तु मानव-स्वभावको आवयविक समग्रताके रूपमें स्वीकार करके अन्तर्बोधकी सर्वोच्चताको स्थापित किया है। जब हम उस सिद्धान्तके स्वरूपको समझनेका प्रयास करते हैं जो कि सर्वोच्च है तो विफलता मिलती है क्योंकि उसने अन्तर्बोधका अनिश्चित प्रयोग किया है। अन्तर्बोधसे या तो उसका अभिप्राय उस अबोधगम्य शक्तिसे है जिसे हम अपने अन्तरमें पाते हैं और जो नियमोंको बनाती है और या उस बोधगम्य शक्तिसे है जिसके आदेश हम बौद्धिक चिन्तन द्वारा समझ सकते हैं। बटलरने अन्तर्बोधका स्पष्ट अर्थमें प्रयोग नहीं किया इसलिए यह कहना कठिन है कि अन्तर्बोधसे उसका क्या अभिप्राय है। किन्तु यह अवश्य सत्य है कि उसके अनुयायियोंने अन्तर्बोधके दोनों अर्थोंमें स्पष्ट भेद देखा।

अन्तर्बोधका अनिश्चित प्रयोग

मानव-स्वभाव—जो राज्यके विधान-सा है—की व्यवस्था और संगतिको समझानेके लिए जब बटलर आत्मप्रेम और अन्तर्बोधके सम्बन्धका स्पष्टीकरण करता है तो वह एक स्थायी दृष्टिकोणको अपनानेके बदले अनेक रीतियों और भिन्न तर्कोंकी सहायता लेता है। एक ओर वह अन्तर्बोधके अधिकारको सर्वोच्च कहकर यह मानता है कि अन्तर्बोध उसी आचरणका अनुमोदन करता है जिसका ध्येय सम्पूर्ण समाजका

अन्तर्बोध और आत्मप्रेमके सम्बन्धको समझानेमें असफल

आनन्द है। मानव-जाति एक सम्प्रदाय है और हम एक दूसरेसे सम्बन्धित हैं। जनता एवं जातिके हितकी वृद्धि करना प्रत्येकका कर्तव्य है। क्या हम अन्तर्बोधके परम आदेशको मान लें ?—इसका उत्तर पानेके लिए हमें आत्मप्रेमकी धारणाको समझना होगा। यह धारणा बतलाती है कि आत्माके राज्यमें दो स्वतन्त्र तत्व हैं : बौद्धिक आत्मप्रेम और अन्तर्बोध। इनके पारस्परिक सम्बन्धकी व्याख्या करते हुए वह कहता है कि ये दोनों परस्पर संयोजित हैं। दूसरी ओर उसकी पुस्तकमें कुछ ऐसे वाक्य मिलते हैं जो आत्मप्रेमको अधिक महत्व देते हैं। दोनोंकी असंगतिको असम्भव माननेके पश्चात् वह कहता है कि यदि इन दोनोंमें असंगति हो जाय तो अन्तर्बोधको अपना स्वाभाविक अधिकार छोड़ना होगा। आगे वह यह भी मान लेता है कि जब शान्त क्षणमें हम सोचने बैठते हैं तो हम किसी भी प्रवृत्तिको तबतक उचित या न्यायसम्मत नहीं समझ पाते हैं जबतक कि हमें यह विश्वास नहीं हो जाता कि वह हमारे सुखके लिए है अथवा हमारे सुखकी विरोधी नहीं है। इसी भाँति शैफ्ट्सबरीने भी व्यक्तिके हितको महत्व दिया है यद्यपि इसे उसने विधिवत् नहीं समझाया है। जब शैफ्ट्सबरी इस प्रश्नको उठाता है कि हम सद्‌गुणको क्यों अपनाते हैं तो वह इस परिणामपर पहुँचता है कि आत्मस्वार्थकी बाध्यताके कारण हम सद्‌गुणको अपनाते हैं। बटलर शैफ्ट्सबरीकी ऐसी स्वार्थवादी व्याख्याका खण्डन करते हुए अन्तर्बोधके अधिकारको महत्व देता है। वह यहाँतक मान लेता है कि यदि कोई सन्देहवादी सद्‌गुणकी सुखद प्रवृत्तिपर अविश्वास करता है या अन्तर्बोधके स्वाभाविक अधिकारको अस्वीकार करता है तो ऐसा व्यक्ति भी विवेक-पूर्वक इसपर सन्देह नहीं कर सकता कि सांसारिक स्वार्थके बदले हम कर्त्तव्यका समर्थन करते हैं। वह यह भी कहता है कि अन्तर्बोधके आदेश स्पष्ट और निश्चित होते हैं। आत्मस्वार्थको समझना कठिन है क्योंकि उसके आधारपर अनुमान और गणना करके जिन निष्कर्षोंपर हम पहुँचते हैं वे अनिश्चित और सम्भाव्य होते हैं। वैसे बौद्धिक या विवेकशील

आत्मप्रेम और अन्तर्बोधमें विशेष विरोध नहीं है। अपने सतर्क आशावादके आधारपर वह कहता है कि यह स्वीकार करना बुद्धिसम्मत है कि जिन दो आन्तरिक अधिकारियोंके अधीन स्वभाव एवं प्रकृतिने हमें रखा है उनमें संगति है। इस संगतिका एक कारण यह भी है कि इनके विरोधको हम प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते हैं। स्वार्थके आधारपर ही इन्हें विरोधी सिद्ध कर सकते हैं पर स्वार्थवादी गणना अनिश्चित और सम्भाव्य है। यदि स्थूल दृष्टिसे यह विरोध दीख ही जाय तो हमें अन्तर्बोधके आदेशका उसके सरल और स्पष्ट होनेके कारण पालन करना चाहिये। पुनः एक स्थलपर वह यह कहता है कि अन्तर्बोध और आत्मप्रेम दोनों ही मानव-स्वभावके प्रमुख और श्रेष्ठ तत्व हैं इसलिए यदि किसी कर्ममें इनमेंसे किसीका भी निराकरण हो जाय तो वह मानव-स्वभावके अनुरूप नहीं होगा। बटलरने अन्तर्बोध और आत्मप्रेमके पारस्परिक सम्बन्धको समझानेके लिए जो अनेक तर्क प्रस्तुत किये हैं वे नितिज्ञकी जिज्ञासाका समाधान नहीं कर सकते। यदि दोनों ही मानव-स्वभावके दो तत्व हैं तो नितिज्ञ दोनोंकी सापेक्ष स्थितिको समझना चाहेगा। बटलरका उत्तर द्विविधापूर्ण है। बटलर एक ओर तो यह कह कर छुटकारा पाना चाहता है कि व्यावहारिक दृष्टिसे सापेक्ष स्थितिका प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं है और दूसरी ओर वह कहता है कि अपने परम स्वार्थको समझना अत्यन्त कठिन है। बटलरके ऐसे कथनके विरुद्ध दो प्रश्न हमारे मानसमें आते हैं; हम कैसे सिद्ध कर सकते हैं कि अन्तर्बोधके आदेश अधिक स्पष्ट हैं? इसका क्या प्रमाण है कि हमारे स्वार्थके लिए अन्तर्बोधके आदेश आत्मस्वार्थके आदेशसे अधिक श्रेष्ठ पथ-निर्देशक हैं?

आत्मप्रेम और अन्तर्बोधका विरोध सुख और सद्‌गुणकी समस्याको खड़ा करता है। बटलर सुख और सद्‌गुणके विरोधको बौद्धिक तर्क द्वारा नहीं बल्कि ईश्वरज्ञान द्वारा दूर करनेका प्रयास करता है। सुख आत्माकी आन्तरिक स्थितिका सूचक नहीं है। इसके द्वारा सृष्टिकर्ता उन्हें पुरस्कृत करता है जो

व्यक्तिवाद और उत्तरदायित्व

अपनी प्रवृत्तियोंको उनके निर्दिष्ट ध्येयके लिए साधन बनाते हैं। ऐसा कथन सुख और अन्तर्बोधके विरोधको रहने देता है। आत्मप्रेम और अन्तर्बोध दोनोंको ही मानकर बटलरने नैतिक उत्तरदायित्व और व्यक्तिवादकी महत्वपूर्ण समस्याको उठाया। व्यक्ति स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कर्मोंको निर्धारित कर सकता है और उनपर निर्णय दे सकता है। वह अपने परम कल्याणकी प्राप्ति कर सकता है। ऐसा वैयक्तिक अधिकार उसे कर्त्तव्यकी ओर ले जाता है क्योंकि व्यक्ति समाजका अनन्य अंग है। कर्त्तव्य और अधिकारके सापेक्ष सम्बन्धको समझानेमें वह असमर्थ रहा। व्यक्तिवाद और नैतिक उत्तरदायित्वके समानाधिकारके संरक्षक सिद्धान्तके रूपमें वह अपने सिद्धान्तकी स्पष्ट और व्यवस्थित व्याख्या नहीं कर पाया। इसका अव्यक्त कारण यह है कि व्यक्तिवाद और नैतिक उत्तरदायित्वके नामपर वह सुखवाद और नैतिक विशुद्धतावादके चक्करमें फँस जाता है। यदि आत्मप्रेम द्वारा प्राप्त आत्मकल्याण सुख है तो नैतिक सिद्धान्त अनावश्यक है। बटलर आत्मकल्याणका नैतिक अर्थ समझनेमें असमर्थ है और सुखको स्वीकार कर वह उस असंगतिको अपने सिद्धान्तमें स्थान देता है जो क्षम्य नहीं है। सुखको मान्यता देकर उसने भूल की। सुख नैतिकताके किसी भी व्यवस्थित, प्रामाणिक और ग्रहणीय सिद्धान्तका आधार नहीं हो सकता।

आत्मप्रेम और अन्तर्बोधके सम्बन्धको समझानेके लिए बटलर अनेक तर्क-वितर्कोंसे काम लेता है पर प्रयास करनेपर भी वह मानव-स्वभावके

आधुनिक विचार-धारापर प्रभाव

नियामक सिद्धान्तकी द्वैतवादी व्याख्यापर ही पहुँचता है। उसकी इस दुर्बलताने नैतिक चिन्तनको एक नयी दिशा दिखलायी। मानव-स्वभावको आवेगोंका व्यवस्थित राज्य मानकर वह प्लेटोवादका अभिनन्दन करता है और स्वभाव एवं प्रकृतिके अनुरूप रहना चाहिये कहकर वह स्टोइकवादका समर्थन करता है। किन्तु प्लेटोवाद और स्टोइकवाद दोनों ही बुद्धिको एकमात्र नियामक शक्ति या शासक मानते हैं। उनके सिद्धान्तोंमें नियामक शक्तिके द्वैतके लिए स्थान नहीं है। बटलरके नियामक सिद्धान्त-

के द्वैतने आधुनिक विचारधाराको दो तत्व दिये : सार्वभौम बुद्धि और स्वार्थमूलक बुद्धि या अन्तर्बोध और आत्मप्रेम। ये द्वैत क्लार्क और शैफ्ट्स-बरीके सिद्धान्तमें अस्पष्ट रूपसे वर्तमान अवश्य हैं किन्तु बटलरके कारण ही उन्हें स्पष्ट रूपसे आधुनिक विचारधाराने अपनाया है। सिजविकने इस समस्याको अपने दर्शनमें उठाया है।

उपयोगितावाद

अन्य सहजज्ञानवादियोंके साथ बटलर भी मानता है कि कर्म अपने-आपमें शुभ और अशुभ हैं। उनका नैतिक मूल्याङ्कन उनके परिणामके आधारपर नहीं कर सकते। अतः नैतिक दृष्टिसे कर्म इस तथ्यसे स्वतन्त्र है कि वह अपने परिणाम द्वारा सामान्य सुखके लिए उपयोगी है अथवा नहीं। किन्तु जब बटलर पड़ोसीके प्रति स्नेहकी धारणाको समझाने लगता है तब वह अपने पादरीके व्यक्तित्व-के अनुरूप उपयोगितावादको अपनाने लगता है। ईश्वरके स्वभाव सम्बन्धी धारणाको वह उपयोगितावादी दृष्टिकोणसे समझाता है। विश्वके सम्पूर्ण परिमाणके सुखको अधिकतम करना भगवान्का परम ध्येय है। पर साथ ही अन्तर्बोधको परम प्राधान्य देते हुए वह कहता है कि हमें अन्तर्बोधके अनुसार कर्म करना चाहिये चाहे वह सामान्य सुखकी वृद्धि करे या न करे। बटलरके ऐसे असंगत प्रसंग उलझनमें डाल देते हैं और सदाचारके मार्गको द्विविधायुक्त कर देते हैं।

अन्तर्बोधके आदेश-की प्रामाणिकता

बटलरके नैतिक दर्शनको नीतिशास्त्रपर एक पूर्ण निबन्धके रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता है। उसकी समन्वयात्मक दृष्टिने असंगतियों और विरोधोंका समावेश कर लिया है। विरोधपूर्ण कथन मार्गको सुनिर्देशित नहीं कर सकते हैं। बट-लरने कई कठिनाइयोंको नहीं उठाया है। उचित कर्मका सार्वभौम मानदण्ड क्या है? जब अन्तर्बोध भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न आदेश देता है तब हम किस आदेशको मान्य मानें? भिन्न व्यक्तियोंके अन्तर्बोध भिन्न आदेश देते हैं। इस भिन्नताको दूर करने एवं संगतिकी स्थापनाके लिए क्या अन्तर्बोधके मानदण्डके अतिरिक्त किसी

अन्य मानदण्डकी सहायता लेनी होगी ? इसका क्या प्रमाण है कि किसी व्यक्तिविशेषका अन्तर्बोध उचित है ? हम कृत्रिम और अकृत्रिम अन्तर्बोध-के भेदको कैसे जान सकते हैं ? बटलरका सिद्धान्त अपूर्ण होनेपर भी किसी भी अनुभवात्मक तथ्यसे सम्बन्धित नैतिक सिद्धान्तके लिए प्रस्तावनाका कार्य कर सकता है क्योंकि वह एक मनोवैज्ञानिक नीतिज्ञका सिद्धान्त है ।

अध्याय २०

पूर्णतावाद[1]

नैतिक सिद्धान्तोंका अध्ययन बतलाता है कि नीतिज्ञोंने उस आदर्शको समझना चाहा जो आत्म-सन्तोष, आत्म-साक्षात्कार[2] अथवा आत्म-पूर्णता प्रदान करता है। प्रत्येक नीतिज्ञने जानना चाहा कि मनुष्यके लिए उच्चतम शुभ अथवा परम ध्येय क्या है? उसने उस ध्येय एवं आदर्शकी अपने सिद्धान्तके अनुरूप व्याख्या की।

आत्माका स्वरूप

मानवोचित ध्येयके स्वरूपको समझनेके पूर्व एक बार पुनः यह समझ लेना अनिवार्य है कि मनुष्य एवं उस आत्माका क्या स्वरूप है जो कि अपनी पूर्णता अथवा सन्तोषके लिए प्रयास करती है? हम किस आत्माको सन्तुष्ट करना चाहते हैं; आत्माका सारतत्व बुद्धि है या भावना अथवा बुद्धि और भावना दोनों ही। आत्माकी परिभाषा देनेमें सुखवाद और बुद्धिवादने दो स्पष्ट विरोधी आदर्शोंको हमारे सम्मुख रखा। किन्तु दोनोंमें निहित सत्यांशोंको मानते हुए भी उनकी जाज्वल्यमान दुर्बलताओंके कारण उन्हें पूर्णतः स्वीकार नहीं किया जा सकता।

बौद्धिक अथवा भावुक

मानव-स्वभावकी परिभाषा देनेमें बुद्धिवादी सत्यके अधिक निकट हैं या सुखवादी, यह कहना कठिन है। किन्तु यह सच है कि जिस विरोधके गर्तका दोनों विरोधी सिद्धान्त निर्माण करते गये उसपर समांतर रूपसे पूर्णतावादी सेतु बनाते गये। आत्माकी एकाङ्गी व्याख्या करनेके कारण बुद्धिवाद और सुखवाद दोनों ही अपने-आपमें अपूर्ण हैं। वे सन्तोषप्रद

१. Perfectionism.

२. Self-realisation.

सिद्धान्तोंका प्रतिपादन नहीं कर पाये। बिना बौद्धिक अन्तर्दृष्टिके भावनामय जीवन अनैतिक है। अपनी विषयी और भावुक आत्माको सुखी रखनेवाला मनुष्य मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और नीतिशास्त्रसे परे वह जीव है जो अपने मनुष्यत्वको तिलाञ्जलि दे चुका है। वह कीड़ों और जानवरोंकी भाँति, चिन्तन जगतसे दूर, सुखभोगी शूकरका-सा जीवन बिताता है। उग्र सुखवाद आत्म-घातक है। इसी भाँति अपने-आपमें बुद्धिवाद भी गतिशून्य और निष्क्रिय है। भावनाओंपर आधिपत्य रखना, उन्हें सुनिर्देशित और सुसंघटित करना बुद्धिका काम है। बिना भावनाओंका चिन्तनप्रधान शुष्क जीवन अकल्पनीय है। आत्माकी एकाङ्गी व्याख्या करनेके कारण अथवा अपने ही आन्तरिक विरोध और दुर्बलताके कारण उग्र बुद्धिपरतावाद और उग्र सुखवादने अनायास ही उस दृष्टिकोणको अपनाया जो दोनोंके लिए अनिवार्य था। प्रत्यक्ष रूपसे एक दूसरेका विरोध करते हुए उन्होंने एक दूसरेकी शरण ली। बुद्धिवादने जिस अमूर्त अभावात्मक बौद्धिक एकवादकी स्थापना करनी चाही उसने अपनी असफलताके कारण भावात्मक नैतिक द्वैतको जन्म दिया और बुद्धिवादको भावनाके अस्तित्व और स्थितिको स्वीकार करना पड़ा। इसी भाँति इन्द्रियजीवनकी उच्छृङ्खलताने सुखवादियोंको बुद्धिकी श्रेष्ठताका ज्ञान कराया।

पूर्णतावादियोंने उस दृष्टिकोणको अङ्गीकार किया जो मध्यवर्ती है। उन्होंने मनुष्यके मूर्त व्यक्तित्वके आधारपर बुद्धि और भावनाके समुचित मूल्यको निर्धारित किया। मनुष्यका स्वभाव भावना और बुद्धिमय है। साथ ही यह भी सत्य और सर्वमान्य है कि वही जीवन सफल तथा स्तुत्य है जो बुद्धि से सञ्चालित है। नैतिक उन्नति और विकासके लिए भावनाका बुद्धिके साथ संघर्ष आवश्यक है। यह संघर्ष बुद्धिके आधिपत्यको अधिक गौरवान्वित करता है। वही बुद्धि श्रेष्ठ है जो सुचारुरूपसे भावनाओंको उस मार्गकी ओर ले जाती है जो नैतिक नियमके अनुरूप है। मनुष्यका स्वभाव अनेक प्रवृत्तियों, इच्छाओं और भावनाओंका जन्मस्थल है। इस स्वभावमें

बुद्धि-भावनाका योग

कुछ भी ऐसा नहीं है जो पूर्णरूपसे बुरा अतएव त्याज्य हो। अतः प्रवृत्तियाँ अपने-आपमें बुरी नहीं है किन्तु जब वे अपनी सीमाका उल्लङ्घन करने लगती हैं तब वे बुरी कहलाती हैं। भावनाओंका हनन करना बुद्धिका लक्ष्य नहीं है बल्कि उनकी यथोचित तृप्ति करके तथा उन्नयन द्वारा उन्हें नैतिक रूप देकर ध्येयकी प्राप्तिमें सहायक बनाना ही बुद्धिका काम है जिससे विभिन्न आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, कलात्मक आदि प्रवृत्तियोंमें सङ्गति और सन्तुलन स्थापित कर मनुष्य व्यक्तित्वके विकास और परिपूर्णताको प्राप्त कर सके। व्यक्तित्वकी पूर्णता एवं आत्म-कल्याणके आकांक्षी पूर्णतावादियोंने आत्म-सन्तोषको आत्म-कल्याणका सहवर्ती माना है। आत्म-सन्तोषसे उनका अभिप्राय उस सन्तोषसे है जो आत्माके दोनों अंगों—बुद्धि और भावना—को सन्तोष दे सके। जब सम्पूर्ण आत्मा अपनी परिपूर्णताको प्राप्त करती है तभी उसे सन्तोष एवं आनन्द मिलता है।

आत्मा और समाज

यह सभी मानेंगे कि नैतिक कर्मकी सत्यता एवं उसका शुभ-अशुभ होना इसपर निर्भर है कि वह वाञ्छित ध्येय एवं परम शुभके अनुरूप है या नहीं। अथवा नैतिकताके मानदण्डकी धारणा ध्येयकी धारणापर निर्भर है। ध्येयकी धारणापर आधारित नैतिक आदर्श आत्मिक आदर्श है। यह वह आदर्श है जो आत्माको सन्तुष्ट करता है। ध्येय क्या है? ध्येय, जैसा कि कह चुके हैं, आत्म-सन्तोष है। आत्माका रूप न तो केवल ऐन्द्रियिक है और न केवल बौद्धिक। ब्रेडलेने आत्माके इस स्वरूपको स्वीकार करते हुए कहा कि आत्माका अपने पूर्ण रूपमें सन्तुष्ट होना, अर्थात् सम्पूर्ण आत्माका सन्तोष ही, आत्म-सन्तोष है। आत्माके स्वरूपको भलीभाँति समझने एवं आत्म-सन्तोषका व्यापक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए यह जानना आवश्यक है कि क्या आत्मा एक असम्बद्ध इकाईके रूपमें है अथवा वह समाजका एक अविभाज्य अंश है। नैतिक निर्णयका स्वरूप बतलाता है कि नैतिक निर्णय आत्माके उस आचरणपर दिया जाता है जो सामाजिक है। मनुष्यके सामाजिक अस्तित्वको किसी-न-किसी रूपमें प्रत्येक सिद्धान्त तथा

प्रत्येक सैद्धान्तिक मानता है। पूर्णतावादियोंने इस सत्यको समझानेके लिए तत्वदर्शनकी सहायता ली है। उन्होंने अपने नैतिक ज्ञानको आदर्शवादी तत्वज्ञानपर आधारित करते हुए कहा कि मनुष्य और समाज अथवा व्यक्ति और समष्टि अभिन्न हैं, क्योंकि दोनों एक ही शाश्वत चैतन्यकी अभिव्यक्ति हैं। इसलिए जीवनका ध्येय न तो मात्र वैयक्तिक कल्याण है और न मात्र सामाजिक। वह सर्वकल्याणकारी है।

पूर्णतावादी व्यक्ति और समाजके अनन्य सम्बन्धको मानते हुए व्यक्तियोंकी पारस्परिक निर्भरताको स्वीकार करते हैं। व्यक्ति समाजका अविभाज्य अंग है। समाजमें रहकर ही वह अपनी पूर्णता प्राप्त कर सकता है। वह भोजन, वस्त्र, भाषा, शिक्षा एवं अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओंकी तृप्ति समाजमें रहकर ही कर सकता है। अतः उसे अपने निजत्वको समग्रमें एवं समग्रको निजत्वमें देखना चाहिये। यदि व्यक्ति और समाज अविछिन्न एकताके सूचक हैं तो क्या विकासवादियोंकी भाँति पूर्णतावादी भी, समाज और व्यक्तिके अनन्य सम्बन्धको स्वीकार करते हुए, आवयविक समग्रताके रूपकको पूर्णतः स्वीकार करते हैं? पूर्णतावादी इस रूपककी सीमाओंके प्रति सचेत हैं। समाज आध्यात्मिक एवं आत्म-प्रबुद्ध प्राणियोंकी अविभिन्न एकता है। आवयविक समग्रताकी भाँति होनेपर भी मानव जाति रूपी आवयविक समग्रता और शारीरिक जीव-रचनामें भेद है। जीव-रचनाके अवयवोंमें जीवविधान और कर्मव्यापारकी दृष्टिसे भिन्नता है किन्तु मानव-समाजके व्यक्तियोंमें जातीय समानता है, उनके कर्म-व्यापार एवं कर्त्तव्य भले ही भिन्न हों; प्रत्येक व्यक्तिमें अपना निजत्व और व्यक्तित्व है। वह जीव-रचनाके अवयवोंकी भाँति यान्त्रिक (अचेतन) रूपसे आवयविक समग्रताका काम नहीं करता। वह समाजके साथ अपने सम्बन्धको समझता है और समझ-बूझकर स्वेच्छासे उस कर्मको करता है जो कि उसके तथा समाजके लिए, अंग और अंगी दोनोंके लिए, कल्याणप्रद है।

दोनोंका सम्बन्ध अनन्य

स्वार्थ और परमार्थमें परम भेद देखना भ्रान्तिपूर्ण है। व्यक्ति और समाजका अनन्य सम्बन्ध इस नैतिक सत्यको अभिव्यक्ति देता है कि जीवनमें न तो परम स्वार्थ ही उचित है और न परम परमार्थ। व्यक्ति नगण्य नहीं है, उसका अपना व्यक्तित्व है। व्यक्तित्वकी पूर्णताको प्राप्त करना उसका अधिकार है किन्तु इस पूर्णताको वह समाजमें ही प्राप्त कर सकता है। अतः वह केवल अपने ही बारेमें नहीं सोचता। 'एकका स्वार्थ' एक ऐसा कथन है जो वास्तविकतासे दूर है। व्यक्तिके स्वार्थ और पूर्णताका सम्बन्ध उससे है जिसका कि वह अविभाज्य अंग है। हम निजत्वको समग्रसे अलग करके नहीं समझ सकते। समग्रके सम्बन्धमें ही निजत्व अर्थ रखता है। व्यक्ति अपने निजत्वको सामाजिक समग्रतासे ही पाता है। यह कथन बतलाता है कि परम स्वार्थ आत्म-घातक है। अपनेको बचाना खोना है। समाजसे भिन्न व्यक्तिका अस्तित्व असम्भव है। वह शारीरिक आवश्यकताओंसे लेकर मानसिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओंतकके लिए समाजपर निर्भर है। अतः अपनेको खोना पाना है। सामाजिक शुभ द्वारा वैयक्तिक शुभ सम्भव है। व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओंकी तृप्ति समाजमें करता है। वह समाजके सामान्य मानसका अंग है। उसका मानसिक विकास अनेक मानसोंके सहयोगसे होता है। वैयक्तिक शुभ और सामाजिक शुभ परस्पर निर्भर हैं। सामाजिक शुभ अपने मूल रूपमें वैयक्तिक है क्योंकि वह व्यक्तिकी गहनतम आवश्यकताओंके अनुरूप है। व्यक्ति अपनी नैतिक, बौद्धिक, भावुक तथा शारीरिक आदि आवश्यकताओंकी तृप्तिके लिए समाजपर निर्भर है। इसी भाँति स्वार्थ और परमार्थके स्वतन्त्र अस्तित्वका प्रश्न ही नहीं उठता। व्यक्ति और समाज दोनोंका युगपत् विकास होता है। दोनों एक दूसरेके लिए अनिवार्य हैं।

स्वार्थ-परमार्थका प्रश्न

सुखवाद और बुद्धिवादका उत्पत्तिकाल ही पूर्णतावादका उत्पत्तिकाल है। सुकरातकी मृत्युके पश्चात् ऍरिस्टिपसने सुखवाद, एन्टिस्थीनीजने बुद्धिवाद और प्लेटोने पूर्णतावादमें सुकरातके मुख्य सिद्धान्तको देखा।

पूर्णतावादका परिचय

प्लेटो तथा अन्य पूर्णतावादियोंके[1] अनुसार नैतिक कर्म आत्माके वास्तविक स्वरूपके अनुरूप कर्म है। वही शुभ कर्म है जो आत्माको परिपूर्णता प्रदान करता है। पूर्णतासे क्या अभिप्राय है ? मनुष्यमें अनेक सम्भावित शक्तियाँ हैं। उचित प्रयत्नसे हम इन सम्भावित शक्तियोंको वास्तविकता एवं पूर्णता प्रदान कर सकते हैं। यही पूर्णतावाद (Perfectionism) है। मनुष्यके स्वभावकी विभिन्न प्रवृत्तियों—कलात्मक, नैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि—का बुद्धिके निर्देशनमें इस भाँति संगतिपूर्ण विकास करना चाहिये कि वे आत्म-पूर्णताकी प्राप्तिमें सहायक हो सकें। बुद्धिके निरीक्षणमें इच्छाओं और प्रवृत्तियोंका समुचित विकास व्यक्तित्वके पूर्ण विकासके लिए आवश्यक है। व्यक्तित्वके पूर्ण विकासकी स्थिति ही आत्म-साक्षात्कार (Self-realization) की स्थिति है। अथवा वह आत्म-बोध, आत्म-कल्याण और आत्म-समृद्धिकी स्थिति है। जिस आत्माका हम साक्षात्कार करते हैं एवं जिसकी पूर्णता प्राप्त करते हैं वह बौद्धिक आत्मा है। वह आत्मा इच्छाओं और प्रवृत्तियोंका हनन या त्याग नहीं करती वरन् उनका उन्नयन, दिव्यीकरण, बुद्धिकरण एवं अध्यात्मीकरण करके उन्हें अपनी परिपूर्णताके लिए सहायक बना लेती है। ऐसी आत्मा संकीर्ण आत्मा नहीं हो सकती। बौद्धिक आत्मा मानवताके साथ तादात्म्य अनुभव करती है। वह सामाजिक एवं सार्वभौम आत्मा अथवा विश्वात्मा है। विश्वात्माकी प्राप्तिके लिए संकीर्ण आत्माका त्याग अथवा आत्म-त्याग अनिवार्य है। विश्वात्माकी प्राप्तिके लिए मानव-जातिके हितको ध्यानमें रखना आवश्यक है। मानवता व्यक्तिसे भिन्न नहीं है, वह उसीकी आत्मा है। अतः मानवताके प्रति सहज स्नेह रखते हुए व्यक्तिको उसके कल्याणके लिए प्रयास करना चाहिये। साथ ही यह भी सच है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी विशेषताओंके साथ एक विशिष्ट परिवार, समाज और परिवेशमें जन्म लेता है। उसका इनके प्रति कर्त्तव्य है।

---

१. अरस्तू, फिश्टे, शैलिंग, हीगल, ग्रीन, ब्रेडले, मेकैंजी, म्योरहेड, जेम्स सेथ, जे. एच. पेटन आदि।

उसे चाहिये कि समाजमें अपनी स्थिति, अपनी योग्यता तथा विशिष्ट प्रतिभाको ध्यानमें रखते हुए अपनी बौद्धिक आत्माका विकास करे। वह मनुष्य जिसने आत्म-बोध प्राप्त कर लिया है अपने सामाजिक उत्तरदायित्व तथा स्वयं अपने प्रति कर्त्तव्यके लिए पूर्णरूपसे सचेत होता है। उसे उसका आत्म-बोध आनन्द देता है। यही आत्म-सन्तोष है। अतः आत्म-सन्तोष, आत्म-बोध एवं पूर्णताका सूचक है। वह ध्येयका अनिवार्य अथवा अभिन्न तत्व है।

पूर्णतावादियोंका कालक्रमके आधारपर विभाजन किया जा सकता है। प्राचीन कालमें पूर्णतावादके विख्यात प्रतिपादक प्लेटो और अरस्तू हुए हैं तथा आधुनिक कालमें हीगल, ग्रीन और ब्रेडले।

प्राचीन काल—प्लेटो

सुकरातका शिष्य, प्लेटो[1] अपने गुरुका अनन्य भक्त था। प्लेटोके आदर्शवादी नैतिक दर्शनमें सुकरातका प्रभाव स्पष्ट दीखता है। सुकरातने

सुकरातके विचार तथा प्रणाली

वाद-विवाद द्वारा रूढ़िवादका खण्डन करके प्रचलित विचारोंकी रिक्तता और सारहीनताको दिखलाकर लोगोंके मनमें सत्यके प्रति जिज्ञासा उत्पन्न की और उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्यपर चिन्तन करनेके लिए प्रेरित किया। सुकरातने अपनी युक्तियोंके आधारपर समझाया कि सद्गुण ज्ञान है। प्लेटोने सुकरातके सद्गुणके प्रश्नको उठाकर उसे विकसित किया तथा इस दिशामें रचनात्मक कार्य किया। अपने गुरुकी विचारप्रणाली तथा तर्कयुक्तिसे प्रभावित होकर उसने अपनी पुस्तकोंमें पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षके माध्यमसे एवं शंका-समाधानकी पद्धतिसे आचरण सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तोंको उठाया और सुकरातकी भाँति यह सिद्ध करनेका प्रयास किया कि सद्गुण ज्ञान है। उसने आध्यात्मिक और नैतिक समस्याओंपर सुव्यवस्थित चिन्तन करके अपने मतको पुष्ट करना चाहा कि सदाचार

---

१. Plato ४२७–३४७ ई० पू०

और तत्वज्ञान एक ही है और सदाचारके द्वारा ही तत्वज्ञान अभिव्यक्ति पाता है। तत्वज्ञान अपने-आपमें वाञ्छनीय है। वह आत्मकल्याणका अनन्य अंग है। तत्वज्ञानको वांछनीय ध्येय मानते हुए प्लेटो, चिन्तन-प्रधान विवेकको परम शुभ कहता है।

प्लेटो सामाजिक व्यवस्था और एकताका प्रेमी था। अतः वह एण्टिस्थीनीज, ऍरिस्टिपस और सोफिस्ट्सके व्यक्तिवादको स्वीकार नहीं कर सका। उसने व्यक्तिवाद, अराजकता और विद्रोहके विरुद्ध सामाजिक एकताकी भावनाका प्रचार किया। समाजकी सुव्यवस्था और उन्नतिकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट किया तथा तरुण नागरिकोंको राज्यसत्ताके नियमोंको पालन करनेका उपदेश दिया।

विद्यमान सामाजिक व्यवस्थाको स्वीकार

प्लेटोने अपने समयकी विद्यमान सामाजिक व्यवस्थाको अनायास ही अपना लिया था। वह चाहता था कि वह व्यवस्था सुचारूरूपसे काम करे और लोग उसके नियमोंका पालन करें। उस व्यवस्थाके औचित्यको समझानेके लिए उसने मानव-स्वभावपर आधारित तर्क किया। उस समय यूनानके राज्य तथा समाजमें तीन वर्ग थे। शासक, योद्धा और व्यवसायी। प्लेटोने मानव-स्वभावका विश्लेषण करके समझाया कि वे आत्माकी तीन शक्तियों, बुद्धि, उद्वेग और इच्छा[1] के अनुरूप हैं। आत्माकी ये तीनों शक्तियाँ प्रत्येक व्यक्तिमें वर्तमान हैं। प्रत्येक शक्ति आत्माका अनिवार्य अंग है, प्रत्येकका कर्म निश्चित है, प्रत्येक अपना निर्धारित कर्म करनेके लिए स्वतन्त्र है। जब ये शक्तियाँ उचित प्रकारसे कर्म करती हैं तब वे सद्गुणसम्पन्न हो जाती हैं। बुद्धिका विशिष्ट गुण विवेक, उद्वेगका वीरता और इच्छाका संयम है। आत्मामें इन सब गुणोंकी उपस्थिति ही न्याय है अथवा न्याय आत्माके रूपोंका, बुद्धिके निर्देशनमें, स्वतन्त्र और संगतिपूर्ण कर्मपर निर्भर है। तीनों ही तत्व आत्माके अनिवार्य अंग हैं फिर भी कोई एक गुण किसी व्यक्तिमें अधिक मात्रामें होता है। यह

१. Reason, Spirited Emotion and Desire.

विशिष्ट गुण व्यक्तिके वर्ग एवं कर्त्तव्यको निर्धारित करता है। शासकोंमें बुद्धि, योद्धाओं में उद्वेग एवं वीरता और व्यवसायियोंमें इच्छाकी प्रधानता है।

मानव-स्वभावके रूपकके आधारपर प्लेटोने समझाया कि आन्तरिक शान्तिके लिए यह आवश्यक है कि स्वभावके तीनों तत्व अपना-अपना काम करते रहें। तीनों तत्वोंमें श्रेणिभेद है। बुद्धि सर्वोच्च है। अतः बुद्धिके निर्देशनमें काम करना अन्य तत्वोंके लिए आवश्यक है। इसी भाँति समाजमें शासकवर्ग सर्वोच्च है, योद्धा मध्यम और व्यवसायिवर्ग निम्न है। समाजकी शान्ति और सुव्यवस्थाके लिए आवश्यक है कि तीनों वर्ग अपने निर्दिष्ट कार्योंको करें। शासकवर्गमें बुद्धिकी प्रधानता बतलाकर प्लेटोने नागरिकोंको समझाना चाहा कि उन्हें शासकोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। विद्रोह और असन्तोषका कोई कारण नहीं है। समाजमें विद्यमान वर्ग-भेद उचित और स्वाभाविक है। जिस भाँति स्वभावकी प्रवृत्तियोंके लिए बुद्धिके अधीन होकर कर्म करना श्रेयस्कर है उसी भाँति नागरिकों, व्यवसायियों और योद्धाओंके लिए शासकवर्गके आदेशानुसार कर्म करना हितकर है।

समाजकी उन्नतिके लिए श्रमका वितरण उचित है। प्रत्येक व्यक्तिको उस धर्मको अपनाना चाहिये जिसके वह योग्य है। व्यक्तिको अपनी विशिष्ट योग्यताका विकास करना चाहिये। यह सामाजिक समग्रताके विकासके लिए आवश्यक है। व्यक्तियोंका नाम ही समाज है। जब समाजके व्यक्ति विवेकशील, वीर, संयमी और न्यायप्रिय होंगे तभी समाजमें संयम, वीरता, न्याय और बुद्धिका प्रदर्शन होगा। सद्‌गुणी व्यक्ति सद्‌गुणपूर्ण समाजकी अपेक्षा रखता है और सद्‌गुणयुक्त समाज सद्‌गुणी व्यक्तिकी। सुव्यवस्थित समाजमें ही सद्‌गुण पनपते और विकसित होते हैं। सद्‌गुणोंकी अभिव्यक्तिके लिए सुव्यवस्थित समाज अनिवार्य है। समाजकी सुव्यवस्थाके लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि दार्शनिक एवं तत्वज्ञानी उसके शासक हों। दार्शनिक ही सुचारूरूपसे

समाजकी व्यवस्था कर सकता है। वह तत्वप्रेमी तथा स्थायी आनन्दका जिज्ञासु है, सुखभोगकी इच्छा और संकीर्ण स्वार्थोंसे मुक्त है। अतः वह समाजको नैतिक ह्राससे बचाकर न्यायकी स्थापना कर सकता है।'

प्रश्नोत्तर पद्धतिकी सहायतासे प्लेटोने समझाया कि चतुराई, झूठ बोलना, धोखा देना, शक्तिमद आदि शुभ गुण नहीं हैं। सांसारिक दृष्टि उन गुणोंको शुभ कहती है जिनसे बाह्य सफलता मिलती है। नैतिकता आन्तरिक सफलताकी आकांक्षी है। वह आत्मिक गुणोंका विकास एवं आन्तरिक सफलता चाहती है। सद्गुण ज्ञान है। तत्वज्ञान वैयक्तिक रुचियों, प्रवृत्तियों, प्रचलनों, शक्ति और चतुराईसे स्वतन्त्र है। ये सब परिवर्तनशील और सापेक्ष हैं। वस्तुका शुभत्व व्यक्तिविशेषकी रुचिपर नहीं, किन्तु उसके तात्विक रूप-पर निर्भर है। तत्वका ज्ञान ही शुभ वस्तुको समझनेमें सहायक है। ज्ञानी व्यक्ति बाह्यको नहीं, आन्तरिक रूपको महत्व देता है। वह बाह्य सफलता-वालोंको सुखी नहीं मानता किन्तु आन्तरिक सफलतावालोंको। तत्वज्ञान सद्गुणोंका आधार सत्य है। अतः सद्गुणोंके मूलमें एक ही तत्व है। सद्गुण एक है। एक ही तत्व भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न रूपोंमें व्यक्त होता है। विवेक, संयम, वीरता और न्यायशीलता एक ही सत्यको अभिव्यक्ति देते हैं। सद्गुण, सत्य और शुभका ज्ञान एक ही है।

परम्परागत नैतिक सद्गुण

प्लेटोके समयकी यूनानी नैतिक चेतनाने चार गुणोंको माना—विवेक, वीरता, संयम और न्याय।[१] प्लेटो इन स्वीकृत गुणोंको आत्माके तीन रूपोंके आधारपर समझाता है। विवेक निर्देशनशील और चिन्तनशील है। वह योग्य राज्यका आधार तथा शासकवर्गका विशिष्ट गुण है। वीरता योद्धाओंका विशिष्ट गुण है। इसके कारण व्यक्ति सुख, दुःख, भय और बाधाओंकी चिन्ता न करके औचित्यका मार्ग ग्रहण करता है। संयम संगति और व्यवस्थाका सूचक है। इच्छाओं और प्रवृत्तियोंका विवेकपूर्वक

१. Wisdom, Courage, Temperance and Justice. **यही गुण बादमें मूल सद्गुण** (Cardinal Virtues) **कहलाये।**

संयमन करना ही संयम है। यह प्रजाके लिए अनिवार्य गुण है क्योंकि यह उन्हें शासकवर्गकी आज्ञाका पालन करना सिखलाता है। न्याय उच्चतम गुण है। यह तीनों अन्य गुणोंका अपने अन्दर समावेश करता है। जब शासक विवेकपूर्वक शासन करते हैं, योद्धा वीरतासे युद्ध करते हैं तथा व्यवसायिवर्ग शक्ति और मितव्ययितासे काम लेते हैं तथा ये सब बुद्धिके अधीन कर्म करते हैं तब समाजमें न्यायकी उपलब्धि होती है। न्याय बतलाता है कि व्यक्तियोंको समाजमें अपना निर्दिष्ट काम करना चाहिये। दूसरोंके काममें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। न्याय व्यक्तित्वके विकासमें भी सहायक है। वह आत्माका गुण है। आध्यात्मिक सौन्दर्य और स्वास्थ्यका सूचक है। वैयक्तिक कल्याणके लिए न्याय आवश्यक है। सत्यका ज्ञान व्यक्तिको न्यायशील बनाकर उचित सामाजिक आचरणको अपनाना सिखलाता है। जब आत्माके विभिन्न तत्वोंमें आन्तरिक संगति और सह-योग होता है तब वह न्यायको व्यक्त करती है। इस भाँति प्लेटोने न्याय-को व्यक्ति और समाज दोनोंमें देखा और दोनोंकी उन्नति और विकासके लिए उसे आवश्यक बतलाया। न्यायका प्रादुर्भाव विकासका सूचक है।

न्यायके द्वारा ही प्लेटोने अपने आदर्श राज्यके रूपको समझाया। न्याय वैयक्तिक गुण और सामाजिक गुण दोनों ही है। आदर्श समाजमें सार्वभौम न्यायकी अभिव्यक्ति पायी जाती है। आदर्श राज्यके शासकवर्ग विवेकका मूर्तिमान रूप होंगे और योद्धा वीरताका। ये दोनों ही व्यवसायिवर्गसे भिन्न हैं। व्यवसायिवर्गकी समाजमें वही स्थिति है जो स्वभावमें इच्छाओं और प्रवृत्तियोंकी है। राज्यको देखना चाहिये कि व्यवसायिवर्गकी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्ति हो। व्यवसायिवर्गका राज्यसे विनम्र आज्ञाकारी सेवकका-सा सम्बन्ध होना चाहिये।

आदर्श राज्य

न्यायके द्वारा ही प्लेटोने वैयक्तिक और सामाजिक शुभके सम्बन्धको समझाया है। विभिन्न व्यक्तियोंका संगतियुक्त, पारस्परिक सहयोगपूर्ण

वैयक्तिक और सामाजिक शुभ

कर्म करना ही राज्यमें न्यायका सूचक है और स्वभाव-के तत्वोंमें संगति व्यक्तिमें न्यायकी द्योतक है। न्याय-शील व्यक्ति वह है जो समग्रतामें अङ्गोंके संगतिपूर्ण विकासकी प्राप्तिका प्रयास करता है। यह समग्रता चाहे समाजकी हो चाहे स्वभावकी, वह न्यायका प्रेमी है और सर्वत्र न्यायकी स्थापना करता है। वास्तवमें उसका कल्याण इसपर निर्भर है कि सर्वत्र न्याय हो। आत्म-कल्याण और सजातीयोंका कल्याण एक ही है। राज्य एक आव-यविक समग्रताकी भाँति है जिसका यदि एक अंग दुःखी है तो समग्र उससे प्रभावित होता है। न्याय सर्वसामान्य एवं समग्रताके कल्याणकी स्थापना करता है, न कि किसी अंगविशेषके कल्याणकी। न्यायका ज्ञान और न्यायप्रेम शासकोंका मुख्य गुण है और साथ ही वह नागरिकोंका भी गुण है। न्यायशील शासक समाजमें व्यक्तियोंके बाह्य आचरणके लिए कर्तव्य, अधिकार, नियम और शिक्षाके स्वरूपको निर्धारित करते हैं। वे उनका नैतिक निर्देशन करते हैं। प्लेटो यह भी कहता है कि केवल कानूनके बलपर नैतिक आचरण नहीं सम्पादित किया जा सकता। नीति-वाक्यों द्वारा आचार सम्बन्धी प्रोत्साहन तथा न्यायोचित दण्ड देकर भी नैतिक आचरणको अपनाना सिखाना चाहिये।

प्लेटोने यह समझाया कि सद्‌गुण व्यक्तिगत आचरण, सामाजिक कल्याण, वैयक्तिक कल्याण तथा सर्वसामान्यके कल्याणके लिए आवश्यक है।

सुखका स्थान

सद्‌गुणयुक्त पूर्ण जीवन वह है जिसमें प्रत्येक अंग—निम्नसे उच्चतमतक—अपने व्यापार और अभिव्यक्तिके लिए पूर्ण अवसर प्राप्त करता है और यह सब बुद्धिके परम आदेशके अधीन रहकर। सद्‌गुणयुक्त जीवन पूर्ण और संगतियुक्त है। शुभ जीवनकी ऐसी व्याख्या करके प्लेटोने बुद्धिको प्रधानता दी है और भावना-जनित अप्रमुख मूल्यको वहाँतक स्वीकार किया है जहाँतक कि वह बौद्धिक जीवनका सहभोगी और बुद्धिका अनुचर है। इच्छाओंका स्वरूप बतलाता है कि उनके लिए संयम आवश्यक है अतः उन्हें बुद्धिके अधीन

रहना चाहिये। इच्छाएँ बुद्धि और वीरता दोनोंसे निम्न हैं, इसलिए दोनोंके अधीन हैं। बुद्धिसम्मत सुख उचित है, न कि इन्द्रियसुख! बुद्धि आत्माका सर्वोच्च तत्व है। बौद्धिक या दार्शनिक जीवन ही सर्वोच्च जीवन है। जो सत् है वही शुभ और शिव है। बौद्धिक जीवन भावनाशून्य नहीं है। वह भावनाओंको संगति देकर उनका उन्नयन करता है। बौद्धिक जीवनमें उन भावनाओंके लिए स्थान है जो कि बुद्धिके अधीन हैं।

शुभ वह है जो अपने-आपमें वाञ्छनीय है। इसके विभिन्न रूपोंमें संगति है, विरोध नहीं। किन्तु विभिन्न प्रकारके सुखोंमें असंगति मिलती है। अपने-आपमें वाञ्छनीय होनेके कारण शुभ परम ध्येय है। वह अपने-आपमें पूर्ण और पर्याप्त है। अन्य किसी वस्तुके सम्बन्धमें उसका मूल्य न तो बढ़ ही सकता है और न घट ही। वही परम ध्येय या शुभ है जो पूर्णतः सन्तोष दे सकता है। प्रत्येक विवेकी व्यक्ति उसकी खोज करता है और उसकी प्राप्ति मनुष्यकी इच्छाओंको तृप्त करती है। इस अर्थमें सुख अपने-आपमें वाञ्छनीय नहीं है। बिना ज्ञान, प्रत्यक्ष बोध और स्मृतिसे युक्त हुए चेतनाकी देहरी या प्रवेश-द्वारको पार करना उसके लिए कठिन है। अतः या तो सुख असन्तोषप्रद है और या इच्छाका तटस्थ विषय है। यही नहीं, सुख अपने-आपमें शुभ या वाञ्छनीय भी नहीं है। उसका मूल्य उसके परिणामपर निर्भर है। यदि वह इच्छाको तृप्त और दुःखको दूर करनेमें सहायक है तो वह अच्छा है। अतः उसका मूल्य उसके सहायक उपकरणोंपर निर्भर है।

परम वाञ्छनीय न होनेपर भी सुख शुभका अङ्ग है। कोई भी मानसिक स्थिति बिना सुखकी भावनाके शुभ नहीं कहलाई जा सकती। वह मानसिक स्थिति जो विवेक, बुद्धि, ज्ञान और स्मृतिके व्यापारसे युक्त है, तबतक इच्छाको तृप्त नहीं कर सकती जबतक कि वह सुख-दुःखकी भावनासे भी युक्त न हो। केवल चिन्तनसे किसीको सन्तोष नहीं मिलता, चिन्तनमें सुख मिलना चाहिये। इसलिए वह शुभ सन्तोष देता है अथवा इच्छाओंको तृप्त करता है जिसका कि सुख एक निर्माणात्मक अङ्ग है।

सुख और मानसिक कर्म शुभके लिए आवश्यक है। दोनोंके उचित समन्वयमें ही शुभ निर्भर है। यह अवश्य विवेकका काम है कि वह उनके अनुपातको समझे। यही बौद्धिक निर्णयका भी कार्य है। निःसन्देह सुख शुभ एवं आत्मकल्याणका अङ्ग है। वह सुख अधिक मूल्यवान है जो विशुद्ध है अथवा दुःख या अतृप्तियुक्त नहीं है। इस आधारपर इन्द्रिय-सुखसे अधिक वाञ्छनीय बौद्धिक सुख है। सबसे श्रेष्ठ सुख सत्यका चिन्तन करनेसे एवं सत्यके ज्ञानसे प्राप्त होता है। अन्तमें प्लेटो इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि व्यक्तिके लिए सर्वोच्च जीवन वह है जिसमें विवेक, भावना और इच्छा एवं स्वभावकी विभिन्न प्रवृत्तियाँ उस संगतिके अनुरूप कर्म करती हैं जो कि बुद्धि द्वारा निर्धारित है।

सुकरातका अनुयायी प्लेटो मानता है कि सद्गुण ज्ञान है। अतएव प्लेटोके दर्शनमें ज्ञानमात्र सैद्धान्तिक या चिन्तनप्रधान नहीं है। ज्ञानका परम विषय सर्वोच्च शुभकी प्राप्ति है। सर्वोच्च शुभकी प्राप्ति सैद्धान्तिक और व्यावहारिक ज्ञानके ऐक्यकी सूचक है। प्लेटो मानता है कि प्रत्ययों (Ideas) का जगत वास्तविक जगत है। यह जगत उसकी छायामात्र है इसलिए वास्तविक जीवन चिन्तनप्रधान या दार्शनिक जीवन है। वास्तविक जगत ही जीवनका सार है और उसके अनुरूप कर्म करना ही ध्येय है। सत्यका ज्ञान आचरणकी समस्याओंको भी हल कर सकता है। सत्यका ज्ञान रुचि, प्रवृत्ति और प्रचलनसे स्वतन्त्र है। सत्य ज्ञानको कैसे प्राप्त किया जा सकता है? प्लेटोके अनुसार इन्द्रियोंकी सहायतासे सत्यज्ञान एवं तत्वज्ञान नहीं प्राप्त किये जा सकते। विचार और विवेककी सहायतासे ही उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। स्थूल वस्तुएँ अव्यक्त रूपसे परम सत्यको अभिव्यक्ति देती हैं। हमें वस्तुओंके तात्विक रूपको समझनेका प्रयास करना चाहिये, न कि उनके प्रतिभासित रूपको।

आदर्श और वास्तविकताका द्वैत

प्लेटोका विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्तिमें अपने कल्याणकी इच्छा अनिवार्य और स्थायी रूपसे वर्तमान रहती है। इस इच्छाका उच्चतम

रूप ज्ञानके प्रति दार्शनिक जिज्ञासा है। इस इच्छाके मूलमें उस वस्तुको प्राप्त करनेकी भावना है जो कि वास्तवमें सबसे पहिले थी। सामान्य व्यक्तियोंमें इस खोई हुई वस्तुकी क्षीण स्मृतिमात्र होती है। दार्शनिकमें वह स्मृति अत्यन्त तीव्र रूपमें वर्तमान है। आत्माको बन्दी बनाकर परदेशी देहने उसके वास्तविक स्वरूपको मांसल भावनाओं और आवेगोंसे युक्त कर दिया और इस कारण आत्मा शुभका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ है। अतः जीवनकी वास्तविक कला इन्द्रियोंकी मृत्युकी कला है। इन्द्रिय-जीवनका तिरस्कार करके ही परम शुभ और सौन्दर्यके साथ तादात्म्य अनुभव किया जा सकता है। किन्तु साथ ही प्लेटोने यह अनुभव किया कि दार्शनिक चिन्तनके लिए सामान्य मानवीय रुचियोंसे पूर्ण रूपेण भिन्न होना कठिन है, क्योंकि दार्शनिक भी स्थूल इन्द्रिय जगतमें रहता एवं कर्म करता है। अतः उसने विवेक और सद्गुणके ऐक्यको स्वीकार किया। परम सत्यके ज्ञाताके लिए यह असम्भव है कि उसका वैयक्तिक और सामाजिक आचरण ज्ञेय सत्यके अनुरूप न हो। ज्ञानी सदैव शुभके अनुरूप कर्म करेगा।

परम सत्य या शुभका प्रत्यय प्रत्येक सत्य वस्तु द्वारा व्यक्त होता है। वह सत्य, ज्ञान, सौन्दर्य और नैतिक शुभका आधार है। बुद्धि द्वारा ही उसे समझा जा सकता है, यद्यपि कुछ ही प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति उचित शिक्षा द्वारा उसे ग्रहण कर सकते हैं।

प्लेटो शुभके स्वरूपकी स्पष्ट व्याख्या नहीं करता। उसकी व्याख्या रहस्यात्मक है। कुछके अनुसार वह भगवान् है, कुछके अनुसार प्रकृतिका परम नियम, कुछके अनुसार विश्वका परम कारण और कुछके अनुसार शुभ वह मूल प्रत्यय है जिसके द्वारा सृष्टिकर्ता सृष्टि करता है। वैसे, प्लेटोने अपने दर्शनमें संगति और सामञ्जस्यको महत्व दिया है और संगति सौन्दर्य है। [illegible] संयम आदि जो कुछ भी शुभ है वह सुन्दर है और सौन्दर्य नैतिक शुभ या पूर्णताका सूचक है। विश्वमें जो सौन्दर्य है वह सामञ्जस्यका सौन्दर्य है। अंगोंकी संगति और एकता आवश्यक है। व्यक्तिकी विभिन्न

प्रवृत्तियोंमें, राज्यके विभिन्न अङ्गोंमें अथवा कर्मोंमें संगति आवश्यक है। अनेकता एकताका रूप है। वैयक्तिक और सामाजिक आचरण, पूर्ण व्यक्ति और पूर्ण राज्य अथवा सम्पूर्ण विश्व एक व्यवस्थित विधानकी भाँति है जहाँ कि प्रत्येक व्यक्तिको अपना निर्दिष्ट कर्म करना होता है।

प्लेटो यह मानता है कि नैतिक आदर्श पूर्णताका शाश्वत रूप है। मनुष्य कुछ सीमातक उस पूर्णताको प्राप्त कर सकता है। इस जीवनमें उसकी पूर्ण प्राप्ति असम्भव है। किन्तु भविष्यमें उसकी उपलब्धि सम्भव हो सकती है। मानवताका नैतिक विकास हो रहा है। जब मनुष्य नैतिक आदर्शको प्राप्त कर लेगा तभी वास्तवमें विश्व पूर्णतः चरितार्थ होगा।

मनुष्यको निम्न एवं इन्द्रियजन्य आत्मासे ऊपर उठकर शाश्वत और वास्तविक सत्यको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये। अज्ञान तथा अत्यधिक आत्म-प्रेम अनुचित है। हमें उन व्यक्तियोंको प्यार करना चाहिये जिनकी आत्मा हमसे अधिक महान् है। वास्तवमें भगवान्‌के अनुरूप बननेका प्रयास करना तथा उसका कृपापात्र बनना मनुष्यका आदर्श है। भगवान् ही प्रत्येक वस्तुका मानदण्ड है। सोफिस्ट्सकी यह उक्ति कि मनुष्य ही सब वस्तुओंका मानदण्ड है, सारहीन है। दिव्य संगतिका विचार ही विश्वको समझनेमें सहायक हो सकता है। दार्शनिक जीवन भावशून्य नहीं है प्रत्युत भावपूर्ण है, क्योंकि परम सत्य और परम शिव ही अन्ततः सुन्दर भी है। सांसारिक विषयोंके प्रति जो हमारी आसक्ति और प्रेम है उसका पवित्र दिव्यरूप भगवत् प्रेमके रूपमें पूर्णता प्राप्त करता है।

अरस्तू

अरस्तू[1] प्लेटोके साथ स्वीकार करता है कि सर्वश्रेष्ठ जीवन दार्शनिक चिन्तनका जीवन है, किन्तु इसके आगे दोनोंमें भेद है। अरस्तूका नैतिक

1. Aristotle ३८४–३२२ ई० पू०। अरस्तूने लिसियम (Lyceum) में घूमते हुए (चंक्रमण करते हुए) अपने उपदेशोंको भाषणोंके रूपमें दिया। इस कारण उसके अनुयायी घुमक्कड़ एवं चंक्रमणशील अथवा

प्लेटोसे भिन्नता : मानवतावाद

दर्शन, सुकरातकी भाँति पूर्णतः मानवतावादी है। उसने प्लेटोकी रहस्यात्मक और परात्परवादी प्रवृत्तियोंको स्वीकार नहीं किया। उसने शुभके मानव आदर्शोंको अतिमानवीय सत्योंके आधारपर नहीं समझाया। प्लेटोने मानव-स्वभावके आभ्यन्तरिक गुणोंको मानते हुए भी परात्परवादको अपनाया। अरस्तूने प्लेटोके परात्परवादकी आलोचना करते हुए मानव-स्वभावमें ही नैतिक आदर्शको देखा। उसने यूनानी नैतिक विचारोंको दायरूपमें अनायास ही ग्रहण कर लिया था। उसने प्रचलित सद्‌गुणोंको स्वीकार कर एथिन्सके सामाजिक जीवन द्वारा योग्य नागरिकोंके लिए स्वीकृत सद्‌गुणयुक्त जीवनके विभिन्न रूपोंके मानवीय मूल्यको समझानेका प्रयास किया। अरस्तूके दर्शनमें हमें मानवतावादी नैतिकताकी स्पष्ट व्याख्या मिलती है। मानव एवं मानव-स्वभावको महत्व देनेके कारण अरस्तूने अपने नीतिशास्त्रको दार्शनिक जटिलता और दुरूहतासे स्वतन्त्र रखा। वह भलीभाँति जानता था कि नैतिक दृष्टि व्यावहारिक दृष्टि है, अतः उसने कहा कि हमारा सम्बन्ध इससे नहीं कि शुभ क्या है वरन् हम कैसे शुभ एवं सद्‌गुणयुक्त बन सकते हैं। यही हमारा ज्ञातव्य है। हमें आचरणकी समस्याओंको समझनेका प्रयास करना चाहिये। आचरण की समस्या मनोवैज्ञानिक ज्ञानकी अपेक्षा रखती है। नीतिशास्त्रको राजनीतिका अङ्ग मानते हुए अरस्तूने कहा कि राजनीतिज्ञोंके लिए मनोवैज्ञानिक ज्ञान अनिवार्य है। अरस्तूके अनुसार जिस शुभसे हमारा सम्बन्ध है वह मनुष्योंका शुभ है अतएव मनुष्योंके शुभसे सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञानके लिए मनोवैज्ञानिक ज्ञान आवश्यक है।

प्लेटोकी दृष्टि समन्वयवादी थी। उसने प्रत्येक सिद्धान्त और दृष्टिकोणके मूलगत आधारोंको समझना चाहा। उसने उस एकताको जानना

पेरिपेटिटिक्स (Peripatetics) कहलाये। अरस्तूकी शिक्षाओंको भी कई बार 'द पेरिपेटिटिक् फिलॉसफी' कहकर निर्देशित किया जाता है।

विज्ञानोंका पृथक्त्व

चाहा जो कि अनेकताओंको परस्पर सम्बद्ध करती है। उसने तत्वज्ञान, ईश्वरज्ञान, नीतिशास्त्र, भौतिक तथा शिक्षा सम्बन्धी समस्याओंको एक ही व्यापक विधानके अंगोंके रूपमें देखा और एक ही समस्याके अन्तर्गत अन्य समस्याओंका समावेश किया। प्लेटोके दर्शनको स्वीकार करते हुए अरस्तूने यह अनुभव किया कि विभिन्न विज्ञानोंकी उन्नतिके लिए क्रमबद्ध विस्तृत ज्ञानका विकास आवश्यक है। उसने नीतिशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान, तत्वदर्शन, प्राकृतिक विज्ञानोंके पृथक्त्वको महत्व देकर उनपर पृथक् रूपसे लिखा।

नीतिशास्त्रका स्थान

नीतिशास्त्रको अरस्तू राजनीतिक दर्शनके व्यापक अध्ययनका अङ्ग मानता है। मनुष्यका सामाजिक व्यक्तित्व बतलाता है कि उसके परम शुभको खोजते समय हम उसे राज्यके नागरिक या समाजके सदस्यके रूपमें समझते हैं, न कि उसे एक असम्बद्ध इकाई मानते हैं। शुभकी परिभाषा देते हुए अरस्तू कहता है कि जो सबका लक्ष्य है वही शुभ है। सर्वोच्च शुभ वह है जो अपने-आपमें वाञ्छनीय है। राजनीतिक विज्ञान सबसे श्रेष्ठ विज्ञान है। सर्वश्रेष्ठ विज्ञानका विषय ही मानव-जातिका सर्वश्रेष्ठ शुभ है। राज्य व्यक्ति और परिवारसे उसी भाँति पहिले है जिस भाँति कि समग्र अंशसे। राजनीतिक विज्ञानका सम्बन्ध राज्यके शुभसे है और वह शुभ किसी अकेले व्यक्तिके शुभसे अधिक महान्, अधिक पूर्ण और अधिक दिव्य है। किन्तु राज्यका निर्माण व्यक्तियोंसे होता है। राजनीतिक विज्ञानकी एक शाखाका विषय वैयक्तिक शुभकी जिज्ञासाका वह रूप है जो कि आचरण तथा कर्मोंसे सम्बन्धित है। यही वास्तवमें नीतिशास्त्रका विषय है।

प्रणाली

अरस्तू यह मानता है कि नीतिशास्त्रके निष्कर्ष गणितकी भाँति यथार्थ और निश्चित नहीं होते, वे सामान्य होते हैं। नैतिक चिन्तन करनेका अधिकार प्रत्येक व्यक्तिको नहीं है। वही व्यक्ति अधिकारी है जिसे जीवनका व्यापक अनुभव और सामान्य शिक्षा प्राप्त है तथा जो अपने आवेगोंपर नियन्त्रण रख

सकता है। प्रत्यक्ष अन्तर्ज्ञान, वैयक्तिक अनुभव और दूसरोंके वे अनुभव जो कहे या व्यक्त किये जा सकते हैं, नैतिक ज्ञान एवं सूचनाके स्रोत हैं। इस भाँति प्रदत्तोंको एकत्र करके तथा उनका आलोचनात्मक परीक्षण करनेके पश्चात् ही सामान्य सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया जा सकता है। उपर्युक्त विधिको अपनाकर अरस्तूने बतलाया कि नीतिशास्त्रकी प्रणाली आगमनात्मक और विश्लेषणात्मक है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी प्रणाली अपनाकर अरस्तूने नैतिक समस्याओंको प्लेटोकी अमूर्तता और जटिलतासे मुक्त करके सरल बना दिया।

यदि मनुष्य विवेकशील सामाजिक प्राणी है तो क्या उसके सम्मुख कोई ध्येय है? उसे किस ध्येयकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना चाहिये? अरस्तू यह मानता है कि परम शुभ अवश्य है। परम शुभको सिद्ध करनेके लिए वह तर्क देता है कि प्रत्येक कला, प्रत्येक विज्ञान और अनुसन्धान, और साथ ही प्रत्येक स्वेच्छाप्रेरित कर्म और व्यवसायका लक्ष्य एक विशिष्ट शुभ होता है। जब हम उन विशिष्ट ध्येयोंको समझनेका प्रयास करते हैं जिन्हें प्राप्त करनेके लिए मनुष्य क्रियाशील है तो हमें निराशा होती है। मनुष्य अपने स्वरूपको भूला रहता है। वह उन कर्मोंको अपने-आपमें पूर्ण मान लेता है जिन्हें कि वह करता है। उदाहरणार्थ, एक सैनिक युद्धकौशलको ही सब कुछ मान लेता है। अपने कर्म और ध्येयको चुनते हुए हमें अपने मनुष्यत्वको सदैव ध्यानमें रखना चाहिये। मनुष्य मनुष्य होनेके कारण, अच्छी तरह, समझ-बूझकर कर्म कर सकता है। उसका लक्ष्य उसके स्वरूप द्वारा निर्धारित होना चाहिये तथा उसके कर्म साभिप्राय होने चाहिये। अरस्तू कहता है कि यह सभी मानेंगे कि जीवनका ध्येय आनन्द अथवा कल्याण (Eudaemonia) है और परम मानवीय शुभ ही कल्याण है। किन्तु जहाँतक कल्याण शब्दके अर्थका प्रश्न है, लोगोंमें मतभेद है। अधिकांश व्यक्ति यह मानते हैं कि कल्याण सुखपर निर्भर है। सुख कल्याणकी अनिवार्य स्थिति अवश्य है किन्तु वह कल्याणकी प्राप्तिके लिए किसी

परम शुभ : विभिन्न धारणाओंका खण्डन

प्रकार भी पर्याप्त नहीं है। जो सुखको मानव-अस्तित्वका आदि और अन्त मानते हैं वे पशुओंके योग्य जीवनको चुनकर अपनी तुच्छता और अधीनता व्यक्त करते हैं। यही नहीं, कुछ सुख अवाञ्छनीय भी होते हैं, अतः सुख परम ध्येय नहीं हो सकता। कुछ लोग धन, यश या सफलताको कल्याण मानते हैं। किन्तु ये भी अपने-आपमें वाञ्छनीय नहीं हैं। उदाहरणार्थ, धन कल्याणके लिए साधनमात्र है। सिनिक्सके अनुसार कल्याण और सद्‌गुणकी प्राप्ति एक ही है। अरस्तू कहता है कि ऐसा कथन पूर्णतः मान्य नहीं है क्योंकि सद्‌गुणका मूल्य उन मानसिक क्रियाओंके स्वरूपसे आँका जाता है जिनकी ओर वह ले जाता है। यदि सद्‌गुणको एक ऐसी प्राप्तिके रूपमें स्वीकार कर लें जो कि निष्क्रिय है तो वह मानव-जीवनके लिए व्यर्थ एवं अर्थशून्य हो जायगा।

प्लेटोकी आलोचना

प्लेटो परम शुभकी अनुभवनिरपेक्ष व्याख्या करता है। उसके अनुसार अतीन्द्रिय सत्य ही सब गुणोंका आधार है। किन्तु अनुभवको महत्व देनेवाला एवं मानवतावादी दृष्टिकोणको न भूलनेवाला अरस्तू ऐसे सिद्धान्तको स्वीकार नहीं करता। प्लेटोकी आलोचना करते हुए वह कहता है कि अनुभव बतलाता है कि कई ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें हम शुभ मानते हैं, पर इन वस्तुओंमें किसी प्रकारकी भी समानता नहीं है। सब शुभ वस्तुओंका आधार एक ही वस्तु नहीं हो सकती। शुभका ऐसा स्वरूप जो कि विशिष्ट वस्तुओंसे भिन्न है, विशिष्ट वस्तुओंके शुभत्वको नहीं समझा सकता। शाश्वत प्रत्यय नैतिक समस्याका समाधान नहीं कर सकते। यदि शुभका शाश्वत रूप अनुभवजगतसे परे है तो मनुष्यके लिए वह अप्राप्य है। जिस शुभको हम खोजते हैं वह ऐसा होना चाहिये जिसे कि मनुष्य प्राप्त कर सके। ऐसे वास्तविक मानवीव शुभ एवं प्राप्त हो सकनेवाले शुभको समझनेके लिए यह जानना आवश्यक है कि मानवकी योग्यता या क्षमता कितनी है? वह किस आदर्शके योग्य है? उसकी योग्यता और स्वभावके आधारपर ही शुभके स्वरूपको समझाया जा सकता है।

यदि हम एक जातिकी दृष्टिसे देखें तो मनुष्य पशुओंके अन्तर्गत आ जाता है और पशु चेतन प्राणियोंके अन्तर्गत । किन्तु मनुष्यकी विशेषताको समझनेके लिए यह जानना आवश्यक है कि उसमें और अन्य प्राणियोंमें क्या भेद है। पशुमें संवेदन और आवेगशक्ति है, किन्तु मनुष्यमें बुद्धि है और इस कारण वह मात्र पशु नहीं है । मानव-शुभके स्वरूपको समझनेके लिए बुद्धिको समझना आवश्यक है एवं उस विशेषताको समझना अनिवार्य है जो उसे पशुसे ऊपर उठाती है । मनुष्य, मनुष्य होनेके कारण चिन्तनशक्ति रखता है, पशु होनेके कारण संवेदन और आवेगशक्ति तथा चेतन प्राणी होनेके कारण आवयविक जीवनक्रियाशक्ति रखता है । एक ओर वह पशु है, दूसरी ओर मानस । उसकी आत्माका बौद्धिक अंश उसके मनुष्यत्वका चिह्न है, संवेदन और आवेग पशुत्वका और आवयविक जीवनक्रिया वानस्पतिक जीवनका । एक ओर मनुष्यकी आत्माका बौद्धिक पक्ष है और दूसरी ओर अबौद्धिक । ये दोनों भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। उसकी चिन्तनशक्ति उसके बौद्धिक पक्षकी सूचक है और अन्य दो अ-बौद्धिक पक्षकी । किसी भी वस्तुकी श्रेष्ठता उसके अपने व्यापारको उचित प्रकारसे करनेपर निर्भर है । कोई भी व्यक्ति इसलिए श्रेष्ठ नहीं है कि वह लिख या गा सकता है बल्कि इसलिए कि वह अपनी उन योग्यताओं या क्षमताओंको पूर्णता प्रदान करनेकी शक्ति रखता है जो कि उसे अन्य जीवोंसे भिन्न रखती हैं । मनुष्यकी श्रेष्ठताको हम उसके व्यापार, योग्यता और सम्भावित शक्तियोंके आधारपर निर्धारित कर सकते हैं । मनुष्य अपनी बुद्धिका प्रयोग कर सकता है और अपनी इस योग्यताके कारण वह दूसरोंसे भिन्न है । अतः उसकी श्रेष्ठता बुद्धिकी प्राप्ति और विकास में निर्भर है । बुद्धिके कारण वह केवल चिन्तन ही नहीं करता बल्कि अपने आवेगोंपर भी नियन्त्रण रखता है । वानस्पतिक जीवनप्रणालीपर बुद्धि नियन्त्रण नहीं रख सकती अतः पशुत्वको नियन्त्रित और निर्देशित करना तथा चिन्तन करना बुद्धिका कार्य है। बौद्धिक क्रियाके आधारपर सद्गुणों-

मनुष्यका स्वभाव

को दो भागोंमें विभाजित किया जा सकता है : (१) विवेकसम्मत सद्गुण, वह सद्गुण जो चिन्तनके लिए चिन्तन करता है। (२) नैतिक सद्गुण, यह आवेगों और प्रवृत्तियोंपर बौद्धिक नियन्त्रण रखता है। सद्गुणयुक्त व्यक्ति वह नहीं है जो जीवनमें दो-एक बार या कभी-कभी शुभ कर्म करता है। किन्तु वह जो सदैव शुभ कर्म करता है। उचित कर्म और उचित चिन्तनका अभ्यास ही सद्गुण है। यह व्यक्तिके शुभ चरित्रको अभिव्यक्त करता है।

शुभ जीवन क्या है ? आदर्श जीवनसे हमारा क्या अभिप्राय है ? शुभ जीवन कल्याणका जीवन है। कल्याण अपने-आपमें पूर्ण है। वह

कल्याण : थेओरिआ

किसी अन्य ध्येयके अधीन नहीं है। वह निरपेक्ष शुभ है और अपने-आपमें वाञ्छनीय है। मनुष्यका कल्याण उस कर्मकी पूर्णतापर निर्भर है जिसके लिए उसका अस्तित्व है या वह है और जिसके द्वारा उसका वास्तविक स्वरूप अभिव्यक्ति पाता है। ऐसे कर्मके स्वरूपको समझनेके लिए मानव-आत्माके स्वरूपको समझना होगा और आत्माका स्वरूप बतलाता है कि भावनाओं और इच्छाओंको बुद्धिके नियन्त्रणमें रखकर, बुद्धिके व्यापारों द्वारा व्यक्ति अपने कर्मको पूर्णता प्रदान कर सकता है। मानव-कल्याणके लिए नैतिक गुणोंकी वृद्धि करनी चाहिये, नैतिक गुण अपने-आपमें कल्याण नहीं हैं, वे कल्याणकी स्थिति एवं आत्म-पूर्णताकी स्थितिके सूचक हैं। कल्याणको कैसे जान सकते हैं ? कल्याणका क्या मानदण्ड है ? वह सुख नहीं है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी रूपमें कुछ सीमातक सुखको खोजता है तथापि सुखको परम शुभ नहीं माना जा सकता। परम शुभ अथवा कल्याण आत्माकी क्रिया है और सुख निष्क्रिय तथा क्षणिक अनुभवमात्र है। यदि कल्याण न सुख है और न नैतिक गुण तो वह क्या है ? यदि कल्याण आत्माकी वह क्रिया है जो कि एक पूर्ण जीवनमें सद्गुणके अनुरूप है तो उसका यथार्थ रूप क्या है ? उस आदर्श जीवनका क्या स्वरूप है जो बुद्धिकी पूर्ण क्रियापर निर्भर है ? अरस्तूके पास एक उत्तर है। वह थेओरिआ (Theoria) है, जो चिन्तनयुक्त ध्यान है और जो बुद्धिका बुद्धिके लिए

उपभोग है जो कि अपनेमें ही ध्येय है। शुभ जीवन थेओरिआका जीवन है। जिस जीवनको अरस्तू थेओरिआ द्वारा समझाता है वह दार्शनिक चिन्तन-या चिन्तनयुक्त ध्यान या चिन्तनयुक्त जीवन है।

कल्याणका जीवन आत्म-पर्याप्तताका जीवन है। वह पूर्ण तृप्ति प्रदान करता है। उस मनुष्यके व्यापार जिसने कि इस जीवनको पा लिया है, सर्वोच्च श्रेष्ठता तथा सद्गुणको प्राप्त कर लेते हैं। कल्याणकी प्राप्ति एक क्षणमें नहीं होती, उसकी प्राप्ति मनुष्यके सम्पूर्ण जीवनकी अपेक्षा रखती है। चिन्तनयुक्त जीवनसे अरस्तूका अभिप्राय कोरे सैद्धान्तिक जीवनसे नहीं है। विकसित व्यक्तिकी पूर्ण आत्मा बुद्धिके तटस्थ आनन्द द्वारा अभिव्यक्त होती है। यह स्थिति नैतिक सद्गुणोंका त्याग नहीं करती वरन् नैतिक सद्गुण इसके अंग हैं। जब नैतिक गुण दृढ़ अभ्यास बन जाते हैं तब शुभ-चरित्रका निर्माण होता है। शुभचरित्रका व्यक्ति ही बिना पक्षपातके ध्यानमें लीन और अनुरक्त हो जाता है। ध्यानमें अनुरक्त होना यह बतलाता है कि चिन्तनयुक्त जीवन सुखशून्य नहीं है। जिस निष्पक्ष तत्परतासे इस जीवनका अनुसरण किया जाता है वह अत्यधिक तीव्र सुख देता है। यह अत्यधिक सुखद स्थिति है, क्योंकि इस स्थितिमें सुख और शुभका विरोध सदैवके लिए मिट जाता है। यह अपने-आपमें वाञ्छनीय और पूर्ण है। यह कल्याणकी समस्त आवश्यकताओंकी पूर्ति करती है। अरस्तूका ऐसा मानवतावादी आदर्श सम्पूर्ण आत्मा अथवा मानव-स्वभावके सम्पूर्ण अङ्गों-को तृप्त करनेका आकांक्षी है। वह बुद्धिवादियों और सुखवादियोंकी भाँति किसी एक अङ्गकी तुष्टिका समर्थक नहीं।

अरस्तू कल्याणकी इस स्थितिको दिव्य जीवनके आधारपर भी समझाता है। कल्याणका जीवन बौद्धिक आत्माके उचित व्यापारका जीवन है। यह जीवन सत्यकी खोज और ज्ञानका जीवन है। यह वस्तुओंके आन्तरिक स्वरूपको देखनेका प्रयत्न करता है और आत्माके सत्यमें मिल जाता है। यह ज्ञाता और ज्ञेयका एक हो जाना है। यह स्थिति नैतिक सद्गुणोंके अति-क्रमणकी स्थिति है। नैतिक सद्गुणोंकी आवश्यकता उस स्थितिके लिए है

जो मनुष्य और समाजकी अपूर्णताकी स्थिति है। नैतिक सद्‌गुणोंकी क्रिया मानवीय है किन्तु आदर्शजीवन दिव्य है। अरस्तू यह स्वीकार करता है कि ऐसे आदर्शजीवनकी प्राप्ति इस जीवनमें असम्भव है। यह जीवन एकमात्र भगवान्‌की सम्पत्ति है। किन्तु फिर भी दिव्यांशसे युक्त होनेके कारण मनुष्यको पूर्ण जीवनकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना चाहिये। अपनी वास्तविक आत्मा (बौद्धिक आत्मा)के कर्मोंको पूर्ण अभिव्यक्ति देनेका प्रयास करना उचित है।

मध्यम मार्गका सिद्धान्त

प्लेटोकी भाँति अरस्तू यह मानता है कि स्वभावके विभिन्न अङ्गोंमें संगति आवश्यक है इसलिए वह कहता है कि जब बुद्धि अभ्यासवश आवेगोंको अत्यधिक श्रेष्ठ प्रकारसे संयमित रखती है तब नैतिक सद्‌गुणका जन्म होता है। स्वभावके विभिन्न अङ्गोंको अपनी सीमाके भीतर कर्म करनेका अधिकार है। मनुष्य, मनुष्य होनेके कारण एक विशिष्ट प्रकारके कर्म करके अपने वास्तविक रूपको अभिव्यक्ति देता है। कर्मके आन्तरिक स्वरूपको समझानेके लिए प्लेटो 'संगति' शब्दका प्रयोग करता है और अरस्तू 'मध्यम मार्ग' का। जिस भाँति प्रत्येक पूर्ण कार्य, चाहे वह कलाका हो या विज्ञानका, 'अधिक' और 'न्यून'की अतियोंसे मुक्त है उसी भाँति आचरणकी प्रत्येक प्रकारकी श्रेष्ठता भी दो अतियोंका मध्यबिन्दु है। स्वास्थ्य अत्यधिक भोजन और न्यूनतम भोजनसे नष्ट हो जाता है किन्तु परिमित एवं उचित अनुपात-के भोजनसे विकसित एवं हृष्ट-पुष्ट होकर सुरक्षित रहता है। विभिन्न नैतिक सद्‌गुण, संयम, वीरता, आदि मध्यम स्थितिके सूचक हैं। जो व्यक्ति प्रत्येक वस्तुसे डरता है तथा प्रत्येक स्थितिमें भाग खड़ा होता है वह कायर है और जो किसीसे नहीं डरता है तथा प्रत्येक स्थितिका सामना करनेको तत्पर है वह दुःसाहसी तथा उतावला है। वीरता इन दोनोंके मध्यकी स्थिति है। सद्‌गुण वह स्थायी मानसिक स्थिति है जो स्वेच्छाकृत कर्मों द्वारा अपनेको व्यक्त करती है और उस सापेक्ष मध्यम स्तरपर रहती है जो बुद्धिने निर्धारित किया है। अतः नैतिक सद्‌गुण मध्यम स्थितिमें ही सुर-

क्षित रहते हैं। यहाँपर यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि सद्गुणोंकी मध्यम स्थिति गणितकी-सी निश्चित मध्यम स्थिति नहीं है। यह सदैव एक-सी नहीं रहती। देश, काल, परिस्थिति और व्यक्तिके सम्बन्धमें उसे समझना होता है। कर्म करते समय व्यक्तिको अपनी बुद्धिसे काम लेना होता है। प्रत्येक व्यक्तिका कर्त्तव्य उसकी स्थितिसे सम्बन्धित है। योद्धामें दूकानदारसे अधिक वीरताकी आवश्यकता है और पुरोहितमें अभिनेतासे अधिक संयमकी। मध्यम मार्गका सिद्धान्त कर्म और भावना दोनोंपर ही आरोपित होता है। इच्छा, क्रोध, दया, भय, सुख, दुःख आदिका सभी न्यूनाधिक मात्रामें अनुभव करते हैं किन्तु इन भावनाओंको उचित समय, उचित अवसर, उचित व्यक्तियों और उचित ध्येयको सम्मुख रखकर उचित प्रकारसे अभिव्यक्ति देना सर्वश्रेष्ठ मार्ग अथवा मध्यम मार्गको अपनाना है। यही सद्गुणका चिह्न है। अरस्तूके मध्यम मार्गका ज्ञान प्राप्त करना जनसामान्यके लिए कठिन है। इसका सम्बन्ध व्यक्तिविशेष (कर्त्ता) से अवश्य है, पर इसे वही व्यक्ति समझ सकता है जो सुज्ञ है। सम्पूर्ण स्थितिका व्यापक ज्ञान प्राप्त करनेके साथ ही व्यक्तिको विवेक, नैतिक अन्तर्ज्ञान, अनुभव, उचित अभ्यास और व्यावहारिक बुद्धिकी सहायता लेनी होती है।

स्वेच्छित कर्म और उत्तरदायित्व

जब व्यक्ति किसी कर्मको बाह्य प्रतिबन्धवश नहीं बल्कि स्वेच्छासे करता है तब वह कर्म नैतिक निर्णयका विषय हो जाता है। सोच-समझकर स्वेच्छासे किये हुए कर्मका कारण व्यक्ति ही है। अतः ऐसे कर्मके लिए वह उत्तरदायी है। उसके कर्मपर निर्णय दिया जा सकता है। उसे भला या बुरा कह सकते हैं। हम उसे इसलिए भी दोषी ठहरा सकते हैं कि उसने अच्छे अभ्यासोंका विकास नहीं किया। बौद्धिक प्राणी प्रवृत्तियों और आवेगोंपर नियन्त्रण रख कर बुद्धिके अनुरूप कर्म कर सकता है। शुभ-अशुभ कर्म-भावना और अभ्यास नैतिक स्तुति और निन्दाके विषय हैं क्योंकि वे कर्त्ताके उस चरित्रको अभिव्यक्त करते हैं जिसका कि उसने स्वयं अनेक

स्वेच्छित कर्मों द्वारा निर्माण किया है। व्यक्ति केवल स्वेच्छित कर्मोंके लिए उत्तरदायी है, अनिच्छित कर्मोंके लिए नहीं। यदि व्यक्ति कोई कर्म अज्ञान या बाह्य दबावके वश करता है तब वह निरपराधी है। अरस्तूके अनुसार बौद्धिक प्राणीके सम्मुख ध्येय है। उसे ध्येयकी प्राप्तिके लिए कर्म करना चाहिये। अबौद्धिक एवं आवेगपूर्ण कर्म अनुचित हैं, उनके अनुरूप कर्म करके व्यक्ति सुखी नहीं रह सकता। शुभ अथवा बौद्धिक ध्येयके लिए कर्म करना व्यक्तिका कर्त्तव्य है। यदि इच्छित कर्म ध्येयकी प्राप्तिमें सहायक है तो वह उचित है अन्यथा अनुचित। वैसे नैतिकताका मूल्याङ्कन व्यक्तिके छुटपुट कर्मों द्वारा न करके उसके स्थायी स्वभावके आधारपर किया जाना चाहिये।

मनुष्यको उस ध्येयकी प्राप्तिके लिए योग्यता प्राप्त कर लेनी चाहिये जिसके लिए कि वह है, या उसका अस्तित्व है। ध्येयकी प्राप्तिकी दृष्टिसे सद्‌गुण महत्वपूर्ण है। मनुष्यमें सद्‌गुण उस स्थायी मानसिक स्थितिका सूचक है जिसके लिए कि वह है। सद्‌गुणशील व्यक्ति बिना मानसिक संघर्षके उन कर्मोंको अभ्यासवश करता है जो आचरणके मध्यम मार्गको व्यक्त करते हैं। सद्‌गुण दृढ़ और स्थिर अभ्यास है। वह विशिष्ट योग्यतासे भिन्न है। व्यक्ति सद्‌गुणपूर्ण कर्मोंको स्वेच्छापूर्वक उन्हींके आन्तरिक नैतिक सौन्दर्यके कारण चुनता है, न कि किसी बाह्य परिणामके कारण। कर्ता तथा कर्मकी परिस्थितियोंके सम्बन्धमें ही सद्‌गुण निर्धारित होता है। सद्‌गुण अथवा सुखद मध्यम मार्ग भावना तथा बाह्य कर्मकी उचित मात्रा द्वारा प्राप्त होता है। सद्‌गुण जैसा कि कह चुके हैं, अरस्तूके अनुसार दो प्रकारके हैं: विवेकसम्मत और नैतिक।

सद्‌गुण

विवेकसम्मत सद्‌गुण[1] बौद्धिक आत्माका गुण है जो व्यावहारिक और सैद्धान्तिक ज्ञानका सूचक है। बौद्धिक आत्मा, यदि वह सत्यको जानने और अन्वेषण करनेका काम उचित रूपसे कर सकती है तो

१. Intellectual Virtue.

विवेकसम्मत सद्‌गुण

वह विवेकसम्मत सद्‌गुणसे युक्त है। सुकरात और प्लेटोने चिन्तनयुक्त विवेक[1] और व्यावहारिक विवेक अथवा सद्‌गुण और व्यावहारिकअन्तर्ज्ञान (कर्मके रूपमें प्रयुक्त ज्ञान) को एक ही माना है। अरस्तू मानता है कि ये दोनों अभिन्न हैं, पर साथ ही कहता है कि दोनों एक नहीं हैं। चिन्तनयुक्त विवेक नैतिक समस्याओंको सुलझानेमें असमर्थ है। यद्यपि विवेकके बिना सद्‌गुण स्वाभाविक और सहज कहलायेगा, नैतिक नहीं। चिन्तनयुक्त विवेक इस अर्थमें व्यावहारिक है कि उसके व्यापार मानव-कर्मके सर्वोच्च रूप हैं। अतः यह विशेषरूपसे मानव-शुभका निर्माण करता है। व्यावहारिक विवेक नैतिक श्रेष्ठताओंसे संयुक्त हैं। अतः वह नैतिक श्रेष्ठतासे भिन्न नहीं है। वह प्रत्येक विशिष्ट परिस्थितिमें निर्धारित करता है कि पूर्ण सद्‌गुणमें भावना और कर्मका क्या स्थान होना चाहिये। सद्‌गुणको महत्व देनेके कारण उस व्यक्तिको व्यावहारिक विवेकसे युक्त नहीं कहा जा सकता जो दुष्ट व्यक्तिकी भाँति विवेकयुक्त चतुराईसे भरा हुआ है। वही विवेकी है जो शुभ ध्येय और उचित साधनको चुनता है। अरस्तू यह भलीभाँति नहीं समझा पाया कि हम उचित कर्मको कैसे चुनते हैं, क्योंकि वह अपने दार्शनिक दृष्टिकोणका समन्वय सामान्यबोधके साथ करता है। वह अपने समयके नैतिक विचारोंको नहीं छोड़ सका है। एक ओर तो वह अपने दर्शनके आधारपर मानता है कि कर्मोंको उन्हींके लिए चुनना चाहिये क्योंकि वे अपने-आपमें साध्य हैं और दूसरी ओर सामान्यबोधकी उस धारणाका निराकरण नहीं कर पाता जो यह मानती है कि व्यावहारिक विवेकका प्रयोग सामान्य शुभकी प्राप्तिके लिए करना चाहिये। यह धारणा सद्‌गुणोंको महत्व देते हुए कर्मके साधनरूपको स्वीकार करती है।

मनुष्यमें सद्‌गुणोंका उपार्जन करनेके लिए स्वाभाविक योग्यता होती है। नैतिक सद्‌गुण क्रमबद्ध अभ्यासके परिणाम हैं। वे सहजात नहीं हैं।

---
१. Speculative Wisdom.

नैतिक सद्गुण

नैतिक सद्गुण यह बतलाते हैं कि इच्छाओं और भावनाओंपर बुद्धिका उचित नियन्त्रण है। सद्गुण-युक्त कर्म स्वेच्छाप्रेरित हैं। बुद्धि शुभ ध्येयको समझती है और उसकी प्राप्तिके लिए सचेत रूपसे प्रयास करती है। नैतिक कर्म वे कर्म हैं जो शुभके लिए किये जाते हैं। बुद्धि शुभ ध्येयको देती है, किन्तु शुभ ध्येयका ज्ञान अपने-आपमें उचित आचरणका पर्याप्त प्रेरक नहीं है। उचित आचरणकी स्थापनाके लिए बुद्धिको बारम्बार शुभ कर्मोंके दुहराये जानेसे उपार्जित अभ्यासोंकी शक्तिकी सहायता लेनी चाहिये। सामान्य तर्ककी सहायतासे अरस्तू उन सभी विशिष्ट सद्गुणोंको स्वीकार कर लेता है जिन्हें सामान्यबोधका समर्थन प्राप्त है। जहाँतक प्लेटोके मूलगत सद्गुणोंका प्रश्न है अरस्तूका प्लेटोसे स्पष्ट भेद है। प्लेटोके सद्गुणोंके मूलमें एकता है। जिसमें एक सद्गुण है उसमें अन्य सभी सद्गुण हैं। सद्गुणोंकी व्याख्या करते समय प्लेटो अपने दार्शनिक दृष्टिकोणको नहीं छोड़ता। वह उनमें पारस्परिक सम्बन्ध और संगति देखता है। किन्तु अरस्तू अपनी विश्लेषणात्मक बुद्धि और आगमनात्मक प्रणालीके आधारपर सद्गुणोंको संकीर्ण अर्थमें (सामान्यबोध द्वारा स्वीकृत अर्थमें) लेता है।

नीतिशास्त्रको राजनीतिका अङ्ग माननेके कारण अरस्तू न्यायको महत्व देता है और न्यायकी व्यावहारिक दृष्टिसे विस्तृत व्याख्या करता है। वह कहता है कि न्यायका विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग किया गया है। अरस्तूके अनुसार न्याययुक्त व्यवहारमें सभी गुणोंका समावेश है। न्यायके अन्तर्गत सभी प्रकारके व्यवहार आ जाते हैं। न्यायके द्वारा वैयक्तिक सम्बन्धों, व्यक्ति और समाजके सम्बन्धों, सामान्य सम्पत्तिके प्रश्नों आदि, सभीको हल कर सकते हैं। अधिकतर न्यायका अर्थ राज्यके नियमोंका पालन करना होता है। राज्यके नियम प्रजाकी भलाईके लिए बनाये जाते हैं। अतः न्याय सामाजिक सद्गुणकी पूर्णताका भी सूचक है। अरस्तू प्रमुख रूपसे न्यायका संकीर्ण अर्थ लेता है और न्यायसे उस सद्गुणको समझता है जो कि वैयक्तिक सम्पत्तिसे सम्बन्धित कर्मों द्वारा व्यक्त होता है। इस

विशिष्ट अर्थमें न्याय दो प्रकारका है : वितरण सम्बन्धी न्याय और सुधार सम्बन्धी न्याय[1]। प्रथम प्रकारका न्याय बतलाता है कि अपनी प्राप्तिके अनुरूप धनको जनताके उपयोगके लिए देना चाहिये तथा किसी व्यवसायसे उसी अनुपातमें धन लेना चाहिये जितना कि वह उस व्यवसायमें लगाता है। दूसरे प्रकारका न्याय बतलाता है कि देशके नियमका उल्लंघन करनेवालेको दण्ड मिलना चाहिये और दण्डका स्वरूप अपराध या क्षतिकी मात्राके अनुपातमें होना चाहिये। न्यायका ऐसा रूप दण्डके स्वरूपको व्यक्ति और परिस्थितिके सम्बन्धमें समझनेका प्रयत्न नहीं करता।

अरस्तू मित्रता, वीरता, संयम, दानशीलता (Liberality), सज्जनता आदि सामान्यबोध द्वारा स्वीकृत सद्‌गुणोंकी व्याख्या भी करता है। मित्रता तीन प्रकारकी होती है। वह या तो उपयोगिता, या सुख और या चरित्रके शुभत्वपर निर्भर होती है। प्रथम दो प्रकारकी मित्रता अस्थायी है। अन्तिम प्रकारकी स्थायी और वास्तविक है। वह अपने भीतर दोनों मित्रोंके कल्याणका समावेश करती है। इस प्रकारकी मित्रता वैयक्तिक और सामाजिक, दोनों प्रकारके कल्याणके लिए शुभ है। व्यक्ति स्वभावसे सामाजिक है। मित्रता व्यक्तिसे उन श्रेष्ठ कर्मोंको करवाती है जो कि मित्रताके बिना निष्क्रिय और निश्चल रहते हैं। अतः विवेकी व्यक्ति आत्म-निर्भर नहीं है। वह दूसरोंसे स्वतन्त्र नहीं है बल्कि वह अच्छे व्यक्तियोंके सम्पर्कमें अच्छे कर्म करता है। संयम पशुप्रवृत्तियोंपर नियन्त्रणका सूचक है। वीरताके स्वरूपकी व्याख्या करते हुए अरस्तूने उसे शारीरिक भयतक सीमित रखा है। उसके अनुसार इस सद्‌गुणकी अभिव्यक्तिके लिए युद्ध उचित अवसर है। दानशीलता द्वारा उसने समझाया कि अनुचित रूपसे धनका उपार्जन नहीं करना चाहिये। कम धनवालोंको बिना असन्तोषका अनुभव किये उचित विषयोंपर परिमित धन खर्च करना चाहिये तथा धनवान व्यक्ति दानशीलतासे भी श्रेष्ठ गुण ऐश्वर्य (Magnificence)

1. Distributive Justice and Corrective Justice.

को प्राप्त करते हैं; जब वे सत्कर्मोंमें मुक्तहस्त होकर व्यय करते हैं, देवताओंको बहुमूल्य वस्तुएँ चढ़ाते हैं तथा भव्य भवनोंका निर्माण आदि करते हैं।

अरस्तूने धीरोदात्त व्यक्तित्व एवं श्रेष्ठ बुद्धिके व्यक्ति[1]की प्रशंसा की है। ऐसा व्यक्ति प्रायः धनी और सम्भ्रान्त कुलमें उत्पन्न होता है। वह अपनी वास्तविक योग्यताओंको समझता है और उनका सम्मान करता है। उसकी महदाकांक्षाके श्रेष्ठ विषय कीर्ति एवं प्रतिष्ठा हैं। वह निम्न स्थिति और पदवीको स्वीकार नहीं करता, श्रेष्ठ पदवियोंको स्वीकार करता है जो सम्माननीय व्यक्तियों द्वारा प्राप्त होनी चाहिये। वह अपनी मित्रता और शत्रुता दोनोंके बारेमें स्पष्ट है। वह द्वेष और बकवादसे मुक्त तथा जीवनकी छोटी-मोटी आवश्यकताओं और चिन्ताओंके प्रति असावधान है। ऐसी श्रेष्ठ बुद्धिका आत्मवान् व्यक्ति सद्गुणोंकी सौन्दर्यमय पूर्णता है। वह सद्गुणोंको अपनी श्रेष्ठता प्रदान करता है और उनसे अभिन्न है। अरस्तू स्वीकार करता है कि ऐसी आत्माको प्राप्त करना कठिन है क्योंकि इसके लिए उन्नत नैतिक रुचि चाहिये।

उदात्त व्यक्तित्व

अरस्तू कहता है कि यद्यपि परम्परागत नैतिक निर्णय आत्म-प्रेमको बुरा कहता है फिर भी सच यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ही स्वार्थ और रुचिकी चिन्ता करता है। मनुष्य स्वभावका ऐसा स्वरूप बतलाता है कि आत्म-प्रेमसे मुक्त होना मनुष्यके लिए सरल नहीं है वरन् यह बुद्धिसम्मत प्रतीत होता है कि व्यक्ति अपनेको ही सर्वाधिक प्यार करे। आत्माका प्रयोग द्व्यर्थक होता है। अतः यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि व्यक्ति बौद्धिक आत्माको प्यार करे अथवा अबौद्धिक आत्माको। अरस्तूके अनुसार बुरे और भले आदमीमें एकमात्र भेद यह है कि बुरा आदमी अपने वास्तविक रूपको नहीं समझता और अपनी अबौद्धिक आत्माको प्यार करता है। वह धन, यश और शारीरिक

आत्माके अर्थ

1. High-minded man.

सुखको आवश्यकतासे अधिक चाहता है। किन्तु वह व्यक्ति जो बुद्धिके आदेशका पालन करता है वह महान् कर्मोंके प्रति आकर्षित होता है और दूसरेके कल्याणके लिए अपना सर्वस्व त्याग देता है। अथवा बौद्धिक आत्माको प्यार करनेवाला व्यक्ति अपनेको सचमुच ही प्यार करता है। बुरे और भले व्यक्तिका भेद बतलाता है कि बुरा व्यक्ति दूसरोंका शत्रु तो है ही, वह अपना भी शत्रु है। अपनी निम्न एवं आंशिक आत्माकी तृप्तिके लिए वह वास्तविक आत्मा एवं समग्रताका हनन करता है।

आलोचना

बुद्धिवादियों और सुखवादियोंने मनुष्यके स्वभावकी जो द्वैतवादी व्याख्या की उससे प्रारम्भके विचारक अनभिज्ञ थे यद्यपि उन्होंने इस बातका अनुभव किया था कि उचित जीवन ही बौद्धिक जीवन है। सुकरातके अनुसार मनुष्यका जीवन बौद्धिक है और इसमें भावनाओंकी तृप्तिके लिए स्थान है। आत्म-परीक्षित और आत्म-निर्देशित जीवनमें बुद्धि निर्धारित करती है कि भावनाओंकी तृप्ति कहाँतक उचित है। बुद्धि ही मनुष्यका विशेष गुण है। इसीके कारण मनुष्य श्रेष्ठ प्राणी है। परम शुभको प्राप्त करनेवाला विवेकी व्यक्ति वह है जो अपने सम्पूर्ण जीवनमें बुद्धिके आदेशका पालन करता है। इस आधारपर सुकरातने सद्‌गुण और ज्ञानको एक माना। प्लेटो और अरस्तूने बुद्धिकी निर्देशन-शक्तिको समझा और सुकरातसे भी अधिक स्पष्ट रूपसे कहा कि शुभ जीवनका रहस्य बुद्धि है। उन्होंने बौद्धिक प्राणीके लिए एकमात्र शुभ जीवन बौद्धिक जीवन बतलाया है। चिन्तनयुक्त या दार्शनिक जीवन ही नैतिक आदर्श है। अर्वाचीन बुद्धिवाद और वैराग्यवाद सुकरातके शिष्योंके सिद्धान्तकी ही प्रतिध्वनि है। प्लेटोने भावनाके स्थानको अप्रमुख माना। वह भावनाको बुद्धिके पूरकके रूपमें नहीं समझ पाया। अरस्तू दो प्रकारके सद्‌गुणयुक्त जीवनको स्वीकार करके कहता है कि उच्च सद्‌गुणपूर्ण जीवन या थेओ-

बौद्धिक और अबौद्धिक आत्माका प्रश्न

शिआका जीवन शुद्ध बौद्धिक जीवन है और निम्न या सामान्य सद्गुणयुक्त जीवनवाला व्यक्ति बौद्धिक और अबौद्धिक स्वभावकी मिश्रित श्रेष्ठताका जीवन व्यतीत करता है। इस भाँति जिस सुखवादी तत्वकी प्लेटोने मुख्य-रूपसे उपेक्षा की उसे ही अरस्तूने नवीन रूपसे प्रधानता दी। अरस्तूने सद्गुणयुक्त जीवनको केवल अनिवार्य रूपसे सुखद ही नहीं माना बल्कि सुखमें कल्याण या शुभत्वकी परिपूर्णता और विकासको देखा। वैसे, दोनोंने ही शुद्ध बुद्धिमय जीवनको नैतिक आदर्श माना।

वस्तुगत शुभकी धारणा

सुकरातने अपने आचरण द्वारा सामाजिक शुभका संदेश दिया किन्तु सिनिक्सने आत्म-निर्भर व्यक्तित्वको प्रधानता देकर तथा सिरेनैक्सने वैयक्तिक सुखको प्रधानता देकर परम व्यक्तिवादको अपना लिया। प्लेटो और अरस्तूने सुकरातसे प्रभावित होकर वैयक्तिक और सामाजिक शुभके सम्बन्धको उठाया। आचरणकी ऐसी समस्या जटिल और कठिन है क्योंकि मनुष्य-स्वभावमें स्वार्थ और परमार्थके बीच प्रकट विरोध दीखता है तथा यह प्रतीत होता है कि वैय-क्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याणकी दो भिन्न प्रेरणाएँ हैं। वस्तुगत शुभकी धारणा ही ऐसे विरोधको मिटा सकती है।

मानवतावाद

सुकरातने उस मनुष्यके आचरणके प्रश्नको उठाया जो कि समाजका सामान्य सदस्य है। उसने व्यक्तिके व्यावहारिक जीवनकी समस्याओंको अपने साधनापूर्ण जीवनके सामाजिक पक्ष द्वारा सम-झाया। प्लेटोने इन्द्रिय और अतीन्द्रिय जगतके द्वैतको अपनाकर इस समस्याको गूढ़ और दार्शनिक स्तर दिया। प्लेटोके दर्शनमें सुकरातकी उठाई हुई मूल समस्याका परम निष्कर्ष अथवा परम परि-पक्वता नहीं मिलती। सुकरातने जिस बीजको अंकुरित किया वह प्लेटोमें पल्लवित और अरस्तूमें विकसित हुआ। अरस्तूने अधिक व्यापक, स्पष्ट और पूर्ण नैतिक सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। उसका नीतिशास्त्र प्लेटोके रहस्यवादी और वैराग्यवादी सुझावोंसे मुक्त होकर पूर्ण मानवता-वादी दृष्टिकोणको अपनाता है।

प्लेटो और अरस्तू मानते हैं कि सत्यका ज्ञान अपने-आपमें वाञ्छनीय ध्येय है। वह कल्याणकी प्राप्तिके लिए बाह्य साधन नहीं, वरन् स्वतः कल्याण ही है। चिन्तनयुक्त जीवनको परम शुभ मानते हुए उन्होंने ज्ञानके दोनों, व्यावहारिक और सैद्धान्तिक, पक्षोंको समान समझा। अतः मात्र चिन्तन या अव्यावहारिक बुद्धिवादसे उनका सिद्धान्त मुक्त है।

दोनोंने ही वैयक्तिक कल्याणकी समान धारणाको स्वीकार किया। आत्म-कल्याणका जीवन आत्माके विभिन्न अंगों और व्यापारोंकी संगतिका जीवन है। प्लेटोने माना कि उच्चतम जीवन अर्थात् दार्शनिक जीवनतक बहुत कम लोग पहुँच पाते हैं। वह जीवन सामान्य जीवनसे भिन्न और श्रेष्ठ है। अरस्तूका श्रेष्ठ बुद्धिका व्यक्तित्व और थेओरिआकी धारणा प्लेटोके मतका समर्थन करती है। ऐसे व्यक्तिको जनसामान्यसे अधिक अधिकार प्राप्त नहीं है वरन् उसे राज्यके कल्याणकी चिन्ता होती है। राज्यका कल्याण व्यक्तिके कल्याणसे अधिक श्रेष्ठ और व्यापक है। व्यक्तिको अपने सामाजिक उत्तरदायित्वको भली-भाँति निभाना चाहिये। अरस्तूने अपने नैतिक सद्‌गुणोंकी व्याख्या करते हुए उन्हें व्यक्ति और समाज दोनोंके लिए मूल्यवान् बतलाया। सद्‌गुण बुद्धिके उन नियन्त्रणोंके रूपमें प्रकट होते हैं जो सामाजिक कल्याणके लिए आवश्यक हैं। प्लेटोने समग्रता और अंगोंकी धारणा द्वारा एवं संगति और एकीकरणके सिद्धान्तके प्रति बौद्धिक प्रेम द्वारा सामाजिक कर्त्तव्यको समझाया है। उसकी संगतिकी धारणा न्यायकी धारणा है। न्याय व्यक्ति और समाज दोनोंके लिए वाञ्छनीय है। किन्तु प्लेटोकी न्यायकी धारणा जनसामान्यके लिए अमूर्त और अत्यधिक आदर्शवादी है। वह उन्हें आकर्षित करके कर्म करनेके लिए पर्याप्त प्रेरक नहीं बन सकती। उसको सशक्त एवं दृढ़ प्रेरक बनानेके लिए सहानुभूति तथा सामाजिक प्रवृत्तियोंके साथ युक्त करना होगा और उसकी उपयोगिताको समझाना होगा।

सद्‌गुणोंका स्वरूप

दोनोंने ही बुद्धिको मनुष्यकी सर्वश्रेष्ठ विशिष्टताके रूपमें स्वीकार किया है। बुद्धि वह क्षमता है जो सत्यका ज्ञान देती है। बुद्धिको सर्वोच्च

माननेपर भी उन्होंने शुष्क ज्ञानवादका प्रतिपादन नहीं किया है। विशुद्ध सुखवादकी आलोचना करते हुए उन्होंने समझाया कि सुखकी प्राप्ति उन इच्छाओंपर निर्भर है जो सुखके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंकी इच्छा करती हैं। सुख और सौन्दर्यबोध कल्याणके अनिवार्य अंग हैं।

प्लेटो और अरस्तूकी प्रणाली

दोनोंके नैतिक आदर्शकी धारणा समान है, पर प्रणाली भिन्न है। प्लेटो सर्वत्र संगति और एकताको देखते हुए सामान्यीकरण करता है। अरस्तू विश्लेषण और विभाजनको अपनाता है। अरस्तू नैतिक सद्गुणोंके व्यावहारिक अर्थ खोजता है तथा प्लेटो उनकी मूलगत एकताको ढूँढ़ता है। अरस्तूकी भिन्नतामूलक बुद्धि नीतिशास्त्रको अन्य विज्ञानोंसे भिन्न कर देती है। प्लेटोके लिए नैतिक आदर्श और तात्विक अस्तित्व एक ही हैं। किन्तु अरस्तू यथार्थवादके आधारपर इसे महत्व नहीं देता कि सर्वश्रेष्ठ विचार-गम्य शुभको मनुष्य प्राप्त कर सकता है।

अर्वाचीन पूर्णतावाद

प्रवेश

कांट बुद्धि और संकल्पके ऐक्यको समझानेमें असमर्थ रहा और उसकी इस दुर्बलताने एक ओर तो जर्मनीके बौद्धिक आदर्शवादियों (फिश्टे, शेलिङ्ग और हीगल)को प्रभावित किया और दूसरी ओर शॉपेनहावर[1] के स्वेच्छावादी निराशावाद (Voluntaristic pessimism)को। बौद्धिक आदर्शवादियोंने समझाया कि आत्म-प्रबुद्ध बुद्धि या मानस (Self-conscious Reason or Mind) परम सत्य है और उन्होंने संकल्पको इसी सत्यके आधारपर समझानेका प्रयास किया। अपने ऐसे सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेमें वे इस आशा-वादी निष्कर्षपर पहुँचे कि वास्तविक सत्ता अनिवार्यतः शुभ है। नैतिक दर्शनके क्षेत्रमें हीगलको आधुनिक पूर्णतावादियोंका प्रवर्तक होनेका श्रेय प्राप्त है। हीगलसे ही अनुप्राणित होकर ग्रीन, ब्रेडले, बौसेन्के, मेकेञ्जी,

१. Schopenhauer.

म्योरहेड, जेम्स सेथ आदिने इस पुरातन-नूतन विचारधाराको अग्रसर किया ।

हीगल

हीगलका[१] नैतिन दर्शन कांटके नैतिक दर्शनसे निकट सादृश्य रखते हुए भी उससे भिन्न है। इस भिन्नताके मूलमें दोनोंका तत्वदर्शन है।

कांट और हीगल

कांटके अज्ञेयवादके विरुद्ध हीगलने समझाया कि परम सत्य ज्ञेय है। आत्मा और अनात्माका अन्तर्निहित सत्य ही परम सत्य है। वह पूर्ण प्रत्यय या मानस (Absolute Idea or Mind) है। अथवा आत्म-प्रबुद्ध बुद्धि (Self-conscious Reason) ही परम सत्ता है।

हीगलके नैतिक दर्शनको उसके तत्वदर्शनकी पीठिकामें ही समझ सकते हैं। उसके अनुसार प्रकृति तथा अनुभवके सम्पूर्ण विश्वका यथातथ्य

हीगलका तत्वदर्शन

ज्ञान प्राप्त करना और विश्वजीवनमें व्याप्त बुद्धिको समझना दर्शनका ध्येय है। विश्वमें निहित जो शाश्वत सत्व, संगति तथा नियम है उसे समझनेका प्रयास करना चाहिये। विश्वकी वस्तुएँ और घटनाएँ अर्थशून्य नहीं हैं क्योंकि विश्वकी प्रकृति बौद्धिक है। हीगलका विश्वास है कि जो कुछ भी वास्तविक या तात्विक है वह बुद्धिमय है। अतः विश्वको बुद्धि द्वारा समझा जा सकता है। ।

सम्पूर्ण विश्व चैतन्यकी अभिव्यक्ति है। चैतन्य एवं परम सत्य गतिशील है। वह मनुष्यकी बुद्धि और प्रकृतिके व्यापारों द्वारा अपनेको अभिव्यक्त करता है। उसकी गति सहेतु है। गतिका लक्ष्य भी चैतन्य है। विश्वमें अहेतुक या आकस्मिक कुछ नहीं है। विश्व विकास द्वारा एक निश्चित लक्ष्यकी ओर बढ़ रहा है। पूर्ण प्रत्यय विश्वका अमूर्त सार है। विश्वका सार विचारका वह क्रम है जो अमूर्तसे मूर्तकी ओर जा रहा है। मूर्त विश्व इस अमूर्त सारका ही बाह्य रूप है। परम सत्य मनुष्यकी बुद्धि तथा बाह्य जगत् दोनोंमें ही है। अतः बुद्धि और विश्व,

---

१. George Wilhelm Friedrich Hegel 1770–1831.

विषय और विषयी एवं ज्ञाता और ज्ञेयकी एकता ही पूर्ण प्रत्यय है। दोनों एक ही प्रत्यय एवं बुद्धिकी अभिव्यक्तियाँ हैं।

मनुष्यकी बुद्धि तथा विश्वप्रक्रियामें एक ही बुद्धि व्याप्त है। अतः मनुष्यकी बुद्धि विश्वकी घटनाओं और नियमोंको समझ सकती है। हीगलने

द्वन्द्वात्मक प्रणाली

मनुष्य तथा विश्वकी समस्याओंके मूलमें द्वन्द्वात्मक प्रणाली[1] को देखा और ऐतिहासिक विधिको महत्व दिया। उसने समझाया कि विश्व विकासके क्रममें है। हीगलका आध्यात्मिक विकासवाद (Spiritual Evolution) जैव विकासवादसे भिन्न है। वह यान्त्रिक नियमोंसे सञ्चालित न होकर द्वन्द्वात्मक प्रणालीके अनुसार होता है। द्वन्द्व नियम वाद, प्रतिवाद और समन्वय द्वारा अग्रसर हो रहा है। समन्वयकी स्थिति अभिव्यक्तिकी समाप्तिकी स्थिति नहीं है। वह पुनः विरोधी स्थितिको जन्म देकर आगे बढ़ती है। विकास एक क्रमानुगत प्रणाली है। इसका अन्त नहीं है।

मनुष्यका आत्म-प्रबुद्ध जीवन ही विकासकी अभीतककी सर्वोच्च स्थिति है। मनुष्य केवल जाननेकी योग्यता नहीं रखता वरन् वह अपने ज्ञानपर चिन्तन और मनन कर सकता है। अपनी आत्म-प्रबुद्धता और स्वतन्त्रताके कारण मनुष्य जीवजगतकी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। मनुष्यकी संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, सामाजिक संस्थाएँ आदि जो कुछ भी विश्वमें दीखता है वह द्वन्द्व नियमकी क्रम-परिणति है। अथवा स्वयं परम ही मनुष्यकी बुद्धि और जगतके व्यापारों द्वारा अपनेको क्रमशः अभिव्यक्ति दे रहा है। हीगलके अनुसार परम प्रत्यय अथवा सार्वभौम बुद्धि ही प्रकृतिको व्यक्तियों तथा मानव-संस्थाओंको, इतिहास, औचित्यके नियम, नैतिकता तथा रीति-रिवाज, राजनीति, साहित्य आदि किसीको भी विश्वमें अछूता नहीं छोड़ती। वह सभीमें वर्तमान है और सभीके द्वारा अपनेको व्यक्त करती है।

दर्शनका इतिहास यह भी बतलाता है कि प्रत्येक महान् सिद्धान्तका

१. देखिये—भाग ३, अध्याय २—मार्क्स।

अपना निश्चित स्थान है और वह तार्किक विकासकी एक अनिवार्य स्थिति-का सूचक है। प्रत्येक सिद्धान्त, विरोधी सिद्धान्तको जन्म देता है और उनका विरोध एक उच्च समन्वयमें मिट जाता है किन्तु वह अपने क्रममें फिर नये विरोधोंको जन्म देता है। और यह क्रम चलता रहता है जो उस परम समन्वयकी स्थितिको उत्पन्न करेगा जिसमें कि मानस अपने सम्बन्धमें प्रबुद्ध हो जाता है। ऐसे कथनको वह ईश्वरज्ञानसे संयुक्त कर कहता है कि दर्शनका भगवान्के अतिरिक्त अन्य कोई विषय नहीं है और इस कारण वह मूलतः बौद्धिक ईश्वर-ज्ञान है। सत्यकी खोज ही भगवान्की चिरस्थायी भक्ति है। हीगलने परम सत्य, वास्तविकता, मानस, परम प्रत्ययको बौद्धिक मानकर उसे गतिशील कहा है। उसकी गति ही द्वन्द्वात्मक प्रणाली है। यह गति क्षुद्रतमसे उच्चतम विशेषोंको अभि-व्यक्ति देती है। दर्शनके इतिहासके यथातथ्य विकासकी सूचक द्वन्द्वा-त्मक प्रणालीको मानकर वह इस प्रणालीके आधारपर दर्शनको तीन भागोंमें विभाजित करता है : शुद्ध प्रत्ययविज्ञान, प्रकृतिदर्शन और मानस-दर्शन[1]। उसके नैतिक दर्शनको समझनेके लिए उसके तात्विक दृष्टिकोणके सामान्य परिचयके साथ मानस-दर्शनका समझना भी अनिवार्य है।

मानसदर्शन

वह मानसके विकासमें तीन अनिवार्य स्थितियोंको देखता है : आत्मगत, वस्तुगत और परम[2]। द्वन्द्वात्मक प्रणाली-के आधारपर वह मानसकी आत्मगत स्थितिसे उस स्थितिपर पहुँचता है जो परम है एवं जो आत्मनिष्ठ और बहिर्निष्ठ दोनों है। वह दोनोंकी एकता है; अतः यह अमूर्त एकता न होकर वैचित्र्यमूलक है।

नैतिक आदर्शके स्वरूपकी क्रमिक अभिव्यक्तियोंको समझानेके लिए हीगल आदिमवासियोंके मानससे लेकर आजके आत्म-प्रबुद्ध मानसका वर्णन करता है।

आत्मगत मानस

आदिमकालका मनुष्य पशुप्रवृत्तियों-से पूर्ण था। वह मानसके अस्तित्वकी स्थिति थी,

१. The science of pure Concepts, The Philosophy of Nature and the Philosophy of Mind.
२. Subjective, Objective and Absolute.

उसकी प्रबुद्धताकी स्थिति नहीं थी। मानसके अस्तित्वकी स्थिति दैहिक जीवन या निम्न जीवयोनियोंके जीवनकी स्थिति है। इस स्थितिसे व्यक्ति भावना या संवेदनशील आत्माके स्तरको प्राप्त करता है और पुनः उस स्थितिको जो देह और भावनाके समन्वय या ऐक्यकी स्थिति है। ऐसा आत्मगत मानस इन्द्रिय संवेदनों द्वारा बाह्य वस्तुओंके बारेमें सचेत होता है। उसे आत्मासे भिन्न अनात्माका बोध होता है। किन्तु क्रमशः वह स्थिति आती है जब वह समझने लगता है कि वस्तुएँ आत्मासे सम्बन्धित हैं। यह स्थिति आत्म-प्रबुद्धताकी स्थिति, अथवा विषय और विषयीके एकीकरणकी स्थिति है। आत्म-प्रबुद्धताके विचार वस्तुगत और सार्वभौम हैं। वे वस्तुओंके सारको व्यक्त करते हैं। अतः वस्तुगत और आत्मगत युक्त हो जाते हैं किन्तु साथ ही दोनों अपनी विशिष्टता बनाये रखते हैं। अभीतक व्यक्तिमें प्रमुख रूपसे इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ रहती हैं। अतः यह स्थिति विषय और विषयीके पूर्ण ऐक्यकी स्थिति नहीं है। विषय विषयीके रूपमें प्रकट नहीं होता और न विषयी विषयके रूपमें। इच्छा विशिष्ट है। मेरी इच्छाकी तृप्ति मुझे ही तृप्त करती है अन्य अहंताएँ (egos) मेरी तृप्तिसे तृप्त नहीं होतीं। अतः आत्म-प्रबुद्धता अभिज्ञानशील (recognitive) होती है। उसे अपनेसे भिन्न और स्वतन्त्र अन्य अहंताओंके अस्तित्वका बोध होता है। मेरी अहंताका अन्य अहंताओंसे विरोध होता है और इतिहासमें स्वामी-सेवकका सम्बन्ध तथा राज्योंके बलपूर्वक निर्माणकी स्थिति पायी जाती है। धीरे-धीरे यह विरोध सार्वभौम और वस्तुगत आत्म-प्रबुद्धता या बुद्धिमें विलीन हो जाता है। यह स्थिति आत्माको अन्य आत्माओंसे संयुक्त करती है। अतः बुद्धि ही विशुद्ध आध्यात्मिक जीवनके तथा परिवार, मित्रता और लोक-जीवनके मूलमें है। बुद्धिके विकासकी विभिन्न स्थितियोंको अंकित करते हुए वह उस स्थितिका वर्णन करता है जब कि व्यक्ति स्वतन्त्र मानसको प्राप्त कर लेता है जो संकल्प तथा प्रज्ञा (Intelligence) की एकता है। स्वतन्त्र प्रज्ञाके कारण मानस जान जाता है कि उसका सार्वभौम

स्वरूप क्या है। तब वह संकल्पके रूपमें अपनी विशिष्ट इच्छाओंकी तृप्ति तथा विशिष्ट व्यक्तियोंके सुखकी काल्पनिक तथा अनिश्चित धारणाको महत्व नहीं- देता। उसका व्यावहारिक ध्येय अपने ही आन्तरिक सारको विशिष्ट विषयीके रूपमें नहीं वरन् सार्वभौम विषयके रूपमें प्राप्त करना है। यह सार्वभौम विषय वह विषयी है जो कि विभिन्न व्यक्तियोंके रूपमें अभिव्यक्त होता है। स्वतन्त्र मानस वह मानस है जो तत्वतः है। वह आत्मज्ञाता और आत्म निर्णायक है।

वस्तुगत मानस

अपने सारतत्वको समझकर उसके अनुरूप कर्म करनेवाला व्यक्ति स्वतन्त्र है। सार्वभौम संकल्प और वैयक्तिक संकल्पकी एकतामें ही वास्तविक स्वतन्त्रता निर्भर है। आत्मगत मानसकी स्थितिसे इस एकताकी स्थितिकी ओर बढ़नेमें ही नैतिक विकास निर्भर है। इस विकासकी तीन स्थितियाँ मिलती हैं: कानूनी अधिकार, नैतिकता और सामाजिक नीतिशास्त्र।[१]

कानूनी अधिकार

बाह्य परिस्थितियों तथा अन्य व्यक्तियोंके सम्बन्धोंसे बँधा हुआ मानस वैयक्तिक और सीमित मानस है। इन सीमाओंके कारण वह स्वतन्त्र संकल्प सम्पत्तिके अधिकारका रूप धारण करता है जो कि कानूनके अधीन है। समान रूपसे कार्यान्वित होनेवाले कानूनकी अधीनता स्वीकार करनेमें वह अपने तथा दूसरोंके अधिकार और प्रत्यधिकारको समझता है। वह अपने ही समान दूसरोंको भी व्यक्ति (Person) समझता है। यह स्वतन्त्रताके निम्न विकासकी स्थिति है। स्वतन्त्रता अपनी इस स्थितिमें सम्पत्तिके आदान-प्रदान और अधिकारकी स्वतन्त्रताकी सूचक है। जब व्यक्ति दूसरोंके ऐसे ही समानाधिकारका उल्लंघन करता है तब वह अनुचित कर्म करता है। ऐसी दशामें दण्ड उचित और बुद्धिसम्मत है। पापी एवं दुष्कर्म करनेवालेको दण्ड अवश्य मिलना चाहिये। उसकी स्वतन्त्रता ही उसे दण्डका भागी बनाती है। किन्तु व्यक्ति कानून द्वारा प्राप्त दण्डको बाध्यतावश स्वीकार करता है।

१. Legal Right, Morality and Social Ethics.

यह वैयक्तिक संकल्प और सार्वभौम संकल्पके विरोधकी स्थिति है।

यह विरोध वस्तुगत मानस अथवा नैतिकतामें दूर हो जाता है। व्यक्ति, विशिष्ट या सीमित संकल्पके रूपमें, दण्ड स्वीकार करनेमें आपत्ति करता है, किन्तु नैतिकताकी स्थितिमें उसका अन्तर्बोध इस दण्डका अनुमोदन करता है। यही कानूनी अधिकार और नैतिकताका भेद है। नैतिकताका बोध व्यक्तिको उसके साभिप्राय कर्म एवं तात्कालिक ध्येयके लिए उत्तरदायी ठहराता है। कर्मके महत्वपूर्ण विशिष्ट परिणामोंको (जिनमें कर्त्ताका आत्मकल्याण भी है, जिसका कि वह अधिकारी है) भी नैतिकता स्वीकार करती है। किन्तु ध्येय तथा कर्मका परिणाम अधिकतर विरोधी होता है। जब व्यक्ति अपने बच्चेकी क्षुधातृप्तिके लिए चोरी करता है तब उसका परिणाम दूसरोंके लिए बुरा होता है। ध्येय और परिणामका विरोध उस स्थितिको जन्म देता है जो शुभ और अशुभकी[1] स्थिति है। यह उस आभ्यन्तरिक शुभको समझना है जो व्यक्ति तथा दूसरोंके कल्याणकी, एवं सभी ध्येयोंकी, मूर्त समग्रता है। कर्त्ताका यह कर्त्तव्य है कि ऐसे शुभको अपने परिणामों और प्रेरणामें प्राप्त करे। शुभके स्वरूपको निर्धारित करनेके लिए सार्वभौम मानदण्डकी आवश्यकता है जो व्यक्ति और समाज दोनोंके समानाधिकारको महत्व देता है। यह कहना अनुचित है कि व्यक्तिको, अमूर्त सार्वभौम संकल्पके लिए, अपने संकल्पका पूर्ण समर्पण करके अपनी स्वतन्त्रताको अस्वीकार करना चाहिये। साथ ही यह भी भ्रान्तिपूर्ण है कि व्यक्ति अपने विशिष्ट अधिकार और स्वार्थको महत्व देकर परमस्वार्थवादका आलिङ्गन करे, जो कि पाप है। न तो कर्त्ताको सार्वभौम संकल्पका विरोध करना चाहिये और न अपनी स्वतन्त्रताका ही निषेध करना चाहिये।

नैतिकताकी यह स्थिति सामाजिक नीतिशास्त्रको जन्म देती है। समाज-

---

१. हीगलके अनुसार सार्वभौम मानस ही शुभ और सत्य है। मानसके विकासमें अशुभ अनिवार्य स्थिति है यद्यपि यह स्थिति अपूर्ण और विरोधपूर्ण है।

का मानस नैतिकताका आधार है। वह आत्मगत होते हुए भी सार्वभौम है। यह मानस अपने बारेमें सचेत है और इसलिए उस आत्मनिष्ठताके सिद्धान्तको स्वीकार करता है जो स्वतन्त्रताके लिए अनिवार्य है। ऐसी आत्मनिष्ठता पाप नहीं है क्योंकि वह सार्वभौम भी है। यह अन्य व्यक्तियोंसे भिन्न एक व्यक्तिकी चेतना नहीं है। यह वह मानस है जो प्रत्येक व्यक्तिमें है, जो समाजका सच्चे अर्थमें सदस्य है। जब ऐसा सदस्य कर्त्तव्य करता है तो उसके कर्म उसके उस स्वरूपके अनुरूप होते हैं जो कि समाजके मानससे अपृथक् हैं। सार्वभौम शुभ अमूर्त और निर्वैयक्तिक नहीं है क्योंकि व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और आत्म-कल्याणको अपने सामाजिक कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वको निभाते हुए प्राप्त करता है। वह समाजमें स्वीकृत नियमों तथा रीति-रिवाजोंका पालन करता है। स्वतन्त्र व्यक्तियोंके समाजमें वस्तुगत बुद्धि वास्तविकता प्राप्त करती है। इस समाजका प्रत्येक सदस्य अपने समुदायके लिए नियमों तथा प्रचलनोंको निर्धारित करता है। व्यक्ति अपने सकल्पको सार्वभौम संकल्पके अधीन अथवा अपने आत्मगत नैतिक बोधको सार्वभौम बुद्धिके अधीन कर देता है। वह समाजके नियमोंमें अपने संकल्पको देखता है और अपनेमें नियमोंके एक विशिष्ट रूपको। नैतिक चेतनाका आत्म-प्रबुद्ध व्यक्तियोंके समुदायके रूपमें विकास ही क्रियाशील बुद्धिके विकासका परिणाम है। अनेक सामाजिक अनुभवोंके बाद व्यक्ति यह सीख जाता है कि सार्वभौम ध्येयके अनुसार इच्छा करनेमें वह अपनी ही इच्छाका पालन करता है। अर्थात् वह स्वतन्त्र है। वैयक्तिक आदर्श और सामाजिक आदर्श अन्ततः एक ही हैं और वैयक्तिक बुद्धि सार्वभौम बुद्धिको अपना मानकर स्वीकार कर लेती है। अतः स्वतन्त्रता और अनिवार्यताके बीच अन्ततः सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। सार्वभौम संकल्पके साथ अपने संकल्पको युक्त करके व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करता है। उसके कर्म स्वशासित तथा अनिवार्य हैं। उसकी स्वतन्त्र प्रबुद्ध बुद्धि उसके कर्मोंको निर्धारित करती है और बुद्धि जिस भाँति अपने स्वरूपको

सामाजिक नीतिशास्त्र

व्यक्त करती है उसमें कुछ भी स्वच्छन्द तथा अनिश्चित नहीं होता।

हीगलके अनुसार राज्य—जो कि आत्म-प्रबुद्ध नैतिक द्रव्य है—पारिवारिक सिद्धान्त (जिसका मुख्य रूप प्रेम है) तथा नागरिक समाज (जिसमें व्यक्तियोंकी आवश्यकताएँ सुरक्षित रहती हैं)की एकता है। यह एक और अनेक दोनोंके हितके संरक्षणका सूचक है। सार्वभौम इतिहासका लक्ष्य और ध्येय उस पूर्ण राज्यकी स्थापना है जो पूर्ण स्वतन्त्रताको प्राप्त कर लेगा। उन्नतिका अर्थ स्वतन्त्रताकी चेतनाका विकास है। स्वतन्त्रता और आत्म प्रबुद्धता मानसके श्रेष्ठ विकासके द्योतक हैं।

पूर्ण राज्य

हीगल सामाजिक नैतिकताको महत्व देता है। सामाजिक नैतिकताका जीवन वह जीवन है जिसमें मानव-स्वभावके अनुरूप सर्वोच्च पूर्णताको प्राप्त करनेके प्रयासमें विकासोन्मुख सामाजिक चेतना धीरे-धीरे भाग लेती है। हीगलका कहना है कि नैतिक आदर्शकी प्राप्ति तभी सम्भव होगी जब व्यक्ति सार्वभौम बुद्धिको समझ लेगा। व्यक्ति अपने-आपको जितना ही समाजपर अवलम्बित करेगा उतना ही वह सर्वोच्च आदर्शकी ओर बढ़ेगा। यदि व्यक्ति और राष्ट्रकी इच्छामें विरोध है तो व्यक्तिको अपनी इच्छाका त्याग करना चाहिये। सामाजिक मानसके अनुरूप कर्म करना ही उचित है। सामाजिक मानसका ध्येय सामाजिक कल्याण है। यह सार्वभौम शुभकी स्थापना है। वैयक्तिक शुभकी प्राप्ति सार्वभौम शुभमें ही सम्भव है। अतः वैयक्तिक स्वातन्त्र्यको खोना व्यापक स्वातन्त्र्यका अनुभव करना है। वास्तवमें सर्वत्र एक ही सार्वभौम बुद्धिकी अभिव्यक्ति है। बुद्धिके आत्मगत और वस्तुगत रूप एक ही हैं। सार्वभौम शुभ ही वैयक्तिक शुभ है।

व्यक्तिका मूल्य

सार्वभौम शुभके भीतर वैयक्तिक शुभको माननेके कारण ही हीगल यह नहीं मानता था कि एकाकी व्यक्ति अपनी आत्म-प्रबुद्धताकी वृद्धि द्वारा अपने शुभको प्राप्त कर सकता है। हीगलने सामाजिक विधानको महत्व दिया जिसका कि व्यक्ति एक अंग है, न कि व्यक्तिको। इसमें

सन्देह नहीं कि बाह्य नियमोंके अनुवर्तनमात्रसे कहीं अधिक श्रेष्ठ यह है कि व्यक्ति अपने शुभकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नशील रहे। किन्तु यह तबतक व्यर्थ और अशुभ है जबतक कि उसमें तथा उन सामाजिक संस्थाओंमें, जिनके द्वारा सार्वभौम या परम मानस अपनेको अभिव्यक्ति देता है, संगति न हो। नैतिक विकासमें शुभका वह रूप दीखता है जिसमें कि बाह्य आरोपित नियमोंका बाह्य रूपसे पालन अन्तर्बोधकी आन्तरिक शक्तिकी अधीनताकी ओर ले जाता है। ये दोनों रूप सामाजिक नैतिकतामें अपना समन्वय प्राप्त करते हैं।

कांटने शुभ संकल्पको नैतिकताके अधारपर समझाया। इस संकल्पको वह सार्वभौम संकल्पके रूपमें न समझाकर वैयक्तिक संकल्पके रूपमें समझाता है। हीगलके अनुसार यह व्यक्तिका संकल्प नहीं है जो व्यक्तिपर नियम आरोपित करता है बल्कि यह वह सार्वभौम संकल्प है जो विकासके क्रममें आत्म-प्रबुद्धता प्राप्त करता है। हीगलका नीतिशास्त्र वैयक्तिक आत्म-साक्षात्कार अथवा पूर्णताको महत्त्व देना तो दूर रहा, व्यक्तिको नैतिक कर्ताके रूपमें पर्याप्त स्थानतक नहीं देता है। उसकी पूर्ण राज्य या पूर्ण स्वतन्त्रताकी स्थिति सार्वभौम बुद्धिकी स्थिति है।

ग्रीन

ग्रीन[१]का बौद्धिक आदर्शवाद, कांटकी बौद्धिक सार्वभौमिकताकी धारणाको स्वीकार करते हुए, मानता है कि नैतिक नियम निरपेक्ष रूपसे बाध्य करते हैं किन्तु कांटके नियमानुवर्तिताके सिद्धान्तके विपरीत वह मानता है कि नैतिक नियमको ध्येयकी धारणा निर्धारित करती है। ध्येय वह मूर्त शुभ है जो कि सर्वोच्च और सर्वाधिक स्थायी सन्तोष देता है। अतः सद्गुण संकल्पके अमूर्त नियमकी अनुरूपतामात्र नहीं है।

ग्रीन और कांट

ग्रीन हीगलके नैतिक आदर्शवादसे प्रभावित है। उसने अपने नैतिक

१. Thomas Hill Green 1836-1882.

दर्शनमें बौद्धिक आदर्शवादियोंके सिद्धान्तकी व्यावहारिक व्याख्या की तथा वैयक्तिक आवश्यकताओंके आधारपर उसका स्पष्टीकरण किया। हीगलके साथ वह स्वीकार करता है कि चिन्तन-प्रधान और व्यावहारिक बुद्धि अभिन्न है। उसका व्यावहारिक दृष्टिकोण उपयोगितावादियोंकी परोपकारी प्रवृत्तिका समर्थन करता है और आदर्शवादी दृष्टिकोण उनके मूलगत सिद्धान्तको अस्वीकार करता है। विकासवादियोंकी वर्णनात्मक एवं ऐतिहासिक पद्धतिका वह कट्टर विरोधी है। उसका कहना है कि नीतिशास्त्रको पूर्ण वैज्ञानिक रूप नहीं दिया जा सकता। यह नीतिशास्त्रको आरोग्यताके विज्ञानमें बदल देना होगा। तब मनुष्यका प्रकृतिमें अपना निर्धारित स्थान होगा, जो कि सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ पशुका स्थान होगा। किन्तु होगा पशुका ही स्थान। ऐसा विज्ञान नैतिक बाध्यताके वास्तविक आधारको समझानेके बदले व्यक्ति और जातिके नैतिक विचारोंके सामयिक विकासको समझाता है किन्तु नैतिकता प्राकृतिक विकाससे भिन्न है, वह सहजप्रवृत्तियों या सहानुभूतिसे उत्पन्न नहीं होती। विकासवादियोंका सिद्धान्त प्रकृतिका विज्ञान है। वे मनुष्यको प्रकृतिका अंग मानते हैं। मनुष्य प्रकृतिका अंग नहीं है। वह बौद्धिक प्राणी है और प्रकृतिको जानता है। प्रकृति उसके जाननेकी वस्तु है।

ग्रीन और हीगल तथा अन्य विचारक

हीगलकी भाँति ग्रीनका नीतिशास्त्र उसके तात्विक सिद्धान्तपर आधारित है। चैतन्य तत्व (Spiritual principle) ही परम सत्य है, जो मनुष्य और प्रकृति दोनोंमें व्याप्त है। प्रकृतिकी व्यवस्थित संगति बतलाती है कि उसमें चेतन प्रज्ञा (Conscious Intelligence) व्याप्त है जो देशकालका अतिक्रमण करती है। इसी शाश्वत कालातीत चैतन्यका प्रतिरूप मनुष्य भी है। मनुष्य प्रकृतिके ज्ञानको इसी चैतन्यके कारण प्राप्त करता है। चैतन्यके कारण ही प्रकृतिका वस्तुगत ज्ञान सबके लिए समान रूपसे सम्भव है। चैतन्य ही ज्ञाता और ज्ञेय, दोनोंमें व्याप्त है। वस्तुगत नैतिकताके मूलमें भी शाश्वत चैतन्य है।

तत्वदर्शन

जब व्यक्ति अपने वास्तविक रूप—आधारभूत चैतन्य—के बारेमें सचेत हो जाता है तब उसे उस वैयक्तिक शुभका ज्ञान प्राप्त हो जाता है जो कि स्थायी आत्माका शुभ है। सब व्यक्ति एक ही शाश्वत चैतन्यके प्रतिरूप हैं और इसलिए प्रत्येक व्यक्ति दूसरोंके शुभको वस्तुगत रूपसे शुभ मानते हुए उसे अपने वैयक्तिक शुभके रूपमें देखता है। इस भाँति ग्रीन विज्ञान और नैतिकताको अपने तत्त्वदर्शन एवं शाश्वत चैतन्यके आधारपर समझाता है।

मनुष्यका स्वरूप

ग्रीनके अनुसार चैतन्य तत्व मनुष्य-स्वभावका विशिष्ट अंग है। इसके कारण ही मनुष्य प्राकृतिक जगतसे अपनेको भिन्न समझता है और इसी कारण वह आत्म-प्रबुद्ध है। चैतन्य तत्व मनुष्यके मानस तथा पशु-प्रवृत्तियोंमें वर्तमान है। वह पशु-प्रवृत्तियों द्वारा कर्मकी ओर प्रेरित होकर उन निम्न शक्तियोंका उन्नयन करता है। मनुष्यमें भूख, प्यास आदिकी प्रवृत्तियाँ निम्न जीवोंकी भाँति ही हैं, किन्तु चैतन्य तत्वके कारण वे इच्छाओंका रूप धारण कर लेती हैं। इसी भाँति संवेदनाएँ वस्तुबोधका रूप ग्रहण कर लेती हैं। यही नहीं, मनुष्य उस ध्येयके बारेमें भी सचेत है जिसकी प्राप्तिसे उसे सन्तोष मिलता है। वह ऐसे ध्येयकी प्राप्तिके लिए जान-बूझकर प्रयास करता है। वह ध्येय ही नैतिक शुभ है। नैतिक शुभ नैतिक कर्ताकी इच्छाको सन्तोष देता है। नैतिक कर्ता उसे अनिवार्य रूपसे खोजता है और उसमें अपनी तृप्ति पाता है।

ग्रीन मानता है कि शुभ वह है जो इच्छाको सन्तोष देता है। इस सन्तोषसे अभिप्राय पशु-प्रवृत्तियोंकी तृप्तिसे नहीं किन्तु सम्पूर्ण आत्म-प्रबुद्ध व्यक्तित्वके बोधसे है।

सुखवाद तथा कांटका खण्डन: शुभ संकल्पका स्वरूप

ग्रीनके अनुसार संकल्प-कर्म वह है जिसमें कि एक आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति अपनेको धारणाकी प्राप्तिके लिए नियोजित करता है जिससे कि उसे उस समय आत्म-सन्तोष प्राप्त होता है। सुखवादियोंने सुखप्रद परिणामोंको अधिक महत्त्व देनेके कारण प्रेरणा-

को गौण स्थान दिया। किन्तु ग्रीन कहता है कि सुखप्रद परिणामोंके आधार-पर हम शुभको नहीं समझा सकते हैं। वह आत्म-सन्तोष जो शुभका निर्माण करता है उसका सुखके साथ समीकरण नहीं कर सकते। यह सच है कि सब प्रकारके सन्तोष सुखयुक्त हैं किन्तु यह सुख सदैव इच्छाका विषय नहीं है और न उसका इच्छाके विषयके साथ ऐक्य ही हो सकता है। नीतिशास्त्रकी समस्या शुभ-अशुभ संकल्पके स्वरूपको समझना है। शुभ संकल्प ध्येयकी उस धारणाके साथ अपना समीकरण करता है जिसे आत्म-प्रबुद्ध व्यक्ति अपने सम्मुख रखकर उसकी प्राप्तिके लिए प्रयास करता है। अतः शुभ संकल्प उन वस्तुओंके स्वरूपपर निर्भर है जिनकी इच्छा की जाती है। शुभ संकल्प प्रेरणा और परिणाम दोनोंका अपने भीतर समावेश करता है। कांटका सिद्धान्त—जो यह मानता है कि कर्मका शुभत्व उसकी प्रेरणापर निर्भर है और इसलिए कर्मका परिणाम उसे नैतिक मूल्य नहीं दे सकता—पूर्ण रूपसे ग्राह्य नहीं है। संकल्प तबतक पूर्ण रूप-से शुभ नहीं है जबतक कि वह अपने परिणामको प्राप्त नहीं कर लेता। अतः ग्रीनका शुभ संकल्प प्रेरणा और परिणाम दोनोंमेंसे किसीसे भी तटस्थ नहीं है।

मनुष्यमें जो अपने ध्येयकी कल्पनाकी शक्ति तथा उसके प्राप्तिकी आशा है, वह चैतन्य तत्वकी विशेषता है। इस तत्वके कारण ही व्यक्ति उस चैतन्य तत्वका प्रतिरूप है जिसे हम भगवान्‌के नामसे पुकारते हैं। चैतन्य तत्व ही व्यक्तिको उस भविष्य स्थितिका ज्ञान देता है जो वर्तमानसे श्रेष्ठ है। मनुष्यका संकल्प उसकी वह आत्मा है जो भावी आदर्शकी प्राप्तिके लिए कर्मरत है। एक ही आदर्शकी प्राप्तिके लिए बुद्धि आत्माका चिन्तनशील तत्व हैं, संकल्प गतिशील। अतः बुद्धि और संकल्प अनन्य रूपसे सम्बन्धित है। फिर भी जबतक आदर्शकी स्थिति अप्राप्य रहेगी इनमें पूर्ण अनुरूपता नहीं रहेगी। मनुष्यका संकल्प स्वतन्त्र है क्योंकि वह एक आत्मचेतन प्राणी द्वारा निर्धारित किया जाता है। वह पशु-प्रवृत्तियोंकी भाँति कायिक या यान्त्रिक

संकल्पका रूप

कार्य-कारण भावसे सञ्चालित नहीं है। ग्रीन यह समझाता है कि आत्म-प्रबुद्ध प्राणीके कर्म स्वतन्त्र और अनिवार्य हैं। वे अनिवार्य इस अर्थमें नहीं हैं कि वे भूतकालीन घटनाओंका अवश्यम्भावी भौतिक परिणाम हैं, बल्कि इसलिए कि वे सामयिक घटनाओंसे मुक्त मानव-चरित्रको वास्तविक अभिव्यक्ति देते हैं। ऐसे निष्कर्ष द्वारा ग्रीन कहता है कि नैतिक दृष्टिसे संकल्प, चरित्र, आत्मा और व्यक्ति समानार्थी हैं। ये सब मनुष्यकी उस शक्तिके सूचक हैं जो कि उसे प्रवृत्तियों और भावनाओंके धरातलसे ऊपर उठाकर भविष्यका ज्ञान देती है और उसके कर्मोंको आत्म-निर्णीत बनाती है।

ग्रीनके अनुसार नैतिक शुभ ही वास्तविक शुभ है। वह स्थायी और पूर्ण सन्तुष्टि देनेवाला है। उसका स्वरूप क्या है? ग्रीन कहता कि हम

नैतिक शुभ

तबतक इसके स्वरूपको पूर्ण रूपसे नहीं जान सकते जबतक कि उसे प्राप्त न कर लें। उस शुभका आभास अवश्य प्राप्त कर सकते हैं और वह आभास हमारे आचरण तथा व्यवहारको निर्देशित करनेके लिए पर्याप्त है। जिस भाँति भगवान्ने विश्वकी कल्पना की उसी भाँति मनुष्योंमें अपने भविष्यकी स्थितिकी कल्पना करनेकी शक्ति है जो कि वर्तमानसे अधिक श्रेष्ठ है और जिसे कि वे अपने संकल्प द्वारा सचेत रूपसे प्राप्त कर सकते हैं। यही नहीं, शुभका आभास प्राप्त करनेके लिए व्यक्ति तथा राष्ट्रके विगत नैतिक अनुभवोंका भी आश्रय लेना चाहिये।

नैतिक आदेश सदैवके लिए दिव्य चेतनामें वास्तविकता प्राप्त करता है जो कालकी सीमाओंका अतिक्रमण करती है। मनुष्यकी आत्मा दिव्य

नैतिक आदर्शका स्वरूप और विकास

चेतनाका प्रतिरूप है इसलिए वह इस आदर्श सत्यकी कल्पना कर सकता है, चाहे वह धुँधली ही क्यों न हो; और उसकी प्राप्तिके लिए प्रयास कर सकता है। यह सत्य है कि हम नैतिक आदर्शको उसकी पूर्णता और सर्वांगीणतामें नहीं जानते किन्तु फिर भी हमारी आत्म-चेतन बुद्धि हमें हमारे नैतिक विकास

की आगामी स्थितिका ज्ञान देती है और जब संकल्प द्वारा हम उस स्थिति-को प्राप्त कर लेते हैं तो वह उससे आगेकी स्थितिपर प्रकाश डाल देती है। हीगल्की भाँति ग्रीन मानता है कि नैतिक आदर्शको हम उत्तरोत्तर रूपसे केवल एक ऐसे सामाजिक जीवनमें ही उपलब्ध कर सकते हैं जिसका कि हम अन्य आत्म-प्रबुद्ध व्यक्तियोंके साथ उपभोग करते हैं।

हीगलकी भाँति ग्रीनने भी इतिहासके क्रममें चैतन्य-तत्वका विकास देखा। उसके अनुसार चैतन्य-तत्व मनुष्य, पशु, वनस्पति-जीवन एवं समस्त विश्वमें सर्वत्र वर्तमान है। निम्न-जीवन श्रेणीमें बुद्धि अचेतन रूपसे कार्य करती है किन्तु मनुष्यमें, जो कि विकसित प्राणी है, वह व्यक्त और चेतनरूपसे कार्य करती है। नैतिकताके विकासका इतिहास बुद्धिकी अभिव्यक्तिका इतिहास है। विकासको मानते हुए ग्रीनने कहा है कि नैतिकताका ध्येय मनुष्यकी आध्यात्मिक योग्यताओंकी प्राप्ति एवं पूर्णता है और वह विकासके क्रममें उपलब्ध होगी। नैतिक शुभ व्यक्तियोंको अपने बारेमें सचेत होनेके रूपमें प्राप्त होना चाहिये। वह सामाजिक रूपसे भी उपलब्ध होना चाहिये क्योंकि समाजके कारण ही मनुष्य व्यक्तिके रूपमें आत्म-चेतन होता है। हमारा आदर्श समाज वह है जिसमें कि प्रत्येक व्यक्ति उच्चतम सन्तोष प्राप्त कर सकेगा और प्रत्येक दूसरोंके शुभके साथ तादात्म्यका अनुभव करेगा।

मनुष्यकी आत्म-प्रबुद्धताकी वृद्धिके साथ ही उसकी नैतिकता भी आन्तरिक रूपसे बढ़ गयी है। वह अधिकाधिक अनुभव करने लगा है कि प्रेरणाएँ और उद्देश्य जिनका बोध हमें केवल चिन्तन द्वारा होता है, नैति-कताके लिए बाह्य कायिक कर्मोंसे कहीं अधिक मूल्यवान् तथा आवश्यक हैं। नैतिक आदर्श व्यापक होता जा रहा है। मनुष्यकी चिन्तन-शक्ति उसका ध्यान इस सत्यकी ओर आकर्षित करती है कि उसे अपने परिवार, जाति और राष्ट्रतक ही शुभको नहीं रखना चाहिये बल्कि सम्पूर्ण मानव-जाति तथा समस्त चेतन प्राणियोंके लिए उसका विस्तार करना चाहिये। नैतिक सम्बन्ध व्यापक सम्बन्ध है। संकीर्ण सम्बन्धको अपनाना तथा

वैयक्तिक शुभको अपने ही बन्धु-बान्धवोंतक सीमित करना अबौद्धिक है। इतिहासका अध्ययन बतलाता है कि धीरे-धीरे नैतिक आदर्शका आन्तरिक तथ्य अथवा स्वरूप निर्धारित हो रहा है। उसका अन्तःसत्य एवं विषय उन स्थायी सामाजिक स्वार्थों एवं आवश्यकताओंकी तृप्ति है जो कि सामान्य जीवनमें उत्पन्न होते हैं, मात्र सुख और भोग-विलासतक ही वह सीमित नहीं है। सभ्यताके बर्बर युगमें भी सामाजिक शुभका विचार वर्तमान था क्योंकि व्यक्तिको अपने सम्बन्धमें विचार करनेमें तभी स्थायी सन्तोष प्राप्त होता था जब वह दूसरोंसे अपना तादात्म्य अनुभव करता था क्योंकि उनकी जीवनपरम्पराका वह अपनेको एक अङ्ग मानता था।

आजके व्यापक सामाजिक जीवनमें आत्म-त्यागकी धारणा महत्वपूर्ण है। किन्तु यह धारणा नवीन नहीं, मानव-जीवनके आदिकालसे है। प्रारम्भमें व्यक्ति पशु-प्रवृत्तियोंकी तृप्तिके लिए, और प्राचीन युगमें, यूनानमें, बौद्धिक और नन्दतिक सुखके लिए त्याग करता था। आजके विकसित आत्म-प्रबुद्धताके युगमें सर्वश्रेष्ठ शुभकी धारणा मानवताके कल्याणकी धारणा है। यह मानव-जातिके हितके लिए व्यक्तिका आत्म-समर्पण है। मानव आत्माकी पूर्णतामें निम्न स्वभाव सदैव वर्तमान रहता है जिसमें कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ होती हैं यद्यपि वे कभी भी प्रबल नहीं हो पातीं किन्तु उनके संघर्षसे मनुष्यकी उच्च प्रवृत्तियाँ निखर उठती हैं।

निरपेक्ष तथा सामान्य कर्त्तव्य

चैतन्य तत्वके आधारपर ही ग्रीनने अपने मानव-कल्याणकारी सिद्धान्तको समझाया। जब व्यक्ति चैतन्यकी सार्वभौम अभिव्यक्तिको समझ लेता है तब उसकी इच्छा, संकल्प तथा चिन्तन चैतन्य तत्व द्वारा प्रेरित होता है। सर्वश्रेष्ठ नैतिक चरित्र वह है जिसका शुभत्व उसका स्वभाव बन जाता है। नैतिक आदर्श उसे परम आदेश देता है। आदर्शकी प्राप्ति करना उसका परम ध्येय हो जाता है। किन्तु वह विशिष्ट कर्तव्योंसे मुक्त नहीं है और ये कर्त्तव्य वे हैं जिन्हें कि मनुष्यके अनुभवोंने शुभ बतलाया है। ऐसे अनुभव प्रचलित नैतिकताको जन्म देते हैं। प्रचलित नैतिकताके नीतिवाक्य

बाध्य करते हैं। किन्तु यदि विकसित अनुभव मानव-विकासके लिए आगे उनकी अनुपयोगिता प्रमाणित कर दे तो वे व्यर्थ हो जाते हैं। नैतिक आदर्श निर्नैतिकतासे उत्पन्न नहीं होता है। बुद्धि ही नैतिक आदर्शके मूलमें है। ये अन्योन्याश्रित हैं। नैतिकताको न तो हॉब्सके सामाजिक समझौतेके आधारपर समझा जा सकता है और न विकासवादियोंकी सामञ्जस्यकी धारणाके आधारपर। बुद्धि ही मनुष्यको अपने और दूसरेको व्यक्तिके रूपमें समझनेकी शक्ति देती है। वह बतलाती है कि प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत चैतन्यका प्रतिरूप है। यह ज्ञान ही एकमात्र वह साधन है जिसके द्वारा नैतिक शुभकी धारणा सम्भव हो सकती है।

ब्रेडले

ब्रेडले[1]के नीतिशास्त्रमें हमें हीगलके नीतिशास्त्रकी व्यक्तिवादी व्याख्या मिलती है। हीगल कल्याणके सामाजिक रूपमें इतना अधिक रम गया कि वह वैयक्तिक शुभके महत्त्वको भूल गया। उसके नैतिक चिन्तनका केन्द्र वह समाज है जिसके साथ विरोध होनेपर व्यक्तिको अपने दृष्टिकोणको भूलना पड़ता है। ग्रीन हीगल-की इस असावधानीको समझता हुआ कहता है कि शुभमें प्रत्येक व्यक्तिके सन्तोषका समावेश रहता है और ब्रेडले अत्यधिक स्पष्टताके साथ आत्म-साक्षात्कारके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए समझाता है कि हीगलके दर्शनकी व्यक्तिवादसे संगति है। अपनी पुस्तक 'नैतिक अध्ययन' (Ethical Studies) में वह 'माइ स्टेशन एण्ड इट्स ड्यूटीज' शीर्षकके अन्तर्गत व्यक्तिके विभिन्न कर्त्तव्योंपर प्रकाश डालते हुए उन्नत व्यक्तित्वको समझाता है।

शुभ और व्यक्ति

ब्रेडले और कांटमें यह विशिष्ट समानता मिलती है कि दोनोंने ही अपने गूढ़ दार्शनिक ज्ञानके बावजूद धार्मिक एवं नैतिक आस्थाको समान महत्व दिया। ब्रेडलेके समकालीन हक्सले[2]ने अपने वैज्ञानिक ज्ञान, आविष्कारों और अनुभवोंके बलपर यह

ज्ञानकी सीमा

१. Francis Herbert Bradley 1846-1924.
२. Thomas Henry Huxley.

घोषित किया कि प्रकृतिवादका इतिहास चमत्कारवादके क्रमशः विलोमका इतिहास है। ऐसी वैज्ञानिक श्लाघाके युगमें ब्रेडलेने भी कांटके समान अनुभव किया कि विश्वासके लिए स्थान बनानेके लिए ज्ञानको सीमित करना होगा। ब्रेडले युक्तियों एवं तर्कप्रणाली द्वारा समझाता है कि सत्यका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना विचारकी शक्तिमें नहीं है। विचारकी सीमाएँ अन्तमें ब्रेडलेको नैतिकताकी ओर ले जाती हैं। वह कहता है कि नैतिकता भगवद् एकतामें पूर्णता प्राप्त करती है और सर्वत्र हम उस 'शाश्वत प्रेम' को पाते हैं जो अपना निर्माण विरोधोंपर करता है किन्तु जिसमें विरोध सदैवके लिए लय हो जाते हैं।

नैतिक आदर्श और कर्त्तव्य

ब्रेडलेके अनुसार नैतिक आदर्श आत्म-साक्षात्कार है। सर्वोत्तम नैतिक व्यक्ति वह है जो सर्वाधिक पूर्णता और उत्साहके साथ मानव-स्वभावकी चरितार्थताको प्राप्त करता है। यहाँपर प्रश्न उठता है कि नैतिक व्यक्तिके कर्मका क्षेत्र क्या है? आचरणका रूप वैयक्तिक है अथवा सामाजिक? ब्रेडले स्वीकार करता है कि नैतिक कर्म समाजमें ही सम्भव है। नैतिक पूर्णता समाजमें रहकर प्राप्त होती है। व्यक्तिका आत्मज्ञान तथा यह बोध कि वह समग्रका एक अङ्ग है दोनों अभिन्न हैं। व्यक्तिको अपने दैनिक कर्म सच्चे निष्कपट भावसे करके अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये। उचित कर्त्तव्यका पालन करके वह अपने शुभत्वको अभिव्यक्त करता है। ब्रेडलेका यह कहना है कि प्रत्येक व्यक्तिका समाजमें किसी-न-किसी रूपमें (अध्यापक, लेखक, कलाकार, श्रमिक आदि) एक विशिष्ट स्थान है। अतः व्यक्तिके यथार्थ जीवनका सदाचार यही है कि वह अपने समाज एवं समुदायमें अपनी स्थितिको समझकर अपने विशिष्ट कर्मको भलीभाँति करे। उसके जीवनका महत्वपूर्ण अंग इसपर निर्भर है कि वह अपने स्थानके अनुरूप कर्म करे। प्रत्येक व्यक्तिकी योग्यता और स्थिति भिन्न है, अतः उसके विकासका क्षेत्र भी भिन्न होता है और यह ठीक ही है। शुभ जीवनका कदापि यह ध्येय नहीं कि वह एक-से साँचेके लोगोंको उत्पन्न करे। उसका उद्देश्य कुछ हद

तक अद्वितीय व्यक्तियोंका निर्माण करना है जो जीवन और नैतिकताके सृजनके लिए अनिवार्य है। यद्यपि हम समग्र मानव-जातिकी पूर्णताके लिए बहुत थोड़ा-सा कर पाते हैं तथापि हम अपनी विशिष्ट स्थितिके कर्त्तव्योंको अवश्य ही कर सकते हैं। अपने दैनन्दिनके कर्त्तव्योंको करते समय हम दूसरोंके सम्पर्कमें आते हैं और अपने सजातीयोंकी सेवा करके अपनी उन योग्यताओंकी पूर्णताकी ओर बढ़ते हैं जो कि मूल्यवान् हैं। ऐसी स्थितिमें हमें आत्म-साक्षात्कार और आत्म-त्यागके बीच व्यावहारिक दृष्टिसे समुचित समाधान मिलेगा।

आदर्श आत्मा

ब्रेडलेके अनुसार आदर्श आत्मा (Ideal self) का रूप त्रिगुणात्मक है अथवा आदर्श आत्माका मूर्त स्वरूप हमको वैयक्तिक, सामाजिक तथा मनोमय आत्मा द्वारा प्राप्त होता है। इस भाँति आदर्श आत्माके अन्तर्गत तीन प्रकारके कर्त्तव्य मिलते हैं। प्रथम प्रकारके कर्त्तव्योंका सम्बन्ध व्यक्तिगत आत्मासे है। आत्मा अपने इस रूपमें परिवार, समाज और राष्ट्रका सदस्य है। समाजमें उसका निश्चित स्थान है जिसके अनुरूप कर्म करना उसका कर्त्तव्य है। वैयक्तिक आत्मासे सम्बन्धित कर्त्तव्योंका उचित रूपसे पालन करके मनुष्य आत्म-साक्षात्कारके एक अंशकी पूर्ति करता है। आत्माका दूसरा रूप सामाजिक है। सामाजिक आत्माका सम्बन्ध सामाजिक आदर्शोंसे है। सामाजिक आदर्श दूसरोंकी अपेक्षा रखते हैं। अतः यदि दूसरोंका प्रश्न न उठाया जाय तो सद्‌गुण तत्काल अव्यावहारिक हो जायगा। आत्माका तीसरा रूप मनोमय है। मनोमय आत्मा (Theoretical self) का कर्त्तव्य कला और विज्ञानकी उन्नति करना है। मनुष्यके लिए केवल सामाजिक होना पर्याप्त नहीं, यह पशु-धरातलपर ही रहना है। उसका अपने बौद्धिक और कलात्मक स्वभावके प्रति भी कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्यको करके अथवा मनोमय आत्माकी पूर्णता प्राप्त करके वह सामाजिक नैतिकताकी स्थितिसे ऊपर उठ सकता है। अपने ऐसे कथनकी पुष्टि करनेके लिए ब्रेडले कहता है कि मेरे लिए यह सत्य है कि नैतिक चेतना समुचित

परिणामोंकी उत्पत्ति द्वारा मेरे बौद्धिक और कलात्मक स्वभावकी पूर्णताका समर्थन करता है जो कि अपने-आपमें ध्येय है, न कि मात्र साधन।

आलोचना

पूर्णतावादने समझाया कि जैव विकासकी भाँति नैतिक विकास यान्त्रिक नहीं है। मनुष्यको अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना चाहिये यद्यपि विकासके क्रममें मानस आत्म-प्रबुद्धताकी ओर बढ़ रहा है। मनुष्य केवल कर्म ही नहीं करता वरन् अपने कर्मों तथा ज्ञानपर चिन्तन भी करता है। समसामयिक पूर्णतावादी एक ओर ग्रीनकी विचारधारासे प्रभावित हुए हैं और दूसरी ओर हीगल और कांटकी। इन पूर्णतावादियोंके अनुसार जिस सत्ताकी पूर्णताको चरितार्थ करना है वह केवल प्रकृति या सार नहीं बल्कि आत्मा और संकल्प है। जो नियम आत्माकी पूर्णताका आदेश देता है वह प्रकृति अथवा किसी अन्य शक्तिका नहीं, आत्माका नियम है। यह आत्मा वास्तविकताके मूलमें है। यह वह शाश्वत ज्ञाता है जिसके हम प्रतिरूप हैं। हीगल तथा कांटसे प्रभावित पूर्णतावादियोंने संकल्पके स्वरूपको नीतिशास्त्रके लिए पर्याप्त आधार माना और ग्रीनसे प्रभावित पूर्णतावादियोंने आत्माके स्वरूपको।

नैतिक विकासका अर्थ

प्राचीन और अर्वाचीन, दोनों ही कालके, पूर्णतावादियोंने अपने सिद्धान्तको आदर्शवादी तत्वदर्शनपर आधारित कर आत्म-साक्षात्कार एवं आत्म-पूर्णताको जीवनका ध्येय माना। शुभ, अस्तित्वकी परिपूर्णताकी प्राप्तिपर निर्भर है और वह अस्तित्व आत्मा या संकल्प है। वह नियम जो आत्म-साक्षात्कारका आदेश देता है अस्तित्वका वह सामान्य नियम नहीं है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु अपने स्वभावकी पूर्णताको प्राप्त होती है प्रत्युत आत्माका वह नियम है जो अन्तिम विश्लेषणमें समस्त वास्तविकताका स्रोत है। अपनी आत्माको विश्वात्मा मानना तथा उसकी प्राप्तिके लिए प्रयास करना ही

पूर्णतावाद और अन्य सिद्धान्त

मनुष्यका ध्येय है। इसीपर आत्माकी परिपूर्णता निर्भर है। अतः जिस आत्माका साक्षात्कार करना चाहते हैं वह सीमित तथा सामान्य अनुभव द्वारा ज्ञात आत्मा नहीं है बल्कि शाश्वत, आध्यात्मिक ज्ञाता आत्मा है जो अपनेको सीमित आत्माओं द्वारा पुनरुत्पन्न करता है। ऐसा सिद्धान्त न बुद्धिवाद, न सहजज्ञानवाद और न प्रकृतिवादके अन्तर्गत आ सकता है। बुद्धिवादी मनुष्यके मूर्त व्यक्तित्वको समझनेमें असमर्थ रहे। पूर्णतावादियोंने मानवतावादी दृष्टिकोणको अपनाकर बुद्धवादियोंकी इस कमीको दूर किया। उन्होंने कांटकी नियमानुवर्तिताकी धारणाके बदले उस नियमको दिया जिसे ध्येयकी धारणा निर्धारित करती है और जो सम्पूर्ण आत्माको स्थायी आनन्द देता है। अतः नैतिक नियम रूपात्मक एवं अन्तर्तथ्य शून्य नहीं है। प्रकृतिवादियोंके विपरीत पूर्णतावादियोंने बाह्य प्रकृतिको मानसका ही एक रूप माना और समझाया कि अनुभवात्मक और वर्णनात्मक प्रणालीको अपना कर नैतिक बाध्यता तथा कर्त्तव्यको नहीं समझाया जा सकता। सहजज्ञानवादियोंकी भाँति उन्होंने शुभ-अशुभकी विभक्तियोंको परम नहीं माना क्योंकि इन्हें दो स्वतन्त्र सत्योंके रूपमें नहीं समझाया जा सकता। अशुभ अबौद्धिक प्रवृत्ति या वस्तुओंके एकांगी ज्ञानका सूचक है। प्रकृति और मानस एक दूसरेके विरोधी नहीं बल्कि मानस प्रकृतिमें अन्तर्हित है।

विरोधोंमें सामञ्जस्य

पूर्णवादियोंने मानव-स्वभावकी संगतिको समझाया। दार्शनिक सिद्धान्तों तथा मानव-संस्कृति और सभ्यताका इतिहास बतलाता है कि चिन्तन और व्यवहारके क्षेत्रमें हमें सर्वत्र, सभी देश और सभी कालोंमें वैराग्यवादी और भोगवादी दो दृष्टिकोण मिलते हैं। ये दोनों ही वास्तविक जीवनसमस्यापर आधारित हैं और नैतिक चिन्तनके लिए पर्याप्त सामग्री देते हैं। बुद्धि और भावना दोनोंके ही अधिकारको समझना उस व्यापक सिद्धान्तको अपनाना है जो कि मनुष्यके लिए वांछनीय है। ऐसे वांछनीय सिद्धान्तको देनेका प्रयास पूर्णतावादियोंने किया है। निःसन्देह नैतिक विज्ञानका काम एक स्थितप्रज्ञ-

का काम है। अपनी उग्रताके कारण वास्तविक जीवनका निराकरण करने-वाली प्रवृत्तियों और विचारोंको समत्वके मानदण्डके अधीन रखना उचित है। अतः दोनोंके प्रतिभासित चिर असंगत विरोधोंको दूर करनेका श्रेय पूर्णतावादको है। प्लेटोने बुद्धि और भावना दोनोंके सामान्य जीवनकी उस एकताको समझाया जो न्याय और संगतिकी धारणासे संचालित है। हीगल-ने इन्द्रियबोध और बुद्धिमें संगति देखी। वह संवेदना और विचारकी एकताके मूर्त तथ्यको यह कहकर स्थापित करता है कि वास्तविक ही बुद्धि-मय है। ग्रीनने अपनी पुस्तक[1] में इस संगतिको समझानेका सफल प्रयास किया है। भावना और बुद्धिकी संगति और एकताको समझनेके लिए यह समझना भी अत्यन्त आवश्यक है कि उनमें विरोध है अन्यथा यह संगति सार्थक नहीं होगी। प्राचीन विचारकोंने विरोधको अत्यधिक महत्व दिया और इसलिए वे उस जीवनको नहीं समझा पाये जो मानव-जीवन है। आधुनिक विचारकों, विशेषकर, हीगलके मतावलम्बियोंने इन्द्रियोंको बुद्धि-का प्रतिरूप और सिरनाभा कहकर समन्वयकी उस समस्याको हटा दिया जो वास्तवमें है। किन्तु फिर भी पूर्णतावादियोंके लिए यह मानना होगा कि उन्होंने सुखवाद और बुद्धिवादकी एकांगितासे ऊपर उठनेका प्रयास किया और उस सर्वग्राही दृष्टिकोणको अपनानेका प्रयत्न किया जिसके आधारपर सम्यक् सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जा सकता है।

कल्याणकारी मार्ग-की ओर

जीवनकी विभिन्न समस्याओंको व्यावहारिक रूप देनेके लिए आत्मा-के स्वरूपको जाननेका प्रयास करना चाहिये। सभी पूर्णतावादी बुद्धि और भावनाके प्रश्नको उठाते हैं और इनके सम्भावित समन्वयकी धारणाको लेकर नैतिक समस्याओंको हल करते हैं। इस समन्वयकी धारणाके मूलमें परम सत्य, चैतन्य तत्व, परम प्रत्यय अथवा भगवान् हैं। ऐसी परम एकताको स्वीकार करनेपर भी उन्होंने मनुष्यके स्वतन्त्र अस्तित्वको समझनेकी चेष्टा की है और उसकी योग्यताओं तथा सीमाओंका परीक्षण किया है। अरस्तूका

१. Prolegomena to Ethics.

मध्यम मार्ग और ब्रेडलेका 'मेरी स्थिति और कर्तव्य' मनुष्यके मूर्त सामाजिक अस्तित्वके सूचक हैं। यद्यपि समाजका मूल्यांकन करते समय हीगल व्यक्तित्वको भूल जाता है फिर भी सामान्यरूपसे सभी पूर्णतावादियोंने व्यक्ति और समाजके न्यायोचित अधिकार और स्वतन्त्र किन्तु परस्पर निर्भर मूल्यको समझा है। प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक है। उसका अपना अस्तित्व है। उसके व्यक्तित्वकी पूर्णता दूसरोंकी पूर्णताकी अपेक्षा रखती है। जिस स्वार्थ और परमार्थके प्रश्नको अन्य विचारकोंने शाश्वत समस्याका रूप दे दिया था उसे पूर्णतावादियोंने मानव सत्यके आधारपर समझाया और उसे आकर्षक, सुन्दर, व्यापक, वास्तविक तथा कल्याणकारी रूप दिया। यदि इस सत्यके आधारपर आजके विश्वव्यापी शोषक-शोषितके प्रश्नको सुलझायें तो व्यक्तियों और राष्ट्रोंके ध्वंसके बदले एक उन्नत मानव-जातिका निर्माण हो जायगा जिसे कि पाशविक प्रवृत्तियाँ छिपाये हुए हैं।

'व्यक्तित्वको प्राप्त करो'—इस कथन द्वारा पूर्णतावादियोंने समझाया कि संकीर्ण आत्मासे ऊपर उठकर बौद्धिक आत्माकी परिपूर्णताको प्राप्त करना चाहिये। इसके लिए आत्माके स्वरूपको पहिचानना आवश्यक है। आत्माका ज्ञान उन शक्तियोंपर नियन्त्रण रखता है जो कि अधोमुखी हैं। वह हमें कर्त्तव्यबोध देता है। वह हमें यह भी बतलाता है कि प्रत्येक व्यक्ति बौद्धिक है और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। ऐसा ज्ञान उस आत्म-त्यागकी ओर प्रेरित करता है जो कि आत्म-कल्याण और पूर्णताका सूचक है। संकीर्ण आत्माकी मृत्यु ही आध्यात्मिक आत्माके जीवनका प्रारम्भ है जो आत्मा और विश्वात्माके तादात्म्यकी ओर ले जाता है। ऐसी स्थितिमें व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति, सामाजिक उत्तरदायित्व और लोक-कल्याणकी ओर पूर्णतः सचेत रहता है। वह विश्वमें सर्वत्र संगति और समानता देखता है। उसका जीवन जन-मंगलमय हो जाता है।

अध्याय २१

मूल्यवाद

नीतिशास्त्र आचरणका आदर्श देता है और आचरण स्वेच्छाकृत कर्मों-का सूचक है। नैतिक निर्णय कर्मोंके शुभ और अशुभ स्वरूपके बारेमें बतलाते हैं। सामान्य वार्तालापमें शुभ-अशुभका प्रयोग कर्मोंके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं और घटनाओंके लिए भी किया जाता है। इनका ऐसा अनिश्चित प्रयोग उस विज्ञानकी अपेक्षा रखता है जो कि इनके विभिन्न अर्थोंपर प्रकाश डाले तथा उन अर्थोंकी पारस्परिक भिन्नता और विशेषताको समझाये। ऐसा सिद्धान्त मूल्यों अथवा मान्यताओंका विज्ञान (Axiology or the science of Values) कहलाता है। मूल्योंका विज्ञान सामान्यतः शुभ-अशुभ वस्तुओं-का विवेचन करता है : ललित कला, सुन्दर नृत्य, शुभ आचरण, रहस्यानु-भूति आदिके बारेमें निर्णय देता है। वे नैतिक सिद्धान्त, जो हेतुवादी हैं और जिनके अनुसार वे कर्म शुभ हैं जो मूल्यवान् परिणामोंको देते हैं, मूल्यवादके सिद्धान्त (Value theories) हैं। मान्यताओंके विज्ञानका प्रयोग जब नीतिशास्त्रके क्षेत्रमें किया जाता है तो उसका सम्बन्ध उन वस्तुओं या दृश्योंसे नहीं होता जो सुन्दर हैं, बल्कि उसके द्वारा कर्मोंके परिणामोंका मूल्यांकन किया जाता है। मूल्यवादका सिद्धान्त वह सिद्धान्त है जो कर्मके औचित्य या शुभत्वको इस आधारपर आँकता है कि उसका परिणाम एक विशिष्ट अर्थमें शुभ है। प्रश्न यह है, किन मूल्यवाले परि-णामोंको नैतिक रूपसे शुभ कह सकते हैं और मूल्यके क्या अर्थ हैं?

प्रवेश

मूल्यवादियोंने शुभको मूल्यके रूपमें समझाया और साध्यगत मूल्य तथा साधनगत मूल्यके भेद द्वारा सिद्ध किया कि साध्यगत मूल्यों एवं

शुभ और मूल्य

आभ्यन्तरिक मूल्योंकी प्राप्ति ही परम शुभ है जो कि सत्य, सौन्दर्य और शिवका एक दूसरेके परस्पर उचित सम्बन्धमें रहना है। अतः परम मूल्य दैहिक, सामाजिक और आध्यात्मिक आत्माकी पूर्णता है। परम मूल्य वह है जो सम्पूर्ण आत्माको सन्तोष देता है। अथवा मूल्यवादियोंके अनुसार आत्म-साक्षात्कार विभिन्न मान्यताओं-का वह बौद्धिक नियमन है जो कि क्रमशः आत्माकी क्षमताओंको सन्तु-लित रूपमें सशक्त करता है। मूल्यका मानदण्ड[1] उस आचरणकी ओर ले जाता है जो निःश्रेयस् अथवा सर्वश्रेष्ठ मूल्यवान्‌की प्राप्तिमें सहायक है। विश्वमें निहित परम सत्यकी प्राप्ति ही परम-ध्येय है। यह निःश्रेयस् है। इससे अधिक मूल्यवान् अन्य कुछ नहीं है। कुछ विचारकोंने भगवान्-को परम-मूल्य कहा है। वह स्वयंभू पूर्णता है। इतिहासके प्रवाहमें व्यक्ति इस सर्वोच्च मूल्यका अनुसन्धान कर रहा है।

बुद्धिवादी, सुखवादी, पूर्णतावादी आदि विचारकोंने मूल्यवादियोंकी भाँति ही नैतिक आदर्शके स्वरूपको समझनेका प्रयास किया। बुद्धिवादियों

मूल्यवाद तथा अन्य विचारक

अथवा कांटने नैतिक आदर्शको नियमके रूपमें देखा, सुखवादियोंने सुख और पूर्णतावादियोंने उस पूर्णताके रूपमें जो व्यक्ति और समाजके जीवनकी चरितार्थता है। कांटका नियमानुवर्तिताका सिद्धान्त अन्तर्तथ्यशून्य है और सुखवादी उस नैतिक सिद्धान्तको देनेमें असमर्थ हैं जो सार्वभौम और वस्तुगत है। पूर्णतावादियोंकी पूर्णताकी धारणा नैतिकताको एक सत्य तथ्य अवश्य देती है किन्तु वे स्पष्ट और व्यापकरूपसे पूर्णताका अर्थ समझानेमें असमर्थ रहे। मूल्यवादी पूर्णतावादियोंकी भाँति नैतिकताकी व्याख्या आत्म-साक्षात्कारके रूपमें करते हैं। वे अन्य तात्विक सिद्धान्तोंसे इस बातमें भिन्न हैं कि- नैतिकताकी ओर उनका दृष्टिकोण शीलकी आधुनिकतम विकसित धारणाका है। उनके लिए सामान्य मूल्य (Generic Value), जो कि नैतिक मूल्यसे भिन्न है, अस्तित्वपर निर्भर नहीं वरन् अस्तित्वकी

१. The Standard as Value.

बाध्यतापर निर्भर है[1]।

वास्तवमें, मूल्यवादियोंने उसी प्रचीन किन्तु चिरनूतन प्रश्नको उठाया जिसे कि सुक़रात और प्लेटोने उठाया था : और वह है, शुभका क्या रूप है ? मूल्यवादी इसी समस्याका हल करनेके लिए प्रश्न करते हैं : परम मूल्यसे क्या अभिप्राय है ?

यदि मूल्यके आधारपर नैतिकता अथवा आचरणके शुभत्वको समझा जाता है तो मूल्यसे हमारा क्या अभिप्राय है ? जीवनमें उसका क्या स्थान है ? मानसके किसी भी सिद्धान्त, विचार और धारणाको मूल्यका रूप नहीं दे सकते हैं। यदि व्यक्ति किसी सामाजिक प्रचलनके अनुरूप कर्म करता है और सामाजिक दृष्टिसे उसका आचरण शुभ है तो नैतिक दृष्टिसे उसके आचरणको मूल्य नहीं कहा जा सकता। मूल्य उस सत्यको कह सकते हैं जिसके लिए व्यक्ति या समाज जीवित रहता है और जिसके लिए आवश्यकता पड़नेपर वह संघर्ष करने, दुःख सहने तथा मृत्युको स्वीकार करनेके लिए भी तत्पर है।

मूल्यकी समस्या

जीवनकी आवश्यकताओंने 'मूल्य'को आर्थिक रूप दिया। सर्व-सामान्यके जीवनमें मूल्य अपने आर्थिक रूपमें ही प्रयोगमें आता है। मूल्यके साथ ही उन्हें पैसोंका ध्यान आता है, अथवा, वे उस वस्तुको मूल्यवान् मानते हैं जो कि इच्छाओंकी तृप्ति करती है। क्षुधाके कारण भोजन एवं खाद्य पदार्थोंको और जीवनकी कठिनाइयोंके कारण निवास और वस्त्रको मूल्य-वान् समझा जाता है। जनसामान्यके लिए वे वस्तुएँ और विषय मूल्यवान् हैं जो किसी-न-किसी रूपमें उनकी आवश्यकताओंकी पूर्ति और इच्छाओंकी तृप्ति करते हैं। अर्थशास्त्रने मूल्यका प्रयोग दो अर्थोंमें किया है : व्यवहार (उपयोग)के अर्थमें और विनिमयके अर्थमें। व्यवहारके अर्थमें मूल्य वस्तुकी उस क्षमताको व्यक्त करता है जो मानव-आवश्यकताओं और इच्छाओंको सन्तोष देनेमें सहायक है। विनिमयके अर्थमें यह एक

मूल्यका आर्थिक प्रयोग

१. Hill pp 273.

वस्तुका दूसरी वस्तुसे आदान-प्रदानका सूचक है जो वर्तमान युगमें धनके रूपमें किया जाता है, जिसे वस्तुकी कीमत या मूल्य कहते हैं। मूल्यका अर्थशास्त्रीय अर्थ सीमित है। वह जैव आवश्यकताओंके लिए साधनमात्र है। अपने सीमित अर्थमें प्रत्येक वस्तु, यहाँतक कि, सुराका भी मूल्य है क्योंकि यह पीनेवालेको तृप्ति देती है। मूल्यके विनिमयके रूपकको भी नीतिशास्त्रमें स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वह वस्तुओंका परिमाणात्मक मूल्यांकन करता है। सुखवादियोंकी नैतिक गणना ऐसी ही भ्रान्तिपर आधारित है। नैतिकता गुणात्मक मूल्यांकनको स्वीकार करती है, न कि परिमाणात्मक।

मूल्यके दो रूप

आर्थिक और नैतिक मूल्यका भेद आभ्यन्तरिक मूल्य और बाह्य मूल्य[1], परम मूल्य और निमित्त मूल्य[2], तथा स्थायी मूल्य और अस्थायी मूल्य[3] एवं साध्यगत मूल्य और साधनगत मूल्यका है। समस्त व्यवहारका मूल्य, जिससे कि अर्थशास्त्रका सम्बन्ध है, साधनगत मूल्य है। नैतिकताका सम्बन्ध साध्यगत मूल्य एवं परम मूल्यसे है। वह वस्तु जो अपने-आपमें शुभ है, परम मूल्य रखती है। सभी सुखद वस्तुएँ, अथवा वे वस्तुएँ जो किसी-न-किसी रूपमें मनुष्यको सन्तोष देती हैं, व्यावहारिक मूल्य रखती हैं। सन्तोषके विषयोंका मूल्य उनकी उपयोगितापर निर्भर है। नैतिक मूल्यवाद यह मानता है कि वस्तुएँ कभी भी केवल इस कारण नैतिक रूपसे शुभ नहीं होतीं कि वे सन्तोष या श्लाघा-का विषय हैं। इस तथ्यको मानना कि वस्तुएँ नैतिक रूपसे शुभ इसलिए हैं कि वे सुखप्रद हैं, प्राकृतिक हेत्वाभास है। इसमें सन्देह नहीं कि प्रतिदिनके सामान्य वार्तालापमें उन वस्तुओं और विषयोंको शुभ कहते हैं जो कि व्याख्या करनेवालेको सन्तोष देते हैं अथवा जो उसकी दृष्टिमें श्लाघनीय हैं, किन्तु मात्र श्लाघा और सन्तोषके विषयोंको हम नैतिक

---

१. Intrinsic value and Extrinsic value.
२. Absolute value and Instrumental value.
३. Permanent value and Transient value.

मूल्य नहीं प्रदान कर सकते ।

जो व्यक्ति मूल्यको महत्व देता है उसके लिए अपने-आपमें कोई भी कर्म भला या बुरा नहीं है। वही नियम और कर्म अच्छे हैं जो सर्वोच्च मूल्यकी प्राप्तिमें सहायक हैं। किन्तु सर्वोच्च मूल्यको विकसित चेतना ही समझ सकती है। चेतनाके क्रम-विकासकी स्थिति ही मूल्योंके विभिन्न स्तरोंकी सूचक है। जिसे हम विभिन्न जातियों और व्यक्तियोंके मूल्योंका संघर्ष अथवा एक ही व्यक्तिके आन्तरिक जगतके मूल्योंका संघर्ष कहते हैं वह बतलाता है कि अपूर्ण विकास एवं सम्यक् ज्ञानका अभाव ही इस संघर्षके मूलमें है। विशिष्ट व्यक्तित्व, परिस्थिति तथा आवश्यकता मूल्यके विभिन्न स्वरूपोंको हमारे सम्मुख रखती है। मूल्योंके सापेक्ष रूप तथा उच्च स्थितिको प्राप्त होती हुई क्रमिक शृंखला एवं गुणात्मक भेद बतलाता है कि मूल्य साधारण आवश्यकतासे लेकर सर्वोच्च आवश्यकताको समझाता है। मूल्योंकी एक ऊपरको उठती हुई श्रेणी है जिसका कि व्यक्ति अपने विकासके क्रममें अनुसरण करता है। मनुष्य अपनी अविकसित अवस्थामें मूल्योंकी निम्नतर स्थितिमें होता है। वह जीवित रहनेकी इच्छाको इतना अधिक मूल्य प्रदान करता है कि जीवित रहनेके लिए पशु-जीवनको भी स्वीकार कर लेता है। मूल्योंका मापदण्ड पशु-जीवनकी आवश्यकताओंसे निर्वैयक्तिक और सार्वभौम मूल्योंकी इच्छातक विस्तृत है। उदाहरणार्थ, स्वतन्त्रता और नैतिकता—सत्य, न्याय, सौन्दर्य, सेवा, समानता, बन्धुत्वके सिद्धान्त आदि सार्वभौम मूल्योंका आवाहन करते हैं। महान् सन्तों, दार्शनिकों और अध्यात्मवादियोंने भी यह अनुभव किया है कि ये मूल्य परम और शाश्वत हैं, इनका सदैव अस्तित्व रहेगा और ये सबके लिए समानरूपसे सत्य रहेंगे। निःसन्देह सत्य, शिव, सौन्दर्य, प्रेम, पूर्णता, स्वतन्त्रता आदि शाश्वत मूल्य हैं फिर भी इनके रूप देश-कालकी आवश्यकताओंके अनुसार बदलते रहते हैं। यद्यपि कलाके आदर्श और शैलियाँ बदलती रहती हैं किन्तु उनमें सौन्दर्यकी ही शाश्वत खोज मिलती है।

मूल्योंके विभिन्न स्तर

आजके युगमें बहुतोंके लिए धन ही सब कुछ है, वे धनको ही सर्वोच्च मूल्य प्रदान करते हैं, और कुछके लिए सफलता संस्कृतिका मापदण्ड है; किन्तु नैतिक जीवनके प्रेमियोंके लिए यह याद रखना अनिवार्य है कि धन जीवनका एक अंगमात्र है और वह भी सर्वाधिक आवश्यक अंग नहीं है। इसी भाँति सफल होना संस्कृत होना नहीं है। अन्तर्बोधके आदेशका पालन, सेवा, त्याग, सच्चरित्रता, प्रेम, सत्यता आदि शाश्वत मूल्योंकी प्राप्ति धन और सफलतासे कहीं अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि मनुष्य और जो कुछ भी हो वह व्यक्ति अथवा आत्मा अवश्य ही है और मानव-मूल्यकी पर्याप्त धारणा तबतक नहीं बनायी जा सकती जबतक कि आत्म-साक्षात्कारकी धारणाका उसमें समावेश नहीं किया जाय। विभिन्न वस्तुओं, आवश्यकताओं और इच्छाओंका गुणात्मक मूल्यांकन आत्म-साक्षात्कारके सम्बन्धमें ही कर सकते हैं। अतः वही आभ्यन्तरिक रूपसे मूल्यवान् है जो व्यक्तित्वकी पूर्णताके लिए अनिवार्य है। यह, वास्तवमें, धनात्मक और ऋणात्मक मूल्योंके भेदकी ओर हमें ले जाता है। धनात्मक मूल्यकी वस्तु शुभ है। वह आत्म-पूर्णतामें सहायक है; उसके विपरीत, वह वस्तु, जो पूर्णता अथवा साक्षात्कारके मार्गमें विरोध उत्पन्न करती है, ऋणात्मक मूल्यकी वस्तु है, तथा अशुभ है।

कांटके अनुसार शुभ संकल्प ही एकमात्र आभ्यन्तरिक मूल्य एवं तात्त्विक मूल्य है। सुखवादियोंने सुखको, बुद्धिवादियोंने बुद्धिको तथा गान्धीजीने सत्यको साध्य मूल्यसे युक्त माना है। इसी भाँति अन्य विचारक विवेक, सौन्दर्य, स्वतन्त्रता, प्रेम आदिको परम मूल्यवान् मानते हैं। साध्य मूल्यकी विभिन्न धारणाएँ यह बतलाती हैं कि वह वस्तु जो अपने-आपमें पूर्ण है एवं अन्य वस्तुओंके लिए साधनमात्र नहीं है परम मूल्यवान् अथवा परम शुभ है। मूल्यवादियोंके अनुसार आत्म-साक्षात्कार या आत्म-पूर्णता ही परम शुभ है। वह तात्त्विक मूल्ययुक्त पूर्णता है।

परम मूल्यवान् वस्तु वह नहीं है जो क्षणिक विचारों, भावनाओं और इच्छाओंको तृप्त करती है किन्तु जिसे प्रत्येक विवेकी व्यक्ति मूल्यवान्

आभ्यन्तरिक शुभ वैयक्तिक भी है

मानता है। साध्य मूल्यकी वस्तु ही परम शुभ है। यह शुभ वस्तुगत होते हुए भी आत्मगत है। परम शुभ सार्वभौम है यद्यपि यह व्यक्ति द्वारा प्राप्त होता है। परम शुभकी प्राप्ति सुख देती है यद्यपि सुख परम शुभ नहीं है। शुभ एवं मूल्यका सुखद होना इस बातका सूचक है कि इसका अनुभव व्यक्ति करते हैं। अतः नैतिक मूल्य वैयक्तिक और सार्वभौम दोनों ही हैं। मूल्य वह है जिसे व्यक्ति महत्व देता है और उसके अनुरूप कर्म करता है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि मूल्यकी धारणा उसकी अपनी सम्पत्ति है। वह केवल यही नहीं कहता कि मैं इस वस्तुको मूल्य देता हूँ बल्कि उस मूल्यके अनुरूप कर्म करनेके लिए सदैव तत्पर भी रहता है। धनको परम मूल्य देनेवाला व्यक्ति धन उपार्जनके लिए निन्दनीय कर्मोंको सहर्ष स्वीकार कर लेता है और यशका आकांक्षी अपना सर्वस्व त्याग करके यश प्राप्त करना चाहता है। इससे प्रकट होता है कि अपने व्यापार-में मूल्य आत्मगत या भावप्रधान है और वह प्रत्येक व्यक्तिमें भिन्न है। मूल्य क्रियाशील भी है। यह मनुष्यके अन्तरतममें जगती हुई वह शक्ति है जो उसे एक विशिष्ट प्रकारसे कर्म करनेके लिए प्रेरित करती है और उसके जीवनको अपने अनुरूप शासितकर उसे एक विशिष्ट दिशा प्रदान करती है। मूल्य केवल मनुष्यको यह नहीं बताता कि उसे क्या करना चाहिये वरन् उसके आचरणको शासित भी करता है। मूल्यका ऐसा शक्तिमय स्वरूप हमें बतलाता है कि हमें शुभ मूल्योंको समझनेका प्रयास करना चाहिये। मूल्यका सम्बन्ध व्यक्तिसे है अतः व्यक्तिको अपने विवेक-को जाग्रत् करके उस कर्मको अपनाना चाहिये जो कि परिस्थितिविशेषमें आत्म-पूर्णताकी प्राप्तिके लिए सर्वोत्तम हो।

मूल्यका आत्मगत पक्ष यह भी बतलाता है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके मूल्य भिन्न होते हैं और एक ही व्यक्तिमें भी वे उसकी विकासकी अवस्था-के अनुसार बदलते रहते हैं। अपने बोध और विवेचनकी शक्ति (नीरक्षीर विवेक)के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति एक विशिष्ट तथ्य और विषयको

मूल्योंका उत्तरोत्तर विकास : तुलनात्मक स्थिति

मूल्य देता है। जनसामान्यके जीवनका अध्ययन बतलाता है कि कोई भी मूल्य ऐसा नहीं है जिसके बारेमें हम यह कह सकें कि यह प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक राष्ट्रको मान्य है। प्रत्येक अपने स्वभाव, व्यक्तित्व और चेतनाके विकासके स्तरके अनुरूप विषयको मूल्यवान् मानता है। अथवा मानव-चेतनाकी विभिन्न स्थितियोंका अध्ययन दैहिक आवश्यकताओंकी तृप्तिको मूल्यवान् समझनेकी स्थितिसे आत्मपूर्णताको मूल्यवान् समझनेकी स्थितिका अध्ययन है। मूल्यवाद किसी भी मूल्यका पूर्णरूपसे निराकरण नहीं करता है किन्तु साथ ही उस परम मूल्यको भी समझनेका प्रयास करता है जो शाश्वत और सार्वभौम है। वह निम्नतम मूल्यसे लेकर उच्चतम मूल्यके स्थानको निर्धारित करनेका प्रयास करता है। साध्यगत और साधनगत मूल्योंके भेद द्वारा मूल्यवादी साधनगत मूल्योंकी उपेक्षा नहीं करते हैं बल्कि यह समझाते हैं कि आर्थिक, दैहिक, मनोरञ्जन सम्बन्धी मूल्य आभ्यन्तरिक मूल्योंकी प्राप्तिके लिए आवश्यक हैं। अथवा आत्माकी विभिन्न आवश्यकताओं—शारीरिक, बौद्धिक, कलात्मक आदिकी उचित परिमाणमें तृप्ति ही परम शुभ या निःश्रेयस् मूल्य है। आत्म-साक्षात्कार वह है जो विभिन्न अंशोंकी आवयविक समग्रता एवं एकता है। यह ज्ञान, संस्कृति, सौन्दर्य, सद्गुण आदिके पारस्परिक उचित सम्बन्धपर निर्भर है। सर्वोच्च शुभ मूल्योंके एक दूसरेसे समुचित प्रकारसे सम्बन्धित श्रेणियोंको कहते हैं। अतः दैहिक मूल्यसे श्रेष्ठ सामाजिक मूल्य है और सामाजिकसे श्रेष्ठ आध्यात्मिक मूल्य तथा ज्ञान और सौन्दर्यसे श्रेष्ठ नैतिक शुभत्व या सद्गुण है। मूल्योंकी तुलना करके उनकी क्रमिक श्रेष्ठताके आधारपर हम कह सकते हैं कि आभ्यन्तरिक मूल्य बाह्य मूल्यसे श्रेष्ठ हैं और स्थायी मूल्य अस्थायी मूल्यसे।

मूल्योंका तुलनात्मक मूल्यांकन बतलाता है कि सब मूल्य सपरिमाण (Commensurable) हैं अथवा प्रत्येक शुभ एवं मूल्यको तोला जा सकता है और उसका स्थान निम्नतमसे उच्चतम मूल्योंकी उत्तरोत्तर

विकसित होती हुई श्रेणीमें निर्धारित किया जा सकता है। विविध शुभोंका स्थान निर्धारित करनेके लिए उनकी राशि और गुण दोनोंको समझना होगा। मूल्योंका गुणात्मक भेद स्पष्ट बतलाता है कि जब निम्न और उच्च मूल्योंके बीच चयनका प्रश्न उठे तो सदैव उच्च मूल्यका वरण करना चाहिये। यही कारण है कि एक प्रकारका शुभ चाहे राशिमें कितना ही अधिक हो वह दूसरे प्रकारके शुभकी पूर्ति नहीं कर सकता है। अतः जब परिस्थितियोंके कारण यह असम्भव हो जाता है कि हम सभी प्रकारके शुभोंको अपने या दूसरोंके लिए प्राप्त कर सकें तब हमें यह निश्चित कर लेना चाहिये कि उनमेंसे कौन सा सर्वश्रेष्ठ शुभ है जिसे कि प्राप्त किया जा सकता है। नैतिक ज्ञान बतलाता है कि वही कर्म उचित है जो शुभको उत्पन्न करता है। जब विभिन्न शुभोंमेंसे एक शुभको चुननेका प्रश्न उठता है तब उस शुभको चुनना उचित है जो अधिकतर शुभको उत्पन्न करता है। ऐसा कथन बतलाता है कि सब प्रकारके शुभोंकी तुलना की जा सकती है और हम सब प्रकारके शुभोंको एक ही तुलामें तोल सकते हैं तथा प्रत्येकका दूसरोंके सम्बन्धमें उचित मूल्य आँक कर उनके सापेक्ष मूल्यको निर्धारित कर सकते हैं। सभी मूल्य तोले जा सकते हैं, किन्तु मूल्योंका सपरिमाण होना यह नहीं बतलाता कि एक मूल्यका विशिष्ट परिमाणमें होना दूसरे मूल्यके अभावकी कमी पूर्ण कर सकता है और न हम बेंथमकी भाँति यही कह सकते हैं कि समान परिमाण होनेपर तुच्छ खेल और कविता करनेके सुखको समानरूपसे शुभ कह सकते हैं। किन्तु यह भी सत्य है कि सामान्य जीवनमें सभी मूल्योंकी प्राप्ति असम्भव है। अधिकतर भिन्न प्रकारके शुभोंके बीच विरोध उत्पन्न हो जाता है, और तब यह आवश्यक हो जाता है कि उचित विवेक और नैतिक चेतनाकी सहायतासे उनका मूल्यांकन करके श्रेष्ठ शुभको चुना जाय। वैसे सत्य, सौन्दर्य, शुभ एवं सद्गुण उच्चतम शुभके अंग हैं और आंगिक भावसे सम्बद्ध हैं। हमें प्रत्येकको आवयविक समग्रताके अंशके रूपमें समझने तथा प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये, न कि असम्बद्ध इकाईके रूपमें। यदि हम उन्हें

आवयविक समग्रताके रूपमें प्राप्त करनेमें असमर्थ हों तो हमें चाहिये कि उन्हें एक दूसरेसे पृथक् करके समझनेका प्रयास करें और मूल्योंकी तुलामें उनके स्थानको निर्धारित करें।

आभ्यन्तरिक मूल्य

मूल्यवादी आत्माके ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और रागात्मक स्वरूपोंके आधारपर सत्य, सौन्दर्य और शुभ या सद्गुणको आभ्यन्तरित मूल्य प्रदान करते हैं। ये अपने-आपमें शुभ हैं। इनकी खोज व्यक्ति इन्हींके लिए करता है और इसलिए ये साध्य हैं, न कि साधन। सत्य आत्माके ज्ञानात्मक पक्ष, सौन्दर्य रागात्मक पक्ष और शुभ एवं नैतिक पूर्णता क्रियात्मक पक्षको तुष्टि प्रदान करता है। ये मूल्य अति वैयक्तिक (Over-individual) हैं अतएव सार्वभौम हैं। ये व्यक्तियोंसे स्वतन्त्र हैं, यद्यपि व्यक्ति इनका अनुभव करते हैं। ये तीनों उसी भाँति अपृथक् हैं जिस भाँति कि ज्ञान, कर्म और भावना। किन्तु फिर भी यह सत्य है कि बौद्धिक रूपसे इनकी अभिन्नताको समझनेमें हम असमर्थ हैं।

शुभ नैतिक कर्त्तव्य या बाध्यताकी भावना देता है। नैतिक शुभकी चेतना नैतिक स्थायी भावनासे युक्त है। यह सदाचारके मार्गकी ओर ले जाती है। अतः शुभ सत्य तथा सौन्दर्यकी भाँति नहीं है। सुन्दर चित्रकी प्रशंसा करते समय हम चित्रकारकी प्रेरणा, चरित्र एवं व्यक्तित्वपर निर्णय नहीं देते, किन्तु नैतिक शुभ चरित्रपर निर्णय देता है। यह अद्वितीय और अनुपम है। भगवान्को परम मूल्य माननेवाले मूल्यवादी भगवत् प्रेमको आभ्यन्तरिक मूल्यके रूपमें स्वीकार करते हैं। भगवान् ही सत्य, सौन्दर्य और शिवकी परिपूर्णता है।[1] प्रार्थना और दिव्य मिलन अद्वितीय आनन्द

---

१. तुलना कीजिये —

न धनं न जनं न च कामिनीं
कवितां वा जगदीश कामये
मम जन्मनि जन्मनि ईश्वर
भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि।

हैं। वे अपने-आपमें शुभ हैं। नैतिक मूल्य भगवत् प्रेमकी ओर ले जाता है। नैतिकता मानवताके प्रति सेवा और प्रेमको महत्व देती है और धर्म भगवत् प्रेमको। नैतिक मूल्य और धार्मिक मूल्य दोनों ही प्रेमको महत्व देते हैं और प्रेम ही परोपकारी कर्मका प्रमुख स्रोत है। प्रेमके द्वारा ही हम दूसरेके चरित्रको प्रभावित कर सकते हैं। भगवत् प्रेमका अर्थ सर्व-शुभसे है। भगवत् प्रेम और पड़ोसीका प्रेम ही नैतिक शुभका सार है। वैयक्तिक और सामूहिक जीवनकी पूर्णता उस सर्वोच्च शाश्वत मूल्य (भगवान्) पर निर्भर है जिसमें कि सत्य, सौन्दर्य और शिव परिपूर्णता प्राप्त कर चरितार्थ होते हैं।

शुभ, नैतिक शुभ और परम शुभ

शुभ वह है जिसका नैतिक मूल्य है। इसका प्रयोग साधन और साध्य दोनों अर्थोंमें होता है। शुभ व्यक्ति वह है जो वास्तविक मूल्योंकी उन्नतिके लिए, चाहे वह साधनरूपमें हों या साध्यरूपमें, अपनी क्षमताके अनुरूप सतत प्रयत्नशील है। नैतिक मूल्योंकी वृद्धि नैतिक शुभकी वृद्धि है और नैतिक शुभ परम शुभकी अपेक्षा रखता है। परम शुभ वह है जो बौद्धिक प्राणीको पूर्ण सन्तोष देता है यद्यपि साथ ही यह भी सत्य है कि परम शुभकी प्राप्ति दुर्लभ है। परम शुभको उस व्यवस्थित बौद्धिक विधानके रूपमें समझनेपर जो कि बौद्धिक व्यक्तिको सन्तोष देता है, प्रश्न उठता है कि क्या परम शुभकी ऐसी धारणा वास्तविक है? ऐसा प्रश्न हमें तत्वदर्शनकी ओर ले जाता है। तात्विक कठिनाइयोंमें न जाकर इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि नैतिक शुभ एवं नैतिक मूल्य इस तथ्यपर आधारित है कि मनुष्य वर्तमान स्थितिसे उत्पन्न असन्तोषके कारण अपना यह कर्त्तव्य समझता है कि वह स्वेच्छासे उस मार्गको चुने जिसकी प्राप्ति उसे सन्तोष देगी। ऐसी सन्तोषकी स्थिति एवं नैतिक शुभकी प्राप्ति तथा साक्षात्कारके लिए व्यक्ति सदैव प्रयास करता है। वर्तमान असन्तोष उसे इस स्थितिकी प्राप्तिके लिए प्रेरित करता है। वह नैतिक शुभका स्वतन्त्रतापूर्वक वरण करके उस पूर्णताकी स्थितिको प्राप्त करना चाहता है जहाँ दुःख,

असन्तोष और पाप नहीं है। यही पूर्ण शुभ, पूर्ण कल्याण और पूर्ण सौन्दर्यकी स्थिति है। ऐसे शुभका चयन करना और उसे प्राप्त करनेके लिए प्रयास करना नैतिक शुभ है। अतः नैतिक शुभ सामान्य शुभसे भिन्न है। सामान्य तौरसे उस वस्तुको शुभ कहते हैं जो किसी व्यक्तिविशेषको सन्तोष देती है। किन्तु नैतिक शुभ पूर्णताकी धारणापर आधारित है। वह अपनेआपमें शुभ है चाहे वह व्यक्तिको सन्तोष दे या न दे। वह चाहे व्यक्तिके लिए सुखद हो या दुःखद, वह शुभ है। यदि यह मान लें कि नैतिक शुभ व्यक्तिको सुख देता है तो इसका यह अर्थ नहीं कि नैतिक शुभका शुभत्व उसके सुखद होनेपर निर्भर है, क्योंकि नैतिक शुभके लिए व्यक्ति सहर्ष दुःख स्वीकार करता है।

शुभ-अशुभका सम्बन्ध ध्येयसे है और औचित्य-अनौचित्यका सम्बन्ध साधनसे[1]। अतः उचित कर्म शुभकी प्राप्तिके लिए साधनमात्र है।

शुभ और औचित्य-आत्मगत और वस्तुगत औचित्य

सामान्यरूपसे उचित कर्म वह है जिसे कि उपलब्ध ज्ञानके आधारपर सभी व्यक्ति उचित कहते हैं। किन्तु अधिकतर देखा गया है कि जिसे सब लोग अच्छा कहते हैं उसे व्यक्तिविशेष अनुचित कहता है और जिसे व्यक्ति उचित कहता है उसे अन्य लोग अनुचित कहते हैं। ऐसी परिस्थिति आत्मगत और वस्तुगत औचित्य[2]के प्रश्नको उठाती है। स्थूलरूपसे व्यक्तिगत कल्याणके अनुरूप कर्म आत्मगत औचित्यवाले होते हैं और मानव-कल्याणके अनुरूप कर्म वस्तुगत औचित्यसम्पन्न हैं। क्या आत्मगत और वस्तुगत औचित्यमें भेद है, या वे एक ही हैं? नैतिकता वैयक्तिक शुभ और वास्तविक शुभमें भेद नहीं देखती है। वैयक्तिक दृष्टिसे वही शुभ है जो वास्तविक शुभकी प्राप्तिमें सहायक है। वैसे, आत्मगत औचित्य उसे कहते हैं जिसे कि कर्म करनेवाला व्यक्ति उचित समझता है और वस्तुगत औचित्य उसे जो कि वास्तवमें शुभकी प्राप्तिमें सहायक है। उचित कर्मको

१. देखिये—भाग १, अध्याय १.
२. Subjective and Objective rightness.

समझना कठिन कार्य है। अधिकतर कर्ता कर्मके जिस मार्गको ग्रहण करता है उसके बारेमें वह स्वयं ही अनिश्चित रहता है। जिस साधनको चुनते हैं क्या वह वास्तवमें उचित है ? सम्यक् वैश्व दृष्टिकोणसे कौन-सा मार्ग सर्वश्रेष्ठ है ? क्या जो आत्मगत रूपसे उचित है वह सदैव ही वस्तुगत रूपसे उचित रहेगा ? क्या सब कर्म आत्मगत रूपसे उचित हैं ? क्या सब कर्म वस्तुगत रूपसे उचित हैं ? क्या वह कर्म वास्तवमें शुभ है जिसे व्यक्ति शुभ समझता है ? नैतिकता यह मानती है कि वास्तविक शुभके अनुरूप कर्म आत्मगत और वस्तुगत रूपसे उचित है। अतः आत्मगत और वस्तुगत औचित्य परस्पर विरोधी नहीं हैं। फिर भी यदि यह प्रश्न करें कि क्या आत्मगत औचित्यवाला कर्म सदैव ही वस्तुगत रूपसे उचित है तो कठिनाई उत्पन्न होती है। सुखवादियों और बुद्धिवादियोंने उचित कर्मकी अपूर्ण व्याख्या की है। उदाहरणार्थ, बुद्धिवादियोंने कहा है कि ध्येयकी पवित्रता कर्मके औचित्यको निर्धारित करती है। किन्तु ध्येय परिणामसे स्वतन्त्र नहीं है। इसी भाँति केवल परिणामके आधारपर कर्मका औचित्य नहीं आँका जा सकता। व्यापक ज्ञानकी कमी, परिवेश और परिस्थितिका अज्ञान, क्षीण नैतिक अन्तर्दृष्टि, अनहोनी प्राकृतिक घटनाएँ आदि प्रतिकूल परिणामोंको उत्पन्न करके शुभ प्रेरणाके कर्मको वस्तुगत रूपसे अशुभ सिद्ध कर देती हैं। क्या हम कह सकते हैं कि सब कर्म वैयक्तिक रूपसे उचित हैं ? इसमें भिन्न मत नहीं हो सकता कि कोई भी व्यक्ति जान-बूझकर अपना अहित नहीं करता है। चोर चोरीको उचित समझकर ही करता है। वह अविवेकके कारण उचित और अहितकर स्वार्थको एक ही मान लेता है और वास्तविक कल्याणको भूल जाता है। आत्मगत औचित्यवाले कर्मोंको समझनेके लिए सम्यक् ज्ञान और विवेक अनिवार्य है। विवेक उसी कार्यको व्यक्तिगत रूपसे अच्छा एवं आत्मगत औचित्यवाला कहता है जिसमें कि व्यक्तिका वास्तविक शुभ है। ऐसा कर्म वह कर्म है जिसमें कि सभीकी भलाई निहित है। वास्तविक कल्याणवाले कर्म नैतिक शुभत्वसे युक्त हैं। शुभ व्यक्ति वह है जो सक्रिय रूपसे साध्यगत या

साधनगत वास्तविक मूल्योंकी अभिवृद्धिके लिए वहाँतक प्रयास करता है जहाँतक कि उसमें क्षमता है। समस्त वास्तविक मूल्योंकी अभिवृद्धि अपने भीतर नैतिक शुभत्वकी वृद्धिका समावेश करती है। अतः नैतिक शुभत्वको साध्य और साधन दोनों रूपोंमें समझा जा सकता है।

शुभ-अशुभसे परे

नैतिक शुभ तात्विक दृष्टिकोणकी ओर ले जाता है। नैतिकता शुभ-अशुभ और पाप-पुण्यके भेद द्वारा यह बतलाती है कि हमें घटनाओंके प्रवाहमें आँख मूँदकर नहीं बह जाना चाहिये वरन् अपने विवेकको जाग्रत कर उन कर्मोंका वरण करना चाहिये जो शुभत्वकी स्थापनामें सहायक हैं। नैतिकता विश्वकी घटनाओं और कार्योंके सापेक्ष मूल्यको निर्धारित करती है। परिस्थिति, देश, काल और आवश्यकताके अनुसार कर्मको समझना चाहिये। सभ्यता, संस्कृति और ज्ञानका विकास बतलाता है कि नैतिक निर्णय परिवर्तनशील है। व्यक्तिको रूढ़ि-रीति एवं निश्चित नियमोंसे ऊपर उठकर उन कर्मोंको समझनेका प्रयास करना चाहिये जिन्हें कि वह परिस्थितिविशेषमें वैयक्तिक और सामाजिक कल्याणके लिए सर्वश्रेष्ठ समझता है। ऐसा विवेक नैतिक कल्याणकी ओर ले जाता है और नैतिक कल्याण उस तात्विक सत्यकी ओर जो हमें बतलाता है कि पाप और पुण्यका भेद अपूर्ण ज्ञानका सूचक है। शाश्वत दृष्टिकोणसे विश्वकी घटनाएँ परम शुभको अभिव्यक्त करती हैं। फिर भी जहाँतक अपूर्ण और सीमित ज्ञानका प्रश्न है, शुभ और अशुभ हैं। अपनी दुर्बलताओंसे ऊपर उठनेके लिए नैतिक शुभकी धारणा अनिवार्य है। नैतिक शुभको प्राप्त करनेका प्रयास करना चाहिये। नैतिक शुभकी चरितार्थता ही परम शुभकी ओर ले जायगी और परम शुभकी स्थिति शुभ और अशुभसे परेकी स्थिति है।

मूल्यवादका स्थान

मूल्यवादका सामान्य अध्ययन बतलाता है कि इसके प्रतिपादकोंने किसी नवीन सत्यको सम्मुख नहीं रखा। उन्होंने उस सिद्धान्तको जिसे कि सामान्यरूपसे सभी नीतिज्ञोंने और विशेषरूपसे पूर्णतावादियोंने स्वीकार किया, मूल्यवादका बाना

पहिना दिया है। 'मूल्य' शब्दकी नवीनता तथा सिद्धान्तके प्रतिपादनकी शैलीको देखकर क्षणभरके लिए यह अवश्य प्रतीत होता है कि हमें उस सत्यका भास होने जा रहा है जिससे कि अन्य विचारक अनभिज्ञ हैं। पर, हम देखते हैं कि इन्होंने आत्म-साक्षात्कारके स्वरूपको समझनेका प्रयास किया। आत्म-साक्षात्कारका प्रश्न परम साध्य, परम ध्येय एवं परम मूल्य-का प्रश्न है। प्राचीन यूनानी विचारकोंसे लेकर विश्वके अर्वाचीन विचारक भी इसी गुत्थीमें उलझे हुए हैं कि परम शुभ क्या है? आत्म-पूर्णताके क्या अर्थ हैं? मूल्यवादके सिद्धान्तकी विशिष्टता यह है कि इसने ध्येयकी धारणाको व्यक्त करनेके लिए अनायास ही एक ऐसे शब्द (मूल्य)का प्रयोग कर दिया है जिसने कि नीतिके क्षेत्रमें वस्तुवाद और आदर्शवादके पारस्परिक विरोधकी प्रबलताको क्षीण कर दिया है। मूल्यवादी विचारकों-के लिए यह कहना कि वस्तुवादियों[1] ने मूल्यकी पूर्णरूपसे वस्तुवादी व्याख्या और आदर्शवादियोंने केवल आदर्शवादी[2] व्याख्या की है, भ्रान्ति-पूर्ण होगा; क्योंकि दोनोंने आवश्यकता प्रतीत होनेपर एक-दूसरेसे सहायता ली है। यही कारण है कि मूल्यवाद एक व्यापक 'वाद'के रूपमें हमारे सम्मुख आता है।

---

१. G. E. Moore, Franz Brentano, Alexius von Meinong, Edmund Husserl, Necoli Hartmann, Hastings Rashdall, A. E. Ewing, John Laird आदि।

२. W. M. Urban, A. Campbell Garnett, W. R. Sorley, A. E. Taylor, Harold Osborne, G. H. Howison, A. C. Knudson, Edgar Sheffield Brightman आदि।

तृतीय भाग

कुछ अन्य नैतिक सिद्धान्त

अध्याय २२

चार्वाक-दर्शन

भारतीय दर्शनकी जड़वादी विचारधारा चार्वाक-दर्शनके नामसे ज्ञात है। दर्शनके जन्म-कालसे ही जड़वाद किसी-न-किसी रूपमें रहा है, इसमें सन्देह नहीं है। जड़वादियोंके अनुसार जड़का ही एक-मात्र अस्तित्व है। विश्वकी विभिन्न वस्तुओंको, यहाँ-तक कि मन, आत्मा, चैतन्य आदिको जड़के ही आधारपर समझा सकते हैं। सृष्टिकर्ता, स्वर्ग, नरक, धर्म, आत्माकी अमरता आदिकी कल्पना मिथ्या है। जड़ एवं प्रकृति ही सृष्टिके मूलमें है।

चार्वाक-दर्शन एवं जड़वाद

चार्वाक-दर्शन अपनी अप्रस्फुटित तथा अविकसित अवस्थामें ऋग्वेदमें तथा पूर्व-बौद्ध-युगमें वर्तमान रहा है। वैसे विद्रोही सिद्धान्तके रूपमें इसका उत्पत्ति-काल ६०० ई० पू० माना गया है। यह वह युग है जिसमें कि बौद्ध और जैन दर्शनका प्रतिपादन हुआ था। चार्वाक-दर्शनपर कोई भी स्वतन्त्र पुस्तक प्राप्त नहीं है। यह कहा जाता है कि बृहस्पतिके सूत्र जड़वादपर शास्त्रीय प्रमाण हैं जो कि नष्ट हो गये हैं। चार्वाक-दर्शनपर एक भी स्वतन्त्र पुस्तक न होनेपर भी हम यह नहीं मान सकते कि इस विचारधारा या सिद्धान्तका अस्तित्व नहीं था। इसके अस्तित्वका सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि इसका उल्लेख वेदों, पुराणों, बौद्धग्रन्थों तथा दार्शनिक ग्रन्थोंमें मिलता है। प्रत्येक भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तने इसका खण्डन करना अनिवार्य समझा। माधवके सर्वदर्शन-संग्रहके प्रथम अध्यायमें इस सिद्धान्तका परिचय अवश्य मिलता है किन्तु वह इतना संक्षिप्त है कि हमारे ज्ञानकी वृद्धिमें सहायक नहीं होता। इस भाँति हमें जड़वादका आलोचनात्मक और खण्डनात्मक परिचय ही प्राप्त होता है।

उत्पत्ति-काल तथा ग्रन्थ

भारतीय दार्शनिकोंने जड़वादीके लिए 'चार्वाक' शब्दका प्रयोग किया है। अतः चार्वाक और जड़वादी पर्यायवाची या समानार्थी शब्द बन गये हैं। चार्वाक मत लोकायत (लोक + आयत) नामसे भी प्रसिद्ध है। लोकायत, इन्द्रिय जगतके लिए तथा जड़वादके लिए संस्कृत शब्द है। लोकायत इस बातका सूचक है कि केवल यह लोक है। चार्वाक शब्दके मूल अर्थके बारेमें विद्वानोंमें मतभेद है। वे यह निश्चित नहीं कर पाये हैं कि यह किसी व्यक्तिका नाम था या यह शब्द सिद्धान्त और उसके प्रतिपादकोंके स्वरूप और व्यवहारका सूचक है। कुछके अनुसार यह शब्द 'चारु वाक्' अर्थात् मृदुभाषी, मीठा बोलने-वालेका सूचक है; कुछका यह कहना है कि यह शब्द 'चर्व' धातुसे लिया गया है और इसका अर्थ है, चबाना या भोजन करना। कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि इस दर्शनके मूल प्रवर्तक बृहस्पति थे; कुछके अनुसार चार्वाक उस ऋषिका नाम है जिसने इस मतका प्रतिपादन किया और जिसके कारण उसके अनुयायी भी चार्वाक कहलाये और कुछने कहा कि यह उस अनुयायीका नाम है जिसे कि सर्वप्रथम इसके प्रवर्तकने अपने मतकी दीक्षा दी। जो कुछ भी हो, अब चार्वाक शब्दका बुरे अर्थमें प्रयोग होता है। धर्मनिन्दक और भोगवादीको उपेक्षा और तिरस्कारकी दृष्टिसे चार्वाक कहते हैं।

चार्वाकके अर्थ

चार्वाकोंको दो वर्गोंमें विभाजित कर सकते हैं: धूर्त तथा सुसंस्कृत। धूर्त चार्वाक वे चार्वाक हैं जिन्होंने कि निकृष्ट इन्द्रियसुखको वांछनीय बतलाया है। वास्तवमें, आलोचकोंने इस अश्लील ओर पशु-प्रवृत्तिवाले चार्वाकोंकी ही आलोचना की है। सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत चार्वाकोंने उत्कृष्ट सुखको महत्व दिया है। उन्होंने राजकीय व्यवस्था, सामाजिक नियमों और दण्डनीतिको स्वीकार किया है। वे असामाजिक, स्वार्थपूर्ण वासनाओंकी तृप्तिमें विश्वास नहीं करते हैं।

दो वर्ग

सुशिक्षित चार्वाकोंमें कामसूत्रके रचयिता वात्स्यायनने प्रसिद्धि प्राप्त

की है। इन्द्रियोंकी तृप्ति एवं पञ्चेन्द्रियोंकी तृप्तिको सुख एवं कामके मूल-में मानकर उन्होंने ब्रह्मचर्य, धर्म तथा नागरिकवृत्तिको साधनरूपमें आवश्यक माना। ईश्वरके अस्तित्व और परलोकमें विश्वास रखते हुए सुखको परम लक्ष्य माना। वात्स्यायनका कहना है कि आचरणके उन नियमोंको स्वीकार करना चाहिये जो सुखप्राप्तिके लिए उपयोगी हैं। सुखको अन्तिम लक्ष्य मानते हुए उन्होंने शिष्ट सुखको अपनानेके लिए कहा। पाशविक सुखकी आत्मघातक प्रवृत्तिसे वे परिचित थे। यही कारण है कि उन्होंने तीन पुरुषार्थ माने हैं—धर्म, अर्थ और काम। जीवनमें इन तीनोंका यथोचित सन्तुलन आवश्यक है यद्यपि धर्म और अर्थका महत्व गौण है। काम सर्वोपरि तथा प्रमुख ध्येय है और शरीर-रक्षाके लिए आवश्यक है। मनुष्यको चाहिये कि वह पशुओंकी भाँति सहजरूपसे कामतृप्तिको न अपनाये। उसे कामतृप्तिके साधनों, उसकी विभिन्न अवस्थाओं एवं जीवनके व्यापक और व्यवस्थित अध्ययन द्वारा उस ज्ञान-को प्राप्तकर लेना चाहिये जो कि परम लक्ष्य—कामकी प्राप्तिमें सहायक है। स्थूल स्वार्थसुखके बदले वात्स्यायनने शिष्ट सुखको उचित बतलाया। उन्होंने यह समझाया कि किशोरावस्थामें ब्रह्मचर्यका पालन तथा वेदोंका अध्ययन आवश्यक है। यही नहीं, चौसठ ललित कलाओंके अभ्यास द्वारा इन्द्रियोंको शिक्षित, संयमित और संस्कृत भी बनाना चाहिये। इस भाँति वात्स्यायनने वर्तमान एवं तत्कालीन सुखके बदले सम्पूर्ण जीवनके सुखकी ओर ध्यान आकर्षित किया।

हम घोर पारलौकिक प्रवृत्तिकी प्रतिक्रियाके रूपमें इस दर्शनको समझ सकते हैं। विचारके क्षेत्रमें यह सदैव ही देखते हैं कि जब कोई विशिष्ट

शुद्ध बुद्धिमय जीवन अथवा निःस्पृहतावादकी प्रतिक्रिया

विचारधारा अपने आवेशमें एकांगी हो जाती है तो मानो उसे सुधारने और स्वस्थ रूप देनेके लिए उतनी ही शक्तिशाली दूसरी विचारधारा जन्म ले लेती है। यूनानी दर्शनमें सुखवाद और बुद्धिपरतावाद एक दूसरे-के विरोधी होनेपर भी परस्पर पूरक हैं। भारतीय

जीवनका अध्ययन बतलाता है कि उपनिषदोंका निर्गुण ब्रह्म जनसाधारण-के लिए अनाकर्षक और नीरस था। शुद्ध बुद्धिमय जीवन एवं कोरे ज्ञान और अमूर्त सत्यकी प्राप्तिके लिए जीवनकी उपेक्षा करना जनसामान्यके लिए असह्य हो गया। अतः छुके-छिपे रूपमें उन्होंने भोगवादको महत्व देना प्रारम्भ कर दिया। चार्वाक विचारकोंका सुसंघटित सम्प्रदाय रहा हो ऐसा नहीं दीखता है। सम्भवतः उसका कारण यही रहा होगा कि इन्द्रिय-आवश्यकताओंकी तृप्तिके तीव्र अनुभवने उन्हें अपने अनुभवको व्यक्त करनेके लिए बाधित तो किया पर साथ ही सामाजिक मान्यताओं, मर्यादाओं एवं लोकलाजने उन्हें व्यापक और स्पष्टरूपसे अपने सिद्धान्तको कर्ममें परिणत नहीं करने दिया। चार्वाक-दर्शन अपने सारांशमें यह है: लोकायत एकमात्र शास्त्र है; उसके अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। चार भूत हैं: पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। धन और भोग मानव अस्तित्वके विषय हैं। जड़ द्रव्य चिन्तन कर सकता है। परलोककी धारणा मिथ्या है। मृत्यु सबका अन्त है।

धर्मकी कटु आलोचना

चार्वाकोंने वैदिक आदेश और पुरोहित वर्गके विरुद्ध अपने मतका प्रतिपादन किया। परात्परवाद, अतीन्द्रियवाद तथा चमत्कारवादकी धारणाओंके साथ ही उन सभी धारणाओंका खण्डन किया जो कि दर्शन, धर्म तथा नैतिकताके मूल आधार हैं। प्रत्यक्षको एकमात्र प्रमाण मानकर उन्होंने ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्गकी धारणाका उपहास किया और कहा कि आध्यात्मिक जीवन एवं चेतनाके उच्च स्तरमें रहनेके बदले भौतिक जगत्के भोग-विलासके स्तरपर रहना चाहिये। विशुद्ध सुखवादका प्रतिपादन करके उन्होंने वैयक्तिक सुखको ही जीवनका ध्येय बतलाया। धार्मिक और नैतिक विश्वासोंसे अपनेको मुक्त करके उन्होंने पुरोहितोंके एकाधिकारको छीन लिया। धर्मसे अपनेको मुक्त करनेके प्रयासमें वे जड़-वादके एकांगी शिखरपर पहुँच गये। धर्मशिक्षकों, वैदिक पुस्तकों तथा यज्ञ एवं शास्त्रविधियोंके वे पूर्णविरोधी थे। उनका कहना था कि वैदिक

पुस्तकोंमें, पुनरुक्ति, आत्म-विरोध और असत्य मिलता है। यदि हम स्वर्ग और नरककी धारणाओंको समझनेका प्रयास करें तो मालूम होगा कि वे धारणाएँ मिथ्या हैं। परलोकका विचार छलपूर्ण है। इस जगतके अतिरिक्त अन्य कोई जगत नहीं है। जगतके मूलमें ईश्वरकी सत्ताको मानना अनावश्यक है। जड़भूतोंके संयोगसे जगतकी उत्पत्ति हुई है। पाखण्डियों और धूर्तोंने अपने स्वार्थके कारण इन धारणाओंको जन्म दिया और इनका प्रचार किया। धर्म एक मूर्खतापूर्ण भ्रान्ति है, यह मानसिक रोग है। पण्डित और पुरोहितवर्गने धनकी लिप्सा एवं व्यावसायिक लाभको सम्मुख रखकर आचरणके नियमोंको बनाया है। उन्होंने अपने जीविकोपार्जनके लिए नरकका भय तथा मुक्ति और स्वर्गका प्रलोभन दिया है। मन्दबुद्धिके लोगोंने इन धारणाओंको स्वीकार कर लिया है। पण्डितों और पुरोहितोंके बनाये हुए रीति-रिवाज पाखण्ड, छल और विरोधपूर्ण हैं। वे व्यर्थकी बकवास और अर्थशून्य हैं। अथवा चार्वाक कहते हैं: यदि बलिका पशु सीधे स्वर्ग पहुँच जाता है तो यजमान अपने ही पिताकी बलि क्यों नहीं दे देता? जबतक जीवन है मनुष्यको सुखपूर्वक रहना चाहिये। ऋण लेकर भी उसे घी पीना चाहिये। जब एक बार देह भस्म हो जाती है तो वह फिर कैसे आ सकती है? अतः ये जो अनेक धार्मिक विधियाँ दीखती हैं उन्हें ब्राह्मणोंने अपनी जीविका उपार्जनके लिए ही चलाया है। वेदके प्रणेता भांड, धूर्त और पिशाच थे। धूर्त पण्डितोंने अलौकिक सत्ता, ईश्वर, आत्मा तथा स्वर्गका प्रलोभन देकर क्षीण बुद्धिवालोंको बेवकूफ बनाया।

निश्चित अथवा यथार्थ ज्ञानको प्रमा कहते हैं और चार्वाक यह मानते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान ही प्रमा है। ज्ञानको प्रत्यक्षतक सीमित करके उन्होंने शब्द (लौकिक और वैदिक), अनुमान, कार्य-कारण सम्बन्ध अथवा किसी अन्य प्रकारकी व्याप्तिको अस्वीकार कर दिया। ज्ञान विशिष्ट संवेदनोंतक सीमित है। वस्तुओंके अनिवार्य सम्बन्धकी स्थापना

जड़वादी दर्शन : प्रत्यक्षपर आधारित

नहीं कर सकते। स्वर्ग, नरक, भगवान्, परलोक, आत्माकी अमरता आदि, किसीके बारेमें कुछ नहीं कह सकते। अतीत गत हो चुका है और भावी अनागत तथा अज्ञेय है। प्रत्यक्षके आधारपर वर्तमान ही एकमात्र सत्य है। हमें यह नहीं जानते कि मृत्युके बाद शरीर कहाँ जाता है अथवा यह शरीर दुबारा मिलेगा या नहीं। अनुभव बतलाता है कि मृत्यु सबका अन्त है : जो प्रत्यक्ष है वही सत्य है, और जो अप्रत्यक्ष है वह अस्तित्व-रहित है।

जड़ ही एकमात्र सत्य है। इसका ज्ञान इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है। ऐसे वस्तुवादके साथ चार्वाकोंने अनेकतावादको भी अपनाया है। उनके अनुसार चार स्थूल भूत हैं : पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। वे आकाश और इन भूतोंके सूक्ष्म रूपोंको स्वीकार नहीं करते क्योंकि उनका इन्द्रियजन्य ज्ञान असम्भव है। उनके अनुसार स्थूल भूतोंके आधारपर विश्वकी प्रत्येक वस्तुको समझा सकते हैं। भूतोंके स्वतःसम्मिश्रण एवं अन्तर्निहित स्वभावके आधारपर प्रोटोज़ुआसे लेकर दार्शनिकके विकास-तकको समझा सकते हैं।

आत्माके अस्तित्वको उसके प्रचलित अर्थमें स्वीकार नहीं कर सकते हैं। आत्माको परम सत्य नहीं मान सकते हैं क्योंकि इसका इन्द्रियजन्य ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। आन्तरिक प्रत्यक्ष द्वारा चैतन्यको समझा सकते हैं। चैतन्य है किन्तु वह कोई अभौतिक तत्व या आत्माका गुण नहीं है। जिस भाँति विभिन्न तत्वोंके मेलसे मदिरा बनती है और उसमें मादकताका गुण आ जाता है उसी भाँति चार भूतों एवं शरीरके तत्वोंके मेलसे चैतन्य बनता है। देहके विभिन्न भूतोंके मिश्रणसे उत्पन्न होनेके कारण यह देहकी विशेषता या गुण है। इसे अभौतिक तत्व या आत्माका गुण नहीं मान सकते। चैतन्य परम सत्य या शाश्वत सत्य नहीं है और न इसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही है। यह सदैव देहसे युक्त रहता है। इसे देहसे भिन्न किसीने नहीं देखा। यह एक प्राकृतिक घटनामात्र है। चैतन्यको शरीरका गुण कहकर अथवा चेतनको ही आत्मा कहकर जड़वादियोंने संस्कार, प्रारब्ध,

भाग्यवाद, कर्मवाद आदिको अपने दर्शनमें स्थान नहीं दिया। भावी जीवन, पुनर्जीवन, स्वर्ग, नरक आदिका भय या प्रलोभन अर्थशून्य हो जाता है क्योंकि आत्माकी अमरता मिथ्या है और मृत्यु जीवनका अन्त है।

आत्मा, ईश्वर, स्वर्ग, कर्मभोगकी धारणाओंका निराकरण करके चार्वाकने त्याग, अपरिग्रह, संन्यास, सार्वभौम परोपकारिताकी उपेक्षा की और कहा है कि वैयक्तिक सुख ही एकमात्र सत्य है। जड़वादी दृष्टिकोणसे उन्होंने जीवनके मूल्यको समझनेका प्रयास किया और सुखभोगको ही परम और प्रत्यक्ष ध्येय माना। चार्वाकका जड़वादी दृष्टिकोण उसे भोग-विलासकी ओर ले जाता है। जीवनके मूलमें स्त्री और पुरुषका मिलन है। इन्द्रियोंका सम्भोग या विलास ही जीवन है। जीवन सुखभोगके लिए है। उसकी उपेक्षा करना हास्यास्पद है। यह पेड़की उस शाखाको काटना है जिसपर कि व्यक्ति स्वयं बैठा है।

चार्वाक नैतिकता

भारतीय दार्शनिकोंने चार पुरुषार्थ (मानवोचित गुण) माने हैं: अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। किन्तु चार्वाक-दर्शनने अर्थ और कामको ही स्वीकार किया है। धर्म और अधर्म एवं पाप और पुण्यका भेद शास्त्रसम्मत है और शास्त्रको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। शरीरका सुख-दुःखसे अविच्छेद्य सम्बन्ध है तथा सुख-दुःख सापेक्ष हैं। अतः मोक्ष एवं दुःख विनाश मृत्युका सूचक है। मृत्युकी कामना करना विवेकसम्मत नहीं है। उपर्युक्त तर्कके आधारपर चार्वाक यह समझाते हैं कि धर्म और मोक्षको हम जीवनका लक्ष्य नहीं मान सकते। अर्थ और काम यही दो लक्ष्य हैं यद्यपि परम लक्ष्य केवल काम है। अर्थ साधनमात्र है और इसलिए अभीप्सित है।

परम ध्येय : काम

सभी भारतीय दार्शनिकोंकी भाँति चार्वाक यह मानते हैं कि जीवनमें दुःख है। दुःखको स्वीकार करनेपर भी चार्वाक-दार्शनिकोंका अन्य दार्शनिकोंसे मतभेद है। अन्य दार्शनिकोंका यह कहना है कि दुःखकी पूर्ण निवृत्ति या विनाश सम्भव है और दुःख-विनाशकी यह अवस्था ही मुक्ति है। कुछ यह

निःस्पृहता अवाञ्छनीय

मानते हैं कि मुक्ति मृत्युके पश्चात प्राप्त होती है और कुछ इसी जीवनमें मुक्तिकी प्राप्ति सम्भव बतलाते हैं। चार्वाक मुक्ति या अपवर्गके सिद्धान्तको स्वीकार नहीं करते हैं। यदि मुक्तिका अर्थ आत्माका देहके बन्धनसे मुक्त होना है तो यह सम्भव नहीं है। आत्मा और देह अभिन्न हैं, इसलिए आत्माका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः आत्माका देहसे वियोग मृत्युका सूचक है, न कि अपवर्गका। यदि मुक्तिका अर्थ दुःखका पूर्ण विनाश है तो यह भी असम्भव है। सुख-दुःख देहकी विशेषताएं हैं और इनका देहसे अभिन्न सम्बन्ध है। इस जीवनमें दुःखका पूर्ण विनाश अचिन्तनीय है। कुछ विचारकोंने सुख-दुःखके सापेक्ष सम्बन्धको समझाते हुए दुःखसे छुटकारा पानेके लिए इच्छाओं और स्वाभाविक प्रवृत्तियोंके नियन्त्रण और हननको महत्व दिया है और सुख-दुःखके प्रति तटस्थता या निःस्पृहताको वांछनीय बतलाया है। किन्तु दुःखके भयसे सुखसे विरक्त होना उचित नहीं है। मछलीमें काँटे होते हैं और धान-गेहूँमें छिलका होता है किन्तु कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति उनको खाना नहीं छोड़ता। इस प्रकार चार्वाक अनेक उदाहरण देकर जीवनके सुखोंके प्रति मनुष्यको आकृष्ट करते हैं। जीवनका सम्बन्ध इस देह तथा वर्तमानकालसे है। हमें वर्तमानके निश्चित सुखका भविष्यके संदिग्ध सुखकी आशामें त्याग नहीं करना चाहिये। 'मोरको पानेकी आशासे हाथमें आये हुए कबूतरको नहीं छोड़ना चाहिये।' भविष्य अनिश्चित, संदिग्ध एवं अज्ञेय है। वर्तमान ही एकमात्र सत्य है। हमें वर्तमान जीवनमें उसी कर्मको करना चाहिये जो कि अधिकसे अधिक सुख और कमसे कम दुःख दे। यदि जीवनमें दुःख सहना पड़ता है तो उससे डरकर इच्छाओंका विनाश नहीं करना चाहिये बल्कि पूर्ण लगनसे सुखभोग करना चाहिये। काम ही एकमात्र नैतिक ध्येय है। इच्छाओंसे ऊपर उठनेके बदले आत्म-विभोर होकर कामुकताका आलिंगन करना चाहिये। मानव-अस्तित्वका दुःख अनिवार्य अंग अवश्य है किन्तु इसके कारण उस सुखका निराकरण नहीं करना चाहिये जो वांछनीय है और जिसकी ओर हम सहज ही आकर्षित होते हैं। दुःखसे मुक्तिकी चिन्ता

करनेमें समय नष्ट होता है। भविष्य अनिश्चित है। समय शीघ्रतासे बीत रहा है। हमें अवसरको हाथसे नहीं जाने देना चाहिये। अधिकसे अधिक सुखभोग करना चाहिये।

आलोचना

चार्वाक भोगवादी है। इन्द्रियसम्भोगको महत्व देनेके लिए उन्होंने सद्‌गुणको भ्रान्ति कहा और भोगको एकमात्र सत्य कहा। जो कुछ भी शुभ, श्रेष्ठ, पवित्र और दयापूर्ण है उसपर अविश्वास प्रकट किया। भोग-विलास या कामका मुक्त समर्थन किया। जनसामान्य जिन गुणोंका अर्जन और पालन करता है वे प्रचलन और उसकी मन्द सांसारिक बुद्धिके सूचक हैं। ऐसा इन्द्रियसम्भोग वैयक्तिक सुखका प्रतिपादक है। निजी इन्द्रियसुखके लिए जो कर्म और नियम उपयोगी हैं उन्हें ही बुद्धिमान् व्यक्ति अपनाता है। इस आधारपर चार्वाकने त्याग और परहितकी धारणाओंको अवाञ्छनीय कहा। ऐसा स्थूल उपयोगितावादी दृष्टिकोण नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताओं, योग और साधना तथा सदाचार और संयमका विरोधी है। कुछ देरके लिए यह कल्पना करना कठिन हो जाता है कि कभी भी मानवोचित स्तर एवं बौद्धिक धरातलपर एक ऐसे सम्प्रदायका अस्तित्व रहा जिसने कि स्वेच्छासे सुखके लालचमें पशु-जीवनको अपना लिया। यदि यह मान भी लें कि मृत्युके बाद कुछ नहीं रहता तो भी क्या यह कहना मानव-गौरवके अनुकूल होगा कि इन्द्रियसम्भोग ही एकमात्र सत्य है। आत्म-प्रबुद्ध प्राणी उस धरातलपर सदैव नहीं रह सकता है जिससे कि वह ऊपर उठ आया है। आत्म-त्याग और आत्म-संयमकी पुकार उसकी उस आत्माकी पुकार है जो कि अपनी ही पशु-प्रवृत्तियोंसे ऊब गयी है। इसमें भी सन्देह नहीं है कि भोगवादी विचारधारा कठोर वैराग्यवादकी पूरक है किन्तु आत्मरतिका ऐसा उच्छृङ्खल, मुक्त और वीभत्स गान मनुष्यके लिए असह्य हो जाता है। आलोचकोंने अपनी असहन-शीलता और घृणाको व्यक्त करनेके लिए ही

भोगवादी

चार्वाकको सन्देहवादी, संशयवादी, नास्तिकशिरोमणि, धर्मनिन्दक और भोगवादी कहा है ।

यह भी विवादपूर्ण है कि आलोचकोंने चार्वाक-दर्शनको जितना निम्न और हेय दिखलाया है क्या वह वास्तवमें वैसा ही था । यह सम्भव है कि

अनैतिक

आलोचनाके आवेशमें उन्होंने अतिशयोक्तिको अपना लिया हो । किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि चार्वाक-दर्शन जिस कटु और तीव्र आलोचनाका विषय बन गया है उसका कारण उसीकी आन्तरिक दुर्बलता है । अपने व्यावहारिक पक्षमें उसने सामाजिक व्यवस्था और नैतिक दायित्वको समूल नष्ट करना चाहा । यह न तो उस भगवान्को मानता है जो विश्वमें सदाचारकी स्थापनाके लिए जन्म लेता है या नैतिक व्यवस्थाका सञ्चालक है और न उस आन्तरिक बोध'या ध्वनिको जो सदाचारके मार्गपर चलाती है। यही नहीं, यह सदाचारके मूल आधारों और मान्यताओं—पुनर्जन्म, आत्माकी अमरता, ईश्वरका अस्तित्व, कर्मवाद—को तिरस्कृत करके उन्हें असत्य कहता है । श्रेष्ठ नैतिक जीवन-से मनुष्यको स्खलित करके उसे इन्द्रियसम्भोगकी ओर ले जाना वह अपना श्लाघनीय ध्येय मानता है । इन्द्रियसम्भोगवाद परहितकी छायासे भी दूर रहना चाहता है । उस सामान्य शुभकी स्थापना भी नहीं करना चाहता जिसके अधीन मनुष्यका स्वार्थ है । इसके अनुसार यदि सामूहिक सुख है तो वह व्यक्तियोंके सुख द्वारा ही व्यक्त होता है । उपनिषदोंके कष्टसहिष्णुता, त्याग और कठोर वैराग्यके बदले चार्वाकने अनियन्त्रित प्राणशक्तिका सिद्धान्त दिया । सब प्रकारके आदेशोंके प्रति उन्होंने आत्म-दृढ़ताके साथ असम्मान और प्रगल्भता व्यक्त की है। सार्वभौम परोपकारिता, प्रेम और आत्म-संयमके लिए जीवनमें स्थान नहीं है । मनुष्यने काम-प्रवृत्तिको प्रकृतिसे दायरूपमें प्राप्त किया है । इसकी तृप्ति ही परम ध्येय है । इस प्रकार हम देखते हैं कि चार्वाकने ढीठ हठधर्मीके साथ मानव-जगतको उसकी समस्त मान्यताओंसे दूर कर दिया । ईश्वरपर विश्वास और परलोककी धारणाको दुर्बलता, कायरता, मिथ्याचार और धूर्तताका

चिह्न कहा। मनुष्यकी नैतिक प्रकृतिको अनैतिक प्रकृतिका सन्देश दिया।

दुर्बलताओं और सीमाओंसे घिरे होनेपर भी चार्वाक-दर्शन सत्यांशसे युक्त है। वैराग्यवादको स्मशानकी निद्रासे जगानेके लिए इन्द्रियपरक

अन्तर्निहित सत्य

आत्माकी तीव्र और लालसाभरी पुकार आवश्यक है। उपनिषदोंके त्याग, वैराग्य और संन्यासके गीत आत्माके मूर्त व्यक्तित्वसे दूर होते जा रहे थे। एक ऐसी धारणाकी आवश्यकता थी जो कि भावनाके समानाधिकारको सम्मुख रख सके। बुद्धिके एकाधिपत्यके समान्तरमें भावनाके एकाधिपत्यको खड़ा करके यह बतला सके कि किसीके भी अधिकारको छीन नहीं सकते हैं।

चार्वाक-विचारधारा भारतीय दर्शनके व्यापक दृष्टिकोण और उदार चेतनाको समझाती है। वह बतलाती है कि भारतीय दर्शन संन्यासवादतक ही सीमित नहीं है, उसमें सभी प्रकारके विचार मिलते हैं। निम्नसे निम्न और उच्चसे उच्च विचार व्यक्त करनेके लिए प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण स्वतन्त्र है। चार्वाक-दर्शन मनुष्यकी स्वतन्त्रताकी चेतनाके जागरणका सूचक है। संकीर्ण धर्म, जादू-टोना, परम्परा, चमत्कारवाद, रुढ़िवाद तथा बाह्यादेशोंका खण्डन करके इस दर्शनने स्वतन्त्र विचार और विद्रोहकी उस लहरको जन्म दिया जो कि आध्यात्मिक विकासके लिए आवश्यक है। इसने यह समझाया कि उसी सत्यको स्वीकार करना चाहिये जिसका अनुमोदन बुद्धि करती है। निःसन्देह चार्वाक-दर्शनके मूलमें सन्देहवाद और अज्ञेयवाद मिलता है किन्तु यह प्रगतिके शिखरका अनिवार्य सोपान है। जब एक विचारधारा रुढ़िग्रस्त और एकाङ्गी हो जाती है तो उसका विकास रुक जाता है। विकासकी प्रगतिके लिए सन्देहवाद एवं संशयवाद अत्यन्त आवश्यक है। चार्वाकने भविष्यको अज्ञेय कहकर और प्रत्यक्षको ही सत्यका मानदण्ड मानकर उन असंख्य समस्याओं और कठिनाईयोंको उपस्थित कर दिया जिनको समझने और सुलझानेमें विरोधी दर्शनोंका दृष्टिकोण अधिक व्यापक हो गया। चार्वाक-दर्शनकी अपूर्णता, सांसारिकता और घोर इन्द्रियताने अन्य दार्शनिकोंको प्रेरित किया कि वे अपने दर्शनका

नीर-क्षीर विवेचन करके तथा पुष्ट तार्किक प्रमाण देकर उसकी पूर्णता स्थापित करें। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तोंका अध्ययन यह बतलाता है कि अपने सिद्धान्तकी प्रामाणिकताको स्थापित करनेके लिए भारतीय दार्शनिकोंने चार्वाक-दर्शनको असत्य सिद्ध करना अपना प्रमुख लक्ष्य माना।

उपर्युक्त सत्यांश होनेपर भी चार्वाक दर्शनको मान्य और वाञ्छनीय सिद्धान्तके रूपमें स्वीकार नहीं कर सकते हैं। चार्वाकने समझाया कि

अमान्य और अवाञ्छनीय दर्शन

नैतिक नियम प्रचलनमात्र है। प्रचलनोंका अन्धानुकरण करनेके आवेशमें हमें मुख्य ध्येयको नहीं भूलना चाहिये। जब हम प्रश्न करते हैं कि बौद्धिक प्राणीके लिए वह ध्येय क्या है जिसका निरन्तर स्मरण आवश्यक है तो हमें उत्तर मिलता है कि जीवनका अभीप्सित ध्येय काम है। व्रत, संयम, नियम, त्याग, सार्वभौम परोपकारिता आदि छूँछी मान्यताएँ हैं। मनुष्य स्वतन्त्र है। वह इन्द्रियसम्भोगका अधिकारी है। अतः चार्वाक आत्म-त्यागके बदले आत्म-रतिकी धारणा देते हैं। जिस वैयक्तिक स्वतन्त्रता और काम-वासनाको चार्वाकने महत्व दिया है वह मनोवैज्ञानिक, जैव, नैतिक तथा सामाजिक दृष्टिसे घातक है। जीवनके तथ्य बतलाते हैं कि ऐसा व्यक्ति सामाजिक हितकी हत्या करनेके साथ ही अपनी हत्या भी करता है। वह आत्मघाती है क्योंकि नैतिकताके बदले पशुत्वको स्वीकार करता है।

अध्याय २३

कार्ल मार्क्स

राइन प्रान्तके निवासी डॉक्टर कार्ल मार्क्स[1] जर्मन ज्यू थे। उन्होंने अपना जीवन अत्यन्त निर्धनतामें बिताया। यहाँतक कि जब उनके एक पुत्रकी मृत्यु हुई तो उसे दफनानेके लिए उनके पास पैसातक न था। वे बड़े मेधावी थे और समयके प्रतिभाशाली राजनीतिक अर्थशास्त्रवेत्ता थे। उन्होंने लन्दन जाकर विलायतके श्रमकी समस्याओंका अध्ययन किया और हीगलकी द्वन्द्वात्मक प्रणाली (Dialectical Method) के आधारपर अपने प्रसिद्ध द्वन्द्वात्मक भौतिकवादको जन्म दिया। वे अपने युगके एक क्रान्त-द्रष्टा और विचारक थे। उन्होंने अपनी विख्यात अर्थशास्त्रकी पुस्तक, 'द कैपिटल' (Das Kapital) में यन्त्रयुगकी उत्पादन, वितरण तथा अतिरिक्त लाभकी समस्याओंका विश्लेषणकर पूँजीवादी प्रथाका घोर विरोध किया है। संसारके श्रमिकोंको एकत्र होनेके लिए आह्वान कर उन्होंने कहा, 'संसारके श्रमिको, अपना संघटन करो, इससे तुम्हारा कुछ नहीं जायगा, केवल तुम्हारे दासताके बन्धन जायँगे।' इस प्रकार उन्होंने यह समझानेकी चेष्टा की कि पूँजीवादी प्रथाको मिटानेके लिए रक्तक्रान्ति अथवा वर्गयुद्ध अनिवार्य है।

जीवनी

हीगलके अनुसार सत्ता[2] का चरम रूप बुद्धिमय[3] है और जो बुद्धिमय है वही वास्तविक है : सर्वत्र एक ही विचार है। जितनी विभिन्नताएँ

---

१. Karl Marx जन्म १८१८ ई० मृत्यु १८८३ ई०

२. Reality

३. Rational.

हीगलकी द्वन्द्वात्मक प्रणाली

अथवा विशेषताएँ हैं उनकी सचाई एकतामें है। विश्व गतिशील और क्रियात्मक है। उसकी गतिके रूप (विकास-प्रक्रिया) को समझानेके लिए ही हीगल अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणालीका प्रतिपादन करता है। सत्ताके दो रूप हैं: तथ्यात्मक और विचारात्मक। सत्ताके विकासके साथ ही उसके दोनों रूपोंका भी निरन्तर विकास हो रहा है। इस विकासका क्या रूप है? यह कैसे होता है? हीगलके दर्शनके अनुसार सत्ता एवं वास्तविकता एक क्रमानुगत प्रणाली है जिसका कि कहीं अन्त नहीं हो सकता है। इस क्रमानुगत प्रणालीमें विचारों और तथ्योंका विकास साथ-साथ होता है। दार्शनिक होनेके कारण वे विचारोंको महत्ता देते हैं और कहते हैं कि द्वन्द्वात्मक प्रणालीकी प्रेरणाशक्ति स्वयं विचार हैं। अपनी द्वन्द्वात्मक प्रणालीको वे यह कहकर समझाते हैं कि विचारकी एक विशिष्ट प्रवृत्ति अपने विकासमें अपने विरोधी विचारको जन्म देती है। यह विरोधी विचार पूर्वविचारको त्यागता नहीं है किन्तु पूर्वविचारका अपने भीतर समावेश कर लेता है। अतः उत्तरविचार अधिक सत्य है क्योंकि वह पूर्वविचारको सम्मिलित करता है और पूर्वविचारकी एकाङ्गी और आंशिक उन्नतिको पूर्णता देता है। दो विरोधी विचारोंके द्वन्द्वके फलस्वरूप पूर्वविचारका उत्तरविचारमें प्रवेश कर लेनेके क्रमको ही हीगल द्वन्द्वात्मक प्रणाली कहते हैं। वे इस प्रणालीको आवश्यक मानते हैं और प्रत्येक घटना तथा विचारमें इसे देखते हैं। विचार, प्रकृति और मानव-जगत ये सभी द्वन्द्वात्मक प्रणालीसे सञ्चालित होते हैं।

द्वन्द्वात्मक प्रणाली द्वारा हीगलने बतलाया कि विकासका निश्चित लक्ष्य परम प्रत्यय (Absolute Idea) को प्राप्त करना है। विकास पूर्णतया नियमित और नियन्त्रित है। वह बोधगम्य है। दर्शनका इतिहास विचारोंके द्वन्द्वात्मक या पारस्परिक विरोधमूलक इतिहासका निदर्शन है। द्वन्द्वात्मक रीतिसे प्रत्येक घटना, वस्तु और विचार निषेध एवं विरोधके नियमसे सञ्चालित होकर आत्म-सङ्गतिपूर्ण धारणा एवं परम प्रत्ययकी ओर

बढ़ रहे हैं। परम प्रत्यय ही इनका पर्यवसान है। इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि विकास चलता रहता है और द्वन्द्वात्मक रीतिसे मानव सदैव अधिक सत्य विचारोंकी ओर अग्रसर होता रहता है।

कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एञ्जिल्स[1] समाजवादी थे। उन्होंने इतिहासकी अर्थशास्त्रीय व्याख्या करनेमें हीगेलकी द्वन्द्वात्मक प्रणालीको स्वीकार किया एवं साम्यवादको व्यवथित स्वरूप तथा दार्शनिक आधार दिया। हीगलकी द्वन्द्वात्मक प्रणालीपर आधारित साम्यवाद दार्शनिक दृष्टिसे भौतिकवाद है। उसका स्वरूप भौतिक है। उसके अनुसार विचारोंका उत्थान-पतन भौतिक घटनाओंपर निर्भर है। भौतिक घटनाएँ एवं आर्थिक व्यवस्थाएँ नैतिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि विभिन्न विचारों और सिद्धान्तोंपर प्रकाश डाल सकती हैं।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स हीगलके विकासके द्वन्द्वात्मक क्रमको मानता है और स्वीकार करता है कि कोई भी विशिष्ट प्रवृत्ति दो विरोधी प्रवृत्तियोंका समन्वय है। मार्क्स और हीगल दोनों ही विकासकी पद्धतिको वाद, प्रतिवाद और समन्वयके[2] रूपमें स्वीकार करते हैं। इस समानताके पश्चात् दोनों विचारकोंमें महान् असमानता दीखती है। एक भौतिकवादी और तथ्यात्मक है और दूसरा दार्शनिक और विचारक है। हीगलके अनुसार तथ्यात्मक और विचारात्मक जगतमें युगपत् परिवर्तन होते हैं। किन्तु दार्शनिक होनेके कारण वह साथ ही यह भी कहता है कि द्वन्द्वात्मक प्रणालीको प्रगति देनेवाले विचार ही हैं। विचारोंके विकासके साथ विभिन्न भौतिक घटनाओं (आर्थिक, सामाजिक आदि) में परिवर्तन होते हैं। मार्क्स हीगलके विपरीत कहता है कि दृश्यमान् भौतिक जगत मानसिक जगतपर अवलम्बित नहीं है। पदार्थजगत मानसिक जगतसे पहिले है और इसलिए विकासके क्रममें वस्तुजगतकी घटनाएँ मान-

मार्क्स और हीगलमें भेद

---
१. Friedrich Engels.
२. Thesis, Antithesis and Synthesis.

सिक घटनाओंमें परिवर्तन लाती हैं। अथवा द्वन्द्वात्मक प्रगतिको प्रेरणा देनेवाले 'विचार' नहीं हैं किन्तु जीवनकी वास्तविक व्यावहारिक आवश्यकताएँ हैं। विचार इतिहासके एक आवश्यक अङ्ग हैं किन्तु वे ऐतिहासिक घटनाओंके जन्मदाता नहीं। वे अपने-आपमें महत्वपूर्ण नहीं। उनका महत्व इसलिए है कि वे उन परिस्थितियोंके प्रतिफल स्वरूप हैं जो उन्हें जीवित रखती हैं। बाह्यजगतकी घटनाएँ ही मनुष्यके विचारोंकी जन्मदाता हैं, विचारोंका उत्थान-पतन उन्हींपर निर्भर है।

ऐतिहासिक दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण

इस तथ्यकी पुष्टि करनेके लिए मार्क्स ऐतिहासिक उदाहरण देता है। तथ्यात्मक विकास द्वन्द्वात्मक है। एक विशिष्ट प्रवृत्ति अपनी पूर्वप्रवृत्तिके ह्रासके साथ बढ़ती है और अपने उत्थानतक पहुँचते-पहुँचते वह अपनी उत्तरप्रवृत्तिको जन्म दे देती है। यह क्रम चलता रहता है। अथवा तथ्यात्मक घटनाओंके उतार और चढ़ावका क्रम ही विकास है। मार्क्स कार्य-कारण-भावको भी मानता है। प्रत्येक तथ्यात्मक घटनाके घटित होनेके पीछे सदैव एक कारण है। वास्तविक घटनाओंको लेते हुए वह कहता है कि उन्नीसवीं शताब्दीमें व्यक्तिवाद अपने चरम विकासमें पहुँचा और उसने अपने विकासके क्रममें सामूहिकवादको[1] जन्म दिया। अतः घटनाओंको समझनेके लिए विरोधी प्रवृत्तियों और उनके परिणामको समझना आवश्यक है।

समाजका विश्लेषण : विरोधी वर्ग

इस दृष्टिसे मार्क्स समाजका अध्ययन करता है और इस परिणामपर पहुँचता है कि समाजकी आर्थिक रचना प्रचलित नैतिक, दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक विचारोंको समझा सकती है। विभिन्न विचारोंको समझनेके लिए ही वह अपने अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तकी ऐतिहासिक दृष्टिसे मीमांसा करता है। यदि प्राचीन मानव-इतिहासको पढ़ें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्यकी शारीरिक आवश्यकताओं—भोजन, वस्त्र, निवासस्थान—ने उसे कच्चे मालका उपयोग करना सिखलाया। जीवन-यापनके लिए मनुष्य और वस्तुका

१. Collectivism.

सम्बन्ध अखण्ड और आवश्यक है। मनुष्य और वस्तुओंके बीचके सम्बन्धने ही मनुष्य और मनुष्यके बीचके सम्बन्धको स्थापित किया है। एक ओर वे लोग हैं जो कच्चा माल, उत्पादन, एवं उत्पन्न वस्तुओं और उत्पादनके यन्त्रोंके स्वामी हैं और दूसरी ओर वे जिनके पास केवल श्रम करनेकी शक्ति है और जिनके जीवनकी आवश्यकताएँ उन्हें विवश करती हैं कि वे अपनी श्रम-शक्तिको अधिकारी वर्गके हाथोंमें बेच दें। मानव-जीवनका लब्ध इतिहास बतलाता है कि समाजमें सदैव दो विरोधी वर्ग रहे हैं। शासक और शासित, पूँजीपति और सर्वहारा, स्वामी और सेवक अथवा वस्तुओंके अधिकारी और अपनी श्रम-शक्तिको बेचनेवाले। यही दो वर्ग सदैव किसी-न-किसी रूपमें प्रस्फुटित होते रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टान्त देते हुए मार्क्सने कहा कि समाजमें विरोधी वर्गोंके तीन मुख्य रूप मिलते हैं—(१) दासप्रथावाला समाज, (२) सामन्ती समाज और (३) पूँजीवादी समाज।

सामाजिक नैतिकता वर्ग नैतिकता है

इन तीनों प्रकारके समाजोंका अध्ययन बतलाता है कि श्रमिक शक्तिके क्रय करनेवाले अत्यन्त निष्ठुर और निर्मम रहे हैं। उन्होंने सदैव श्रमिकोंका शोषण किया। अपनी सुविधा और लाभके अनुसार नियम बनाये। जिन नियमोंको समाज शुभ और उपयोगी कहता है वे केवल धनिकोंके सुख-समृद्धि और ऐश्वर्यके लिए हैं। धनिकोंने डण्डे और आर्थिक शक्तिके बलपर उन सामाजिक नियमोंकी स्थापना की है जो शोषित वर्गके हितसे दूर हैं। अपने हितको सम्मुख रखकर धनिकोंने कर्त्तव्य और अधिकारोंको निश्चित किया है। नैतिक, धार्मिक और सामाजिक नियम अपने मूलमें अधिकारी वर्ग और श्रमिकोंके सम्बन्धके सूचक हैं। जिसे हम सामाजिक नैतिकता कहते हैं वह वर्ग नैतिकता है। सामाजिक नैतिकताका स्वरूप बतलाता है कि शोषकवर्गके बनाये नियम सर्वसाधारणके लाभके लिए नहीं हैं वरन् स्वयं उन्हींके लाभके लिए हैं। मार्क्स अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके आधारपर यह भी कहता है कि प्रत्येक समाजमें उसके विरोधी

कीटाणु रहते हैं। यदि पूँजीवादको लें तो हम देखेंगे कि पूँजीपति श्रमिकोंकी श्रम-शक्ति कमसे कम मूल्यमें खरीदते हैं। सर्वहारावर्ग अपनी आवश्यकताओंकी भूखके कारण और पूँजीपति अपने स्वामित्व तथा धन-लौलसाके कारण एक दूसरेके कट्टर विरोधी होते जा रहे हैं। मार्क्सका कहना था कि पूँजीवादका यह आन्तरिक विरोध उसीका विनाश करके साँस लेगा।

आर्थिक व्यवस्था विभिन्न विचारोंकी जन्मदात्री

जो वस्तुओंके अधिकारी एवं धनी हैं उनके हाथोंमें ही राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक शक्ति है। वे अपनी आवश्यकता और सुविधानुसार नियमोंको बनाते, बिगाड़ते और बदलते रहते हैं। मनुष्यके बनाये नियमोंका मूल प्रेरणास्रोत मनुष्य और वस्तुओंके बीचका सम्बन्ध है। आर्थिक व्यवस्था ही विभिन्न विचारोंकी जन्मदात्री है। इतिहासके क्रम और भौतिक घटनाओंको कच्चे मालकी प्राप्ति, उत्पादन-यन्त्रोंका आविष्कार तथा जलवायु सम्बन्धी भौगोलिक परिवर्तन निर्धारित करते हैं, न कि मनुष्योंके संकल्प और विचार। अतः आर्थिक परिवर्तन ही इतिहासको बनाते हैं। मनुष्य और वस्तु-सम्बन्धके स्वरूपके अनुसार ही विभिन्न नियमों, विचारों और धारणाओंमें परिवर्तन हुआ है। मनुष्यकी प्रतिभा और विचार, उसकी सृजन-शक्ति, मनःशक्ति और इच्छाएँ जो कुछ भी करती हैं वह भौतिक आवश्यकताओंसे बाध्य होकर। यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि विचार अपने-आपमें स्वतन्त्र है और मनुष्यका मानस आविष्कार और सृजन कर सकता है: यदि मानव-मस्तिष्ककी क्रियाओंको उचित रूपसे समझनेका प्रयास करें तो मालूम पड़ेगा कि उसकी सृजन-क्रिया स्वतन्त्र और सहज नहीं है। वह परिस्थितियोंकी उपज है। मार्क्स अपने सिद्धान्त द्वारा यह सिद्ध करना चाहते थे कि किसी विशिष्ट समाजमें जो परिवर्तन होते हैं वे उसकी आर्थिक परिस्थितिपर निर्भर हैं। समाजका सांस्कृतिक जीवन, धार्मिक और नैतिक नियम, कानूनी तथा शिक्षासंस्थाएं, सौन्दर्य-शास्त्र आदि जो कुछ भी मनुष्यके आदर्शों और विचारोंके प्रतीक हैं वे

मूलतः आर्थिक विधानपर आश्रित हैं।

मार्क्स नैतिक सुधारककी दृष्टिसे जीवनकी समस्याओंका अध्ययन करते हैं और इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि विश्वकी आर्थिक क्रान्ति ही नैतिक क्रान्तिमें प्रतिबिम्बित होती है। प्रचलित नैतिकता शोषकवर्गकी नैतिकता है। वह विरोधी वर्गोंके सम्बन्धपर आधारित है। उसमें नयी मान्यताओंका समावेश करके उसे आमूल बदलना होगा।

नैतिक विचारोंकी असत्यताका स्पष्टीकरण

पुरानी रूढ़िग्रस्त नैतिकता अनेक विकृतियोंसे पीड़ित है, वह जनताकी आवश्यकताओंको नहीं समझ पायी है। मार्क्स उन सभी नैतिक विचारोंको अपूर्ण और असत्य कहते हैं जो सर्वहारावर्गकी समस्याओंसे दूर हैं। उनका कहना है कि शुभ-अशुभ, न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य, सत्य-असत्यकी परिभाषा देनेवाले नीतिज्ञोंका दर्शन भ्रान्तिपूर्ण है। क्योंकि आदर्शवादी नीतिज्ञ जीवनसङ्घर्षसे दूर रहे हैं, वे जीवनकी आवश्यकतोंको नहीं समझ सके। उन्होंने नैतिक प्रत्ययोंको अपनी ही सामाजिक और आर्थिक रचनाके अन्दर देखा और उसीकी भलाईके उद्देश्यसे नैतिकताको जन्म दिया। उनका ज्ञान जीवनके व्यावहारिक और वास्तविक पक्षका ज्ञान नहीं है। कोरे बुद्धिवादका कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। विशिष्ट वर्गके सम्पर्कमें रहनेवाला बुद्धिजीवी मानव जनसामान्यकी आवश्यकताओंको नहीं समझ पाया। खाते-पीते पूँजीवादियोंके अतिरिक्त एक बड़ी संख्या उन लोगोंकी है जो विचारहीन तथा कष्टसाध्य जीवन बिताते हैं और जीवन-यापनके यथेष्ट साधन तथा सुविधाएँ न होनेके कारण असमयमें चल देते हैं। उनकी श्रम शक्तिको निर्दय धनिक खरीद लेते हैं। चिन्तनके जगतमें रहनेवाले नीतिज्ञ जीवनकी नग्न और वास्तविक समस्याओंको नहीं सुलझा पाये। उन्होंने उन अमूर्त मान्यताओं और असत्य विचारोंको जन्म दिया जो त्रस्त और भूखे सर्वहारावर्गके लिए अहितकर हैं। उनका दर्शन अपने ही अभिभावक समाज एवं शोषकवर्गके लाभके लिए है।

मार्क्सने समाजके विरोधी वर्गोंके आधारपर समझाया कि नैतिक नियम

शाश्वत और निरपेक्ष नहीं हैं। समाजमें जो परिवर्तन मिलता है उसके मूल्यमें उत्पादन और वितरणका नियम है और समाजकी आर्थिक व्यवस्था ही नैतिक नियमोंके स्वरूपको निर्धारित करती है। नैतिक प्रत्यय और निर्णय केवल मूल्यपरक नहीं हो सकते। मान्यताओं और आदर्शोंको तथ्यसे भिन्न मानना व्यर्थ है। वही नियम वास्तवमें नैतिक हैं जो दलित मानवोंके व्यापक और मूर्त भौतिक तथा सांस्कृतिक कल्याणसे सम्बन्ध रखते हैं। आर्थिक स्थितिसे स्वतन्त्र नैतिक नियम असत्य हैं। आदर्शवादी और आध्यात्मिक नैतिकता तथा प्राचीन और प्रचलित नैतिक नियम अनैतिक हैं। इन्होंने सद्गुण और शुभ जीवनके अर्थको नहीं समझा। नैतिक नियमोंको शाश्वत कहना, नैतिक समस्याको हल करना नहीं है। उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ नैतिक प्रत्यय अपने-आपमें कुछ नहीं हैं। समाजकी आर्थिक स्थितिके सम्बन्धमें ही वे अर्थ रखते हैं। यदि यह मान लें कि चिन्तनप्रधान प्रणालियोंकी अपनी विशेषता है तो भी नैतिक दृष्टि एवं जीवनकी वास्तविक कठिनाइयोंकी दृष्टिसे वे व्यर्थ हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके आधारपर मार्क्स यह भी कहता है कि जो कभी बौद्धिक था वह आज अबौद्धिक माना जाता है। दासप्रथा तथा सामन्ती समाजमें दासों तथा कृषक-दासोंका रखना उचित माना जाता था किन्तु आजकी आर्थिक व्यवस्था उसे अनुचित मानती है। अतः नैतिक नियमोंको नित्य और शाश्वत मानना अनुचित है। विकासके क्रममें नैतिक अनैतिक हो जाता है।

नैतिक सापेक्षवाद

मार्क्स जड़वादी विचारक थे। उन्होंने अध्यात्मवादियोंकी भाँति शाश्वत चैतन्य या आत्माको नहीं माना; उनके अनुसार प्राकृतिक जड़-भूतोंसे उत्पन्न शरीरसे ही मानस उत्पन्न होता है। मनुष्यका मानस भौतिक परिस्थितियोंसे स्वतन्त्र नहीं है। मानस और संकल्प उन भौतिक स्थितियोंसे निरूपित होता है जिन्हें कि वे व्यक्त करते हैं। ये स्थितियाँ ही उस ढाँचेका निर्माण करती हैं जिसकी सीमाके अन्दर मनुष्य स्वतन्त्र है। मार्क्स यह मान लेता

स्वतन्त्रताका अर्थ

है कि जड़ और मन एक दूसरेको प्रभावित करते हैं पर साथ ही वह यह सिद्ध करता है कि अन्ततः जड़ ही मानसको निर्धारित करता है। उत्पादन तथा उत्पादन-यन्त्रोंपर अधिकार रखनेवाला वर्ग ही समाजके विचारोंको निर्धारित करता है। ये विचार मनुष्यके मानसको प्रभावित करते हैं और उसकी इच्छाओं और रुचियोंसे संयुक्त होकर उत्पादन वितरणके नियमोंको रूप देते हैं। मानस आर्थिक शक्तियोंका कुछ सीमातक रूपान्तर कर बुद्धि तथा विचार द्वारा परिस्थितिको एक विशिष्ट रूप देता है। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि मनुष्यके सृजनशील विचार सहज तथा स्वतन्त्र चिन्तनके परिणाम नहीं हैं। वे उस शिक्षा, संस्था और प्रचलित मान्यताओंकी उपज हैं जिनमें कि व्यक्ति पलता है और इन सबके मूलमें आर्थिक स्थिति है।

साम्यवाद तथा साध्य और साधन-की समस्या

मार्क्सके अनुसार साम्यवादी जनतन्त्रमें प्रत्येक व्यक्तिको अपनी भौतिक आवश्यकताओंको प्राप्त करनेका अधिकार रहेगा। अपनी योग्यता तथा आवश्यकताके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको समान रूपसे अवसर मिल सकेगा। वैयक्तिक सम्पत्तिके लिए साम्यवादमें कोई स्थान नहीं है। समानताको स्वीकार करनेवाला साम्यवाद सम्पत्तिपर एकमात्र राष्ट्रका आधिपत्य मानता है यद्यपि सब व्यक्ति योग्यता एवं आवश्यकतानुसार समान रूपसे सम्पत्तिका उपयोग कर सकते हैं। सम्पत्तिका ऐसा सिद्धान्त वर्गहीन समाजकी स्थापना करेगा। और वर्गहीन समाज आर्थिक स्वार्थों, लोभों तथा ईर्ष्याओंसे मुक्त होकर जनमानवताकी भावनाकी पुष्टि करेगा। [illegible]न्त्रमें रहनेवाला व्यक्ति आर्थिक चिन्ताओंसे मुक्त होकर अपने व्यक्तित्वका विकास कर सकता है। आर्थिक स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रताको जन्म देती है और आर्थिक स्वतन्त्रताके लिए निरन्तर कर्म (शारीरिक श्रम) करना अनिवार्य है। समता और स्वतन्त्रताकी भावनाएँ व्यक्तित्वके विकासमें सहायक हैं किन्तु इनके मूलमें वर्गहीन समाज है। व्यक्ति समाजका अङ्ग है। उसे समाजके लिए कर्म करने पड़ेंगे। सामाजिक गुण ही अन्य

गुणोंको उत्पन्न करते हैं।

प्रश्न यह है कि ऐसे वर्गहीन समाजकी स्थापना कैसे सम्भव है? मार्क्सका कहना है कि ऐसे समाजके लिए वर्गसङ्घर्ष एवं रक्तक्रान्तिका होना अनिवार्य है। प्रारम्भमें ऐसे समाजके सञ्चालनके लिए तानाशाहीका होना भी आवश्यक है। अपनी अन्तिम स्थितिमें ऐसे समाजमें शासन-सत्ता अपने-आप ही लुप्त हो जायगी। वर्गहीन समाज कल्याणप्रद है किन्तु उसकी प्राप्तिके लिए हिंसात्मक साधनको स्वीकार करना पड़ेगा। पूँजीवादी समाजमें अधिकांश व्यक्ति भूखे मर रहे हैं। रेडियो, चलचित्र, प्रेस सभीपर धनिकोंका अधिकार है। वे धनके बलपर वोट तक खरीद लेते हैं। उनका धन और शक्तिलोभ नृशंस शासककी भाँति सर्वहारावर्गका रक्त चूस रहा है। असहाय सर्वहारा अपने अधिकारोंकी माँगतक नहीं कर पाता। ऐसी स्थितिमें प्रजातन्त्रवाद भी व्यर्थ है क्योंकि सम्पत्तिहीनके लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता अर्थशून्य है। साम्यवाद ही एकमात्र शुभ है क्योंकि यह आर्थिक समानताका पोषक है। ऐसे समाजकी स्थापनाके लिए विश्वव्यापी क्रान्ति अनिवार्य है। हमें चाहिये कि हम श्रमिकोंमें विद्रोह और विप्लवकी आग सुलगा दें। जब श्रमिक अपने ऊपर किये हुए अत्याचारोंके प्रति सचेत हो जायँगे तो वर्गयुद्ध जन्म लेगा। रक्त-क्रान्तिके पश्चात् सर्वहाराका अनन्य शासन अनिवार्य है। धनिकों एवं बुर्जुओं[1]का राज्यसत्तामें कोई अधिकार नहीं रहेगा। पूँजीवादने सर्वहारावर्गको उत्पन्न किया है और सर्वहारावर्ग उसका विनाश अवश्य करेगा। श्रमिकों[2]का एकच्छत्र राज्य साम्यवादकी स्थापना करेगा और साम्यवादकी अन्तिम स्थितिमें राज्यशासनकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी।

आलोचना

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें औद्योगिक क्रान्तिसे आक्रान्त हुए कुछ

१. Bourgeois = बुर्जुआ शब्द मध्यवर्गका पर्यायवाची है। मध्यवर्ग निर्दयता, दुष्टता एवं नृशंसताका प्रतीक बन गया है।
२. Proletariat = प्रोलिटेरिएट, श्रमिक अथवा सर्वहारा।

प्रतिभाशाली विचारक हीगलकी द्वन्द्वात्मक पद्धतिसे प्रभावित हुए। इन विचारकोंने, विशेषकर, मार्क्स और एञ्जिल्सने मानव-विचारों, मान्यताओं और नियमोंके मूलमें भौतिक घटनाओं एवं समाजकी आर्थिक स्थितिको देखा और इस निष्कर्षपर पहुँचे कि धर्म, दर्शन, कला, सामाजिक संस्थाएँ, नैतिक मान्यताएँ आदि आर्थिक व्यवस्थाको प्रतिबिम्बित करती हैं। अधिक संख्यककी दुर्बल आर्थिक स्थितिको देखकर मार्क्स अत्यन्त दुखी हुए और उनकी गहन समवेदना उग्र प्रतिशोधके रूपमें प्रकट हुई। उन्होंने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद द्वारा समझाया कि विश्वव्यापी रक्तक्रान्ति ही आर्थिक समानता, सुख और शान्तिकी स्थापना कर सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि मार्क्सने अपने युगकी समस्याओं तथा मशीनके सम्पर्कमें आयी हुई जनताको भलीभाँति समझा। मनुष्योंकी क्षुधा-कामकी प्रवृत्तियोंका अध्ययन करके एक नवीन सामाजिक संघटनकी ओर विश्वका ध्यान आकृष्ट किया। सभी विचारक अब इस सत्यको किसी-न-किसी रूपमें मानने लगे हैं कि जीवनके आर्थिक पक्षकी ओरसे हम उदासीन नहीं रह सकते। जीवनकी इस मूलगत आवश्यकताकी ओर गान्धीजीने संकेत करते हुए कहा कि वे भूखोंको धर्मका सन्देश नहीं दे सकते। धार्मिक विचारक भी यह मानते हैं कि 'भूखे भजन न होइ गुपाला'। भूखा मनुष्य एक ओर तो नरभक्षीतक बन जाता है और दूसरी ओर भोजनका अभाव उसे असहाय तथा निःशक्त बना देता है। मनुष्यके व्यक्तित्वके विकासके लिए तथा उसकी सांस्कृतिक, कलात्मक तथा आध्यात्मिक उन्नतिके लिए शारीरिक सुख आवश्यक है। भोजन, वस्त्र और निवासका अधिकार मूलगत और जन्मसिद्ध है। किन्तु मार्क्सने ऐसी मूलगत आवश्यकताकी तृप्तिके लिए जिस साधन (रक्तक्रान्ति) को अनिवार्य बतलाया है वह उतना ही निर्मम है जितना वह वर्ग जिसे कि वह मिटाना चाहता है।

आर्थिक मूल्याङ्कन

आर्थिक समानताकी स्थापनाके लिए मार्क्स जिस साधनको अपनाता है वह मानवोचित नहीं है। मनुष्यकी नैतिक चेतना एक ऐसे पथको नहीं

साध्य-साधनका प्रश्न

अपना सकती जो रक्तपङ्किल हो। 'खूनका बदला खून', यह कथन सामाजिक कल्याणके इच्छुक अथवा समानता और भ्रातृत्वभावनावाले व्यक्तिके लिए प्रिय नहीं है। नैतिक जीवनमें साधन और साध्य, दोनोंकी पवित्रता अनिवार्य है। अशुभ साधन द्वारा प्राप्त शुभ ध्येय अशुभ और अवांछनीय है। मार्क्सने अपने साधनको केवल रक्तक्रान्ति और वर्गयुद्धसे सम्बन्धित रखा। इसे हम मार्क्सके युगकी सीमा मान सकते हैं क्योंकि उसके युगमें पूँजीवाद अपने चरम शिखरपर था। अतः आजका दृष्टिकोण वर्गयुद्धको मार्क्सके युगके विराट् सङ्घर्षका एक राजनीतिक चरणमात्र मान सकता है।

अर्थभित्तिपर मार्क्स उस नवीन सामाजिक सम्बन्धको वास्तविकता देना चाहता है जो समानता, भ्रातृत्व भावना और स्वतन्त्रताका मूर्तिमान्

आन्तरिक चेतना अनिवार्य

स्वरूप है। वास्तविक जीवनका अध्ययन, मनोवैज्ञानिक सञ्चय और चेतनाका तात्त्विक स्वरूप बतलाता है कि आर्थिक स्थिति आन्तरिक चेतनाका मार्गनिर्देशक नहीं बन सकती। बाह्य परिवर्तनसे आन्तरिक परिवर्तनका प्रयास उलटी गंगा बहाना है। किसी भी शुभ कर्मके लिए आन्तरिक शुद्धता अनिवार्य है। जब मानव-चरित्र किसी सत्यको पूर्णरूपसे स्वीकार कर लेता है तो वह अवश्य ही कर्म द्वारा व्यक्त होता है। सच तो यह है कि पारस्परिक एकता और स्नेहकी चेतना सहज रूपसे त्याग और आर्थिक समानताके रूपमें प्रकट होती है, न कि आर्थिक समानता मानसिक समानताके रूपमें। आर्थिक विषमताजन्य अत्याचारोंको आदर्शवादियों और अध्यात्मदर्शियोंने भी भलीभाँति समझा। गान्धीजीको तो इस सत्यकी तीव्र अनुभूति हुई और इसको दूर करनेके लिए उन्होंने सत्य और अहिंसाका व्रत लेकर जन-सेवाको अपने जीवनका ध्येय बनाया। मार्क्सके रक्तक्रान्तिके नारेके विरुद्ध उन्होंने स्वेच्छित अपरिग्रह और सम्पत्तिके संरक्षणकी चेतना[1]के स्थायी मूल्यको समझाया। यदि डण्डेके जोरसे समानता स्थापित हो भी गयी तो

१. देखिये—भाग ३, अध्याय २५।

वह जल्दी ही मिट जायगी। भयवश किसी नियमका पालन करना उसे अपनाना नहीं है। आर्थिक और राजनीतिक क्रान्तियोंका जीवनके बाह्य पक्षसे सम्बन्ध है। हमें हृदयकी क्रान्ति एवं उस व्यापक सांस्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक जागरणकी आवश्यकता है जो चिरस्थायी रहेगा। लोक-संघटन अपने-आपमें अपर्याप्त है। मनःसंघटन इसका पूरक है और वह नैतिक चेतनाकी जागर्तिकी अपेक्षा रखता है। अतः आन्तरिक अनुभूतिके बिना बौद्धिक सहानुभूति और आन्तरिक एकताके बिना बाह्य एकता केवल एकाङ्गी सिद्धान्तमात्र रह जाते हैं।

जीवनके दो पक्ष : ऊर्ध्व और समतल

मार्क्सका भौतिकवाद सामाजिक वास्तविकताका जन्मदाता है। उसने जीवनको समतलमें देखा और उसकी एकाङ्गी व्याख्या की। जीवनके दो पक्ष हैं : ऊर्ध्व और समतल अथवा आध्यात्मिक और भौतिक। ये दोनों आपसमें विरोधी नहीं हैं और जीवनमें युगपत् रूपसे कार्य करते हैं। मार्क्सकी ऐतिहासिक और आर्थिक मीमांसा मानवीय चेतना, विचार और भावनाको नहीं समझा सकती किन्तु मार्क्स अर्थशास्त्रीय व्याख्यामें इतना लीन हो जाता है कि वह जीवनके ऊर्ध्व अथवा आत्मिक एवं आध्यात्मिक पक्षको भूल जाता है। शारीरिक सुख अपने-आपमें अपूर्ण है। सुखी जीवन आत्मिक और शारीरिक सुखका योग है। साम्यवादी तन्त्रमें शारीरिक तथा भौतिक सुखकी प्राप्तिके लिए मनुष्यको अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रतासे हाथ धोना पड़ता है। व्यक्तिका जीवन, उसका परिवार, उसके विचार और

व्यक्ति नगण्य

कर्म सब कुछ राज्यके अधीन हो जाते हैं। सामूहिकताके लिए राज्य उसके सर्वस्वका हरण कर सकता है। राज्य साम्यवादके विरोधियोंको मृत्युदण्ड दे सकता है। ऐसे समयमें लेखक और कलाकारकी प्रतिभाका मूल्य भी इसीपर निर्भर है कि वे राज्य तथा सर्वहाराकी गुणगाथा और धनिकोंकी नृशंसताको कितनी अभिव्यक्ति दे सकते हैं। अतः साहित्यकी श्रेष्ठता उसकी राजकीय उपयोगितापर निर्भर हो जाती है। राज्यके लिए उपयोगी साहित्य ही श्रेष्ठ

और प्रगतिशील है। मार्क्सवादके अनुसार धर्म अफीमके समान है जो सर्वहाराको उसके आर्थिक अभावको भुलाये रखनेमें मदद देता है। अतः मार्क्सवाद आर्थिक समानताके नामपर वैयक्तिक स्वतन्त्रताका विरोधी है। वह उन सभी प्रवृत्तियोंका विनाश करना चाहता है जो आर्थिक समानता-रूपी सामूहिक जीवनकी प्रगतिके लिए राज्यके आदेशोंकी प्रशंसा और अन्धानुकरण नहीं करतीं।

नैतिकताका अर्थ

मार्क्सने अपने सिद्धान्त द्वारा अनेक नैतिक समस्याओंको उठाया। जीवनका आदर्श क्या है? शिक्षाका उचित रूप क्या होना चाहिये? बच्चोंके व्यक्तित्वका विकास कैसा हो? शुभ-अशुभसे क्या अभिप्राय है? कर्त्तव्य, अधिकार, न्याय, स्वतन्त्रताका क्या अर्थ है? इन समस्याओंको देखकर लगता है कि मार्क्सने नैतिकताके सारको समझा है। किन्तु जब हम इस दृष्टिसे मार्क्सके दर्शनका अध्ययन करते हैं कि नैतिकताका सम्बन्ध सम्पूर्ण आत्मासे है तो निराशा होती है। मार्क्सने जीवन और नैतिकताके केवल एक अङ्गको समझा है। उसने भौतिक एवं जैव पक्षको मान्यता दी है। कानून, नियम, धर्म, शुभ-अशुभ आदिको उसने आर्थिक मानदण्डसे नापा है और मानव-दुःखके मूलमें आर्थिक विषमताको देखा है। उसके अनुसार उत्पादन और वितरणकी उचित व्यवस्था द्वारा एवं अर्थशास्त्रके द्वारा ऐसी व्यवस्थाकी स्थापना कर सकते हैं जो मानव-एकता स्थापित कर सके तथा स्वार्थ और दुःखको दूर कर सके। मार्क्स यह समझनेमें असमर्थ है कि आर्थिक समता होनेपर भी अन्य विषमताएँ— भिन्न विचार, विरोधी आस्थाएँ, शक्तिलोभ, यशलालसा, विशिष्ट गुणसम्पन्नता आदि सम्बन्धी स्पर्धा—जीवनको दुःखी बना सकती हैं। मार्क्स मानवीय सम्बन्धों—पति-पत्नी, माँ-बच्चे, व्यक्ति-समाज, मित्रता आदि—को आर्थिक सम्बन्धके रूपमें देखता है। वह सब समस्याओंका समाधान उत्पादन और वितरणके नियम द्वारा करता है। भौतिक एवं आर्थिक आवश्यकताको ही वह जीवनका आदि और अन्त मान लेता है। जीवनकी ऐसी व्याख्या नैतिक जिज्ञासाका समाधान नहीं

कर सकती। नैतिक जीवन आत्म-आरोपित नियम, संकल्प-स्वातन्त्र्य, आन्तरिक पवित्रता, कर्त्तव्यके बोधका जीवन है। नैतिकता आत्मोन्नति और आध्यात्मिक जागरणका प्रतीक है। वह वैयक्तिक स्वातन्त्र्यके द्वारा सर्वकल्याणकी स्थापना करना चाहती है। मार्क्सका नीतिशास्त्र नैतिकताकी मूलगत मान्यताओंको स्वीकार नहीं करता। वह नैतिकताके नामपर समाजकी अर्थशास्त्रीय व्याख्या करता है।

मार्क्सका कहना है कि आर्थिक समानता वर्गहीन समाज एवं साम्यवादकी स्थापना करेगी जो कि मानव-विकासकी अन्तिम परिणति है। इस समाजमें शान्ति चिरस्थायी होकर रहेगी। यह समाज ही विश्व-जीवनके विकासका ध्येय है। किन्तु मार्क्सकी ऐसी उक्ति विरोधाभासपूर्ण है। क्या उसका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद यह नहीं कहता कि एक ही स्थिति सदैव नहीं रह सकती? क्या निषेध-विरोध अथवा भाव-अभावका नियम सदैव नवीन शक्तियोंको जन्म नहीं देता है?

विरोधाभास

अध्याय २४

गीता

गीता महाभारतके भीष्मपर्वका एक अंश है। इसके रचनाकालके बारेमें विद्वानोंमें मतभेद है। इसका काल १०० ई० पू० से लेकर ५०० ई० पू० के बीच माना जाता है। इसके रचयिताके बारेमें भी हमारा ज्ञान सन्दिग्ध है। धार्मिक आस्था व्यासको इसका रचयिता मानती है जो कि महाभारत, भागवत् आदि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता माने जाते हैं।

रचनाकाल और रचयिता

गीताके दर्शनको समझानेके लिए यह कहा जाता है कि गीता उपनिषदोंका सार है। कृष्ण दुहनेवाले हैं; अर्जुन बछड़ा है; उपनिषद् गायें हैं। यदि ज्ञानी व्यक्ति चाहे तो अमृत सदृश गीताके उत्तम दूधका पान कर सकता है। यह उपमा सत्यांश युक्त है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि गीता केवल उपनिषद् है। गीताकी दृष्टि समन्वयात्मक है। उसका क्षेत्र सर्वग्राही है और सन्देश व्यापक है। उसने विभिन्न सिद्धान्तों और प्रचलित मान्यताओंके सारको ग्रहण करके उन्हें व्यवस्थित और आकर्षक रूप दिया है। वेद, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत एवं वैष्णव धर्म, सांख्य, योग, एकवाद आदिके बीच उसने संगति स्थापित की और साथ ही प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्गका निष्काम कर्मके रूपमें समन्वय किया। अतः यह कहना भ्रान्तिपूर्ण है कि गीताने किसी सिद्धान्तविशेषका तार्किक और दार्शनिक रूपमें प्रतिपादन किया।

गीताकी समन्वयात्मक दृष्टि

गीताका ध्येय किसी ऐसे गुह्य ज्ञानको देना नहीं है जिसे कि इने-गिने लोग ही समझ सकते हैं बल्कि एक ऐसे सरल और सुगम सन्देशको

नैतिक मूल्य

देना है जो कि मानवताके लिए हितकर है। गीता यह भलीभाँति समझती है कि अधिकांश व्यक्ति अज्ञानवश संसारमें दुःख भोगते हैं। अपने ध्येय और कर्मपथको समझनेमें असमर्थ होनेके कारण वे भटकते रहते हैं। गीताने एक ऐसे विश्वव्यापी, सार्वभौम और शाश्वत सन्देशको दिया है जो देश, काल, परिस्थिति तथा राष्ट्र, जाति, वर्णके भेदसे अछूता है। वह सभी नैतिक जिज्ञासुओंको उस आन्तरिक मार्गका ज्ञान देती है जो भगवत् प्राप्तिमें सहायक है। गीताने कर्मका सन्देश दिया और यह सन्देश जीवनके दर्शनपर आधारित है। तात्विक सत्यका ज्ञान ही कर्मकी ओर ले जाता है। गीताने ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र दोनोंको समान माना है। जीवनका तात्विक रूप हमें कर्मका आदेश देता है। कर्म एवं कर्त्तव्य द्वारा हम जीवनकी समस्याओंको सुलझाकर उनके स्वामी बन जाते हैं। गीताने नैतिक समस्या—कर्त्तव्य—को कृष्ण और अर्जुनके वार्तालाप द्वारा समझाया है।

महाभारत कृष्णके ऐतिहासिक व्यक्तित्व एवं वास्तविक अस्तित्वको स्वीकार करता है और साथ ही उनकी अवतारके रूपमें पूजा करता है।

कृष्ण तथा अर्जुनका व्यक्तित्व

किन्तु इतिहास कृष्णके वास्तविक अस्तित्वको सिद्ध करनेमें अभीतक असमर्थ है। ऐतिहासिक दृष्टिसे कृष्ण पौराणिक नायक हैं। दर्शन और नैतिकता उनको शाश्वत सत्य मानती है। शाश्वत सत्य ही काल और मनुष्योंके मानसों द्वारा अपनेको व्यक्त कर रहा है। कृष्ण वास्तविक आत्मा एवं दिव्य चेतनाके प्रतीक हैं। हम अपनी दिव्य चेतनाके आदेशको सुन सकते हैं। अस्तित्व, जीवन और कर्मके अर्थ समझकर पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। महाभारतके अनुसार अर्जुन कुन्तीके पुत्र हैं। वे अपने अधिकार, धर्म और सत्यकी रक्षाके लिए युद्धक्षेत्रमें प्रवेश करते हैं। गीताके अनुसार अर्जुन वह व्यक्ति है जो अज्ञान और हृदयकी दुर्बलताके कारण मानसिक सङ्कटकी स्थितिमें पड़ा है तथा कर्त्तव्य एवं सदाचारके मार्गको निर्धारित करनेमें असमर्थ है।

युद्धका रूपक लेकर गीताकारने कर्त्तव्याकर्त्तव्यके प्रश्नको उठाया है।

नैतिक समस्या और उसका समाधान

यह जीवन धर्मक्षेत्र है इसलिए सदाचारका मार्ग ही एकमात्र वाञ्छनीय मार्ग है। सदाचारका क्या अर्थ है? जीवनका ध्येय क्या है? क्या युद्ध उचित है? क्या अपनोंका हनन करके विजयी होना न्यायसंगत है?

अर्जुनका मन अस्थिर और दुःखी है। ममत्व, भावावेश और क्लीबताने उसके विवेकको कुण्ठित कर दिया है। क्षात्रधर्म और अग्रजोंका आदेश उसे युद्ध करनेके लिए प्रेरित करता है किन्तु उसका अज्ञान उसे दुविधामें डाल देता है। वह अनेक तर्क-वितर्क करता है। यदि युद्धमें पराजय प्राप्त हुई तब क्या होगा? यदि स्वजनोंका हनन करके विजय भी मिली तो उसमें ही क्या सुख होगा? ऐसे तर्क उसे कर्तव्यविमूढ़ बना देते हैं। वह बारम्बार इसपर विचार करता है कि क्या करना उचित है और क्या करना अनुचित। अन्तमें वह श्रीकृष्णसे प्रश्न करता है कि मैं क्या करूँ? श्रीकृष्ण उसे समझाते हैं कि कर्त्तव्यका मार्ग स्वार्थ, ममत्व और भावनाके मार्गसे भिन्न और श्रेष्ठ है। अपने ऐसे कथनके प्रतिपादनके लिए वे अनेक युक्तियाँ देते हैं। उदाहरणार्थ, वे कहते हैं कि सर्वत्र एक ही सत्यकी अभिव्यक्ति है। व्यक्ति और विश्व एक ही सत्यके अंश हैं। अतः सर्वभूतोंमें एक ही सत्य व्याप्त है। इसलिए सत्यके लिए युद्ध करनेमें विमुख नहीं होना चाहिये। भगवत् प्राप्तिके लिए सदाचार अनिवार्य है। यदि युद्ध एवं ध्वंस सदाचारके लिए आवश्यक है तो उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिये। परिणामकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये और यदि अर्जुन यह सोचता है कि वह युद्ध द्वारा आत्मजोंका हनन करेगा तो वह भ्रममें है। मनुष्यका आन्तरिक रूप नित्य सत्य है। आत्मा अमर है, 'जल उसे भिगा नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती और अस्त्र छेद नहीं सकते।' इसलिए यह सोचना व्यर्थ है कि हम किसीका हनन करते हैं अथवा किसी-का हनन हो सकता है। स्वधर्मको छोड़ना अनुचित है। अर्जुन क्षत्रिय है। क्षत्रियका धर्म राज्य तथा समाजके कल्याणके लिए युद्ध करना है।

यदि वह युद्धसे पराङ्मुख होगा तो उसके परिवार तथा समाजके लोग उसे कायर समझकर उसका अपमान करेंगे।

गीता यह समझानेका प्रयास करती है कि अपनी चेतनाके उच्चतर स्तरमें रहकर भी व्यक्ति कर्म कर सकता है। इसीलिए उसने सदाचारके प्रश्नको उठाकर कर्त्तव्यका सन्देश दिया है। कर्त्तव्यके सन्देशके मूलमें जगतकी सत्यताकी धारणा है। गीता अकर्म एवं कर्मत्याग या कर्मसंन्यासको स्वीकार नहीं करती है। वह आत्मशुद्धिके द्वारा आध्यात्मिक ज्ञानकी प्राप्ति बतलाती है और आध्यात्मिक ज्ञान उचित कर्मकी प्रेरणा देता है। अतः गीताने ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रको एक ही माना है।

कर्म, अकर्मका प्रश्न : शंकराचार्यका मत

शंकराचार्यने गीताकी अद्वैतवादी व्याख्या की है। ब्रह्म एकमात्र सत्य है और जगत मिथ्या है, अपने ऐसे दर्शनको वह गीतापर आरोपित कर देते हैं और कहते हैं कि गीताके अनुसार मुक्ति उचित ज्ञानसे प्राप्त होती है, न कि उस ज्ञानसे जो कर्मसे युक्त है। कर्म, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्वकी धारणाको द्वैत (संसारकी सत्यताकी धारणा) जन्म देता है किन्तु जब ब्रह्मज्ञानसे द्वैत नष्ट हो जाता है तो कर्मका प्रश्न ही नहीं उठ सकता। ज्ञान और कर्ममें वैसा ही पारस्परिक विरोध है जैसा कि प्रकाश और अन्धकारमें। ज्ञान और कर्मका समुच्चय असम्भव है। कर्मका मूल्य आत्मशुद्धिकी प्रारम्भिक अवस्थामें है किन्तु जब आत्मशुद्धि हो जाती है तो कर्मका अपने-आप क्षय हो जाता है। गीताका प्रमुख लक्ष्य हमें बन्धनसे मुक्त होनेका मार्ग दिखाना है, न कि युक्त होनेका। अथवा शंकराचार्यका यह कहना है कि गीता इस सत्यको महत्त्व देती है कि ब्रह्मज्ञान और वैदिक आचरण अथवा स्मृतिशास्त्रके अनुरूप कर्त्तव्य करना परस्पर विरोधी तथा असंगत हैं। कर्त्तव्य अज्ञानकी स्थितिका सूचक है, न कि ज्ञानका।

गीताकी अद्वैतवादी व्याख्या करना अनुचित है। कर्मका सन्देश देनेके लिए गीताकारने कृष्णके मुखसे यह कहलाया है कि 'जब-जब धर्मका ह्रास होता और अधर्मका विकास होता है तब-तब मैं अवतार लेता हूँ।

जब स्वयं कृष्ण जो कि पूर्णकाम हैं, सदाचारकी स्थापनाके लिए कर्म करते हैं तो मनुष्य अकर्मको कैसे अपना सकता है ? यह अवश्य है कि मनुष्यको कर्म सदैव धर्म या सदाचारके लिए करने चाहिये, न कि स्वार्थसिद्धि अथवा स्वर्ग और धनकी कामनासे प्रेरित होकर।

गीतामें योगकी अनेक व्याख्याएँ मिलती हैं, जैसे 'समत्वं योग उच्यते' या 'योगः कर्मसु कौशलम्' इत्यादि। जब कर्मके सन्दर्भमें योगका अर्थ समझनेका प्रयास करते हैं तो योगसे गीताका अभिप्राय 'युक्त' करनेसे है। अपनेको सामाजिक यज्ञ-कर्म अथवा कर्तव्यसे युक्त करना ही कर्मयोग है। कर्मयोगके द्वारा गीताने उन सभी सामाजिक कर्त्तव्योंको मान्यता दी है जिन्हें कि सब व्यवस्थित समाज स्वीकार करते हैं। जगत और जीव एवं अनेकताको सत्य मानकर गीताने कर्मयोगको महत्व दिया है। गीताके अनुसार जीव, आत्मा और देहका योग है और कर्म देह एवं प्रकृतिका गुण है। अतः जबतक देह है, कर्म भी है। कर्मसे मुक्ति असम्भव है। कर्मयोग न्यायसगंत और उचित है। कर्मसे संन्यास लेना भ्रान्तिपूर्ण है। कर्मका त्याग करनेके बदले हमें अपनेको कर्ता समझनेकी भावनाका तथा कर्मफलका त्याग करना चाहिये। कर्म देहका गुण है।

कर्मयोग और कर्मसंन्यास

शरीर मात्र ही कर्म करता है। व्यक्तिको निःसङ्ग अथवा अनासक्त रहकर अपनेको अकर्ता जानना चाहिये। भगवान् वास्तविक कर्ता है। वह सम्पूर्ण विश्वका सञ्चालक है। कर्त्तव्य करनेके लिए कर्तापनका त्याग आवश्यक है क्योंकि वह अहङ्कारजन्य है। मनुष्य अविद्या और अहङ्कारके कारण सोचता है कि मैंने अपने शत्रुको पराजित किया अथवा मैंने यह किया, वह किया। वास्तवमें भगवान् ही सब कुछ करवाते हैं। मनुष्य तो निमित्तमात्र है। अर्पण-बुद्धि एवं भगवत् संकल्पसे अपने संकल्पको युक्त करके कर्म करना चाहिये। निष्क्रियता और अकर्मके लिए उस जीवनमें स्थान नहीं है जो कि आध्यात्मिक है। अकर्मण्यता आध्यात्मिक ज्ञान और स्वतन्त्रता (बन्धनसे मुक्ति) का सूचक नहीं है। कर्तृत्वभाव और फलेच्छा

बन्धनमें डालती है। निष्काम कर्मको अपनाकर बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं। कर्मत्याग एवं अकर्म अवाञ्छनीय है। सम्यक् एवं सत्य ज्ञान मनुष्यको कर्मसे युक्त करता है। वह विश्वके आर्त प्राणियोंके कल्याणके लिए प्रयास करता है और सामाजिक कर्मसे विमुख नहीं होता है। ऐसा निःस्वार्थ कर्म बन्धनमें नहीं डालता। कर्म करने मात्रसे दोष नहीं लगता है। स्वार्थी इच्छाएँ और निम्न प्रेरणाएँ कर्मको दोषयुक्त करती हैं। इनके ऊपर उठकर शुभ कर्म करने चाहिये। कर्मका त्याग अथवा कर्मसंन्यास ग्रहण करनेसे अधिक वाञ्छनीय और श्रेयस्कर निष्काम कर्म है।

गीताके नैतिक सिद्धान्तका केन्द्रबिन्दु कर्मफलत्याग एवं निष्काम कर्म है। यह वह सेतु है जो निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्गको संयुक्त करता है।

निष्काम कर्म : प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गका समन्वय

गीताका काल वह काल था जब कि जीवनके दो विरोधी आदर्श समाजमें प्रचलित थे : कर्मयोग और कर्मसंन्यास, सांसारिक जीवन चिन्तनप्रधान पारलौकिक जीवन, तपपूर्ण एकाकी जीवन और कर्मप्रधान जीवन, यही दो आदर्श निवृत्ति और प्रवृत्तिमार्गके नामसे प्रसिद्ध हैं। निवृत्तिमार्गियोंने कर्मत्यागको महत्व देकर संन्यासवाद एवं वैराग्यवादका समर्थन किया। इच्छा कर्मका अनिवार्य अङ्ग है और वह स्वार्थी भावनाओंको जन्म देती है। स्वार्थ व्यक्तिके ज्ञानको भ्रममें डाल देता है। उसे औचित्यके मार्गसे हटा देता है। ज्ञानी व्यक्तिको चाहिये कि कर्मका त्याग कर दे। किन्तु प्रवृत्तिमार्गी सामाजिक कर्त्तव्यको अनिवार्य मानते हैं। वे कर्मकाण्ड एवं शास्त्रविधियोंको भी स्वीकार करते हैं। ऐसे कर्म मुक्ति, स्वर्ग और ऐश्वर्यकी कामनासे किये जाते हैं। परलोकके सुखकी चिन्ता निम्न प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण अवश्य रखती है पर साथ ही स्वार्थको पल्लवित करती है। इस भाँति यह वैयक्तिक शुभ एवं स्वार्थको स्वीकार करती है।

गीताने निवृत्ति और प्रवृत्तिमार्गके मूलमें स्वार्थपूर्ण इच्छाओंको देखा और स्वार्थपूर्ण इच्छाओंके त्यागके लिए निष्काम कर्मको आवश्यक

बतलाया। गीताने समझाया कि देहधारीके लिए कर्मका त्याग असम्भव है। इसलिए जीवनका आदर्श कर्मत्यागका आदर्श नहीं हो सकता। यह कर्ममें त्यागका आदर्श है। स्वार्थपूर्ण इच्छाओंके जालसे मुक्त होनेके लिए ही गीता कहती है कि परिणामकी ओरसे विरक्त होकर कर्म करना चाहिये। कर्त्तव्य करना ही मनुष्यका कर्म है। परिणाम एवं फल दैवाधीन है। फलासक्ति छोड़ कर कर्म करना चाहिये। आशारहित होकर कर्म करना उचित है। कर्मसे मुक्ति असम्भव है। कर्मको छोड़ना गिरना है। जो परिणामसे विमुख होकर कर्म करता है वह भगवान्को पाता है। यदि कर्म करनेमें एकमात्र दोष यह है कि कर्मके द्वारा ममत्व, अहङ्कार, राग, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि निम्न और स्वार्थपूर्ण इच्छाएं उत्पन्न होती हैं तो इस दोषसे मुक्ति सम्भव है। आसक्ति और फलेच्छासे मुक्त कर्म करने चाहिये। कर्त्तव्यकी प्रेरणा दिव्य प्रेरणा है। इस प्रेरणाके द्वारा इच्छाओंका उन्नयन और सुधार कर सकते हैं। वही कर्म शुभ है जो कर्त्तव्यकी प्रेरणा-से सञ्चालित है और परिणामकी ओरसे तटस्थ है। यही गीताका निष्काम-कर्म है। इसके द्वारा निवृत्ति और प्रवृत्तिमार्गके बीच सङ्गति स्थापित करके अथवा उनकी एकताको समझाकर गीताने निवृत्तिमार्गको आकर्षक बनाया और प्रवृत्तिमार्गको श्रेष्ठता प्रदान की।

आत्मशुद्धि और अर्पण-बुद्धि निष्काम कर्मके लिए अनिवार्य

अर्जुन निष्पक्ष चिन्तन करनेमें असमर्थ है क्योंकि ममत्वके बोझके कारण उसका हृदय क्लान्त हो गया है। वह हृदयकी दुर्बलताके कारण मानसिक सन्तुलन (समत्व) खो बैठा है और तटस्थ बुद्धिसे कर्त्तव्यको समझनेके बदले लाभ-हानि, जय-पराजय, अपना-पराया अथवा स्वार्थ और परिणामके सम्बन्धमें सोचता है। भगवान् ही परमकर्ता हैं तथा कर्म देहका गुण है। मनुष्य निमित्तमात्र है। कर्मका परिणाम दैवाधीन है। ऐसी स्थितिमें परिणामकी चिन्ता अविवेकी ही करते हैं। विवेकी व्यक्ति फलासक्तिका त्याग करके निष्काम कर्म करता है। निष्काम कर्मके लिए दो बातें आवश्यक हैं : आत्मशुद्धि तथा अर्पण बुद्धि।

आत्मशुद्धि द्वारा गीताने यह समझाया कि निम्न इच्छाओंका परिष्कार करना आवश्यक है। हमें अपनेको सङ्कीर्ण इच्छाओं, कामनाओं और वासनाओंके बन्धनसे मुक्त करके कर्त्तव्यके मार्गको अपनाना चाहिये। सब इच्छाएँ कर्त्तव्यके अधीन होनी चाहिये। मनुष्य आध्यात्मिक प्राणी है। उसके जीवनका ध्येय उच्च है, भगवत् प्राप्ति है। इस ध्येयकी प्राप्तिके लिए इच्छाओंका उन्नयन अनिवार्य है। सङ्कीर्ण इच्छाओंसे ऊपर उठकर आत्मशुद्धि द्वारा व्यक्ति अपने अन्तरतमकी दिव्य ध्वनिको सुन सकता है। उस आदेश अथवा भगवत् सङ्कल्पके अनुरूप कर्म करना ही व्यक्तिका कर्त्तव्य है। अतः आत्मशुद्धि अर्पण-बुद्धिको जाग्रत् करती है। भगवान् ही हमारी वास्तविक आत्मा है। वह सब भूतोंका आन्तरिक सत्य है। उन्हें पूर्ण आत्म-समर्पण कर देना चाहिये।

अर्पण-बुद्धि विश्वकल्याणकी बुद्धि है। सर्वत्र एक ही सत्यकी अभिव्यक्ति है। अतः भेद-भाव मिथ्या है। व्यक्ति और समाज एक ही हैं।

वसुधैव कुटुम्बकम् : व्यक्ति और समाज

दोनोंमें ही ईश्वर है। ईश्वर ही सब प्राणियोंका आन्तरिक सत्य है। जब व्यक्ति भगवान्‌को पूर्ण आत्म-समर्पण कर देता है तब वह भगवद् बुद्धिसे जनताको जनार्दन मानकर उसकी सेवा करने लगता है। अतः समाजकी सेवा करना भगवान्‌की सेवा करना है। सब प्राणियोंमें भगवान्‌को देखना अथवा एकताका बोध विश्वबन्धुत्व एवं 'वसुधैव कुटुम्बकम्'के भावका जनक है। जब दूसरोंके लिए त्याग करते हैं तो यह नहीं समझना चाहिये कि हम दूसरोंका उपकार कर रहे हैं। वे दूसरे नहीं हैं। उनमें भी हमारी ही आत्मा है। समाजसेवा द्वारा व्यक्ति सङ्कीर्ण आत्मासे ऊपर उठकर [illegible] प्राप्त करता है। आत्मत्याग आत्मोन्नति है। गीताके अनुसार सर्वभूतोंके हितके लिए कर्म करना चाहिये। लोकमङ्गल ही ध्येय है। इस ध्येयकी प्राप्तिके लिए निम्न और स्वार्थी इच्छाओंका दिव्यीकरण आवश्यक है। ऐसा व्यक्ति धीर प्रकृति एवं सम-दृष्टिका व्यक्ति है। उसके लिए दुःख-सुख, निन्दा प्रशंसा और घृणा तथा स्नेह समान हैं।

वह न तो शत्रुकी निन्दा करता है और न मित्रकी प्रशंसा। शम, दम, तप, सत्य, अहिंसा, दान, दृढ़सङ्कल्प, करुणा, सन्तोष, विनम्रता, विश्व-प्रेम आत्मोन्नतिमें सहायक हैं और हिंसा, अहङ्कार, राग, द्वेष, घृणा, लोभ, मोह, आत्मश्लाघा आदि आत्म-विनाशक हैं। अथवा गीता उन सभी प्रवृत्तियोंको शुभ कहती है जो निःस्वार्थ भावसे लोकमङ्गलके लिए प्रयास करती हैं और भगवत् प्राप्तिमें सहायक हैं। इसके विपरीत वे प्रवृत्तियाँ जो कर्तृत्वभाव, अहङ्कार, स्वार्थ और कर्मफलकी आशा करती हैं, अशुभ हैं।

गीता कर्मवादको मानती है और यह कहती है कि पूर्वजन्मके संस्कार वर्तमान जीवनको निर्धारित करते हैं। पूर्वजन्मके कर्मानुसार ही मनुष्य विशिष्ट जाति और कुलके वातावरणमें जन्म लेता है तथा दुःख-सुख पाता है। तो क्या गीताके अनुसार मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है? सब कुछ पूर्वनिर्धारित और निश्चित है? क्या गीताका कर्मवाद निराशावादी है? क्या मुक्ति एवं मोक्षके लिए प्रयास करना व्यर्थ है? गीताका कर्मवाद आशावादी है। वह हमारे सामने उज्ज्वल भविष्य रखता है। गीता आत्म-स्वातन्त्र्यमें विश्वास रखनेके कारण ही कर्मवादको अपनाती है। व्यक्ति कर्म करनेके लिए स्वतन्त्र है पर प्रत्येक कर्म फलसे युक्त है। अतः उसे चाहिये कि सहजप्रवृत्तियों, आवेगों, उद्दाम इच्छाओं और सङ्कीर्ण भावनाओंके प्रवाहमें न बहे। समझ-बूझकर कर्म करे। बौद्धिक प्राणी होनेके कारण वह अपने कर्मोंके लिए उत्तरदायी है। अशुभ कर्मका अशुभ परिणाम उसे भुगतना पड़ेगा। दुःख अशुभ कर्मका परिणाम है। अतः धीर व्यक्ति दुःखको अवश्यम्भावी मानता है। शुभ परिणामके लिए शुभ कर्म करना अनिवार्य है। मनुष्य वर्तमान स्थितिसे ऊपर उठकर अपनी पूर्णताको प्राप्त कर सकता है। आध्यात्मिक प्राणीके जीवनका ध्येय भगवत् प्राप्ति है और इस ध्येयको पानेके लिए वह स्वतन्त्र है। आत्म-नियन्त्रित कर्मों द्वारा अथवा आन्तरिक सत्यके अनुरूप कर्म करनेपर वह अपने इष्टको प्राप्त कर सकता है। इस भाँति गीता कर्मवादको महत्व देकर समझाती है कि

कर्मवाद : स्वतन्त्रताका प्रश्न

व्यक्तिका भविष्य उसके हाथमें है अतः उसे अबौद्धिक और अनुचित कर्म नहीं करने चाहिये। नैतिक आचरणसे एक क्षणके लिए भी मुक्ति सम्भव नहीं है। अपने नियतिवाद एवं कर्मवाद द्वारा एक ओर तो गीता हमें अनैतिक कर्मोंके गर्तमें गिरनेसे बचाती है और दूसरी ओर हमारे अन्दर उत्तरदायित्व और आत्मश्रेष्ठताके भावको जगाती है।

आलोचना

गीताने यह भलीभाँति समझाया कि आचरणकी समस्या आत्म-प्रबुद्ध प्राणीके लिए मुख्य समस्या है। व्यक्ति केवल जैव आवश्यकताओंका

मार्गनिर्देशन

प्राणी नहीं। वह पशु-जीवनको अपनाकर सुखी नहीं रह सकता। वह आध्यात्मिक प्राणी है, वह जीवनके अर्थ और मूल्यको जानना चाहता है। उसके कर्म विवेकसे सञ्चालित होने चाहिये। अतः गीताने नैतिक समस्याको तत्वदर्शनपर आधारित किया। जीवनके आदर्शको तत्वदर्शनकी पृष्ठभूमिमें समझा जा सकता है। नैतिक समस्याको एक मूर्त रूप देनेके लिए ही गीताकारने एक विशिष्ट स्थितिको लिया और उस स्थितिके आधारपर समझाया कि मानसिक द्वन्द्व एवं नैतिक समस्याको कैसे सुलझा सकते हैं। वार्तालापकी सरल शैलीको अपनाकर नैतिक सन्देशको जनसामान्यके लिए आकर्षक और ग्रहणीय बना दिया।

संसारमें भलीभाँति रहनेके लिए अधिकांश व्यक्तियोंको मार्गनिर्देशन-की आवश्यकता होती है। अविकसित बुद्धिके कारण अथवा आवेगजन्य प्रवृत्ति तथा स्वार्थान्ध होनेके कारण मनुष्यकी नैतिक बुद्धि मन्द पड़ जाती है। वे कर्मके औचित्य-अनौचित्यपर विचार नहीं करते। गीताने सदा-चारको दृढ़ दार्शनिक संबल देकर तथा कर्मवादको स्वीकार करके ऐसे अनैतिक प्राणियोंको चेतावनी दी है। नैतिक जिज्ञासुओंको मूलगत नैतिक तत्वोंकी ओर आकर्षित किया है। आचरणके व्यापक नियमोंकी संहिता असम्भव है अतः गीताने संहिता देनेका प्रयास नहीं किया। फिर भी यह

सत्य है कि अपने समयकी सामाजिक स्थितिकी उपेक्षा कोई भी नैतिक सिद्धान्त नहीं कर सकता अतः गीता भी इससे अछूती नहीं है। इसलिए आजके नीतिज्ञके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि आजकी सामाजिक और सांस्कृतिक चेतनाके आधारपर गीताकी पुनर्व्याख्या करे।

फलासक्ति अनुचित

लोकमङ्गलको महत्व देनेके कारण ही गीताने यह समझाया है कि फलासक्तिकी इच्छासे कर्म नहीं करने चाहिये। जो मनुष्य परिणामपर विचार करते हैं वे अधिकतर कर्त्तव्यभ्रष्ट हो जाते हैं। स्वार्थ एवं सुखभोगकी कामना विवेकको अज्ञानसे आच्छादित कर देती है। अर्जुन फलकी चिन्ता करके कर्मको साधन मान लेता है और इसलिए उसका नीति-अनीतिका विवेक कुण्ठित हो जाता है। कर्मके आन्तरिक शुभत्वको समझना चाहिये। कर्म अपने-आपमें साध्य है। परिणामको महत्व देकर गीताने यह नहीं समझाया है कि कर्म परिणामसे युक्त नहीं है। वरन् यह कहा है कि परिणामको महत्व देनेवाला व्यक्ति आत्मस्वार्थसे ऊपर नहीं उठ सकता। वह शुभको ध्येय माननेके बदले आत्मस्वार्थको ध्येय मान लेता है। अतः परिणामसे तटस्थ रहकर ही व्यक्ति सङ्कीर्ण स्वार्थसे ऊपर उठकर लोककल्याणकी स्थापना करता है।

वैराग्यवादको अस्वीकार

गीताने अनासक्ति योगको महत्व देकर यह बतलाया कि मनुष्यको सदाचारके लिए स्वार्थका त्याग करना चाहिये। शुभ ध्येयकी प्राप्तिके लिए निम्न इच्छाओंका उन्नयन करके उनका दिव्यीकरण करना चाहिये। कुछ आलोचकोंका यह कहना है कि गीताने अनासक्ति योग एवं निष्काम कर्मको महत्व देकर वैराग्यवाद और कठोर संन्यासी जीवनका यशगान किया है। गीता वैराग्यवादको स्वीकार नहीं करती है, उसने मनुष्यकी अनुभवात्मक आत्मा एवं जीवात्माके स्वरूपको भलीभाँति समझा है। कांटकी भाँति गीता अमनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणको अपनाकर इच्छाओंका समूल नाश करनेके लिए नहीं कहती बल्कि उनका दिव्यीकरण करनेके लिए कहती है। इच्छा स्वेच्छाकृत कर्मका अनिवार्य अङ्ग है। बिना इच्छाके कर्म सम्भव नहीं। इच्छाहीन

जीवन अमानवीय, सारहीन और अनाकर्षक है। गीता यह कहती है कि केवल इन्द्रियसुख, भोगविलास और स्वार्थपूर्ण इच्छाएँ बुरी हैं। वे आत्मघातक हैं और व्यक्तिको विषयान्ध बनाकर उसकी पूर्णताके मार्गमें बाधा उत्पन्न करती हैं। इन इच्छाओंका उन्नयन करना अनिवार्य है। इन्हें सदाचारकी इच्छाके अधीन होना चाहिये। सदाचारकी इच्छा दिव्य है। सदाचारकी प्रेरणासे कर्म करके व्यक्ति अद्वितीय आनन्द और पूर्णताको प्राप्त कर सकता है।

व्यक्ति नगण्य नहीं है

गीताके अनुसार मनुष्यको अपनेको समझना चाहिये। आत्मज्ञान बतलाता है कि भेदभाव मिथ्या है। अज्ञान भेदमूलक या द्वैतमूलक है। यही शत्रु-मित्र, अपना-पराया, व्यक्ति-समाज तथा स्वार्थ और परमार्थके द्वैतके मूलमें है। व्यक्तिकी आत्मा विश्वात्मा है। अतः जब वह लोकहित और लोक-कल्याणके लिए प्रयास करता है तब वास्तवमें वह अपनी सङ्कीर्ण आत्माका वास्तविक आत्माके लिए त्याग करता है और आत्मत्याग द्वारा आत्मोन्नति और पूर्णताको प्राप्त करता है। गीताने व्यक्तिको महत्व दिया है। व्यक्तिको नगण्य न माननेके कारण ही उसकी पूर्णताके लिए प्रयास किया और कहा है कि स्थायी आत्मानन्दके लिए सङ्कीर्ण प्रवृत्तियोंका त्याग अनिवार्य है।

गीताका सन्देश विश्वव्यापी और शाश्वत है, वह सामयिक और सङ्कीर्ण नहीं है। गीताने उच्च और निम्न आत्माके सङ्घर्षके प्रश्नको उठाकर यह समझाया है कि जीवात्मा अपने बन्धनोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त कर सकता है। परमात्माका सान्निध्य एवं उसकी प्राप्ति ही जीवनका लक्ष्य है क्योंकि जीवात्माका अन्तरतम सत्य परमात्मा है। परमात्माको प्राप्त करनेके लिए अथवा भगवत् साक्षात्कारके लिए भेदभावको भूलना होगा। समानताका भाव उस बुद्धिको देता है जो जनमङ्गल और भूमङ्गल-का प्रतीक है। निःसन्देह जबतक मनुष्य समाजमें रहेगा वह गीताके लोक-कल्याणकारी ज्ञानका आश्रय लेता रहेगा।

अध्याय २६

गान्धीजी

मोहनदास कर्मचन्द गान्धीका जन्म सन् १८६९में तारीख २ अक्टूबरको पोरबन्दर (काठियावाड़) में हुआ। वैष्णव परिवारमें पलनेके कारण उनके मनमें बचपनसे ही धार्मिक संस्कारोंने घर कर लिया था। फलतः वेद, उपनिषद् और विशेषतः रामायणके प्रति उनके मनमें अगाध श्रद्धा पैदा हो गयी जो आगे चलकर अनन्य राम-भक्तिमें परिणत हो गयी। बालक मोहनदासके हृदयमें सदाचार तथा सत्यके प्रति एकान्त आग्रह रहा। जब वह पीछे बैरिस्टरी पढ़नेके लिए विदेश भेजे गये तब उन्होंने विभिन्न धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन कर उन्नत आदर्शोंको आत्मसात् कर लिया। इस प्रकार उनके भीतर होनहार महात्माने विलायत-में ही जन्म ले लिया। दक्षिण अफ्रीकामें उन्होंने अपने आदर्शोंको प्रयोग-की कसौटीपर कसा और प्रवासी भारतवासियोंपर हो रहे गोरोंके अत्या-चारोंसे पीड़ित होकर अपने प्रसिद्ध सत्याग्रह आन्दोलनको जन्म दिया। भारत लौटनेतक गान्धीजी एक सिद्ध जननायक बन चुके थे। यहाँ पहुँचने पर सालभरके बाद ही उन्होंने भारतीय जनतामें राष्ट्रीय जागरण तथा स्वतन्त्रताकी चेतना भरनेका व्रत लिया। सन १९२१ में उन्होंने अपना पहिला सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ा और कई वर्षोंतक लगातार सविनय अवज्ञापूर्वक अपने अहिंसात्मक आन्दोलनसे १५ अगस्त १९४७ में भारत-को दासताके बन्धनोंसे मुक्त करा दिया। यह स्वतन्त्रताका रक्तहीन संग्राम संसारके इतिहासमें अद्वितीय था। इसके आदर्शप्राण जननायकने सत्य और अहिंसाका सामूहिक प्रयोगकर मानव-जातिके सामने एक महान् मानवीय आदर्श उपस्थित कर दिया। ३० जनवरी १९४८ में जब

गान्धीजी प्रार्थनासभामें जा रहे थे तो गोडसे नामक एक व्यक्तिने गोली चलाकर इस अमर प्रकाशको सदैवके लिए भौतिक शरीरसे छुटकारा दिला दिया।

जीवमात्रके सुख तथा कल्याणकी भावना ही गान्धीजीकी अन्तरात्मा-की पुकार थी। उनके मनोजगतपर दार्शनिक सिद्धान्तोंसे अधिक धार्मिक विश्वासोंका प्रभाव था। वे विश्वास वैज्ञानिक अथवा तार्किक नहीं कहे जा सकते किन्तु वे महत् धारणाओं और उच्च भावनाओंसे अनुप्राणित थे। गान्धीजीका मङ्गलमय भगवान्के प्रति अखण्ड विश्वास था।

महत्वाकांक्षा : पृथ्वीपर राम-राज्यकी स्थापना

उनका कहना था कि मङ्गलमय तथा लोककल्याणमय जगतकी स्थापना सात्विक तथा नैतिक गुणोंके अर्जनसे ही सम्भव है। व्यक्तिको अपनी मुक्तिके लिए सात्विक नियमोंका पालन करनेका प्रयास करना चाहिये। उनका यह भी कहना था कि वैयक्तिक साधना सामूहिक निर्माण अथवा विकास-का एक आवश्यक अङ्ग है। समस्त संसारको 'सियाराममय' माननेके कारण ही उन्होंने यह कहा और इसीलिए जीवनभर लोकसेवा और लोक-कल्याणमें निरत रहे। उन्होंने आत्मोत्थानको लोककल्याणका एक सफल साधन माना। पृथ्वीपर आदर्शजीवन अथवा रामराज्यकी स्थापनाके लिए उन्होंने साध्य और साधनको समान महत्व दिया। भौतिक सुखसम्पन्न सामाजिक जीवनसे अधिक प्रधानता एक पवित्र, सरल, सदाचारपूर्ण कर्त्तव्यनिष्ठ जीवनको दी। उनके रामराज्यका ध्येय एक उन्नत आदर्शमय मनोजीवनका ध्येय है।

गान्धीजीका दर्शन गीता तथा उपनिषद्के दर्शनसे भिन्न नहीं है। भारतीय दर्शनने सत्यके जिस चिरन्तन तथा शाश्वत स्वरूपकी चर्चा की है गान्धीजीने उसीको अपने जीवनमें अनुभव करनेका प्रयत्न किया है।[1] उसीकी प्राप्तिके लिए सदाचरण और साधनाको महत्ता दी। उनके जीवनमें भक्ति

गान्धी-दर्शन : सत्यकी परिभाषा

---

१. 'मैं यह दावा नहीं करता कि मैंने कुछ नये सिद्धान्तों और तत्वोंका

तथा कर्मयोगका अद्वितीय समन्वय मिलता है। यह गीताके निष्काम तथा अनासक्त कर्मकी व्याख्यापर आधारित है। उनकी भक्तिका केन्द्रबिन्दु मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका सात्विक चरित्र रहा है और उनका राम गीता तथा उपनिषद्का शाश्वत तथा सनातन पुरुष रहा है। उनकी दृष्टिमें सत्य ही ईश्वर है। 'सत्यके बिना ईश्वर कहीं नहीं है।' सत्यका ज्ञान भगवद्ज्ञान है। भगवद्ज्ञानके अनुसार भगवानकी अनुभूति अथवा उनकी सेवा उनके व्यापक सगुण तथा व्यक्त स्वरूपकी सेवा द्वारा ही सम्भव है। सम्पूर्ण सृष्टि एवं समस्त जीव भगवान्के ही अंश हैं। इसीलिए विश्व-बन्धुत्व तथा जीवप्रेमकी भावना सत्यके ज्ञानकी द्योतक है।

सत्यका नैतिक स्वरूप

सदाचार ही सत्यका नैतिक तथा व्यावहारिक पक्ष है। इसके लिए तप और त्याग आवश्यक हैं। तपकी आवश्यकता आत्मशुद्धिके लिए और त्यागकी आवश्यकता मोह तथा स्वार्थकी भावनासे मुक्त होनेके लिए है। स्वार्थ और मोह दृष्टिमें आवरणकी तरह पड़े रहते हैं और सत्यके दर्शनमें बाधक होते हैं। स्वार्थत्याग तथा जीवोंकी सेवा द्वारा मनुष्य सत्यके निकट पहुँचता है। सत्यको समझनेके लिए हठधर्मी एवं कट्टरतासे ऊपर उठना आवश्यक है। उसके लिए भ्रमात्मक तथा एकांगी सिद्धान्तोंसे दूर रहकर पूर्वग्रहों और दोषोंसे अपनेको मुक्त करना चाहिये।

यदि सदाचरण ही जीवनमें महत्वपूर्ण है और वही जीवनका ध्येय है तो सदाचरणका क्या रूप हो? गान्धीजीका नीतिशास्त्र श्रद्धा तथा विश्वास-मूलक है। वह सैद्धान्तिक नहीं है, किन्तु जीवन-सत्यपर आधारित है। गान्धीजीने अपने सहज विश्वासके कारण, अनेक धर्मों, दर्शन-ग्रन्थोंके अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा निरन्तर आत्म-साधनाके कारण सदाचरणके सम्बन्धमें आन्तरिक अनुभूति प्राप्त कर ली थी। उनका नैतिक आदर्श काल्पनिक नहीं है, वह जनजीवनके वास्तविक ज्ञानपर आधारित है।

आविष्कार किया है। मैंने अपने ही ढंगसे शाश्वत सत्योंको प्रतिदिनके जीवनकी समस्याओंमें अनूदित करनेका प्रयत्न किया है।'

उन्होंने सत्यके शाश्वत तत्वोंपर व्यावहारिक तथा नैतिक प्रकाश डाला। उनके अनुसार ज्ञान सद्गुण है। सत्यका ज्ञानी सत्यके अनुसार ही कर्म करेगा। उसके विपरीत कर्म करना उसके लिए असह्य है; वह जीवित मृत्यु है। जनताके सम्मुख उन्होंने, अपने जीवनके रूपमें, सत्यके क्रियात्मक आदर्शको सम्मुख रखा। अपने चारों ओर व्याप्त युगजीवनके घनिष्ठ सम्पर्कमें आनेके कारण उन्होंने साम्प्रदायिक वाद-विवादोंके ऊपर एक मानवीय सिद्धान्तका प्रतिपादन किया। अतः उनके नैतिक नियम किसी विशिष्ट वादके अन्तर्गत नहीं आते हैं। जैसा कि गान्धीजी स्वयं कहते हैं, "मैं तो किसीका बाजा बजाता नहीं या फिर सारे जगतका बजाता हूँ।" गान्धीजीकी नैतिकता मानव-जीवनके कल्याणकी नैतिकता है। गान्धीवाद—यदि उसे वाद कहना आवश्यक ही है—किसी प्रकारके कोरे सङ्कीर्ण सिद्धान्तोंका संग्रह नहीं है। वह जीवन-सत्यके व्यापक क्रियात्मक स्वरूपका प्रतिपादन करनेकी ओर एक प्रयत्नमात्र है। यह प्रयत्न दर्शनके शाश्वत तत्वों, धर्मोंके मौलिक सिद्धान्तों तथा मनोविज्ञानके स्वस्थ नियमों[1] का सन्तुलित सङ्कलन है। गान्धीवादके अनुसार अन्तःसत्य बाह्य जीवनका आवश्यक अङ्ग है। मनुष्योंमें सत्तात्मक एकता है। विश्वकी विविधता एकताके सूत्रमें पिरोयी हुई है। भिन्नता केवल अविद्याकी देन है। अतएव यह नैतिक कर्त्तव्य है कि मनुष्य एक दूसरेके सुख-दुःखको समझे और संसारसे अन्याय, दरिद्रता और दुःखको मिटानेके लिए सतत प्रयत्नशील रहे एवं लोककल्याणकी वृद्धि करे। संक्षेपमें गान्धीजीकी नैतिकता 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की नैतिकता है; उसमें विश्वप्रेम अथवा मानव-प्रेम ही एकमात्र साध्य और साधन है।

गान्धीजीके भीतर प्रतिष्ठित मनुष्यत्वकी भावना उनके सत्य और अहिंसाके आदर्शोंके द्वारा अभिव्यक्त होती है। गीतामें कर्मयोग ढूँढ़नेवाले

१. परिपूर्ण मङ्गलमय जगत अथवा रामराज्यके आदर्शको सम्मुख रखते समय उन्होंने मानव-स्वभावके दोनों पक्षों—बौद्धिक और भावुक—को समझा।

अहिंसा

गान्धीजीने सत्य और अहिंसाको एक दूसरेका पूरक कहा है। उन्होंने सत्यज्ञानको ही सदाचार कहा है। सत्यका क्रियात्मक रूप ही अहिंसा है। सत्यज्ञान तथा अहिंसा द्वारा ही अज्ञान, अन्याय और अधर्म दूर हो सकते हैं और मानव-हृदयमें प्रेमका सङ्गीत तथा उसकी श्वासोंमें शान्तिकी सुगन्ध भरी जा सकती है। अहिंसा (विश्वप्रेम) ही सत्यज्ञान तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्'के सिद्धान्तकी सार्थकता है। अहिंसात्मक निष्काम लोक-कार्य ही जीवनका ध्येय है। सब व्यक्तियोंमें एक ही सर्वव्यापी ईश्वर व्याप्त है। यह सर्वात्मबोध ही आत्मबोध है। दूसरोंका दुःख अपना दुःख है। उसे हटाना हमारा कर्त्तव्य है। वास्तविक शान्ति जीवमात्रको स्नेह और प्रेमका पात्र समझनेसे ही प्राप्त हो सकती है। पापसे घृणा करना उचित है, पापीसे नहीं।[1] पापी स्नेहास्पद है। पापीको प्यार करते हुए पाप और अधर्मके विरुद्ध अहिंसात्मक युद्ध करना ही मनुष्यका कर्त्तव्य है। गान्धी-दर्शन यह अखण्ड विश्वास देता है कि सभी प्राणियोंमें एक ही चेतन-शक्ति व्याप्त है। सब एक ही पिताके पुत्र हैं। इसीको लक्ष्य करते हुए गान्धीजी कहते हैं कि मनुष्यका आचरण धार्मिक—सर्वकल्याणकारी—होना चाहिये। अहिंसा मानवीय सत्यका ही सक्रिय गुण है। इसके दो रूप हैं: भावरूप या धनरूप और अभावरूप या ऋण-रूप। अभावात्मक रूपके अनुसार किसीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। पर-पीड़न पाप है। शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा पहुँचाना पाप है। गान्धी-जी तत्वज्ञानी होनेके नाते अहिंसाका व्यापक अर्थ[2] लेते हैं। अहिंसाका

१. मनोवैज्ञानिकोंके अनुसार विचारसाहचर्यके नियम इस बातकी पुष्टि करते हैं कि पापी और पापमें तादात्म्य स्थापित हो जाता है। उसके विरुद्ध इतना ही कहना है कि गान्धीजीने जो कुछ भी कहा उसका पहिले अपने जीवनमें अभ्यास और अनुभव कर लिया। फिर भी यह मानना उचित है कि साधारण व्यक्तिके लिए यह कठिन कार्य मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिसे ही सम्भव है।

२. अपने सङ्कीर्ण अर्थमें अहिंसाका अभिप्राय अधिकतर कायिक और

भावात्मक रूप सर्वकल्याणकारी है। लोकमङ्गलके हेतु विश्वप्रेमको स्वीकार करना ही अहिंसा है। अहिंसात्मक व्यक्तिके लिए राग, द्वेष, क्रोध, मोह, लोभ और घृणा आदि मनके विकार अधर्म हैं। उसे मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्र तथा संयमी होना चाहिये। जीवनरूपी कर्मक्षेत्रमें उसे हिंसा तथा असत्यके विरुद्ध निरन्तर संग्राम करना चाहिये। कर्मक्षेत्रमें अकर्मण्यताके लिए स्थान नहीं है। सदैव धर्मकी स्थापनाके लिए प्रयास करना चाहिये। परिणामसे डर कर कर्त्तव्यसे विमुख होना पाप है। मनुष्यको अहिंसा आत्म-बल देती है। वह उसे क्षुद्र इच्छाओं तथा दाम्भिक भावनाओंसे ऊपर उठाती है। उसे स्वार्थहीन तथा आत्मविजयी बनाकर विश्वात्माकी अनुभूति कराती है। गान्धीजीके अनुसार सत्य और अहिंसा दोनों ही प्राचीन तथा शाश्वत[1] हैं। सत्य ही सच्चिदानन्द भगवान् है और अहिंसा उसकी प्राप्तिका साधन है। अभीष्ट (सत्य) की प्राप्तिके लिए अहिंसा एकमात्र साधन है।

सत्याग्रह[2]का अर्थ है सत्यके प्रति आग्रह। सत्य व्यक्तिविशेषतक ही दैहिक हिंसा न करनेसे रहता है। गान्धीजीने गौतमबुद्धके समान ही अहिंसाका व्यापक अर्थ लिया। गौतमबुद्ध और गान्धी, दोनोंने ही मानवताके कल्याणके लिए विश्वप्रेम, करुणा, सेवा और निःस्वार्थ-भावको अपनानेकी लोगोंसे प्रार्थना की।

१. सत्य और अहिंसा गान्धीजीके अनुसार उतने ही प्राचीन हैं जितने कि पर्वत। उनका कहना है कि मैं दुनियाको कोई नयी बात नहीं बता रहा हूँ। मुझे सत्यकी खोज करनेमें सत्य और अहिंसाका बोध हुआ। अहिंसाका सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन है। वह ऋग्वेदमें भी पाया जाता है। उपनिषदोंमें भी ऐसी अनेकों कथाएँ हैं जिनके द्वारा विश्वप्रेमका प्रतिपादन हुआ है। गीता, बौद्धधर्म, ईसाईधर्ममें भी इसे मान्यता दी गयी है। इसे सर्वोत्तम नीति बताया गया है।

२. सत्याग्रहका जन्म दक्षिणी अफ्रिकामें हुआ। इसके द्वारा गान्धीजीने वहाँके काले लोगोंको बताया, कि अपने अधिकारोंके लिए जाग्रत

सीमित नहीं है। अपने व्यापक रूपमें वह सर्वशक्तिसम्पन्न है; उसीके प्रति आग्रह सत्याग्रह है। केवल विचारोंसे अहिंसात्मक होना पर्याप्त नहीं है। उसे कर्मक्षेत्रमें प्रतिष्ठित करना चाहिये। असत्यके विरुद्ध खड़े होकर और सत्यके प्रति जागरूक रहकर ही अहिंसाको व्यवहारमें लाया जा सकता है। सत्याग्रहीके लिए अन्याय, अत्याचार, क्रूरता, अनीति आदिको स्वयं सहना अथवा दूसरेको उन्हें सहते हुए देखना असह्य है। अधर्म और अनैतिकताको हटानेके लिए वह अहिंसात्मक सत्याग्रह करता है। सत्याग्रहके द्वारा वह लोकजीवनके प्रति अपने कर्त्तव्योंका पालन करके अपने अधिकारोंका भोग करता है। सत्याग्रही कर्म करते समय विपक्षी अथवा कठोरसे-कठोर अत्याचारीके सम्मुख भी नहीं झुकता। प्राणिमात्रको अत्याचारसे मुक्त करना उसका ध्येय है। किन्तु इस मुक्तिको प्राप्त करनेके लिए अहिंसा ही एकमात्र साधन है। द्वेष, घृणा, अन्यायको प्रेमसे जीतना चाहिये। प्रतिशोधकी

सत्याग्रह

होओ। वहाँ उन्होंने 'टाल्सटाय फार्म' खोलकर लोगोंको स्वावलम्वी बननेका आदेश दिया। आत्मबल और संघटित शक्तिमें जोर दिया। लोक-सेवा और नैतिक-जीवनकी ओर ध्यान आकर्षित किया। प्राकृतिक उपचार, सफाई और मिताहारका पाठ पढ़ाया। सत्याग्रहका पूर्ण विकास भारतमें हुआ। ब्रिटिश साम्राज्यवादने लोगोंके स्वाभिमानकी रीढ़ तोड़ दी थी। वे अपनी संस्कृतिसे विमुख हो गये थे। मानसिक और सांस्कृतिक दासता स्वीकार कर चुके थे। गान्धीजीने सत्याग्रह तथा असहयोग आन्दोलनों, देशव्यापी हड़तालों और कठोर दीर्घकालीन उपवासों द्वारा नैतिक पतनसे भारतीयोंको बचाया। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, आत्मनिग्रह आदिका कठोर व्रत लोगोंको सिखाया। आत्म-त्याग और बलिदान द्वारा लोकसेवा अथवा आत्मसन्तोषका मार्ग दिखाया। लोक-जीवन और मानव-स्वभावका उन्हें गूढ़ ज्ञान था। लोकरक्षा और संस्कृतिके मूल तत्वोंकी रक्षाके लिए ही उन्होंने ब्रह्मचर्यकी शिक्षा दी।

भावना पाप[१] है। घृणाके प्रति घृणा अथवा पशुबलके प्रति पशुबल अनुचित है। हिंसाको अहिंसासे अथवा पशुबलको आत्मबलसे जीतना चाहिये। समस्त मनुष्य एक ही परिवारके प्राणी हैं। हिंसासे (विवश करके अथवा डरा-धमकाकर) उनका हनन करनेके बदले प्रेमसे उनका सुधार करना चाहिये। गान्धीजीका सत्याग्रह सौम्य, शिष्ट, प्रेमका ही एक रूप है। सत्याग्रहके लिए भी उनका कहना है कि यह उनका मौलिक सिद्धान्त नहीं है। यह सनातनधर्म अथवा शाश्वत सत्यका यथार्थ तथा व्यावहारिक रूप है। 'सत्याग्रह आत्मशुद्धिकी लड़ाई है; वह धार्मिक लड़ाई है।'[२] सत्याग्रहके लिए सम्यक् बोध तथा व्यापक प्रेमकी आवश्यकता है। दूसरेके मनमें सत्यका बोध जाग्रत् कर प्रेमसे उसे आकर्षित करना ही सत्याग्रह है। सत्यकी ओर अभिमुख होकर दूसरोंके मनमें उच्च भावनाओंको जाग्रत करना, उनका आत्मोन्नयन करना ही सत्याग्रहका ध्येय है। गान्धीजीके सत्याग्रहका मूलरूप आत्मत्याग तथा आत्म-बलिदान है। यही नहीं, उन्होंने सत्याग्रहीके कर्त्तव्योंकी रूपरेखा भी बनायी।[३] सत्याग्रहीको

१. अपनी आत्मकथामें गान्धीजी कहते हैं कि वे 'अवगुण बदले गुण करे, सत्य धर्मका मर्म है';—इस कथनसे प्रभावित हुए। यीशूके अनुसार भी हमें बुराईको बुराईसे नहीं रोकना चाहिये। बदला नहीं लेना चाहिये। यही बात रहीमदासजीने भी कही है—'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोय तूँ फूल।' राजनीतिके क्षेत्रमें यह विचित्र अथवा अव्यावहारिक कथन लगता है। गान्धीजीने भारतको अहिंसात्मक आत्मबल तथा सत्याग्रह द्वारा स्वतन्त्रता दिलाकर उसकी वास्तविकताको केवल सिद्ध ही नहीं किया वरन् विश्वके इतिहासमें एक नयी राजनीतिको जन्म और स्थान दिया है।

२. गान्धी-सत्याग्रहके मुख्य अङ्ग स्नेह, प्रेम, एकता, सहृदयता और सहयोग हैं। भारतीय दर्शन और संस्कृतिने भी सदैव इन्हें ही प्रधानता दी।

३. देखिये—पट्टाभि भा. १ पृष्ठ, ३८, ४५-४७, १७८-१८४।

आत्मसंयमी, आत्मप्रबुद्ध तथा निर्भीक होना चाहिये। उसका बल मात्र आत्मबल है। उसे लगन, आत्मविश्वास, अहिंसा तथा श्रद्धाके साथ, अडिग होकर, सत्यके मार्गका अनुसरण करना चाहिये। इसीमें उसे आत्मानन्द मिलता है और यही लोककल्याणका मार्ग है।

गान्धीजीका धर्मसे अभिप्राय किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या मतसे नहीं, किन्तु शाश्वत सत्यसे था। उन्होंने हिन्दूधर्मके मौलिक दार्शनिक सत्योंको

हिन्दूधर्म और अछूतोद्धार

अपने विवेकके प्रकाशमें समझकर उन्हें आत्मसात् किया और कहा कि प्राणी प्राणीमें मूलतः कोई भेद नहीं है। दूसरेका अहित करना अथवा बुरा सोचना या देखना अधर्म है। मानवताके प्रति ममत्वकी भावना तथा विश्वप्रेम ही धर्म है। अथवा सर्वकल्याणका नाम ही धर्म है। वे अपने प्रवचनोंमें बार-बार दुहराते थे कि मैं सनातन (शाश्वत) सत्यका पूजक हूँ। उनका सनातनधर्म अत्यन्त सहिष्णु है। उसके चार मुख्य स्तम्भ हैं: सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। उसका क्षेत्र व्यापक है। वह 'सर्वधर्म समन्वय'में विश्वास करता है। वेद, कुरान, बाइबिल, गीता, आवेस्ता आदि सब महान् धर्मग्रन्थोंके मौलिक सिद्धान्तोंको स्वीकार कर उनके प्रति श्रद्धा रखता है। मानव-एकताको भूलकर बाह्य जातिगत तथा सम्प्रदायगत विभेदोंको देखना, अपने धर्मको अच्छा कहकर दूसरे धर्मोंका अनादर करना, गान्धी-धर्मके अनुसार अधार्मिक और अनैतिक है।[1] गान्धीजीने धर्म और नैतिकताको एक ही माना। ये एक ही शाश्वत सत्यके दो स्वरूप हैं। दोनोंमें अभिन्नता है। अधार्मिक सिद्धान्त अनैतिक है। सब धर्म अपने विवेकसम्मत नैतिक रूपमें (रूढ़िबद्ध और सङ्कीर्ण रूपमें नहीं) समान तथा श्रद्धामूलक हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपना धर्म पालन करनेके लिए स्वतन्त्र

१. 'जब यहाँ भी ईश्वर है, वहाँ भी ईश्वर है और ईश्वर तो एक ही हो सकता है तब दोनों अलग-अलग नाम लें और एक दूसरेके नाम बर्दाश्त न कर सकें, यह तो पागलपन-सा ही दीखता है।'

है। गान्धीजी अपनेको हिन्दू[1] कहते थे, पर वे सब धर्मोंका समान आदर करते थे। धर्मप्रचारकोंके वे विरुद्ध थे। किसी भी मतावलम्बीको दूसरेके धर्मका उन्मूलन करनेका तबतक अधिकार नहीं है जबतक कि उसका धर्म मौलिक मानवीय सदाचारके विरुद्ध न हो। अनासक्त योग[2] गान्धीजीके धर्मप्रेम, सत्यप्रेम अथवा नैतिकताकी एक महत्वपूर्ण अङ्ग था। धर्म एवं मानव-कल्याणकी भावनाने ही उन्हें राजनीतिमें प्रवेश करनेके लिए बाध्य कर[3] समाज-सुधारक बनाया। रूढ़ि-रीतिग्रस्त, अधार्मिक नियमोंका विद्रोही बनाया। हिन्दू धर्मके माथेसे छूआछूतके कलङ्कके टीकेको मिटानेवाला बनाया। धर्मके कारण ही उन्होंने हरिजन आन्दोलनको भारतीय स्वतन्त्रताके संग्रामका एक मुख्य अङ्ग बनाया। अछूतोंको हरिजन कहकर उन्होंने इस कथन की पुष्टि की कि 'जाति पाँति पूछे नहीं कोई, हरिको भजेसे हरिको होई।' गान्धी-धर्म एक शिष्ट सदाचारपूर्ण मानव-समाजका धर्म है। वह विवेकसम्मत धर्म है। उसकी नींव अन्धविश्वासपर नहीं, वह नैतिकताका ही दूसरा नाम है।

गान्धीजीके नीतिशास्त्रने उन्हें विशाल यन्त्रीकरण तथा व्यावसायिक केन्द्रीकरणके विरुद्ध कर दिया। चरखा और अहिंसा द्वारा उन्होंने इस युगके यन्त्रवादके दैत्यको चेतावनी दी। वे भारतके असंख्य ग्रामवासी किसानोंको आर्थिक सङ्कटसे मुक्त करनेके लिए

१. 'हिन्दू धर्म, जैसा उसे मैं समझता हूँ, मुझे पूर्ण आत्म-सन्तोष देता है, मेरे समस्त अस्तित्वको पूर्णता देता है और मुझे भगवद्‌गीता और उपनिषदसे शान्ति मिलती है।'

२. गीताकी भाँति वे प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्गके समन्वयमें विश्वास करते थे। समाजमें रहकर निःसंग होकर काम करना चाहिये।

३. 'ऐसे व्यापक सत्यनारायणके प्रत्यक्ष दर्शनके लिए प्राणि-मात्रके प्रति आत्मवत् (अपने समान) प्रेमकी बड़ी भारी जरूरत है। यही कारण है कि मेरी सत्यकी पूजा मुझे राजनीतिक क्षेत्रमें घसीट ले गयी।'

गान्धी–अर्थनीति : चरखा–खादी

चरखेको[1] ही एकमात्र साधन मानते थे। उन्होंने खादीको राष्ट्रीय जागरणका प्रतीक तथा संघटन और एकताका सूचक कहा है। उन्होंने खद्दरके प्रचार तथा ग्रामोद्योगको अत्यन्त प्रोत्साहित किया। वह चाहते थे कि प्रत्येक गाँव एक परिपूर्ण इकाई तथा स्वावलम्बी केन्द्र बनकर आत्मनिर्भर हो जाय ताकि उसे अपनी आवश्यकताओंके लिए दूसरों-का मुँह न ताकना पड़े। ग्रामोद्योगको बढ़ानेसे सबको काम मिल सकता है जिससे बेकारी और भुखमरीका प्रश्न हल हो सकता है। 'और जिस मार्गसे देशकी भुखमरीका नाश होगा उसीसे स्वराज्य भी मिलेगा।' मशीनको अपनानेसे मनुष्यके बदले मशीन काम करती है जिससे आर्थिक प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिताकी भावना भयङ्कर रूप धारण कर लेती है। धनके उन्मादमें अमीर, श्रमिकोंके प्रति अपना कर्त्तव्य भूल जाते हैं और उनका शोषण करने लगते हैं। मशीनका व्यापक प्रयोग हिंसात्मक तथा अनैतिक है। ग्रामोद्योग सार्वजनिक प्रेम तथा आत्म-निर्भरताका प्रतीक है। गान्धीजीका कहना था कि जबतक कोई ऐसी व्यवस्था न हो सके जिससे कि सबको रोज़ी मिले तथा परस्पर स्नेह और सद्‌भावकी रक्षा हो सके तबतक ग्रामोद्योगको नहीं छोड़ना चाहिये।

उपवास, प्रार्थना

उपवास और प्रार्थनाको वे आत्मशुद्धि अथवा नैतिक जीवनका आवश्यक अङ्ग मानते थे। आतमबोधके लिए वे सदैव प्रार्थना करते थे और उपवास भी रखते थे। सर्वप्रथम उपवास उन्होंने अफ्रिकामें किया और आगे चलकर भी समय-समयपर अपनी सहजप्रेरणाके आदेशसे अनेक उपवास किये और उन्हें सदैव लाभ-प्रद पाया। उनका यह भी कहना था कि यदि उपवासके बीच यह भासित हो जाय कि वह शुद्ध ध्येयसे प्रेरित नहीं है तो उसे छोड़ देना चाहिये। वे यह स्वीकार करते थे कि उपवासका दुरुपयोग (व्यक्तिगत स्वार्थ और

१. गान्धीजीने स्वयं चरखाका दर्शन सन् १९१५ में किया। पर उन्हें यह पहलेसे ही विश्वास था कि चरखा द्वारा भारतकी गरीबी मिटेगी।

लाभके लिए) हो सकता है जो पाप है। उनके अनुसार 'मानव-कर्मका ध्येय सर्वकल्याणकारी होना चाहिये। अतः उपवास भी लोकहितार्थ एवं अहिंसात्मक रूपसे ही करने चाहिये।

शिक्षा

गान्धीजीका कहना था कि बच्चोंको राष्ट्रकी आवश्यकताओं तथा आदर्शोंके अनुसार शिक्षा देनी चाहिये। युनिवर्सिटीकी शिक्षा-पद्धति तथा उसके पाठ्य-क्रमसे वह सन्तुष्ट न थे; क्योंकि वह हमारे नवयुवकोंको कष्टसहिष्णु, स्वावलम्बी तथा सेवा-तत्पर बनानेमें असमर्थ है। वह अपने धर्म तथा संस्कृतिसे भी विमुख है। वह विद्यार्थियोंको क्लर्कोंका जीवन व्यतीत करना भर सिखा रही है। उनके अनुसार शिक्षाका लक्ष्य नैतिक चेतनाको जाग्रत् करना होना चाहिये। विद्यार्थियोंको स्वावलम्बन तथा श्रम उद्योग भी सीखने चाहिये। परीक्षाओंको अत्यधिक महत्व देना भूल है। वे जीवनका आदि और अन्त नहीं हैं। शिक्षा द्वारा विद्यार्थियोंमें कर्त्तव्यज्ञान उत्पन्न करना चाहिये। उन्हें देशकी बुनियादी आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेका ज्ञान होना चाहिये। वर्धा शिक्षाकेन्द्र इन्हीं आदर्शोंपर स्थापित किया गया था और गान्धी-सेवा-संघ भी व्यक्तियोंको स्वावलम्बी और आत्म-त्यागी बनानेके लिए खोला गया था।

गान्धीवाद और समाजवाद

गान्धीजीने सत्य-अहिंसा द्वारा एक नवीन सामाजिक व्यवस्था बनानी चाही। उन्होंने समाजवादकी परिभाषाको व्यापक रूप देना चाहा। समाजवादसे उनका अभिप्राय केवल आर्थिक समानतासे नहीं था किन्तु आध्यात्मिक एकता, नैतिक निष्ठा तथा कर्त्तव्यबोधसे भी था। उनका कहना था कि सत्तात्मक एकताके सत्यको लोगोंको समझना चाहिये। इससे उनकी नैतिक चेतनाका विकास होगा। वे समानाधिकारमें विश्वास करने लगेंगे। पृथ्वीसे उत्पन्न पदार्थोंका भोग सभी कर सकते हैं। अमीर-गरीबका तथा जातीय-राष्ट्रीय भेद मानना अनुचित है। आत्म-चेतन प्राणी तथा सत्य-अहिंसाके उपासकको अपने कर्त्तव्य और अधिकारको समझना चाहिये।

उनके मतके अनुसार पूँजीपति और सम्पत्तिवान् दरिद्रनारायणके धनके संरक्षकमात्र हैं। उन्हें गरीबोंका अभिभावक बनना होगा और इसलिए विषयसुख तथा विलासिताको हिंसा समझकर उन्हें अपने ऊपर उतना ही खर्च करना चाहिये जितना उनके मानसिक और शारीरिक जीवनके लिए अत्यन्त आवश्यक है[1]। उन्हें गरीबोंकी रक्षा करना, उनकी आवश्यकताओं-की पूर्ति करना, उनकी सेवा करना अपना परम-कर्त्तव्य समझना चाहिये क्योंकि उन्हींके पास गरीबोंकी धरोहर है[2]। उनका विश्वास था कि नैतिक चेतनाके विकास द्वारा ही सुदृढ़ रामराज्य (मानव-प्रेम और आत्मिक एकताके समाजवाद) की स्थापना हो सकती है। आत्मत्याग, आत्मोन्नति और वसुधैव कुटुम्बकम्के सिद्धान्तको आत्मसात् करनेकी आवश्यकता है। यही वास्तविक समाजवादको स्थापित कर सकेगा। इसके विपरीत आधुनिक साम्यवादी तथा समाजवादी, जिन्होंने अपनी प्रेरणा पश्चिमसे पायी है, अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिए हिंसात्मक साधनको आवश्यक समझते हैं। वे वर्तमान आर्थिक व्यवस्थाको वर्गयुद्ध तथा रक्तक्रान्ति द्वारा बदलना चाहते हैं। उनके अनुसार समानता (आर्थिक) अमीरोंको मिटानेसे ही सम्भव है। सम्पत्तिवानों तथा शोषकोंका हृदय-परिवर्तन आर्थिक व्यवस्थाके परिवर्तन

---

१. स्वयं भी वे अपने जीवनमें अत्यन्त मितव्ययिताके साथ रहे। जब सन् १९३० में वे यरवड़ा जेलमें थे तो उन्होंने जेल सुपरिण्टेण्डेण्टसे कहा कि उनपर ३५) रु० मासिकसे अधिक खर्च नहीं होना चाहिये। उन्हें खानेके लिए सी क्लासके बर्तन मिलने चाहिये। उन्होंने रोज नयी नीमकी दतूनतक लेनेसे इन्कार कर दिया।

देखिये—बापूकी झाँकियाँ—दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर।

२. तुलना कीजिये—

'Temporal goods which are given to men by God are his as regards their possession but as regards their use, if they should be superfluous to him, they belong to others who may profit by them'—Thomas Aquinas. (१२२५–१२७४)

द्वारा ही हो सकता है। अथवा व्यक्तियोंमें नैतिक चेतनाकी जागर्ति, मानवीय भावनाकी उत्पत्तिके लिए यह आवश्यक है कि सर्वहारामें क्रान्ति की भावना उत्पन्न की जाय। आर्थिक व्यवस्थामें परिवर्तन तथा क्रान्तिका आतङ्क ही वर्गचेतनासे पीड़ित समाजका हृदय बदल सकता है। समाजवाद व्यक्तिगत सम्पत्तिमें विश्वास नहीं करता है। पूँजीपतियोंको अस्तित्वरहित करना ही इसका सर्वोपरि ध्येय है। समाजवादियोंके अनुसार सम्पूर्ण—चल और अचल—सम्पत्ति-स्वामी लोकराष्ट्र है। मनुष्यका परिवार तथा बच्चे सब कुछ लोकराष्ट्रके हैं। मनुष्य राष्ट्रका अङ्गमात्र है। उसकी व्यक्तिगत सत्ता नहीं के बराबर है। गान्धीवाद समाजवादके साधनोंको हिंसात्मक समझता है। उसके अनुसार पूँजीपतियोंकी सम्पत्तिके छीने जानेका विचार हिंस्र पशुप्रवृत्तिका सूचक है। रक्तक्रान्तिकी पुकार अमानुषीय और अनैतिक है। व्यक्तिगत सम्पत्ति रखना, निर्धनोंके धनका संरक्षक बनना अनुचित नहीं है। अपने स्वार्थके लिए धन-सञ्चय (परिग्रह) करना पाप है। स्वेच्छापूर्वक आत्मत्याग करना, अपने ऊपर आवश्यकतासे अधिक खर्च न करना, दीनोंको दान देना नैतिकता है। मनुष्यका नैतिक उन्नयन बाह्य परिस्थितियों, भौतिक घटनाओं तथा आर्थिक व्यवस्थाके रक्तक्रान्तिपूर्ण परिवर्तन द्वारा सम्भव नहीं है। जबतक व्यक्ति अपनी आत्म-प्रेरित बुद्धिसे समानता और लोककल्याणकी भावना-को स्वीकार नहीं करेगा तबतक सुख और शान्ति असम्भव है। दूसरे शब्दोंमें गान्धीवाद आत्मोन्नति, आध्यात्मिक विकास तथा सांस्कृतिक उत्थानके द्वारा चिरस्थायी मङ्गलमय सामाजिकताकी स्थापना करना चाहता है।

आलोचना

आलोचकोंके अनुसार गान्धीजीने स्वप्नद्रष्टाकी भाँति आदर्श आध्यात्मिक समाज स्थापित करनेकी चेष्टा की। उनका ध्येय अतिमानवीय है। उनके साधन अवास्तविक और अव्यावहारिक हैं। उनका 'वाद' कष्टसाध्य संन्यासवादके समान है। वे शुद्ध बुद्धिमय जीवनको पवित्र जीवन कहते हैं। किन्तु गान्धीजीके

नैतिक (अथवा दार्शनिक) सिद्धान्तको एकाङ्गी कहना अनुचित है। जीवन-सत्यको उन्होंने अपनी सहजबुद्धिसे समझ लिया था। उनका नैतिकज्ञान मानवीय वास्तविकताका ज्ञान है। वे भलीभाँति जानते थे कि नंगे तन और भूखे पेटवालोंको नैतिक, सामाजिक और धार्मिक सदाचारका पाठ पढ़ाना पागलपन है। अतः उन्होंने खेत-खलिहानोंकी ओर ध्यान आकर्षित किया। ग्रामोद्योगोंको और पञ्चायतराजको महत्ता दी। ग्रामीणोंके स्वास्थ्य, आहार-विहार-सम्बन्धी स्वच्छता तथा अछूतोद्धारकी ओर ध्यान दिया। इसी अभिप्रायसे उन्होंने गान्धी-सेवक-सङ्घकी स्थापना की। यह सब कोरा एकाङ्गी सिद्धान्तवाद नहीं है। उन्होंने भारतकी मिट्टीके कण-कणसे अपनेको परिचित किया और इस परिणामपर पहुँचे कि भारतकी असल आबादी या असल हिन्दुस्तान गाँवोंमें है। उन्होंने अपने अहिंसात्मक आर्थिक सिद्धान्तके आधारपर ग्रामोद्योगोंके विकासके लिए प्रयत्न किया। लोगोंसे सादगी और ईमानदारीका जीवन व्यतीत करनेको कहा ताकि लोग आत्मनिर्भर हो सकें और हमारी भूखी जनताका पेट भर सके। नैतिक पतनसे बचनेके लिए उन्होंने सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, आत्मनिग्रहका कठोर व्रत धारणकर जनताके सम्मुख आदर्श प्रस्तुत किया। गुलाम भारतीयोंको उन्होंने गुलामोंको उत्पन्न करनेके लिए प्रोत्साहित न कर स्वतन्त्र होनेपर स्वतन्त्र भारतवासियोंको जन्म देनेको कहा। भारतके असंख्य नंगे तथा भूखोंको ध्यानमें रखते हुए वे कहा करते थे कि इस देशमें भूखा मरनेके लिए सन्तानको उत्पन्न नहीं करना चाहिये। उन्होंने सदैव मानव-स्वभावकी दुर्बलताओंको सामने रख कर लोगोंको सब प्रकारकी शिक्षा दी। उन्होंने भावनाओंका उन्नयन कर उन्हें बौद्धिक स्तरतर उठानेका आदेश दिया।

गान्धीजी मनुष्य-जीवनके उन्नत तथा दुर्बल, दोनों पक्षोंसे भलीभाँति परिचित थे। आत्म-चेतन मनुष्य पशुतासे ऊपर उठकर आत्मानन्द प्राप्त कर सकता है, यही संक्षेपमें गान्धीवादका तत्व तथा उनका नैतिक दर्शन है। वे जानते थे कि प्राणीका व्यक्तित्व सृष्टिका एक आवश्यक अङ्ग है।

उसका आत्मसन्तोष सृष्टिमात्रकी प्रसन्नतापर निर्भर है। व्यक्तिगत-कल्याण और लोक-कल्याणमें अभिन्नता है। अतः मानवताकी सोई हुई चेतनाको जगाना ही उन्होंने अपना धर्म समझा। उनका जीवन उपनिषदोंके कथनका क्रियात्मक रूप रहा है। "मैं शक्तिका आकांक्षी नहीं हूँ, मैं स्वर्गका आकांक्षी नहीं हूँ, मैं पुनर्जन्मसे मुक्तिका आकांक्षी नहीं हूँ, मैं सृष्टिके आर्त प्राणियोंको वेदनासे मुक्त करनेका आकांक्षी हूँ।"[१] गान्धीजीकी यह आकांक्षा आत्मज्ञानियोंके लिए, आत्मिक सत्यको समझनेवालोंके लिए नवीन और असम्भव नहीं है। सत्तात्मक एकताके माननेवालेका ममत्व व्यापक होता है। गान्धीजी स्वयं ममता तथा लोकप्रेमकी मूर्ति थे। उन्हें प्राणोंका मोह या मृत्युका भय नहीं था। उनका जीवन विश्व-जीवनसे ओतप्रोत था। इसीलिए उन्होंने धरतीकी सन्तानोंको उन्नत मनुष्यत्वमें बाँधकर भू-स्वर्ग निर्माण करनेकी चेष्टा की। वे लोकपुरुष थे। मानव-सभ्यताकी सांस्कृतिक और नैतिक उन्नतिके द्योतक थे। सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विषमताओं, वर्गयुद्धों, व्यक्तिगत घृणा-द्वेषोंसे वे मानवोंका उद्धार करना चाहते थे। बुद्ध और मसीहकी भाँति नवीन मानवताकी सजीव शोभाको पृथ्वीपर मूर्तिमान् करना चाहते थे। पृथ्वीको आत्मिक ऐश्वर्य देना चाहते थे।

किन्तु प्रश्न यह है कि गान्धीके विश्वप्रेमरूपी रामराज्यकी स्थापना सम्भव है या नहीं? क्या यह केवल बौद्धिक आदर्श है? गान्धीजीके अनुसार यह आत्मिक आदर्श है जो आत्मत्याग और आत्मशुद्धि[२] द्वारा सम्भव

---

१. एफ. जी. जेम्सके अनुसार भी गान्धी-नैतिकताके यही अर्थ हैं: "दूसरोंके लिये तपना, उन्हें प्रेम देना—यह पुराने और नये मसीहकी अपने समयकी खोज है।"

पट्टाभि भा. १. पृ. १८९।

२. 'बिना आत्मशुद्धिके प्राणि-मात्रके साथ एकताका अनुभव नहीं किया जा सकता। और आत्मशुद्धिके अभावमें अहिंसा-धर्मका

है। उसको अहिंसा, श्रम तथा निष्ठा द्वारा व्यापक और मूर्तरूप देना आवश्यक है। यह असिधाराका मार्ग है जो नीत्सेके अतिमानवको शक्ति-लालसा और पदाधिकारसे मुक्त करता है। उसके पाशविक अट्टहासको आत्मानन्दमें बदल देता है। समर्थ और चेतन मनुष्यको हिंसासे ऊपर उठाकर जनमंगलकी ओर ले जाता है। वह मानव-विकास, मानव-उन्नति और लोकसेवामें अपना सर्वस्व उसी प्रकार खो देता है जिस प्रकार भक्त भगवान्में। जनता ही उसके लिए जनार्दन है। ऐसे व्यक्तिको—समष्टिको अपनानेवालेको—अहिंसा आत्म-बल देती है। गान्धीजीके खिलाफत आन्दोलन, बारदोली सत्याग्रह, नमक सत्याग्रह, पौराणिक डाँडीयात्रा, असहयोग आन्दोलन, भारत-छोड़ो आन्दोलन, रौलेट ऐक्ट आन्दोलन, लगानबन्दी, आम हड़तालें आदि अहिंसात्मक कर्म उनके और उनके अनुयायियोंके आत्मबलके ही सूचक हैं। अपने सत्य और अहिंसाके अजेय पौरुष द्वारा उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यको हिला दिया और सदियोंकी दासताके बन्धनको तोड़कर हिन्दके इतिहासमें नवीन युग उपस्थित कर दिया। इसमें सन्देह नहीं कि अहिंसाका सिद्धान्त प्राचीन है। किन्तु इसका क्रियात्मक सामूहिक प्रयोग, विश्वके इतिहासमें सर्वप्रथम गान्धीजीने ही किया। बिना रक्त-क्रान्तिके, बिना युद्धके भारतको स्वतन्त्र करना अहिंसात्मक आत्म-शक्ति द्वारा ही सम्भव था। अहिंसाका सिद्धान्त व्यावहारिक है। यह उपयोगी है। अहिंसा, जो कि अभीतक विचारकों, राजनीतिज्ञों, दार्शनिकों, नीति-चिन्तकों और सुधारकोंका स्वप्नमात्र थी, उसे गान्धीजीने ही विश्वव्यापी धर्म बना दिया।

गान्धीजीने संसारको सत्य और अहिंसाके रूपमें नया युग-धर्म

पालन करना भी हर तरह नामुमकिन है।···लेकिन मैं पल-पलपर इस बातका अनुभव करता हूँ कि शुद्धिका यह मार्ग विकट है। शुद्धि होनेका मतलब तो मनसे, वचनसे, और कायासे निर्विकार होना, राग-द्वेष आदिसे रहित होना है।···अहिंसा नम्रताकी पराकाष्ठा है।'

देकर विश्वके इतिहासमें एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। उनका धर्म सत्तात्मक एकता और विश्वप्रेमके दृढ़ विश्वासपर आसीन है। वह राजनीति, धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्रको नैतिक एकताके सूत्रमें पिरोता है। गन्धीजीने विश्वनिर्माण, विश्व एकीकरणकी नवीन सांस्कृतिक शक्तियोंका आवाहन किया और आज इस नवीन युगधर्मके कारण ही मानवीय नैतिक चेतना जाग्रत् हो रही है और विश्व-शान्तिकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट हो रहा है। अनासक्ति योग युग-युगसे निष्क्रिय हृदयोंको आकर्षित कर रहा है। गान्धीजीके ज्ञान और कर्मके समन्वयने मानव-जीवनके समस्त क्षेत्रोंमें नवीन आलोक डालकर मानव-दृष्टिकोणको विकसित किया। गान्धीजीके लिए ज्ञान और आचार अभिन्न हैं। पूर्ण शील ही पूर्ण प्रज्ञा है और पूर्ण प्रज्ञा ही पूर्ण शील है। वह यह मानते हैं कि जीवन और नैतिकता एक ही है। उनका जीवनरूपी कर्मक्षेत्र नैतिकताकी सजीव मूर्ति था। उनके जीवनको समझना ही एक नवीन किन्तु चिरपुरातन नैतिक-सांस्कृतिक चेतनाको समझना है। उनका जीवन आचार-शास्त्रका क्रियात्मक एवं सत्य रूप है।

गान्धीजीने अहिंसाको एक व्यापक सांस्कृतिक एवं नैतिक प्रतीकके रूपमें ही हमारे सम्मुख रखा है। वह विश्व-मानवताका एकमात्र सार है और आजके विध्वंसके युगमें मानव-जातिका एकमात्र जीवन-अवलम्ब है। गान्धीजीने अपने व्यक्तिगत जीवनके आदर्शों द्वारा अपराजित साहस, संयम, तत्परता, निर्भयता तथा जागरूकताको आत्मिक गुण बताया। वह स्वतन्त्र मानवीय चेतनाके प्रतीक थे। त्यागी, तपस्वी तथा निर्भीक विचारक थे। वे अहिंसाव्रतधारी थे। अहिंसाको उनके अनुसार वही समझ सकता है जिसकी आत्माका हनन न हुआ हो। 'मगर जो आदमी आत्मासे लूला है, पंगु है, अन्ध है, वह अहिंसाको समझ नहीं सकता।' गान्धी-दर्शनमें कठोर यथार्थता है। वह नैतिक और सामाजिक आदर्शोंका, त्याग और सेवाका, सत्य और अहिंसाका वह असिपथचारी धर्म है जो 'असत्से सत्की ओर और अन्धकारसे प्रकाशकी ओर' ले जाता है।

शुद्धि-पत्र

पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२(उपान्त)	प्रश्रय	प्रत्यय
२	वर्ग	कर्म
१	अन्तर्गत	अन्तर्जात
१०	जीवन	जानने
१७	गानवता	मानवता
१८	समन्यव	समन्वय
६	भौतिकता	नैतिकता
१	प्राकृतिक	प्राकृतिक विज्ञान
१३	ज्ञान	ज्ञात
९	अव्यस्था	अव्यवस्था
१६	अव्यस्थित	अव्यवस्थित
२३	जागर्ति	जागृति
१४	सार्वभौम वैयक्तिक कल्याण	सार्वभौम कल्याण
२	मानवका	मानव मनका
५	निर्णय	निर्माण
५	एक	एवं
२३	अपूर्व	अपूर्ण
२२	आदर्शसे	आदर्शका
२६	आत्म-निणीत	आत्म-निर्णीत
२४	इच्छाओंमें	इच्छाओं और पशुकी प्रवृत्तियोंमें
१३	आते है : आन्तरिक	आते हैं—आन्तरिक और बाह्य : आन्तरिक

८२	३	प्रवर्त्त	प्रवर्त्तक
०[illegible]	१०	एवं पूर्ण	एवं अपूर्ण
९[illegible]	१९	जीवन	नियम
९९	८	Undeterminism	Indeterminism
१०१	२४	आचारवा[illegible]	आचरणवाद
१०३	१	निर्णय देना	निर्णय दिया जा सकता
१०४	५	निर्धातित	निर्धारित
१०४	२७	संकल्पशक्तिकी भिन्न-भावना	संकल्पशक्तिको भिन्न मानना
१०५	२३	प्राप्ति	गति
११०	१२–१३	अतिरिक्त	आन्तरिक
११६	२४	शब्द	राज्य
१२५	२१	व्यक्त	क्या
१२७	२	अनेक	उनके
१३४	१४	Epicoureans	Epicureans
१३६	१५	ऐण्टिस्थीजीज	एण्टिस्थीनीज
१३९	१३	पूर्ण	पूर्व
१४३	१	सामाजिक	असामाजिक
१४४	१४	कर्मज्ञान	कर्म और ज्ञान
१५०	१२	औचित्यको	औचित्य अनौचित्यको
१५४	२३	इन्द्रियका	इन्द्रिय या
१६१	११	अत्यन्त और सरल	अत्यन्त सरल
१६६	९	जातिगत भेद नहीं गुणात्मक भेद नहीं	जातिगत या गुणात्मक भेद नहीं है।
१७७	२६	लिए करता	लिए नहीं करता
१९४	१६	अनुपान	अनुपात
२००	१६	प्रवृत्तिवश खोज	प्रवृत्तिवश सुखकी खोज